आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य

लेखक

डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल

एम० ए०, पी-एच० डी०

एसोशिएट प्रोफेसर हिन्दी-विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ

प्राक्कथन

डॉ० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०,

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

दरियागंज : दिल्ली

जिन्होंने संसार को प्रेममय और सुन्दर
बनाये रखने के लिए अँधेरे से
निरन्तर संघर्ष किया,
उन सब प्रकाश-पुत्रों को—

निवेदन

'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का संशोधित-परिवर्द्धित रूप है। उक्त प्रबन्ध आज से पूरे ४ वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया गया था और परीक्षक-मण्डल द्वारा स्वीकृत किया गया था। उस समय से लेकर अब तक जो भी तत्सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नवीन सामग्री प्रकाश में आई है उसे भी इस ग्रन्थ में यथावश्यक रूप में यथास्थान समाविष्ट कर लेने का प्रयत्न कर लिया गया है।

शोध-प्रेरणा का आदि स्फुरण मुझमें लगभग १५-१६ वर्ष पूर्व हुआ जब कि मैं काशी विश्वविद्यालय में एम० ए० का छात्र था। एम० ए० की उपाधि के लिए आठवें पत्र के रूप में मैंने 'कविता में प्रकृति चित्रण' नामक विषय पर एक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था, जो प्रकाशित हो चुका है। उक्त उद्योग से स्वभावत: मेरी शोध-तृष्णा अधिक बलवती हुई। शोध-वृत्ति जहाँ, सत्यानुसंधान की प्रेरणा से, अनुसन्धाता में एक विशिष्ठ सजगता-उत्फुल्लता, जीवंतता और सद्यता बनाये रखती है वहाँ वह, सीमित क्षेत्रीय विशेषज्ञता के प्रयत्नों के स्वाभाविक परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई एकांगी बुद्धि-व्यावसायिकता के कारण, उसमें, सामूहिक जीवन-चेतना की दृष्टि से न्यूनाधिक रूप से, एक विशेष प्रकार की रूक्षता और जड़ता भी, जाने-अनजाने, निस्सन्देह उत्पन्न कर देती है। इन खतरों से बचते हुए ज्ञान-विज्ञान की विमल साधना का आनन्द लेना ही मेरी चेतना को सहज स्वीकार्य्य और इष्ट था। सौभाग्यवश पी-एच०डी० के अध्ययन के लिए मैंने अपनी प्रकृति एवं रुचि के अनुरूप एक ऐसा विषय चुना जो एक ओर तो मेरी नैसर्गिक सृजन-प्रेरणा (जिसका यत्किंचित् आभास मेरी 'प्रथम किरण' 'हिमांचला', 'धूप-दीप' आदि काव्य रचनाओं में प्राप्य है) के साथ धूप-छाँह की तरह घुल-मिल कर मेरे अन्तर्बाह्य के सामंजस्य से प्रसूत तृप्ति का-सा आश्वासन देता जान पड़ा, और दूसरी ओर वह शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति से साहित्यिक अनुसन्धान के लिए मेरे सामने शोध-संभावनाओं से परिपूर्ण विचारों के विस्तृत और उर्वर क्षेत्र खोलता दिखाई दिया। इस स्थिति ने अपने मनोनीत विषय के प्रति मुझे आरंभ से ही प्रगाढ़ निष्ठा से आस्फूर्त कर दिया और मैं द्विविध आकर्षणों या लाभों (सद्य: परनिर्वृत्ति और व्यवहार-ज्ञान) से उत्प्रेरित हो अपने दायित्व की गुरुता को समझ कर अपने कार्य में जुट गया। इस अभाव में, बहुत संभव है, मैं 'शोध' नामक ज्ञान-साधना की इस विशिष्ट विधा, जिसकी सार्थकता कदाचित् कणाद की तरह शरीर

सुखा डालने में ही मानी जाती है, से किनारा ही काट लेता। मेरा उद्योग, इस प्रकार, शोध-प्रक्रिया के स्वीकृत सिद्धान्तों और साधन-मर्यादाओं को अंगीकार करते हुए, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के सूखे डण्ठलों को, विषय की प्रकृत माँग के कारण, जीवन-चेतना की लाली और हरीतिमा प्रदान करना रहा है। प्रेम और सौंदर्य पूरे जीवन का विषय है, केवल साहित्य का नहीं। मूल जीवन-चेतना से निबद्ध होने तथा सार्वजनीन एवं सार्वकालीन महत्त्व का होने के कारण यह विषय व्यापक रूप से सांस्कृतिक भूमि पर ही खड़ा रह सकता था। संक्षेप में, इस विषय का प्राण सांस्कृतिक, सामग्री मनोवैज्ञानिक, निरूपण साहित्यिक, और शोध-प्रक्रिया वैज्ञानिक है। यद्यपि विषय की मूल प्रकृति शुद्ध भावना-प्रधान है किन्तु अनुसंधान के शासन-भय से यथाशक्य वैज्ञानिक तटस्थता या निस्संगता और विवेचन-गत परिणामों के प्रति अनासक्ति बरतने का पूरा पूरा प्रयत्न किया गया है।

प्रेम और सौंदर्य के विषय पर अध्ययन आरम्भ करने पर मुझे हिन्दी-आलोचना क्षेत्र में तत्सम्बन्धी सामग्री का बहुत अभाव दिखाई पड़ा। प्रेम और सौंदर्य—इन दोनों वृत्तियों पर (कुछ महत्त्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर) उथली-सी सामग्री ही दिखाई पड़ी। अध्ययन की प्रगति के साथ चिन्तन के नये-नये क्षितिज खुलने लगे। शनैः शनैः विषय का साहित्यिक और सांस्कृतिक गौरव स्पष्ट होने लगा। विषय के प्रति यथासम्भव न्याय करने के लिए मुझे एक व्यापक और विस्तृत फलक तैयार करने की महती आवश्यकता जान पड़ी। परिणामस्वरूप प्रेम और सौंदर्य की मूल चेतना आधार रूप में प्रस्तुत की गई। काव्य-मात्र में प्रेम और सौंदर्य का तत्त्व रूप में महत्त्व, प्रेम-सौंदर्य का शास्त्रीय (भारतीय-पाश्चात्य) स्वरूप, भारतीय काव्य में प्रेम-सौंदर्य की स्थिति, आधुनिक हिन्दी-काव्य में—विशेषतः छायावादी काव्य में—प्रेम-सौंदर्य का निरूपण, तथा जीवन-मूल्यों और काव्य के सनातन आदर्शों की कसौटी पर आलोच्य काव्य का मूल्यांकन आदि—इन अवयवों से प्रस्तुत प्रबन्ध का कलेवर संघटित हुआ है।

नींव में ही मुझे जीवन की एक भयंकर भ्रान्ति या दृष्टि-दोष से संघर्ष करना पड़ा है। उसके बिना विषय की उठान का कार्य ही असम्भव था। 'प्रेम' और 'सौंदर्य'—इन शब्दों के उच्चारण या श्रवण के साथ ही अधिकांश व्यक्ति (साहित्यकार भी—सम्भवतः पुराने अधिक व नए कम), पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र के आधुनिक जर्मन व्यवस्थापक बॉमगार्टन (Baumgarten) की आशंका के अनुकूल (जो केवल इस सम्भावना से ही कि उसके सौंदर्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'सौंदर्य' शब्द को पढ़ते या सुनते ही उसके पाठक सुन्दरियों की कैसी-कैसी भाव-मुद्राओं की कल्पना कर उठेंगे, स्वयं ही लजा उठता था!) मन में एक सरसराहट-सी अनुभव करने लगते हैं कि मानों कामीजनों का लीला-विलास या प्रेमचर्या का कुछ अभद्र या

बेहूदा प्रसंग होगा। ऐसी स्थिति में विषय को शील-संयम और शालीनता प्रदान करना ही मेरा प्रस्थान-बिन्दु था। प्रेम और सौंदर्य की मूल उदात्त भावना को अस्वाभाविक जीवन-दृष्टियों से मुक्त करा कर तथा शुद्ध मानवीय परिवेश में अवस्थित कर उसे एक सांस्कृतिक प्राण प्रदान करना मेरा केन्द्रीय अध्यवसाय रहा है। प्रेम और सौंदर्य का विषय मूलतः एक सांस्कृतिक विषय है। उक्त वृत्तियाँ या अनुभूतियाँ जीवन की कितनी गंभीर, उज्ज्वल और उदात्त अनुभूतियाँ हैं, यह दिखाना ही प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रयोजन है। मानव-मन की इन मूलवर्त्तिनी भावनाओं के विश्लेषण-विवेचन आदि के द्वारा मैं प्रस्तुत विषय के प्रति कितना न्याय कर सका हूँ, इसकी परख अब प्रज्ञावान् विद्वज्जनों का भाग है। विषय स्वभावतः बड़ा ही जटिल, गम्भीर, और अनेक विन्दुओं पर बड़ा ही विवादास्पद है। ऐसी स्थिति में जीवन को ही प्रमाण मान कर, तर्क-पद्धति से चल कर, मैंने उसे सम्प्रदाय-निरपेक्ष (Secular) बनाने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणयन में मुझे अनेक विमल-मति विद्वानों से विविध प्रकार की सहायता, विमर्श, सम्मति-सुझाव आदि प्राप्त हुए हैं, जिनके लिए मैं अन्तरतम से उनका आभारी हूँ। पूज्य पं० गोपीनाथ कविराज, कविवर पं० सुमित्रानन्दन पंत, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, बा० गुलाबराय, डॉ० नगेन्द्र, पं० बलदेव उपाध्याय, डॉ० रामअवध द्विवेदी, डॉ० भीखनलाल आत्रेय, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, पं० पद्मनारायण आचार्य प्रभृति महानुभावों के सत्परामर्शों से मैं लाभान्वित हुआ हूँ। इनके अतिरिक्त डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० हरवंशलाल, पं० अयोध्या नाथ शर्मा, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, डॉ० श्रीकृष्ण लाल, डॉ० देवराज, डॉ० रघुवंश आदि विद्वानों ने भी मुझे अनेक प्रकार से उपकृत किया है। अतः उनके प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। अपने विभाग के प्रोफ़ेसर बन्धु श्रीयुत् रामप्रकाश अग्रवाल तथा डॉ० राजकिशोर कक्कड़ ने इस कार्य में समय-समय पर जो मुझे सौहार्द्रपूर्ण सुझाव–परामर्श आदि प्रदान किये हैं, उसके लिए मैं उन्हें क्या दूँ, कुछ समझ में नहीं आता! बही में हम लोगों का हिसाब काफ़ी उलझा पड़ा है! वे नाराज न हों तो मैं हार्दिक धन्यवाद के चलते सिक्कों में ही उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

मैं आदरणीय डॉ० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०, आचार्य तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ समय निकाल कर इस ग्रंथ का 'प्राक्कथन' लिख कर मुझ पर अपना अतीव अनुग्रह दर्शाया है।

और, अब ! मेरे लिए प्रेरणा के स्रोत, पाण्डित्य, सौजन्य और सरसता की समन्वित मूर्ति श्रद्धेय पं० कृष्णानन्द जी पंत, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ, का मैं विनयपूर्वक अभिवंदन करता हूँ जिनके सुदक्ष निरीक्षण एवं सतत प्रेरणाशील निर्देशन में रह कर मैंने अपना प्रस्तुत शोध-कार्य समाप्त किया है।

ग्रंथ की प्रेस कॉपी तैयार करने में सहायता देने तथा बेगार के अन्य अनेक काम बड़ी मुस्तैदी के साथ करने वाले अपने प्यारे छात्रों—सर्वश्री पुरुषोत्तमदास राठी एम० ए०, हरिश्चन्द्र वर्मा एम० ए०, ईश्वरलाल देसाई एम० ए०, महेशचन्द्र एम० ए०, दाताराम एम० ए० तथा श्रीराम नागर को मैं इस समय कैसे भूल सकता हूँ ! जो 'प्रेम-मजूरी' उन्होंने की है उसके लिए वे मेरे स्नेह और शुभाकांक्षाओं के पूर्ण अधिकारी हैं।

प्रकाशकों तथा मुद्रकों ने जिस तत्परता तथा सुरुचि के साथ इस ग्रंथ को प्रस्तुत किया है इसके लिए वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

मानव-ज्ञान सतत विकासशील, प्रवहमान, अनन्त और अथाह है, और मनुष्य की शक्तियाँ और साधन अत्यन्त सीमित ! ऐसी स्थिति में 'पूर्णता' शब्द का उच्चारण ही घोर दम्भ-मात्र होगा। इस ग्रन्थ में अनेक भूलों तथा प्रूफ़-रीडिंग-सम्बन्धी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। सहृदय पाठक एवं विद्वज्जन मुझे कृपापूर्वक इसके लिए क्षमा करें। यदि वे मेरी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करें तो मैं उनका आभारी हूँगा।

अन्त में, केवल एक बात और। विषय इतना अगाध एवं विस्तृत है कि यदि यह ग्रन्थ अनुसंधान की भावी सम्भावनाओं की ओर इङ्गित करके शोधार्थियों में नए क्षितिज खोलने की चाह उद्दीप्त करने वाला तथा सामान्य पाठकों में विषय के प्रति अभिरुचि जाग्रत करने वाला सिद्ध हुआ तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

मेरठ कॉलेज, मेरठ
शरद् पूर्णिमा, संवत् २०१५
(२७. १०. १९५८)

रामेश्वरलाल

प्राक्कथन

विगत दस–बारह वर्षों से हिन्दी में जितना शोध-कार्य हुआ है वह परिमाण में पिछले समस्त शोध-कार्य से लगभग चार गुना है। निश्चय ही अनुसंधान की इस सामूहिक चेतना से हिन्दी साहित्य को अनेक अमूल्य ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, किन्तु अनुसंधाताओं की इस सतत वर्धमान संख्या ने कतिपय गंभीर समस्याएँ भी विचारार्थ उत्पन्न कर दी हैं। शोध के उपयुक्त विषय-चयन की समस्या अब प्रायः प्रत्येक अनुसंधाता के सामने आती है, क्योंकि नित्य नवीन अनुसंधेय विषय भी असंख्य नहीं हो सकते। पुनरावृत्ति को बचाकर ज्ञानवर्धक परिणाम प्रस्तुत करने वाला अनुसंधान ही समादृत हो सकता है। किन्तु हिन्दी साहित्य के विस्तार काल और कार्य की विशद व्यापकता को देखते हुए हमें निराश होने का अवकाश नहीं है। हमारे प्राचीन और नवीन साहित्य में अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनका तात्विक दृष्टि से अभी तक गंभीर विवेचन नहीं हुआ है। साथ ही विभिन्न प्रादेशिक भारतीय भाषाओं में समान रूप से पाई जाने वाली अनेक प्रवृत्तियों में आश्चर्यजनक साम्य है। कहीं मल स्रोत का साम्य है और कहीं विकास की सरणियाँ समान हैं, तो कहीं परस्पर आदान-प्रदान मिलता है। ये तथ्य अत्यन्त मूल्यवान हैं। सत्य की शोध के लिए सामान्य रूप से और भारत की सांस्कृतिक परम्परा की मौलिक एकता के लिए विशेष रूप से इनका महत्त्व है। इनका अनुसंधान हिन्दी-शोध के इतिहास में एक नवीन दिशा का उद्घाटन करेगा, अतः तत्त्व-चिन्तन में आनन्द प्राप्त करने वाले शोधार्थी को किसी काल विशेष के साहित्य की आभ्यन्तर प्रवृत्तियों का अनुशीलन करने में प्रवृत्त होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि समीक्षक की गवेषणात्मक दृष्टि से अनुसंधान करने पर उसे अनेक मौलिक तत्त्वों के उद्घाटन का श्रेय प्राप्त होगा। तथ्य परक शोध की दृष्टि से कार्य करने वाले अनुसंधाताओं के लिए भी भारतीय भाषाओं के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन विपुल सम्भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण नवीन पथ का उन्मेष कर सकेगा।

अनुसंधान के स्वरूप के विषय में मेरा ध्यान बार-बार एक मूल प्रश्न की ओर आकृष्ट होता है। प्रश्न यह है कि अनुसंधान और आलोचना में क्या अन्तर है? आज से दस–बारह वर्ष पूर्व जब हिन्दी में शोध कार्य व्यवस्थित रूप से आरम्भ हुआ तो एक आवाज़ यह उठी कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। यह नारा कुछ अजीब सा है; किन्तु इसकी भी एक ऐतिहासिक भूमिका है। सन् '४० के बाद जब विश्वविद्यालयों में शोध की नियमित व्यवस्था हो रही थी, तब हिन्दी

के साहित्यिक क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विवेचन-पद्धति का बोलबाला था। शुक्ल जी की मेधा अपूर्व थी—उनकी पैठ इतनी गहरी और पकड़ इतनी मज़बूत थी कि कट्टर से कट्टर विरोधी भी उससे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता था। शुक्ल जी ने पूरी दो शताब्दियों के बाद भरत मुनि से पंडितराज जगन्नाथ तक आकर लुप्त हो जाने वाली भारतीय साहित्य-चिन्तन-परम्परा को अपनी प्रतिभा के आलोक से पुनरुद्दीप्त किया। किन्तु उनकी विवेचना-पद्धति में तथ्य-शोध की अपेक्षा तत्त्व-चिन्तन का प्राबल्य था—वृत्त की अपेक्षा विचार की गरिमा थी। उदाहरण के लिए अपने इतिहास में उन्होंने सामग्री का संकलन प्रायः पूर्ववर्त्ती लेखकों से ही किया है, उनका ध्यान तो रूप योजना और विवेचन पर केन्द्रित रहा है। उधर पश्चिम के कुछ विश्वविद्यालयों में बहुत पहले से एक नूतन शोध-प्रणाली का विकास हो रहा था, जहाँ विज्ञान की तथ्यपरक विधियों का प्रयोग बढ़ते-बढ़ते साहित्य की सीमा में भी प्रवेश कर चुका था। शुक्ल जी की पद्धति में इसका प्रायः अभाव था—और इधर शोध की नई व्यवस्था में इस पर अत्यधिक बल देने का प्रयत्न किया जा रहा था। इसी संघर्ष की आवाज़ थी यह नारा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इससे लाभ नहीं हुआ, यह बात नहीं। एक झटके के साथ इस प्रकार के नारों ने दो उपेक्षित अंगों अर्थात् तथ्याधार और शिल्प-विधा की ओर शोधक का ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु हानि भी कम नहीं हुई; अनेक शोधक आलोचना के नीचे (?) स्तर से ऊपर उठकर अनुक्रमणिका की सुख सरल भूमिका पर विचरण करने लगे। आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व रोमानी कवियों ने पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में एक अत्यन्त मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना की थी और वह यह कि किसी कला-कृति की समीक्षा-पद्धति का निष्कर्षण उसके प्रेरक तत्त्वों तथा रचना-विधान में से ही करना चाहिए। यह सिद्धान्त शोध के क्षेत्र में भी मान्य है। विद्या के प्रत्येक अंग के शोध-सिद्धान्त और शोध-प्रणाली का निर्धारण कुछ हद तक उसके अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुरूप ही होना चाहिए। चट्टान और हीरे के तराश की प्रविधि एक नहीं हो सकती। इसलिए विज्ञान या समाज-विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रयोग उपयोगी हैं वे सभी साहित्य के क्षेत्र में भी यथावत् ग्राह्य हैं, यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। साहित्यिक शोध की भी एक व्यवस्थित शिल्प-विधा होनी चाहिए किन्तु यह शिल्प-विधा साहित्य के स्वरूपानुरूप ही होगी जो तथ्य संकलन मात्र के लिए उपयोगी न होकर तत्त्व शोध में उचित सहायता दे सके। आज तक सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की प्रगति मानव-सत्य के अनुसंधान में ही लगी हुई है। जब कभी मानव-तत्त्व से असम्पृक्त सत्य का शोधन हुआ है तभी अणुबम जैसी वस्तु का आविष्कार हो गया है। साहित्य का तो समस्त व्यापार-विनिमय ही मानव तत्त्वों में होता है, अतः साहित्यिक शोध की सिद्धि साहित्य में अभिव्यक्त मानवात्मा के साक्षात्कार से भिन्न और कुछ नहीं हो सकती, और

आत्मा के साक्षात्कार के लिए केवल तथ्य-सीमित दृष्टि, अधिक से अधिक वैज्ञानिक होने पर भी, श्रेयस्कर नहीं मानी जा सकती। मैं तथ्यानुसंधान का किसी प्रकार अवमूल्यन नहीं करना चाहता—तथ्य निर्णय सभी प्रकार के अनुसंधान की आधार-भूमि है। शुक्ल जी के समय में उसकी उपेक्षा से अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई थीं—इस पद्धति के आलम्बन से उनका निराकरण हुआ है और राशि-राशि अज्ञात सामग्री प्रकाश में आई है। फिर भी मैं यही मानता हूँ कि तथ्य-शोध को साधन ही मानना चाहिए, सिद्धि नहीं।

अनुसंधान के सम्बन्ध में मैंने अपना उपर्युक्त विचार इस प्रबंध की भूमिका के प्रसंग में जानबूझ कर प्रस्तुत किया है। आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य की शोध यथार्थ में साहित्य की दो विशिष्ट प्रवृत्तियों का तत्त्वानुसंधान है। इनकी शोध के लिए अनुसंधाता को केवल वृत्तमात्र पर सन्तोष नहीं करना होगा। काव्य के मूल में सन्निविष्ट प्रेम और सौंदर्य का तात्त्विक दृष्टि से उद्घाटन करके ही अनुसंधाता को आत्मपद-लाभ होगा। इस प्रकार के सूक्ष्म विषय का अनुसंधान यदि केवल तथ्य शोध तक ही सीमित बना रहे तो उसे वैज्ञानिक शोध की परिपाटी का पालन मात्र समझना चाहिए; उसके द्वारा काव्य की आत्मा का साक्षात्कार संभव नहीं। प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने इस प्रश्न को गंभीरता के साथ समझा है और उसका उचित रूप से निर्वाह किया है।

प्रेम और सौंदर्य काव्य के प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। रसराज शृङ्गार की अभिव्यक्ति प्रेम की आधार भूमि पर ही होती है। प्रेम के स्वरूप की इयत्ता नहीं है। प्रेम की व्यापक परिधि में जड़ जगत् की सामान्य से सामान्य वस्तु से लेकर प्रकृति, देश, विश्व, मानव और ईश्वर सभी का समाहार होता है। भक्ति सूत्र प्रणेता नारद ने 'अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्' कह कर उसे वर्णनातीत ही ठहरा दिया है। महाप्रभु चैतन्य ने 'प्रेमापुमानो महान्' द्वारा प्रेम का उदात्त और अवदान रूप प्रस्तुत किया है। सौंदर्य के सम्बन्ध में तो साहित्य शास्त्रीय दृष्टि और अधिक सूक्ष्म है। आत्मपरक और वस्तुपरक दृष्टि से सौंदर्य का विवेचन जहाँ उसकी आधार भूमियों का पार्थक्य द्योतित करता है वहाँ सौंदर्यबोध-जन्य आनन्द के स्वरूप का महत्त्व भी प्रकट करता है। काव्य का जगत सौंदर्य का जगत है, कला में आनन्द विधायक तत्त्व सौंदर्य ही है अतः सौंदर्य की शोध उसके पारिभाषिक स्वरूप तक ही सीमित नहीं हो सकती। उसकी यथार्थ शोध के लिए सौंदर्य की मूल चेतना के अवयवों का अनुशीलन अनिवार्य होगा; और यह अनुशीलन निश्चय ही तथ्यपरक दृष्टि से सम्भव नहीं है।

अभी तक हिन्दी-साहित्य में प्रेम और सौंदर्य का समीक्षात्मक विवेचन अधिक नहीं हुआ है। भक्ति और रीति कालीन कवियों की प्रेम और सौंदर्य भावना पर

आचार्य शुक्ल जी ने यथास्थान अपनी समीक्षाओं में संक्षिप्त विचार व्यक्त किये हैं। किन्तु आधुनिक हिन्दी कविता पर शुक्लजी ने भी अधिक नहीं लिखा। विशुद्ध काव्यात्मक संवेदन की अपेक्षा शुक्ल जी का ध्यान नैतिक तत्त्वों के माध्यम से लोक-संग्रह के उद्घाटन की ओर अधिक था, इसलिए प्रेम, शृङ्गार, सौंदर्य आदि भावनागत विषयों पर उन्होंने विस्तार से विचार करना उचित नहीं समझा। प्रेम और सौंदर्य की मीमांसा नैतिक आवरणों की सीमाओं से मुक्त हो कर ही की जा सकती है। वैष्णव भक्ति साहित्य में मधुर रति, माधुर्य भाव और उज्ज्वल रस द्वारा जहाँ अपूर्व रसोल्लास का वर्णन है, शुक्ल जी ने उसका भी सत्कार नहीं किया। लौकिक प्रेम वर्णन में भूमा के आनन्द की परिणति कदाचित् उन्हें समीचीन प्रतीत नहीं हुई।

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य का वर्णन पूर्ण समारोह के साथ हुआ है। भारतेन्दु और द्विवेदी युगीन कवियों ने प्रेम और सौंदर्य को वस्तुपरक दृष्टि से देखा था। उनके लिए आदर्श प्रेम की अभिव्यक्ति देश, जाति, या विश्व के लिए आत्मोत्सर्ग तक ही सीमित थी। सौंदर्य के प्रति भी उनका दृष्टिकोण स्थूल ही था। किन्तु छायावादी कवियों ने प्रेम और सौंदर्य को आत्मपरक दृष्टि से वर्णित करके उसके मार्मिक स्वरूप का उद्घाटन किया। वस्तु और शिल्प का मणि कांचन संयोग करके उन्होंने प्रेम और सौंदर्य वर्णन को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया। दूसरे शब्दों में, छायावादी कविता का यह सबसे समृद्ध पक्ष है। हर्ष का विषय है कि श्री खण्डेलवाल जी ने अनुसंधानात्मक अध्ययन द्वारा आधुनिक कविता के इस रमणीय पक्ष के उद्घाटन का उपक्रम किया है। प्रेम और सौंदर्य के सैद्धान्तिक विवेचन के साथ आधुनिक हिन्दी कविता में उसकी शोध का यह प्रथम स्तुत्य प्रयास है।

श्री रामेश्वरलाल खण्डेलवाल कारयित्री प्रतिभा सम्पन्न कवि और लेखक हैं। कविता के प्रति नैसर्गिक प्रेम होने के कारण अपने अध्यापकीय जीवन के श्रम का परिहार वे गीत-रचना द्वारा करते रहते हैं। शोध के लिए प्रेम और सौंदर्य जैसे स्निग्ध विषय का चयन भी उनकी परिष्कृत भावुक वृत्ति का परिचायक है। पिछले आठ-दस वर्षों से मेरा उनकी साहित्यिक गतिविधि से परिचय रहा है। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि वे अपने अध्ययन और अध्यवसाय द्वारा निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं। मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार वे अब तक सफलता प्राप्त करते रहे हैं वैसा ही उज्ज्वल भविष्य उनके सामने है।

—नगेन्द्र

विजयादशमी, सम्वत् २०१५

आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

विषय-सूची

सौंदर्य

प्रकरण—२

भारतेन्दु काल २०२—२३२

प्रकरण—३

द्विवेदी काल २३३—३११

प्रकरण-४

प्रकरण—५

प्रगतिवाद-प्रयोगवाद तथा अन्तश्चेतनावाद ४३८—४७१

प्रकरण—६

उपसंहार ४७२–४८३

परिशिष्ट—१

परिशिष्ट—२

परिशिष्ट—३

परिशिष्ट—४

परिशिष्ट—५

"Let us not judge life by its number of breaths, but by the number of times that breath is held, or lost, either under a deep emotion caused by love, or when we stand before an object of interest or beauty."

—W. H. Davies,

आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौंदर्य

भूमिका

१. विषय-प्रवेश

(क) सामान्य

सृष्टि के समस्त प्राणियों में मानव प्राणी ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।[1] उस का निर्माण भी अत्यन्त जटिल व रहस्यपूर्ण रचना है । इसीलिए संसार के सब शास्त्र उसके शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक पक्षों की गहरी छानबीन करके उसके वास्तविक स्वरूप का उद्‌घाटन करने में शताब्दियों से संलग्न हैं । जिस प्रकार भौतिक विज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि अनेकानेक विषय उस के सांगोपांग अध्ययन में लगे हैं, उसी प्रकार मनोविज्ञान-शास्त्र केवल उसके मन के स्वरूप व क्रियाकलाप, आदि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण-विवेचन में लगा हुआ है । उस से हमें पता चलता है कि मनुष्य के मन नामक भाव-विचार केन्द्र की जड़ें अपनी सुदूरतम गहराइयों में कुछ ऐसी शाश्वत व सूक्ष्मतम भावनाओं से रस ग्रहण करती रहती हैं जो उसके अस्तित्व को सजीव व सरस ही नहीं बनाये रहतीं अपितु उस की समस्त प्रकट-अप्रकट गतिविधियों का भा प्रतिपल नियमन, नियंत्रण व संचालन करती रहती हैं । ये मूल वृत्तियां हैं—प्रेम और सौंदर्य की भावनाएं । ये ही मानव की समस्त स्थूल-सूक्ष्म सत्ता के मूल में हैं और अपने रस से जीवन के जटिलतम स्नायु-जाल को अनुप्राणित किये हुए हैं ।

प्रेम और सौंदर्य की ये अनादि भावनाएं मानव प्राणियों की ही सम्पत्ति नहीं; ये मानवेतर जगत् में भी परिव्याप्त हैं । निम्न जीव-जगत् और उससे आगे बढ़ कर वनस्पति-जगत् में भी प्रेम और सौंदर्य की चेतना आश्चर्यजनक रूपों में लक्षित होती है ।[2] भ्रमर और कलिका, चन्द्र किरण व समुद्र की लहर, सूर्य किरण व कमल, सूर्यातप व वनस्पति तथा प्रकृति के अन्य उपादानों के पारस्परिक आकर्षण इसी

---

१. "ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति । पुरुषो वाव सुकृतम् ।
—ऐतरेय उपनिषद्, १ । २ । ३.

२. Will Durant : '*Mansions of Philosophy*' (1929), Chap. VII & XIII.

भावना की जड़-चेतन-व्यापी सत्ता का उद्घोष कर रहे हैं।[1] अभिप्राय यह है कि प्रेम-सौंदर्य की भावनाओं का चराचर जगत् व जीवन में शाश्वत स्थान व महत्व है।

मनोविज्ञान तो इन वृत्तियों के स्वरूप का वैज्ञानिक रीति से स्पष्ट व तटस्थ अध्ययन मात्र करके ही मौन हो जाता है किन्तु काव्य और कलाएं इन वृत्तियों के निरूपण के माध्यम से मानव को जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य—आनंदानुभूति[2]—की प्राप्ति कराने में प्रेरक व सहायक होती हैं।

(ख) विषय का महत्त्व

इस प्रकार साहित्य अथवा काव्य में भी प्रेम-सौंदर्य की भावनाओं का महत्व स्पष्ट है। ये भावनाएं मानव प्राणियों के लिए सार्वभौम व सार्वकालिक हैं। यह मानव-स्वभाव है कि जिस भाव का वह अनुभव करता है वह उसकी अभिव्यक्ति भी करना चाहता है। ऐसा करने में उसे एक प्रकार के सहज मानसिक संतोष की अनुभूति होती है। हृदय में उठे हुये सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति से यह संतोष प्राप्त होता है, या हो सकता है, किन्तु प्रेम-सौंदर्य की शाश्वत भावनाओं की अभिव्यक्ति में तो उसे सर्वाधिक सुख का अनुभव होता है क्योंकि एक ओर तो उसे इसके द्वारा अपने हृदय के समस्त अस्तित्व के तलवर्ती गंभीरतम भावों के प्रकाशन से उत्पन्न सहज सुख मिलता है और दूसरी ओर (यदि वह कवि अथवा कलाकार हुआ तो) अपनी कला के द्वारा पाठक या श्रोता के हृदय पर पड़े हुये नियत प्रभाव की सफलता देख कर एक अनिर्वचनीय तुष्टि होती है। संसार के सभी कलाकारों, कवियों, भक्तों, दार्शनिकों आदि की सारी अभिव्यक्ति को देख कर यही कहा जा सकता है कि प्रेम और सौंदर्य की तीव्रतम अनुभूति के प्राणवान् भाव-स्फोट में ही हमें उनका वास्तविक हृदय देखने को मिलता है। संसार के सभी अमर कवियों के काव्य के दो ही मूलभूत अथवा आरंभिक विषय रहे हैं—प्रेम और सौंदर्य। और ये ही उनके काव्य के मूलतत्व और अजस्र प्रेरणा के अक्षय स्रोत भी रहे हैं। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर, जायसी, प्रसाद, पंत, रवीन्द्र, अरविन्द, सरोजिनी नायडू आदि भारतीय कवि जिस प्रकार प्रेम और सौंदर्य के अमर गायक हैं, उसी प्रकार होमर, वर्जिल, दाते, गेटे, थिओक्रीट्स, पिंडार, शेक्सपियर, मिल्टन,

---

१. अंग्रेज कवि शैले (P. B. Shelley) की *"Love's Philosophy"* तथा 'प्रसाद'—कृत 'कामायनी' (जैसे, 'काम सर्ग' में 'कुंकुम का चूर्ण' से 'दो दो साथ हुए' तक के छन्द) में तथा ऐसी ही अन्य रचनाओं में इस तथ्य का सुन्दर काव्यात्मक निरूपण हुआ है।

२. तैत्तिरीयोपनिषद्, षष्ठ अनुवाक।

वर्ड्स्वर्थ, शैले, कीट्स, टैनीसन व ब्राउनिंग आदि कवि पाश्चात्य जगत् के प्रेम व सौंदर्य के मूर्धन्य कवि हैं। वस्तुतः प्रेम और सौंदर्य—इन दो तत्वों को आप काव्य से निकाल दीजिये तो शेष अंश प्राण-शून्य शब्द-राशि मात्र रह जायगा। केवल उसी युग या उसी कवि का काव्य सब से महाप्राण, मंजुल, मधुर व उत्प्रेरक होता है जिस में उक्त सनातन तत्वों की सहज स्वाभाविक व संपुष्ट नियोजना हो। पर, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, प्रेम और सौंदर्य का परिष्कृत व उदात्त स्वरूप ही काव्य को स्फूर्तिवान् व कवि को गौरवशाली बनाते हैं। जो काव्य इस स्वरूप का विवेकबुद्धि से स्वीकार न कर केवल कुरुचिजनक व अधोमुखी वासनाओं के विज्ञापन में ही कला की अथ-इति मान बैठना है वह साहित्य के इतिहास में केवल तुलनात्मक अध्ययन की ही सामग्री छोड़ जाय तो छोड़ जाय, जीवन की सर्वोच्च आनन्द-साधना में श्रेय का अधिकारी या दावेदार नहीं ठहर सकेगा।

साहित्य का स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन इन तत्वों के समुचित, व्यवस्थित, व कौशलपूर्ण समावेश पर ही निर्भर है। यह नियम है कि जो भावनाएं या विषय साहित्य में या जीवन में जितने ही अधिक व्यापक और सामान्य अनुभव के होते हैं उनका स्वरूप प्रायः उतना ही अस्थिर व अनिश्चित रहता है; कभी कभी विकृत भी हो चलता है। यद्यपि प्रेम व सौंदर्य की भावना की पूर्ण अनुभवशीलता या प्रामाणिकता का निर्धारण करने का अधिकारी व्यक्ति स्वयं ही है[1] किन्तु जाति की सांस्कृतिक चेतना के भव्य प्रतीक—साहित्य या काव्य के ऐसे मूलभूत व शाश्वत महत्व के तत्वों के काव्योचित स्वरूप की परीक्षा, साहित्य के व्यापक हित (जिसमें 'कला कला के लिए' व 'कला समाज के लिए' दोनों दृष्टिकोण सम्मिलित हैं।) की दृष्टि से, मानव-जीवन के युग-युग-प्रतिष्ठित व महनीय जीवन-मूल्यों के प्रकाश में ही निभ्रांत रूप से हो सकती है। ऐसे ऊंचे धरातल पर इस विषय के वैज्ञानिक अनुशीलन का प्रयत्न निश्चित ही एक ऐसा कार्य है जो ज्ञान विज्ञान के विकास की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त व उपादेय है।

(ग) विषय की उपलब्ध सामग्री

यद्यपि यह विषय बहुत ही महत्वपूर्ण है किंतु हिन्दी में इस विषय पर प्राप्त प्रामाणिक सामग्री अन्य साहित्यों को देखते हुए बहुत ही अल्प है। हाँ, कुछ पुस्तकें व स्फुट लेख आदि अवश्य ऐसे हैं जिनसे उनके लेखकों की पारदर्शिनी दृष्टि व विषय की समूल पकड़ का पता चलता है। हर्ष की बात है कि हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अब इस विषय की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगा है। अंग्रेजी भाषा में तो इस विषय पर विशाल सामग्री हमें प्राप्त है। पश्चिम में सौंदर्य-शास्त्र प्रायः एक

---

१. Clive Bell : *Art* (London, 1947) P. 9.

व्यवस्थित शास्त्र बन चुका है। भारतीय भाषाओं में भी इस विषय पर पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की जा रही है (देखो ग्रन्थ-सूची 'परिशिष्ट' में)।

हिन्दी में प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित उपलब्ध महत्त्वपूर्ण सामग्री की तालिका इस प्रकार है :—

प्रेम

१. चिन्तामणि, भाग १ —ले०—पं० रामचंद्र शुक्ल
('श्रद्धा-भक्ति' व 'लोभ और प्रीति' नामक लेख)
२ जायसी-ग्रंथावली की 'भूमिका' —ले०—पं० रामचंद्र शुक्ल
('ईश्वरोन्मुख प्रेम' व 'प्रेम-तत्व' नामक प्रकरण)
३. सूर-साहित्य ('प्रेम-तत्व' नामक प्रकरण)—ले०—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी
४. प्रेम-योग —ले०—श्री वियोगी हरि
५. बुद्धितरंग (प्रेम-नामक लेख) —ले०—पं० सद्गुरुशरण अवस्थी
६. हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह —ले०—पं० परशुराम चतुर्वेदी
७. हिन्दी कविता में युगान्तर (विशेषत: ५वां खंड) —ले०—डा० सुधीन्द्र

सौंदर्य

८. चिन्तामणि, भाग १ —ले०—पं० रामचंद्र शुक्ल
('कविता क्या है' नामक लेख में 'सौंदर्य' प्रकरण)
९. भारतीय साहित्यशास्त्र —ले०—पं० बलदेव उपाध्याय
(प्रथम खंड पृ० ७ से ९)
१०. चिन्तामणि, भाग १ —ले०—पं० रामचंद्र शुक्ल
('काव्य में प्राकृतिक दृश्य' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक लेख)
११. आधुनिक काव्य में सौंदर्य-भावना —ले०—श्री शकुन्तला शर्मा
१२. कला और सौंदर्य —ले०—श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'
१३. सौंदर्य विज्ञान —ले०—श्री हरिवंश सिंह शास्त्री
१४. बुद्धितरंग ('सौंदर्य' नामक लेख) —ले०—पं० सद्गुरुशरण अवस्थी
१५. साहित्य और सौंदर्य —ले०—डा० फतहसिंह
१६. साहित्यावलोकन —ले०—श्री विनयमोहन शर्मा
('कलाकार और सौंदर्य बोध' नामक लेख)
१७. वक्रोक्ति और अभिव्यंजना —ले०—श्री रामनरेश वर्मा
(सौंदर्य शास्त्र का इतिहास नामक प्रकरण)
१८. चिद्विलास —ले०—बाबू सम्पूर्णानन्द
('सौंदर्याधिकरण' प्रकरण व 'सौंदर्य विज्ञान' की भूमिका)

१९. काव्य में अभिव्यंजनावाद (३रा अध्याय)—ले०–श्री 'सुधांशु'
२०. साहित्यालोचन (३रा अध्याय) —ले०–बाबू श्यामसुन्दर दास
२१. कला —ले०–श्री हंसकुमार तिवारी
२२. भारतीय साहित्यशास्त्र —ले०–पं० बलदेव उपाध्याय
(द्वितीय खण्ड, पंचम परिच्छेद, पृष्ठ ६१७–७०४ सौंदर्य, रस, प्रकृति व प्रेम का विवेचन)
२३. वाङ्मय विमर्श —ले०–पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
(पृ० १९५- २०५ एवं पृ० २१३)
२४. पंत की काव्य-चेतना में गुंजन —ले०–प्रो० वासुदेव
(प्रकरण १२ : 'गुंजन में पंत का सौंदर्य चिन्तन' तथा प्रकरण १३, 'गुंजन' में पंत का प्रकृति प्रेम)
२५. दर्शन और जीवन —ले०–बाबू सम्पूर्णानन्द
(तृतीय खंड, 'सुन्दरम्' प्रकरण)
२६. सौंदर्य-शास्त्र तथा उसकी विभिन्न पद्धतियां (लेख) "साहित्य संदेश" फरवरी १९५२ —ले०–प्रो० भोलाशंकर व्यास, एम०ए०
२७. छायावाद युग —ले०–श्री शम्भूनाथ सिंह
('सौंदर्य-भावना और प्रकृति' तथा 'चित्रकला' नामक प्रकरण)
२८. हिंदी कविता में पेड़ पौधे फूल पशु पक्षी—ले०–श्री शिवदानसिंह चौहान; (लेख), 'प्रगतिवाद' नामक पुस्तक में।
२९. सौंदर्य तत्व और आलोचना के मानदण्डों का विकास (लेख), त्रैमासिक पत्र आलोचना", अक्टूबर १९५३
३०. आधुनिक काव्य में सौंदर्य बोध (लेख) —ले०–श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय 'साहित्य संदेश', जनवरी-फरवरी', ५४
३१. सौंदर्य और उसका मूल्य (लेख) —ले०–श्री ब्रजभूषण पांडेय 'त्रिपथगा' फरवरी, १९५७
३२. सौंदर्य शास्त्र —ले०–श्री हरद्वारीलाल
३३. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य; 'पूर्वार्द्ध खण्ड' में प्रेम और भक्ति का निरूपण; ले०—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

यही प्रमुख सामग्री हमारे सामने है। जो सामग्री है वह चार प्रकार की है : (१) प्रेम और सौंदर्य के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक या शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने वाले लेख और प्रबन्ध आदि; जैसे, उपरोक्त तालिका में ४, ६, ७, १२, १४, १७, १९, २०, २१, २३, २४, २७, ३०, ३१ व ३३ नं० की सामग्री। (२) उक्त वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक ढांचे के आधार पर ही सरस-साहित्यिक विश्लेषण करने वाले लेख

जैसे, १, ८ व १० नं० की सामग्री। (३) विषय का सर्वांगपूर्ण व भरा-पूरा विवेचन प्रस्तुत करने वाले लेख आदि, जिनमें वर्गीकरण, विवेचना, विकास-क्रम-निरूपण व साहित्यिक व्याख्या भी सम्मिलित है; जैसे, १, ८, ११, १३, १५, १६, १८, २२, २५, २६ व २८ नं० की सामग्री। (४) आलोच्य भावनाओं का सरस-साहित्यिक शैली में कल्पनाप्रधान, चटकीला व चहचहाता चित्रण करने वाले लेख आदि; जैसे, श्री वियोगीहरि का 'प्रेमयोग'।

इन रचनाओं में स्वतंत्र रूप से या तो सौंदर्य का विवेचन-विश्लेषण है या प्रेम का। प्रेम सौंदर्य की वृत्तियों में परस्पर घनिष्ट संबंध होता है। किन्तु उक्त सामग्री में दोनों वृत्तियों में परस्पर संबंध-स्थापना आदि का, और उनके प्रकाश में काव्य के विश्लेषण या मूल्यांकन का कोई विशिष्ट प्रयत्न लक्षित नहीं होता।

(घ) प्रस्तुत प्रबन्ध की विशेषता

प्रेम 'आश्रय' के हृदय की भावना है और सौंदर्य 'आलंबन' का गुण-धर्म। आश्रय के संबंध से ही आलंबन का और आलंवन के संबंध से ही आश्रय का महत्व भली भांति समझा जा सकता है। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, अपनी पूर्णता के लिए एक दूसरे पर आश्रित व परस्पर आकांक्षी हैं। अतः दोनों के 'पारस्परिक संबंध का अध्ययन पूर्ण अध्ययन की दृष्टि से आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। एक पक्ष को छोड़ कर दूसरे पक्ष का अध्ययन अपूर्ण व एकांगी है। इस दृष्टि से हिन्दी में काव्य-विवेचना के प्रसंग में दोनों का एक साथ वैज्ञानिक अध्ययन करने की आवश्यकता पूरी पूरी बनी हुई थी। प्रस्तुत प्रबंध में मुख्यतः इसी अभाव की पूर्ति का एक विनम्र प्रयत्न किया गया है। हमारे देखने में हिन्दी में अभी तक ऐसा कोई कार्य नहीं हो पाया है जिसमें शुद्ध सत्यानुसंधान की दृष्टि से वैज्ञानिक पद्धति पर, प्रेम व सौंदर्य की भावनाओं की भारतीय व पाश्चात्य शास्त्र-सम्मत एक सुव्यवस्थित, सुगठित व साहित्य-मान्य धारणा उपस्थित की गयी हो, चिर प्रतिष्ठित (साहित्य शास्त्र अथवा अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत स्वीकृत सभी साहित्य-सम्प्रदायों के द्वारा) भारतीय रससिद्धान्त से उसकी संगति बैठा कर उक्त धारणा के अनुसार आधुनिक हिन्दी के प्रेम-सौंदर्य-काव्य की विस्तृत समीक्षा की गई हो, और साहित्यिक जातीय, अथवा जीवन के सनातन आदर्शों की कसौटी पर कस कर उक्त काव्य के मूल्यांकन का कोई प्रयास किया गया हो। प्रस्तुत प्रबन्ध इस दिशा की ओर यात्रा का एक उपक्रम है।

प्रेम व सौंदर्य के संबध में व्यक्ति-व्यक्ति की धारणा भिन्न है। मेरा प्रयत्न यह रहा है कि मैं इस व्यापक विभिन्नता के बीच में से होकर निकलने वाली एकता को लिए हुए कोई ऐसी औसत धारणा ढूंढ निकालूं जो साहित्य या काव्य को स्वीकृत हो सके। इस कार्य के लिए मुझे समस्त अतिवादों को छोड़ कर मध्यवर्त्ती मानवीय

दृष्टिकोण ही अपनाना पड़ा है क्योंकि मेरा दृढ़ विश्वास है कि लोक-सामान्य मानवीय भाव-भूमि को छोड़ कर चलने पर काव्य के नित्य स्वरूप की संतोषजनक व्याख्या नहीं हो सकती। अपने इस दृष्टिकोण का संक्षिप्त किन्तु यथासंभव स्पष्ट पल्लवन मैंने विषय-प्रवेश में ही आगे चलकर कर दिया है। मेरे इस दृष्टिकोण को समझ लेने पर ही विद्वज्जन मेरे विवेचन की संगति-असंगति अथवा उपयुक्तता अनुपयुक्तता का निर्णय कर सकेंगे।

मेरा मुख्य विषय आधुनिक हिन्दी-कविता में निरूपित प्रेम-सौंदर्य भावना के विवेचन तक ही सीमित है अतः मुख्य बल स्वभावतः इसी व्याख्यात्मक पक्ष पर ही रहा है। किन्तु इसके लिए पहले प्रेम-सौंदर्य की भावना के स्वरूप की विषय गौरवानुसारिणी सैद्धान्तिक मीमांसा भित्ति-स्थापना के लिए अनिवार्य थी। इन वृत्तियों के स्वरूप-निर्धारण के लिए पूर्व व पश्चिम के दर्शन, धर्म, कला व मनोविज्ञान के क्षेत्र से मैंने सामग्री ली है किन्तु उतनी ही जितनी से कि उक्त वृत्तियों की एक ऐसी व्यापक धारणा बंध जाय जिसके सहारे विषय की शास्त्र-सम्मत व सन्तोषजनक व्याख्या हो सके। ऐसी स्थिति में मुझ से यह आशा नहीं की जा सकती कि मैं वृत्तियों के मूल स्वरूप की शोध में, घर का काम धंधा छोड़ अन्तर्दृष्टि सम्पन्न मनोविज्ञानवेत्ता ही बन कर बैठ जाता। बस, मनोविज्ञान तथा अन्य क्षेत्रों के सुपरिपक्व व विवादातीत तथ्यों को लेकर ही मैं अपने गन्तव्य की ओर बढ़ चला हूँ। पश्चिम में सौंदर्य-संबंधी सैकड़ों सिद्धान्त या उपपत्तियां हैं किन्तु मैंने उनके उन्हीं या उतने ही अंशों से काम चला लिया है जो भारतीय रस-सिद्धान्त से मेल खाते हैं।

इस प्रबन्ध की मुख्य विशेषताएं संक्षेप में ये ही हैं। स्पष्ट है कि इनके द्वारा अब तक के अध्ययन की अनुपस्थितियों अथवा अभावों को दर्शाकर उसे पूरा करने का कुछ प्रयास किया गया है। पर है यह प्रयास ही। वस्तुतः यह विषय इतना विशाल है कि इस क्षेत्र में सर्वांगीण वैज्ञानिक अध्ययन के लिये अभी विस्तृत व उर्वर भूमि पड़ी हुई है। अपने प्रतिपाद्य विषय को शोधप्रक्रिया (प्रमाण-पुष्ट विषय-प्रतिपादन, सामग्री की सुव्यवस्था, तुलनात्मक परीक्षण, तथ्यानुशीलन के लिए उपयुक्त विश्लेषण-विवेचन आदि आदि) के अनुरूप ढालने व अपने निरीक्षणों या परिणामों तक यथाशक्य निःसंगता से, पहुँचने में मैंने पर्याप्त सतर्कता से काम लिया है। फिर भी ज्ञान अनन्त है और मनुष्य की बुद्धि अल्प व साधन सीमित। देश-काल ऐसे शुद्ध बौद्धिक अनुष्ठानों के लिये आज कितने साधक-बाधक हैं, यह विचारशील महानुभावों को बताने की आवश्यकता नहीं।

(ङ) विषय का नामकरण

दो शब्द विषय के नामकरण के लिए भी। विषय है—"आधुनिक हिन्दी-

कविता में प्रेम और सौंदर्य ।" वस्तुतः उक्त वृत्तियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवृत्ति छायावादी कविता में ही निष्पन्न हुई है । अतः 'आधुनिक' से मेरा अभिप्राय बहुत कुछ उक्त वाद की कविता से ही है । वृत्तियों के विकास के पूर्वापर संबंध को निरूपित करने के लिए ही आधुनिक युग में मैंने भारतेन्दुकाल, द्विवेदीकाल व प्रगतिवाद-प्रयोगवादकाल को ले लिया है जिससे कि इस व्यापक पृष्ठभूमि व परिवेश में छायावाद की विवृत्ति तुलना, प्रभाव-प्रतिक्रिया आदि की सहायता से भली-भांति हृदयंगम हो सके । यों, जैसा कि विषय-विवेचन से प्रतीत होगा, भारतेन्दुकाल व द्विवेदीकाल में भी प्रेम-सौंदर्य की भावना पूर्ववर्ती हिन्दी-कविता से (रीतियुग के बाह्य सौंदर्य-वर्णनों की दृष्टि से) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली गई । छायावाद उस सूक्ष्मता का चरम विकास है । वस्तुतः यह विकास भी अपने अतिरेक में इतना विषमानुपातिक हो चला कि प्रेम-सौंदर्य की सूक्ष्म भावना अस्वस्थ, क्लांत व जर्जर हो गई । इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया दिखाना भी आवश्यक था । प्रगतिवाद व प्रयोगवाद यह दिखाने के उद्देश्य से ही लिये गये हैं कि किस प्रकार छायावाद के अतिवाद ने प्रतिक्रिया के लिए मार्ग प्रशस्त किया । फिर विषय के अन्तर्मुख व सूक्ष्म विश्लेषण के लिए भी यह लाघव आवश्यक था अन्यथा सौ वर्षों का काल विस्तार नियत विषय व परिधि के लिए भारी पड़ता ।

विषय में मैंने प्रमुखता प्रेम को ही दी है । सौंदर्य का विषय वस्तुतः उससे संश्लिष्ट ही है । पर 'सौंदर्य' शब्द को और जोड़ कर मैंने उसकी इस युग में अर्जित स्वतन्त्र महत्ता को ही झलकाया है । यों सौंदर्य प्रेम के अंतर्गत आ जाता है अतः वह गौण स्थान का ही अधिकारी है । जहां प्रेम है वहां निश्चित ही सौंदर्य की स्थिति है, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि जहां सौंदर्य (स्थूल या बाह्य अर्थ में) है वहाँ प्रेम होगा ही ।[1] कहा जा सकता है—तो फिर 'प्रेम' शब्द से ही काम चल जाता । पर, 'सौंदर्य' ने छायावादी कविता में जो एक विशिष्ट स्थान व महत्व ग्रहण कर लिया है वह फिर स्वतन्त्र रूप से हमारे सामने न आ पाता ।

दृष्टि-संकोचवश सौंदर्य प्रायः श्रृंगार रस के आलम्बन के शारीरिक सौंदर्य का ही द्योतक समझा जाता रहा है किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, छायावादकाल में सौंदर्य की भावना सूक्ष्म व्यापक हो गई । अब 'सौंदर्य' की धारणा के अन्तर्गत प्रकृति का सौंदर्य, मानव-चरित्र का सौंदर्य (जिसे आचार्य शुक्ल 'शील' कहते हैं) और कल्पना व भाव आदि का सौंदर्य भी समाविष्ट हो चला । इस नूतन महत्वशालिनी सूक्ष्मता व व्यापकता को सूचित करने के लिए मुझे 'सौंदर्य' शब्द

---

१. इसकी विस्तृत विवेचना आगे देखिए—प्रकरण प्रथम ।

भी जोड़ना ही पड़ा । फिर 'प्रेम' और 'सौंदर्य'—ये शब्द समानार्थक भी तो नहीं हैं । ये जोड़ीदार हैं जो प्रायः साथ-साथ ही रहते हैं ।

(च) शोध की विषय-परिधि

ऊपर 'विषय का नामकरण' में संकेत किया ही जा चुका है कि प्रतिपाद्य विषय के लिये मैंने भारतेन्दुकाल से प्रगतिवाद तक का काल विस्तार लिया है। यों, केवल छायावादकाल तक ही विषय को एकांत सीमित रखा जा सकता था क्योंकि विवेच्य प्रवृत्तियों का सर्वाधिक संबंध इसी से है किन्तु मुझे इससे सन्तोष नहीं हुआ । मैंने सौ वर्षों की व्यापक पीठिका बनाकर ही विषय का परीक्षण किया है जिससे कि आलोच्य युग की प्रवृत्तियों का, पूर्वापर संबंध से, एक रोचक व भरा-पूरा अध्ययन प्रस्तुत हो सके । अतः भारतेन्दुकाल व द्विवेदीकाल में अधिक गहराई तक उतरना भी अभीष्ट नहीं था। हां, इन कालों को मैंने वहीं तक छूआ है जहाँ तक ये मेरे प्रमुख विषय के प्रतिपादन में साधक व सहायक हुए हैं ।

अलग अलग कवियों या अलग अलग कृतियों को लेकर इन प्रवृत्तियों की छानबीन नहीं की गई है बल्कि उनका विश्लेषण करने के लिये जितने विशिष्ट कवियों की आवश्यकता थी उनको ही ग्रहण किया गया है । तात्पर्य यह है कि उक्त प्रवृत्तियों का बहुपक्षी या सर्वमुखी अध्ययन ही उद्देश्य रहा है न कि उनके प्रकाश में एक एक कवि की आलोचना । इसीलिए युग के प्रतिनिधि कवि ही मुख्यतः लिये गए हैं । जो कवि जिस काल की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है वह अगले पिछले युग में रहते हुए भी, उसी सम्बन्धित काल में रखा गया है अथवा जिसका अधिकांश रचनाकाल जिस काल में पड़ा है उसे उसी युग का कवि मान लिया गया है ।

विषय का काव्य-शैली से घनिष्टतम संबंध होता है । भाषा, छन्द-विधान, अलंकार, कल्पना आदि सभी काव्य-तत्व शैली के अनिवार्य अंग हैं । इस नाते अभिव्यंजना-पद्धति का अध्ययन भी मेरे विषय की प्रकृत सीमा के भीतर ही पड़ता दिखाई पड़ता है । फिर शैली भी तो कला-गत सौंदर्य (जो मेरी धारणा के व्यापक सौंदर्य का एक अंग है) के अन्तर्गत ही है ।[1] पर गहराई से मनन करने तथा अधिकारी विद्वानों से विचार-विमर्श करने पर यह विषय अपने आप में एक सर्वथा स्वतन्त्र ही विषय जँचा । अतः विषय की सुडौलता की दृष्टि से शैली के संबंध में भी कुछ मोटे-मोटे संकेत करके हीं मैं सन्तुष्ट हो गया हूँ ।

प्रेम एक व्यापक व गंभीर विषय है । वह जीवन क्षेत्र में नाना रूपों में दिखाई पड़ता है : जैसे, दाम्पत्य, भक्ति, तथा प्रकृति, परिवार, देश, मानव या

---

१. विशेष देखिए—प्रथम प्रकरण में 'कला-गत सौंदर्य' शीर्षक वाला स्तम्भ ।

विश्व आदि के प्रति एक प्रेम। पर जैसा कि उसकी विस्तृत विवेचना से आगे चल कर विदित होगा, प्रेम का सबसे शक्तिशाली रूप वह है जो अन्य सभी प्रेम रूपों में तत्व रूप से प्रत्यक्ष-परोक्ष या प्रकट-अप्रकट रूप में समान भाव से प्रतिष्ठित है। विश्व के सभी साहित्यों में सदा से प्रेम का वही सनातन या केन्द्रीय रूप निरूपित होता रहा है। वह है उदात्त दाम्पत्य प्रेम या प्रणय।[1] प्रस्तुत प्रबन्ध में भी स्वभावत: वही रूप प्रमुख रहा है। स्पष्ट है कि इस केन्द्रीय रूप के साथ प्रेम के अन्य रूपों का समान महत्व के साथ निरूपण प्रस्तुत प्रबन्ध के लिये अत्यन्त दुर्वह हो जाता अत: उक्त अन्य रूपों के सम्बन्ध में भी यत्र-तत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत आदि करके ही संतोष करना पड़ा है।

इन विशिष्ट सीमाओं और मर्यादाओं में रहते हुए ही मैंने अपना शोध-कार्य किया है।

सिद्धान्त पक्ष के प्रतिपादन में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रेम-सौंदर्य की वृत्तियों के ऐतिहासिक विकास निरूपण, उनके विधायक तत्वों की गंभीर अन्वेपणा, तथा मनौवैज्ञानिक क्रिया-कलापों आदि की छानबीन में भी मैं नहीं उतरा हूँ। यह मेरा प्रकृत विषय नहीं है।

(छ) विषय-विवेचन का दृष्टिकोण

प्रेम के सम्बन्ध में दो जीवन-दृष्टियां (Attitudes) हो सकती हैं—(१) परिष्कृत मानवता (Refined humanism) का प्रतिनिधित्व करने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण, जिसके अनुसार प्रेम केवल पाशविक भोग का साधन नहीं है किन्तु वह मानव को पशुता से ऊपर उठा कर परिष्कृत मानवता की भूमि पर ले जाता है। परिष्कृत मानवता ही उसका लक्ष्य है। उसी में वह ईश्वरत्व पा लेता है। उसमें मानव का मानव के प्रति प्रेम ही सर्वोपरि है। मानव से प्रेम करने के मार्ग से ही ईश्वर-प्रेम की प्राप्ति होती है। मानव-प्रेम भी उज्ज्वल व गौरवपूर्ण है यह इस दृष्टिकोण में निहित है। (२) आध्यात्मिकता (Spiritualism) का प्रतिनिधित्व करने वाला पारलौकिक, दिव्य-प्रेम-सम्बन्धी या ईश्वरीय दृष्टिकोण (Divine attitude) जिसके अनुसार प्रेम का ऐन्द्रिकता अथवा सांसारिक भोग-भाव

---

१. **"वैसे तो भक्ति अथवा अपार्थिव प्रेम के सभी रूप—अनन्य, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य—राग अथवा रतिमूलक होने के कारण शृंगार के अन्तर्गत ही आते हैं; परन्तु यहाँ केवल दाम्पत्य या माधुर्य से ही हमको प्रयोजन है, क्योंकि शृंगार का वास्तविक रूप वही है।"**

—डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन, पृ० ४५।

से कोई सम्बन्ध नहीं होता।[1] इसमें ईश्वर का प्रेम ही सर्वोपरि है। उसके पश्चात् ईश्वर के नाते मानव से प्रेम हो भी सकता है और नहीं भी। ईश्वर के प्रेम की तुलना में मानवों का पारस्परिक प्रेम अचिर या भंगुर ही जँचता है।

आध्यात्मिक प्रेम में अलौकिक या लोकोत्तर रस (Supernatural aesthetic joy) होता है जो कलात्मक न होकर धार्मिक या ईश्वरीय कोटि का होता है। इस प्रेम में साधक आकंठ डूब जाता है, उसका समस्त अस्तित्व प्रेम की पवित्र आध्यात्मिक ज्वाला में ईंधन की तरह जल उठता है और जो कोई उसके सम्पर्क में आता है वह भी उस प्रेमाग्नि में दहकने लग जाता है। वह प्रेम अत्यन्त ही तीव्र, दाहक य सर्वग्रासी होता है जिसका परिणाम ईश्वर के साथ परम आनन्दपूर्ण संयोग है। गोपियों का तथा अन्य प्रेमी भक्तों का अपने परम प्रेमास्पद श्री कृष्ण के प्रति ऐसा ही प्रेम है। महाप्रभु चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, कबीर व अन्य ईसाई संत प्रेम की इसी ज्वाला में जलकर परमानंद में लीन हो गए हैं। यह प्रेम धार्मिकों का है और धर्म-क्षेत्र में इसका सर्वोच्च स्थान है। यह आध्यात्मिक प्रेम मूलतः रहस्यात्मक (Mystic) या धार्मिक (Theological) ढंग का है जो लौकिक सीमाओं में अनुभूत उदात्त मानवीय प्रेम से पर्याप्त भिन्न होता है।[2]

अब प्रथम प्रकार के प्रेम (मानवतावादी) पर कुछ विस्तार से विचार किया जाये।

पहले प्रकार का प्रेम (मानवतावादी) मानव व मानव के बीच ही अपना समस्त उत्कर्ष, आलोक व माधुरी प्रकट करता हुआ उच्च आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होता है। आधुनिक मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुसार इस प्रेम का भी बहुत महत्व बढ़ गया है, किन्तु तत्वतः है यह प्रेम उस अनन्त प्रेम की छाया ही। लौकिक

---

१. Aurobindo Ghose : *'Bases of Yoga'* (1949), p. 91–93.

किन्तु, श्री० के. एम. मुन्शी ब्रह्मचर्य की आधुनिक मनोविज्ञान-सम्मत परिभाषा देते हुए इन्द्रिय-संयम के आत्यन्तिक स्वरूप वाले मत से सर्वथा भिन्न मत ग्रहण करते हुए दिखाई पड़ते हैं:—

"An intensive idealisation of the sex relation between husband and wife without giving up the joy which is involved in the incident of sex relationship is Brahmacharya. I am making a bold statement, I know ... ... The old moralists, however, have emphasised complete sex abstention."

—*Bhagwad Gita and Modern Life*, p. 173-174.

२. **देखिये,** M. J. Exner : *The Sexual Side of Marriage*, page 71 (with short foot-note)

प्रेम की गहरी से गहरी अनुभूति अल्पकालिक है जबकि भक्ति-प्रेम की अनुभूति जीवन व्यापिनी व मुक्तिदायिनी ।[१] किन्तु फिर भी यह प्रेम लौकिक होकर भी अपनी उदात्तता व पावनता को प्राप्त करने के लिए सर्वोच्च कोटि की मानसिक संस्कृति, शिक्षा व साधना की अपेक्षा रखता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार काल्पनिक ईश्वरता की अपेक्षा प्रत्यक्ष मानवता का और इन्द्रिय-दास होकर भोगलिप्त पशु हो जाने अथवा इन्द्रिय-मार्ग पूर्ण रूप में रुद्ध करके बैठ जाने की अपेक्षा (गीता ३/६, १०) इन्द्रियों द्वारा अनासक्त-भाव से भोगों को भोग कर (ईशोपनिषद्, १; गीता, ५/१०) आनन्द की अनुभूति करना अधिक महत्वपूर्ण है। जो हो, साहित्य अथवा काव्य का प्रेम के प्रति सदा से यही दृष्टिकोण रहा है। काव्य मानवता के धरातल को छोड़कर पारलौकिकता, अलौकिकता व अतिप्राकृतिकता के क्षेत्रों में नहीं जाता और न उनमें विश्वास ही करता है। काव्य-साधना मानव-हृदय के परिष्कार का लक्ष्य पूरा करते हुए उदात्त मानवता में पर्यवसित हो जाती है।

वस्तुतः जहां आध्यात्मिक प्रेम होगा, वहां उसी चिर चेतन ब्रह्म के दिव्य स्वरूप की आभा प्राणी-मात्र में प्रतिबिम्बित होने के कारण मानवीय प्रेम भी गौरवान्वित हो उठेगा। अध्यात्म की इसी पृष्ठभूमि पर, गांधी और कबीर ने मानवतावाद की प्रतिष्ठा की। विश्वबन्धुत्व की व्यापक एवं उदात्त भावना के मूल में प्रेम का आध्यात्मिक स्वरूप ही अधिष्ठित है, संभवतः उसका मूल्य भी तभी है। पारस्परिक मानवीय प्रेम को अचिर, भंगुर और वृथा कहने अथवा सिद्ध करने वाला अध्यात्म, अध्यात्म नहीं अज्ञान का रहस्यावृत स्वरूपमात्र है।

इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए मानव, जीवन व संसार को एक व्यापक भूमिका पर लाकर समझना आवश्यक है जिससे कि मानव-प्रेम का महत्व स्पष्ट हो जाय। वस्तुतः संसार सार्थक है। ब्रह्म का सृष्टि प्रसार आनन्द का उद्देश्य लेकर हो रहा है। (ऐतरेय उपनिषद्, १/१; कामायनी, सर्ग ३)। उसी सारभूत आनन्द का अनुभव करने के लिए ही पंचेन्द्रियों की रचना हुई है (ऐतरेय उपनिषद्, १/४, ३/१)। इन्द्रिय-व्यापारों के पदार्थों के संयत उपभोग से (इन्द्रियों को रुद्ध करके नहीं) भी मानव को सहज आनन्द का अनुभव होता है और यही ब्रह्मानन्द (कला या भाव जगत में ब्रह्मानन्द-सहोदर, काव्यानन्द, या रस) जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके लिए प्रवृत्ति या जीवन की स्वीकृति अनिवार्य है, जीवन का इन्द्रिय-निरोध-जन्य निषेध नहीं। इन्द्रियों का अस्वीकार या मिथ्या निरोध दंभ है और रसमय प्रभु के लीला-व्यापार में असहयोग है। वस्तुतः मानव-जीवन सार्थक, सुन्दर और प्रभु का वरदान है। (कामायनी, 'श्रद्धा' सर्ग)। यदि

---

१. Tagore : *Gitanjali,* song 32.

हम इसे निरर्थक कहें तो प्रकृति में अनादि काल से एक व्यवस्था के साथ नियमित रूप से चलने वाले सूर्योदय, वर्षागम, वसन्त-विकास आदि कार्य-व्यापारों का फिर क्या रहस्य है ? हमें यह आश्चर्यजनक इन्द्रिय उपकरण क्यों प्राप्त हुए हैं ? वास्तव में सृष्टियंत्र की इस मधुर गति में "एकोहं बहुस्याम्" का ही अनादि मधुर संगीत गूंज रहा है। सच्चिदानन्द ब्रह्म की वास्तविक अनुभूति इन्द्रियों के माध्यम से ही संभव है। यह अनुभूति जितनी ही आत्म-चैतन्य से ऊर्ज्वस्वित व आलोकित इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होगी वह उतनी ही निर्मल व उदात्त होगी।

मानव-मन में जितनी भी वृत्तियां हैं उनमें प्रेम ही एक ऐसी वृत्ति है जो अपने उत्कर्ष में हमें ब्रह्म-विहार करा सकती है। यह प्रेम जीवन-क्षेत्र में मानव प्राणियों के बीच अनेक संबंधों में प्रकट होता है और सभी रूपों में चैतन्य ज्योति से आलोकित और अनुप्राणित होता है व हो सकता है। प्रेम के मौलिक व सार्वभौम रूप को विविध अधिकरणों में ढाल कर उसका निरूपण या चित्रण करना ही काव्य का मूलभूत उद्देश्य है। कवि मानव-प्रेम संबंधों के माध्यम से ही उस चैतन्य को जागृत करता है; इन्द्रियों के क्षेत्र को छोड़ कर केवल स्थूल बुद्धि की सहायता से तथ्य संग्रह मात्र करना काव्य का कार्य-क्षेत्र नहीं। विभावों की सहायता रस-निष्पत्ति के लिए अनिवार्य है। विभाव का सहारा लिए बिना रस का मार्ग ही नहीं खुलता। भक्ति में भी एक दूसरे धरातल पर यही रस-व्यापार चलता है। पर यह प्रेम जो महान् आनन्द या रस की अनुभूति कराता है अपने निर्मल रूप में स्थूल वासना से रहित ही है। यदि काव्य वासनाओं के निरूपण में ही अपने कार्य की इति-श्री समझता है तो वह महात्याज्य व घृणित होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है। काव्य का मुख्य उद्देश्य मानव को निर्मल मानवता की प्राप्ति कराना है। इंद्रियों के व्यापारों और हृदय की भावनाओं के चित्रण द्वारा वह पाठक के हृदय को विकसित व आनन्दित करके, उसको विषय-वासनाओं के पंक से निकाल कर, उन्मुक्त भावक्षेत्र में ले जाता है। यही काव्य का लक्ष्य है (मम्मट : काव्यप्रकाश, उल्लास, ४)। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसा है तो काम को ही जीवन की मूल प्रेरणा मानने वाले फ्राइड-वादियों के काव्य का क्या होगा ? उत्तर में निवेदन यह है कि काम की नैसर्गिक प्राकृतिक प्रेरणा तो सर्वत्र होगी ही, केवल उसके निरूपण की विशिष्टता एवं प्रभाव के स्वरूप के द्वारा ही उसकी उपयुक्तता या अनुपयुक्तता सिद्ध होगी। श्रेष्ठ काव्य में वर्णित संभोग-व्यापार केवल संभोग व्यापार ही नहीं रहता। मानव प्रेम की पावन भूमिका पर जहां रस-सिद्ध कवि प्रेमी-प्रेमिका के निश्छल, एकनिष्ठव सात्विक मानवीय प्रेम का चित्रण करता है वहां वह संभोग व्यापार केवल सच्चे व एकनिष्ठ प्रणयी जनों के लिए पाशविक मिलन या मांसाचार मात्र ही न रह कर विराट पुरुष व प्रकृति के मिलन का आध्यात्मिक प्रतीक हो

जाता है ।[1] इस परिष्कृत व निर्मल दृष्टि से देखने पर स्तनादि पदार्थ व परिरंभणादि व्यापार कोरे हाड़-मांस के पदार्थ व विकार मात्र ही नहीं रह जाते । स्तन, कपोल, चरण, वक्षस्थल आदि पदार्थ भागवती शक्ति के हाथों की स्निग्ध-सुकुमार उङ्गलियों से चित्रित परम रहस्यपूर्ण कलाकृतियां हो जाते हैं (पंत : 'मानव' नामक कविता दृष्टव्य) और चुम्बनादि व्यापार सात्विक ओज की लीलामयी प्रकाश-उर्मियां । रस-सिद्ध अनुभूतिशील कवि ही इस रहस्य को समझ पाते हैं । कोरे कामीजनों के भाग्य

---

१. इस सम्बन्ध में ये कथन दृष्टव्य हैं—

"उसमें जो विलास का ऐसा उद्दाम वर्णन मिलता है उसकी व्याख्या इसी 'पृष्ठभूमि' में सम्भव है । वैष्णव कवियों ने साधक की मुद्रा साधना को राधा और कृष्ण की अलौकिक लीला के रूप से परिष्कृत किया । पुरुष और स्त्री की युगनद्ध मुद्रा का ही आध्यात्मिक नामान्तर कृष्ण और राधा की रास केलि है ।"

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल 'हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि' (ले० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय), सं० २०१२, भूमिका पृष्ठ ८ । और भी देखिए पृष्ठ १० ।

"And that position is symbolic of the coming together of the two meet gladly".

—Marie Stopes, *Married Love*, P. 70.

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे स सृज्यते यदा ।
वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥
—छान्दोग्योपनिषद्, १-१-६

'लौकिक शृंगार या रति इसी आध्यात्मिक क्रिया का प्रतिबिम्ब है । उसकी तीव्रता आत्म-विस्तार की इच्छा की तीव्रता है, उसका सुख आत्म-विस्तार का ही सुख है ।'

—डा० नगेन्द्र : विचार और विवेचन, पृ० ३९

साहित्य में ही नहीं, व्यवहार जगत् में भी यह क्रीड़ा अपने आदर्श रूप में कितनी रसमयी व रहस्यपूर्ण है—

"When two are mated in every respect burn with the fire of innumerable forces within them, which set their bodies longing towards each other with the desire to interpenetrate and to compass one another the fusion of joy and rapture is not purely physical. The half—swooning sense of flux which overtakes the spirit on that external moment at the apex of rapture sweeps into its flaming tides the whole essence of the man and woman, and as it were, the heat of the contact vaporises their consciousness so that it fills the whole of

में यह उदात्त भावना कहां ? किन्तु यदि कवि केवल अस्वस्थ व अमर्यादित स्थूल भोग-लिप्सा से ही प्रेरित होता है तो वह साहित्य या कला को निश्चित ही भ्रष्ट करता है । जहां जहां भी प्रेम की निर्मल कांति व दीप्ति फूटी है वहां वहां काव्य अमर व महिमामंडित हो उठा है । हो सकता है कि ऐसा उदात्त प्रेम वासना से ही आरंभ हुआ हो ।[१] किन्तु आगे चलकर वह निर्मल प्रेम का रूप ग्रहण कर लेता है या कर सकता है । तात्पर्य यह है कि परिष्कृत मानवता के दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले प्रेम की व्यंजना काव्य-क्षेत्र में सदा से स्वीकृत रहती आई है । अतीत आध्यात्मिक युगों में जब कि मानव का प्रेम एक उपेक्षणीय या निन्दनीय वस्तु था[२] अलौकिक आवरण में ही व्यक्त किया जाता रहा । असंस्कृत, प्रकाशहीन या असंयमित व्यक्ति के लिए प्रणय-व्यापार का वह अर्थ नहीं होता जो सृष्टि को ब्रह्म की लीला का प्रकाश देखने वाले रस-सिद्ध कवि के लिए होता है । सृष्टि-विकास की आदिम आध्यात्मिक प्रेरणा स्वाभाविक मानवीय प्रणय-व्यापारों में ही विकसित होती चल रही है । दो पवित्र आत्माओं के प्रेमियों का, सृष्टि-व्यापार-संवर्धन के लिए किया गया मर्यादानुकूल व धर्मानुकूल आचरण अनुभूति व बुद्धि दोनों दृष्टियों से एक पवित्र व मांगलिक वस्तु है । यह बात दूसरी है कि व्यक्ति-भेद से इसका स्वरूप बदल जाये । सत्काव्य प्रेम को उसी उदार व व्यापक दृष्टि से देखता है और मानव-परिष्कार के लिए उसका उपयोग कर के इस वृत्ति को उच्च बनाये रखता है । इसीलिए शृंगार रस 'रसराज' कहा गया है । कवि और पाठक की पूर्ण तृप्ति भी इसी में होती है ।[३] हां, प्रेम की पावनता व उच्चता को दिखाने या झलकाने के लिए विरोध

---

cosmic space. For the moment they are identified with the divine thoughts, the waves of eternal force, which to the Mystic often appear in terms of golden light.

From their mutual penetration into the realms of supreme joy the two lives bring back with them a spark of that life which we call life. And unto them a child is born."

—Dr. Marie Stopes : *Married Love.* (26th edition, 1952) p. 99-100.

१. "Let love be unashamed of its origins, and let desire be mortified, it if does not mount to devotion.

—Will Durant : *Mansions of Philosophy*, P. 170.

२. "The classical literature of the ancient time was only peopled by saints and kings and heroes."

—Tagore : '*Personality*' (1948), P. 28-29.

३. "मानवीय संबंधों में जब तक अनुराग-जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत

रूप में वासनात्मक प्रेम का भी चित्रण किया जा सकता है, जैसे कालिदास के 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव' व 'रघुवंश' आदि में। 'मेघदूत' में यक्ष के दण्डित होने से पूर्व उसका प्रेम, जो कर्त्तव्य-विमुख है, शुद्ध प्रेम न होकर विलास-वासनात्मक ही दिखाई पड़ता है। दण्ड-भोग से प्रेम साधना बन कर प्रगाढ़ गंभीर व निर्मल हो गया है।[१] 'कुमारसंभव' में भी शिव के द्वारा काम के नष्ट होने पर ही विमल प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। 'रघुवंश' में (सर्ग १६) विलासी राजा अग्निवर्ण के उद्दाम व उत्ताल विलास के परिणामस्वरूप उसका जो करुण अन्त दिखाया गया है वह प्रकारान्तर से पवित्र प्रेम का विरोध (contrast) ही प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार 'प्रसाद'-साहित्य में स्थूल प्रेम-सौंदर्य के बड़े मांसल, कामोष्ण, व तिक्त चित्र शुद्ध प्रेम की लौ को पूर्ण अकलुष व चटकीला बनाने के उद्देश्य से ही अंकित किये गये हैं; यह विलास-चित्रण शुद्ध प्रेम के स्वरूप के अनावरण का साधन ही है, साध्य नहीं। सच्चे धार्मिक, जिनकी बुद्धि व भावना दोनों ही परिष्कृत व संतुलित होती हैं, इसी प्राकृतिक धर्म-विहित मानवीय प्रेम के ढांचे को अपने आराध्य की ओर संक्रमित करके प्रेम व शांति का अनुभव करते हैं किन्तु कोरे शुष्क ज्ञान-मार्गी चिढ़ कर दूर भागते हैं और आत्म-विश्वास के अभाव में जंगलों में जा छिपते हैं। संक्षेप में मानवीय प्रेम की उच्चता का यही रहस्य है। काव्य में प्रेम की आत्मा यहीं रहती आयी है। इसी काव्योचित मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर ही हमने आधुनिक हिन्दी प्रेम-काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। जो काव्य इस दृष्टिकोण का जितना ही निर्वाह करता है, प्रेम को जितना ही परिष्कृत मानवता के धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित करता है, वह उसी अनुपात में उदात्त और रमणीय होता है।

(ज) प्रबन्ध की संक्षिप्त रूप-रेखा

प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री, 'भूमिका' को छोड़कर, ६ प्रकरणों में विभक्त की गई है—(१) प्रेम और सौंदर्य का स्वरूप : शास्त्रीय विवेचना. (२) भारतेन्दु काल, (३) द्विवेदी काल, (४) छायावाद काल, (५) प्रगतिवाद, प्रयोगवाद व

नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता।"

—महादेवी वर्मा—'यामा' (द्वि० सं०, १६४७) 'अपनी बात'—पृ० ८

"उसी कविता को अमरत्व प्राप्त हो सकता है जो इन मार्मिक भावों पर लिखी जाती है। ये ही विषय सर्वकालीन हैं, और इन्हीं पर जो सुन्दर कविता लिखी जाती है, स्मरणीय होती है।"

—डा० अमरनाथ झा : 'चित्ररेखा' (डा० रामकुमार वर्मा) की भूमिका।

१. विशेष देखिये—पं० बलदेव उपाध्याय : 'मेघदूत' की आध्यात्मिकता (लेख) 'भारतीय साहित्य शास्त्र', प्रथम खण्ड, पृ० ६८५।

अन्तश्चेतनावाद, व (६) उपसंहार। विषय-विवेचन के आरंभ से पूर्व लगभग ३० पृष्ठों की एक विस्तृत भूमिका दी गई है जिसमें उक्त विषय से संबंधित प्रायः सभी महत्वपूर्ण व ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला गया है। विषय का क्या महत्व है, विषय की उपलब्ध सामग्री कितनी है, विषय के नामकरण में प्रेम और सौंदर्य—इन शब्दों के क्रम का क्या महत्व है, प्रस्तुत प्रबन्ध की क्या विशेषता है, शोध की विषय-परिधि कितनी है, और विषय-विवेचन का मेरा क्या दृष्टिकोण रहा है, आदि बातों को पूर्ण स्पष्टता के साथ व संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त भूमिका भाग में ही काव्य का प्रयोजन व आदर्श और काव्य की रागात्मक अभिव्यंजना की पद्धति का भी विवेचन किया गया है जिसका उद्देश्य यह है कि आलोच्य काल की प्रेम-सौंदर्य विषयक कविता की सार्थकता या उसके कला-गत सौन्दर्य को ग्रंथ के अन्त में परखने व उसकी देन को आंकने के लिए एक कसौटी उपलब्ध हो सके। प्रस्तुत विषय मुख्यतः शृङ्गार रस से ही सम्बन्ध रखता है। किन्तु शृङ्गार रस कितना व्यापक है, उसकी सरसता, उज्ज्वलता व उदात्तता किस कोटि की है, जिसके कारण वह मेधावी समीक्षकों के द्वारा 'रसराज' की उपाधि से विभूषित किया गया है, इसका महत्व बताने के लिए शृङ्गार रस के रसराजत्व पर भी, प्राचीन व आधुनिक आचार्यों के साक्ष्य पर, विचार किया गया है। अन्त में, यह दिखाने के लिए कि आधुनिक हिन्दी प्रेम-काव्य भारतीय प्रेम-काव्य के आदर्श के कितना निकट या उससे दूर है, प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व हिन्दी प्रेम-काव्य का विकास व स्वरूप एक झलक में दिखा दिया गया है। इस प्रकार 'विषय-प्रवेश' समाप्त होता है।

प्रथम प्रकरण में प्रेम और सौंदर्य के स्वरूप की, भारतीय व पाश्चात्य धर्म, दर्शन व साहित्य क्षेत्र की प्राचीन व नवीन मान्यताओं की सहायता से विस्तृत मीमांसा की गई है। 'प्रेम' और 'सौंदर्य' शब्दों के प्रयोग की प्राचीनता व उनकी व्याकरण-गत व्युत्पत्ति भी संक्षेप में बतायी गयी है। संसार के श्रेष्ठ चिंतकों ने उक्त विषयों की जो मान्य परिभाषाएं दी हैं उनका भी समावेश किया गया है। प्रेम और सौंदर्य का सम्बन्ध मूलतः हमारी आत्मा से है। आत्मा को ही आधार बनाकर इन वृत्तियों या भावनाओं के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक दृष्टि है। वह आत्मा को ही एकमात्र वास्तविक सत्ता मानती है। अतः हमारा काव्य भारतीय या सांस्कृतिक तभी कहा जा सकता है जब कि वह आत्मा की सत्ता को अपना आधारभूत तत्व मानकर चले। यह आत्म-तत्व प्रेम में किस रूप में समाहित है और आत्म-प्रेरित प्रेम से उत्पन्न सौंदर्य का क्या स्वरूप है, इसका विवेचन पुष्कल उद्धरण देकर किया गया है। किन्तु वैज्ञानिक विवेचन में एकांगिता उपयुक्त नहीं। अतः आत्मपरक दृष्टिकोण के साथ ही साथ वस्तुपरक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण की भी विस्तृत विवेचना की गई है और प्रेम और

सौंदर्य के यथार्थ स्वरूप-निर्धारण में उसका समुचित सहयोग लिया गया है। प्रेम और सौंदर्य को आत्मा से सम्बन्धित ठहराने के लिए मैंने समन्वय का ही पक्ष ग्रहण किया है; क्योंकि आत्मा को आधार मानकर चलने में वस्तु और आत्मा का समन्वय किसी भी प्रकार की कोई असंगति या विरोध उत्पन्न नहीं करता। आत्मा या सत्य—वस्तु-सत्य या स्थूल सत्य, और भाव-सत्य या सूक्ष्म सत्य—इन दोनों रूपों में अपने आप को प्रकाशित करता है। यह समन्वय का आधार-ग्रहण ही विषय की रस-परक व्याख्या के लिए मार्ग प्रशस्त करता है क्योंकि साहित्य या काव्य की आत्मा-रस-स्थूल आलंबन को ही आधार बनाकर चलता है। पूर्ण आदर्शवादियों ने प्रेम और सौंदर्य को निःशेष आत्मसत्ता में ही ठहराया है किन्तु ऐसी सूक्ष्मता से काव्य का तो काम नहीं चल सकता। रस का आधार आलंबन है जो प्रत्यक्ष व गोचर है।

इस प्रकरण में प्रेम और सौंदर्य के विविध रूपों की भी विस्तृत व्याख्या की गई है। प्रेम के अन्तर्गत प्रणय, भक्ति, वात्सल्य, प्रकृति-प्रेम, मानव-प्रेम, देश-प्रेम, कुटुम्ब-प्रेम, कला-प्रेम तथा सौंदर्य के अन्तर्गत मानवीय सौंदर्य (मानसिक सौंदर्य या शील सौंदर्य सहित), प्राकृतिक सौंदर्य, वस्तु-गत व कला-गत सौंदर्य का समावेश करके उक्त प्रवृत्तियों को व्यापकतम रूप में ग्रहण किया गया है। प्रेम और सौंदर्य इन दोनों वृत्तियों में शास्त्रीय दृष्टि से क्या सम्बन्ध है यह भी स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट गया है। फिर काव्य का प्रेम और सौंदर्य से क्या सम्बन्ध है, यह बताकर यह प्रकरण समाप्त किया गया है।

यही स्वरूप-विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध का मेरुदण्ड है। प्रेम और सौंदर्य का जो स्वरूप इस प्रकरण में निर्णीत हुआ है उसी को अगले प्रकरणों की विवेचना के लिए आधार बनाया गया है।

दूसरा प्रकरण 'भारतेन्दु काल' है। यह काल युग-संधि का काल है। इसमें रीति-काल की प्राचीन परम्पराएं व नवीन प्रवृत्तियां, दोनों का ही योग है। कांता-विषयक रति के निरूपण में भारतेन्दु काल प्रायः रीतिकाल का ही अनुगामी है अतः इस दृष्टि से उसमें कोई विशिष्ट नवीनता नहीं है। हां, मानव-प्रेम या देश-प्रेम तथा प्रकृति-सौंदर्य की नवीन चेतना का अनुभव व प्रकाशन इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियां हैं। इस युग में रति का क्षेत्र साधारण दाम्पत्य-रति मात्र तक सीमित न रहकर देश की जनता व प्रकृति तक भी व्याप्त हो गया!

इस दृष्टि से इस काल का अपना पूरा-पूरा महत्व है। यद्यपि इस काल में प्रेम और सौंदर्य के नये नये विषय कवियों ने सामने रखे पर अभी उनके काव्यगत विन्यास में वह कला-चारुता नहीं आ पाई थी जैसी उत्तरद्विवेदीकालीन व छायावादी काव्य में दिखाई पड़ी। जो हो, प्रेम व सौंदर्य की परम्परा के विकास की दृष्टि से

भारतेन्दु काल का सहयोग पर्याप्त प्रशंसनीय है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र व 'प्रेमघन' इस काल की महान प्रतिभाएं हैं।

तृतीय प्रकरण 'द्विवेदी काल' है। द्विवेदी काल भी भारतेन्दु काल की तरह प्राचीन और नवीन का संधिस्थल है। पर अब प्रवृत्ति नवीनता की ओर पर्याप्त हो चली है। इस प्रकरण में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार प्रेम परम्परागत प्रणय या दाम्पत्य के क्षेत्र से आगे बढ़कर देश-विषयक रति, वात्सल्य आदि प्रेम की विस्तृत परिधि तक फैल रहा था और सौंदर्य स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त हो रहा था। पं० श्रीधर पाठक, रायदेवीप्रसाद पूर्ण, हरिऔध, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, सत्यनारायण 'कविरत्न', पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों के सहयोग से प्रेम व सौंदर्य की भावना सूक्ष्म व गंभीर हो गई। भारतेन्दु काल का देश-प्रेम इस युग में अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँच गया। प्रकृति-विषयक रति का क्षेत्र और भी व्यापक हुआ। सबसे नवीन विकास इस युग में यह दिखाई पड़ा कि प्रेम व सौंदर्य की गंभीरता सूचित करने वाले रहस्य-तत्व का भी समावेश आधुनिक काव्य में पहली बार हुआ। प्रस्तुत प्रकरण में यह भी विस्तारपूर्वक दिखाया गया है कि द्विवेदीकालीन प्रेम-काव्य किस प्रकार भारतेन्दुकालीन प्रेम-काव्य से अधिक प्रौढ़ व विकसित है। हां, अभी भारतेन्दु काल की ही तरह, उसमें भी कला का लालित्य व रमणीयता आदि प्रकट नहीं हुए हैं। फिर भी कुछ दृष्टियों में भारतेन्दु काल से इस काल की कविता अधिक रोचक व रमणीय है।

चौथा प्रकरण 'छायावाद'-काल है। इस काल में प्रेम व सौंदर्य सूक्ष्म से सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम हो चले। अतिकाल्पनिकता के कारण सामान्य भाव-भूमि पर उसकी प्रतिष्ठा न रही। इस परिवर्तन के कारणों का सम्यक् विश्लेषण करने के लिये सबसे पहले उन सब राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो इस स्थिति की उत्तरदायिनी हैं। व्यापक परिस्थितियों ने किस रूप में हिन्दी प्रेम-काव्य को प्रभावित किया, यह दिखाने के पश्चात् युग-कवियों की प्रेम-सौंदर्य-विषयक विचारधारा के साथ उक्त वृत्तियों की पूर्ण विस्तृत और सोदाहरण विवेचना की गई है। प्रेम का विस्तार इस युग में वैसा न दिखाई पड़ा जैसा पूर्ववर्ती कालों में; वह मुख्यतः केवल प्रणय तक ही सिमट कर रह गया। किन्तु उसमें अपूर्व गंभीरता आ गई, यह भी निश्चित है। सौंदर्य पदार्थों का गुण-धर्म न रह कर सूक्ष्म-भावना मात्र रह गया। लौकिक को अलौकिक बनाने की प्रवृत्ति तथा रहस्य-भावना इस युग की विशिष्ट प्रवृत्तियां हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण छायावाद की प्रेम-भावना इतनी सूक्ष्म व धूमिल हो गई कि इसके प्रति-क्रिया-स्वरूप प्रगतिवाद को जीवन के स्थूल पक्ष के पोषण के लिए आना पड़ा। छायावाद की प्रेम-सौंदर्य भावना के सब गुण-दोषों का विस्तृत विवेचन करके इस युग की

विशिष्ट देन को अन्य युगों की देन से साफ तौर से अलग निकाल कर दिखाया गया है।

पुष्कल उदाहरण देकर यह प्रतिपादित किया गया है कि छायावाद में, उसकी त्रुटियां, सीमाओं या अतिवादों के होते हुए भी, प्रेम-सौंदर्य की भावना उक्त प्रवृत्तियों की आत्मा के बहुत कुछ निकट पहुंच गई है। प्रेम व सौंदर्य के जितने भी प्रकार या भेद होते हैं, उन सब प्रकारों से सम्बन्धित अभिव्यक्ति की क्रमबद्ध विवेचना की गई है। छायावाद की कला उसकी एक विशिष्ट निधि है। कला-गत सौंदर्य के अन्तर्गत उक्त वाद की कला की प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। भारतेन्दुकाल व द्विवेदी काल से इस काल का प्रेम-काव्य किस रूप में और कितना विकसित है, यह भी प्रकरण के अन्त में दिग्दर्शित कर दिया गया है।

पांचवां प्रकरण प्रगतिवाद-प्रयोगवाद व अन्तश्चेतनावाद से सम्बन्धित है। छायावाद में सूक्ष्मता की जो अत्यधिक प्रवृत्ति बढ़ गई थी उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया ही प्रगतिवाद-प्रयोगवाद में हुई। प्रेम और सौन्दर्य पुनः सूक्ष्म से उतर कर स्थूल में आ समाहित हुए। उक्तवाद का सम्यक् परीक्षण करने के लिए सब से पहले 'प्रगति' व 'प्रयोग' का वास्तविक अर्थ समझने की चेष्टा की गई है। फिर, उक्त अर्थ के प्रकाश में इस वाद के अन्तर्गत प्राप्त प्रेम-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का विवेचन करके उसकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तता की परख की गई है। छायावाद व प्रगतिवाद दोनों ही अतिवादी हैं—एक प्रेम-सौंदर्य को पूर्ण सूक्ष्म में उड़ा ले जाता है तो दूसरा उन्हें पूर्ण स्थूल में उतार देता है। किन्तु रसानुभूति के मूल आधार साधारणीकरण के लिए यह अतिवाद काम का नहीं। साधारणीकरण के हेतु तो इन दोनों का समन्वय ही अभीष्ट है जो आगे चलकर श्री सुमित्रानन्दन पंत के 'अन्तश्चेतनावाद' में हुआ। प्रकरण के अन्त में अन्तश्चेतनावाद में प्राप्त प्रेम-सौंदर्य की अभिव्यक्ति की संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचना की गई है। विचारधारा की दृष्टि से तो यह वाद संतोषजनक जान पड़ता है किन्तु कला-गत अभिव्यक्ति की दृष्टि से कदाचित अपूर्ण है क्योंकि उक्त वाद की दार्शनिक विचारधारा अभी काव्योचित सरसता नहीं ग्रहण कर पाई है। प्रकरण के अन्त में 'शेष प्रश्न' शीर्षक के अन्तर्गत उस अभाव या त्रुटि की ओर संकेत किया गया है जो हिन्दी के प्रेम-काव्य में दिखाई पड़ती है और जिसका निराकरण करके प्रेम-काव्य के पूर्ण आदर्श को प्राप्त करने के लिए हिन्दी-कविता को संघर्ष करना है।

'उपसंहार' नामक षष्ठ प्रकरण में गत १०० वर्षों के काव्य का व्यापक सिंहावलोकन करके उसके दोषों-असफलताओं-अभावों तथा उसकी सफलताओं-उपलब्धियों-गुणों का परिगणन किया गया है और कवि तथा सरकार के उन कर्त्तव्यों व

प्रयत्नों की ओर संकेत किया गया है जिनके द्वारा हिन्दी-काव्य अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हो सके। प्रेम-सौंदर्य की भावनाएं मानव जाति के हित-सम्पादन में कितनी महत्वपूर्ण हैं, यह बताकर ग्रंथ की समाप्ति की गई है।

अन्त में 'परिशिष्ट' में प्रेम-सौन्दर्य की भावना की दृष्टि से कविता व चित्र-कला तथा कविता व संगीत का सम्बन्ध निरूपित किया गया है। 'ग्रंथानुक्रमणिका' में उन अंग्रेजी, संस्कृत व हिन्दी ग्रंथों की अकारादि क्रम से सूची दे दी गई है जो प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में प्रयुक्त हुए हैं। और अन्त में प्रेम व सौंद के समस्त प्रपंच को एक झलक में दिखाने के उद्देश्य से उनके दो मान-चित्र भी जोड़ दिये गये हैं।

प्रेम और सौन्दर्य की व्यापकतम धारणा को लेकर उक्त वृत्तियों के शास्त्र-संमत स्वरूप का निर्धारण, उसके प्रकाश में विगत सौ वर्षों के काव्य का परीक्षण, व काव्य के शाश्वत मानों की कसौटी पर उसके मूल्यांकन का प्रयास ही इस प्रबन्ध का प्रतिपाद्य है। केवल प्रेम नहीं, केवल सौंदर्य नहीं, किन्तु दोनों को एक साथ रख कर ही एक भरा-पूरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। सारा विवेचन भरपूर उदाहरणों व शास्त्रीय प्रमाणों से पुष्ट है। बौद्धिक अनुसंधान-क्रम-मूलक तटस्थ व यथार्थानुयायी चिंतन-पद्धति से ही विषय का प्रतिपादन करने का यथासंभव प्रयत्न किया गया है।

२. काव्य का प्रयोजन व आदर्श

मानव को पशु से पृथक करने वाली विशेषता मानव का विवेक है। जहां वह विवेक छूटा कि मानव और पशु में कोई अन्तर नहीं। इस विवेक के अस्तित्व की सार्थकता दृष्टि-पथ के आगे निरन्तर उन महान् आदर्शों व लक्ष्यों के बने रहने और उनकी प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक प्रयत्नों में है जो पशुओं में नहीं होते और जिन्हें प्राप्त करने में मानव, अपने मस्तिष्क व हृदय की समस्त शक्तियों के सम्मिलित प्रयत्न द्वारा, पूर्ण समर्थ है। युग-युग के विचार व अनुभव के छन्ने में छन कर मानव-जीवन का लक्ष्य समवेत स्वर से एक ही स्थिर हो पाया है —आनन्द की प्राप्ति : उस आनन्द की प्राप्ति, जिस में जीवन के समस्त विरोध शांत हो जाते हैं, बुद्धि और भावना के व्यावहारिक भेद मिट जाते हैं, और एकरस व अखंड आनन्द (रस) की प्राप्ति हो जाती है (तैत्तिरीयोपनिषद् : ब्रह्मानंद वल्ली; कामायनी : 'आनन्द' सर्ग)। यह अनुभूति न तो कोरी रूक्ष या ठूँठ बुद्धि से सम्भव है और न कोरी पिलपिली भावना से। जब भावना उज्ज्वल आलोकमय बुद्धि के सहज संरक्षण में प्रवाहित होती है तभी पूर्ण आनन्द की प्राप्ति सम्भव है।[1] यह महान् आनन्द या

---

१. "परन्तु आत्मा की तुष्टि के लिए आवश्यक है कि विचार-गांभीर्य हो नवीनता हो, सूक्ष्मदर्शिता हो, हृदय और मस्तिष्क दोनों के पोषण की सामग्री हो।"
—डॉ० अमरनाथ झा, 'चित्ररेखा' की भूमिका।

रस ही काव्य-साधना का लक्ष्य है। जीवन की विविध साधनाएं (धर्म, दर्शन, ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग, कला और साहित्य आदि) इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए अपने अपने विशिष्ट माध्यम व पद्धतियां लेकर चल रही हैं। कविता भी शब्द या भाषा का माध्यम अपना कर, भावों की पद्धति से चलकर, उसी आनन्द-साधना में लीन है। मानव-जीवन में काव्य का स्थान और महत्व उसके इसी महत् उद्देश्य के कारण प्रतिष्ठित किया गया है। केवल हल्का मनोरंजन, अर्थ-प्राप्ति, या यश-प्राप्ति तक ही कविता की सार्थकता समझना अधूरे सत्य का दर्शन करना है। हां, ये प्रयोजन भी काव्य के हैं अवश्य, किन्तु ये उसके सर्वोच्च लक्ष्य के अधीनस्थ अतः गौण हैं।

युग-युग के अविचल ज्वलन्त मानव-आदर्शों की प्राप्ति में काव्य सदा से साधक व सहायक रहता आया है और रहेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य 'स्वान्तः सुखाय' होता है।[१] पर जो लोग 'स्वान्तः सुखाय' का अर्थ ऐसी अनुभूति से जोड़ना चाहते हैं जो केवल अपनी ही एक विलक्षण अनुभूति हो और सामान्य मानव हृदय से उसका अत्यल्प सम्बन्ध हो अथवा न भी हो, उनसे हमारा विनम्र मतभेद है। वास्तव में काव्य-चिन्ता में यही एक ऐसा विवेचन-बिन्दु है जिसे ठीक तरह से न समझने से काव्य-स्वरूप के चिन्तन में बड़ी ही अनर्गल या भ्रान्त धारणायें चल पड़ती हैं। अभिव्यक्ति के लिए कवि का हृदय पूर्ण स्वतन्त्र है किन्तु उसकी यह स्वतंत्रता, तटों में सीमित किन्तु अपनी गति में चिर स्वतन्त्र समुद्र-लहरों की तरह, जीवन की (जीवन-विकास के लिए ही बनी हुई) मर्यादाओं के हरे-भरे कूलों में ही रह कर स्थायी रह सकती है। मर्यादा व संयम का सौंदर्य कोरे असंयम

"For this experience, as Coleridge understood it, was more than mere feeling, emotion, passion. Its unique quality lay in the fact that it gave satisfaction also to the reason. It was a union af opposites."

—R. A. Scott-James : *'The Making of Literature'* (1940), p. 219—20.

१. "Meaning or utility is the indispensable motive of all art, but from the Indian point of view that is not art which does not also subserve the ultimate end of aesthetic experience, which is not so, or is so only to the most limited degree, in cases of bare efficacy, bare descriptive statement, or even illustrative poetry."

But it is beneath the dignity of man to maintain his existence on a level of bare utility and functional necessity, and as has been well said by Ruskin, Industry without art is brutality."

—A. Coomarswamy : *'Transformation of Nature in Art'*, p. 195.

व उच्छृंखलता से कई गुना अधिक है। कभी-कभी बन्धन विकास के लिए भी होते हैं। वृन्त-छिन्न होकर तो पुष्प कुम्हला कर धूल हो जायगा, किन्तु वृन्त के माध्यम से, समस्त पेड़ या जड़ से सम्बन्ध बनाए रखकर, धरती से जीवन-रस पीते हुए ही वह पूर्ण विकास को प्राप्त हो सकेगा। विवेकशील मानव प्राणी को मर्यादा का सौंदर्य भी स्वीकार करना होगा।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी मर्यादा या संयम का महत्व है जिसे आचार्य क्षेमेन्द्र 'औचित्य' शब्द में समाहित करते हैं।[1] पुरुष के तीन गुण कहे गये हैं—धीरता, वीरता व गंभीरता। इन तीनों के उचित अनुपात अथवा सामञ्जस्य में ही जीवन का सौंदर्य खिलता है, केवल एक ही गुण के निःशेष विकास में नहीं। यह मर्यादा या औचित्य ही व्यक्ति और अभिव्यक्ति के चरित्र, सौंदर्य अथवा आकर्षण का रहस्य है।

'स्वान्तः सुखाय' में 'लोक-सुखाय' निहित रहता है। वह 'स्वान्तः सुखाय' ही क्या जो 'लोकसुखाय' से सहमत होकर न रहे। जो 'स्वान्तः सुखाय' को लोक-हृदय से पूर्ण विच्छिन्न केवल अपने ही स्वप्नों, वासनाओं व कुंठाओं की अभिव्यक्ति का पर्याय मानते हैं, वे तुलसी के अर्थ से बहुत दूर है। तुलसी का 'स्वान्तः सुखाय' पूर्णतः 'लोकसुखाय' का ही पर्याय है।[2]

'स्वान्तः सुखाय' और 'लोकसुखाय' की व्याख्या साहित्य-क्षेत्र के प्रसिद्ध 'कला कला के लिए' और 'कला समाज के लिए'—इस साहित्यिक विवाद के तर्क-वितर्क में ही समाविष्ट है। दोनों सिद्धान्तों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि 'कला कला के लिए' कवि की विकृत वासना व निर्बाध भोग-वृत्ति का ही सूचक है तब तो 'कला समाज के लिये' जैसे ठोस सिद्धान्त में ही आस्था जमा लेना श्रेयस्कर है। यदि कला, सत्य को शिव भावना से सुन्दर बनाकर सब देशों व सब कालों के लिए समान रूप से सुलभ बनाने के लिए तथा देश-काल का कठघरा तोड़कर अक्षय व अमरतत्त्व का अनुभव कराने के लिए है तब अवश्य ही यह सिद्धान्त स्पृहणीय है। भारतीय काव्य जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को भुलाकर कभी भी नहीं चला।

काव्य के प्रयोजन को निर्दिष्ट करते हुए आचार्य मम्मट लिखते हैं:—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षयते।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥[3]

---

१. "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"
—क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा।

२. विशेष देखिये, लेखक का 'आधुनिक युग और उपदेश' नामक लेख, 'सप्तसिन्धु' (पटियाला) जनवरी–फरवरी, १९५६।

३. काव्यप्रकाश, १/२

अर्थात्, "यश की प्राप्ति, सम्पत्ति का लाभ, लोक-व्यवहार की शिक्षा, रोगों व व्याधियों का क्षय, तत्काल ही उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति और अपनी प्रिया के समान मधुर उपदेश देना ही काव्य का प्रयोजन है।"

कविराज विश्वनाथ लिखते हैं:—

"चतुर्वर्ग फल प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।"[१]

अर्थात्, "अल्प बुद्धि वालों को भी सहज ही या सुखपूर्वक चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति काव्य के ही द्वारा हो सकती है।"

आचार्य वामन श्रेष्ठ काव्य को प्रीति (आनन्द) तथा कीर्ति का हेतु मानते हैं—

"काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।"[२]

आचार्य रुद्रट ने भी काव्य के स्वरूप व प्रयोजन पर गहराई से विचार किया है। काव्य के द्वारा जगद्-व्यापी यश, धन, विपत्ति-नाश, असाधारण आनन्द तथा समस्त कामनाओं की पूर्ति आदि का लाभ होता है और नीरस ग्रंथों से भयातुर सहृदयों को सुगम उपाय से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ।।
अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ।।
ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ।।[३]

इस विवेचन से काव्य का महत् उद्देश्य, प्रयोजन व आदर्श स्पष्ट है। काव्य मानवता की साधना है। वह हमें मानवता के उच्च से उच्च सोपान तक चढ़ाता है। ज्ञान का विकास और भावना की निर्मलता इन दोनों ही बातों में मनुष्य निम्न श्रेणियों के जीवों से ऊपर उठा हुआ है। पशुता या जड़ता से चेतन मानवता के उच्च स्तर तक हमें उठा ले जाने का कार्य कविता ही करती है। कविता हमें विलास-प्रिय देवता नहीं बनाती, किन्तु पुरुषार्थी, सहृदय व मानवीय गुणों से सम्पन्न खरा मनुष्य बनाती है। यही कविता का कार्य-क्षेत्र है। कविता के अनुशीलन से हमारे कुसंस्कार हटते हैं, हमारी स्वार्थ-प्रियता क्षीण होती है, और हममें उच्च गुणों पर रीझने का सहज गुण विकसित होता है। सभ्यता की जटिलताओं की अभिवृद्धि

---

१. साहित्यदर्पण १/२
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १/१/५
३. काव्यालंकार १/४, १/८, १२/१

के परिणाम-स्वरूप जब हमारे हृदय संकीर्ण, अस्वस्थ व कृत्रिम हो चलते हैं तब कविता ही हमें उबारती है और हमारी चित्त-वृत्तियों को पुनः स्वस्थ, स्वाभाविक, संयत व निर्मल बनाती है।[१] जब हम सच्चे हृदय से प्रेम-पथ पर बढ़ कर उत्सर्ग करते हैं, सौन्दर्य को देख कर रीझते हैं, कोई वैचित्र्यपूर्ण वस्तु देखकर या विनोदपूर्ण उक्ति को सुनकर खिलखिला पड़ते हैं, करुण प्रसंग पर अश्रुपात करते हैं, अन्याय को देखकर भौंहें चढ़ा लेते हैं, कुत्सित या अश्लील दृश्य को देखकर घृणा से मुँह मोड़ लेते हैं तभी हमारा हृदय मानवीय, स्वस्थ व जीवित कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। जिनमें इन गुणों की स्थिति या विकास है केवल उनकी ही मानवता जागृत है। जिन के पास यह स्वस्थ मानवता नहीं, कविता उसे यह मानवता प्रदान करती है या कर सकती है। आचार्य शुक्ल की यही धारणा है। वे लिखते हैं—"मनुष्य की सजीवता मनोवेग व प्रवृत्ति ही में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते, बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध-निर्वाह पर ज़ोर देते हैं।"[२]

३. कविता की रागात्मक अभिव्यंजना

यह ऊपर निरूपित किया जा चुका है कि काव्य का एक मात्र लक्ष्य उच्च कोटि के रस (आनन्द) की अनुभूति है।[३] कविता का आनन्द स्वरूपतः चाहे अलौकिक ही हो किन्तु उसका मूल आधार लौकिक व्यक्ति या वस्तुएं ही होती हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि लौकिक वस्तुओं या उपकरणों से अलौकिक आनन्द की उत्पत्ति कैसे संभव होती है? इसे समझाते हुए आचार्यों ने लिखा है कि रस का जीवन आस्वादन है जो विभावादि के रहने पर बना रहता है और उनके हट जाने पर हट जाता है।

---

१. इस सम्बन्ध में विशेष दृष्टव्य :

Sir Philip Sydney : *An Apology for poetry* (Engligh Critical Series 17th., 18th. & 19th. Cent, 1940. The World's classics Series, page 39); Wordsworth : *Preface to Lyrical ballads* (G. Saintsbury's Loci Critici, page 275); Tagare: *Gitanjali*, song 2; Mathew Arnold : *Essays in Criticism*, Second Series (1935), p. 1; P.B. Shelley: "*Defence of Poetry*" (G. Saintsbury's Loci Critici (1903), page 399.

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'चिन्तामणि', भा० १ में 'करुणा' नामक निबन्ध से उद्धृत।

३. बा० सम्पूर्णानन्द : 'चिद्विलास', पृ० २१२।

इस का आस्वादन पानक रस की तरह होता है।[1] वस्तुतः यह सब कार्य एक विशिष्ट किन्तु अत्यन्त जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है। लौकिक वस्तुओं के वर्णन से अलौकिक रस के आस्वादन की अनुभूति के लिए काव्य अथवा कलाएं एक विशिष्ट पद्धति को पकड़ कर चलती हैं जो दर्शन व विज्ञान की विचारात्मक अथवा प्रयोग-परीक्षणात्मक पद्धति से सर्वथा भिन्न व स्वतन्त्र है। हमारे मन के दो विभाग हैं—हृदय और मस्तिष्क, अथवा भावना और बुद्धि (दे० 'कामायनी' की भूमिका)। कविता का कार्य-क्षेत्र मुख्यतः हृदय है और दर्शन-विज्ञान आदि का मस्तिष्क। हमारे हृदय में अगणित भाव होते हैं। उन में कुछ भाव तो स्थायी कहलाते हैं और शेष संचारी। कविता में जब वस्तु-व्यापारों का वर्णन इस रूप में किया जाता है कि वे भाव उद्‌बुद्ध हो जायं, तभी रसानुभूति के द्वार खुलते हैं। उन भावों को जागृत कर देने वाले आलम्बन विभावों के अतिरिक्त जब उनको (भावों को) उद्दीप्त करने वाले उद्दीपन विभावों, शारीरिक चेष्टाओं (अनुभावों) आदि का भी वर्णन किया जाता है तब रस का पूर्ण परिपाक होता है। तात्पर्य यह है कि वस्तु-व्यापारों का इस रूप में वर्णन किए बिना कि मानस-पटल पर उनकी संवेदनाओं की एक संकुल अनुभूति कराने वाला चित्र या बिम्ब न उतर आये, हमारी वृत्तियों का पूर्ण अनुरंजन नहीं होता व परिणाम-स्वरूप रसानुभव संभव नहीं होता।[2] इंद्रियों के द्वारा अन्तःचर्वणीय या संवेद्य हो सकने के रूप में आलम्बनों का चित्रण या वर्णन नामक अभिव्यक्ति-व्यापार कविता की रागात्मक अभिव्यंजना है। यह अभिव्यंजना काव्य या कलाओं की अपनी विशिष्ट पद्धति है जो रसानुभूति में सहायक होती है। यह कार्य स्थूल इतिवृत्तात्मक कथन से अथवा बुद्धि से आगे कुछ तथ्य खड़े करने मात्र से नहीं चल सकता।[3] यह ठीक है कि हृदय के सभी प्रकार के भाव काव्य की रागात्मक अभिव्यंजना की इस पद्धति से सजाये जाते हैं और अपने चरमोत्कर्ष में आनन्द की अनुभूति कराते हैं, किन्तु प्रेम-भावना के अथवा

---

१. "प्रमात्रा सकल सहृदय संवादभाजासाधारण्येन स्वाकार इवा भिन्नोपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः" मम्मट : काव्य प्रकाश (लोचनटीका), ४/२६।

२. डा० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' पृ०१२०–१२१ तथा आचार्य शुक्ल का 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' (चिन्तामणि भाग १) नामक लेख। और भी देखिए—

W. Basil Worsfold : '*The Principles of Criticism*', p. 83, 85.

३. A. Coomarswamy : '*Transformation of Nature in Art*', p. 46.

सौन्दर्य-भावना के ऐसे निरूपण से, जिसमें वे भावनाएं रमणीय कल्पना-मूर्त्तियों के रूप में ढलती आयें,[1] हमारे हृदय का मूल रति भाव सर्वाधिक पूर्णता के साथ जागृत तृप्त और अनुरंजित होता है और वह अपने चरम विकास में शृङ्गार रस की गम्भीरतम अनुभूति कराता है। मानव-मन के मूल रति भाव (शृङ्गार रस का स्थायी भाव) से घनिष्टतम रूप में सम्बन्धित होने के कारण ही शृङ्गार रस साहित्य में 'रसराज' कहलाता है।

अनन्त चेतन-सत्ता का एक प्रकाश-बिन्दु मानव, इस दृश्यमान् और प्रपञ्चात्मक जगत में, जन्म और मृत्यु के दो छोरों के बीच, अपनी रहस्यमय और वैचित्र्य-पूर्ण गति से निरन्तर क्रियाशील बना रहता है। जन्म के समय जो पूर्णतः शुद्ध-बुद्ध, निर्मल, माया-मुक्त और साक्षात् चेतन-स्वरूप होता है वही मानव शनैः शनैः माया के विकारों से विकृत और पाप-ताप से ग्रस्त होकर अपनी मूलभूत ईश्वरीय सत्ता खोता जाता है।[2] यदि इस बीच वह अपने उच्च आत्मिक संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, वातावरण आदि के कारण सजग होकर अपनी मूलभूत या वास्तविक प्रकृति की रक्षा के लिए तैयार हो जाता है तो ठीक, अन्यथा वह अविद्या के गहन अन्धकार में ही भटकता फिरता है। प्रत्येक मानव-प्राणी सदा एक विशिष्ठ वृत्ति लेकर उत्पन्न हुआ करता है; इच्छा ज्ञान और क्रिया में से कोई एक। इन तीनों में से मुख्यतः किसी एक भी परिष्कृत और सूक्ष्म वृत्ति से वह अपने जीवन का चरम फल प्राप्त कर सकता है। बाह्य रूप में ये वृत्तियां चाहे भिन्न भिन्न जान पड़ती हों किन्तु साधना की पूर्णावस्था में वे सब मिल कर एकाकार हो जाती हैं—सब व्यावहारिक भेदों का सिद्धि के सिन्धु में पूर्ण लय हो जाता है। जब तक इन वृत्तियों का पारस्परिक विलय नहीं हो जाता तब तक साधना की पूर्णता नहीं कहीं जा सकती।

वृत्ति-भेद से जीवन के लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं आता, चाहे व्यक्ति की चेतना बुद्धि-प्रधान हो, चाहे भावना-प्रधान, चाहे कर्म-प्रधान। सभी प्राणी (जान या अनजान में) माया के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहते हैं; अखण्ड, निर्विकार और एकरस आनन्द की प्राप्ति चाहते है; मृत्यु के भय से मुक्त होकर अमरत्व का स्वाद लेना चाहते हैं। आनन्द-प्राप्ति की यही मधुर कामना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राणियों की गति-विधि को प्रत्येक क्षण प्रभावित, नियन्त्रित व संचालित करती रहती है।

---

१. देखिए, Addison के "*Essay on the Pleasures of the Imagination*" नामक लेख की व्याख्या के प्रसंग में W. Basil Worsfold के विचार : '*The Principles of Criticism*', p. 84, 85 and 86.

२. इस दृष्टि से वर्डस्वर्थ की प्रसिद्ध कविता "Ode on Intimations of Immortality" भारतीय भावना से आश्चर्यजनक मेल खाती है।

हृदय और बुद्धि को उज्ज्वल, पुष्ट और समुन्नत करने वाले इस उच्च कोटि के आनन्द की प्राप्ति के अध्यवसाय का अर्थ है—ईश्वर की प्राप्ति का अध्यवसाय। ईश्वर आनन्दस्वरूप है। इस आनन्द को हम सत्य कहते हैं क्योंकि सत्य ही ब्रह्म का पहला नाम है। या यों कहें कि भावना के क्षेत्र में जिसे 'आनन्द', 'रस-देवता', ब्रह्मानन्द सहोदर' कहते हैं, ज्ञान के क्षेत्र में उसे ही 'सत्य' कहते हैं। अवश्य ही ब्रह्म के तीनों स्वरूपों—सत्, चित् और आनन्द—में से सत् या सत्य को ही प्रमुखता दी गई है, किन्तु 'चित्' या 'आनन्द' भी 'सत्' के ही समकक्ष हैं।[1] तात्पर्य यह है कि 'सत्य' या 'आनन्द' की प्राप्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है।

दार्शनिक, वैज्ञानिक, ऋषि-मुनि, कवि-कलाकार सब चिंतन-निदिध्यासन, अन्वेषण व सृजन द्वारा इसी सत्य या आनन्द की खोज करते आ रहे हैं और कर रहे हैं; सभी अपनी भावना या बुद्धि का बल लेकर उसी परम तत्व को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। किन्तु यह एक सहज अनुभव-गम्य सत्य है कि उस परम तत्व की प्राप्ति कवि, कलाकार, भक्त आदि को सरलतापूर्वक तथा अपेक्षाकृत पूर्ण या अखण्ड रूप में होती है। इसका कारण ढूंढ निकालना कठिन नहीं। भारतीय क्रान्तदर्शी ऋषियों ने शरीर में पंच कोषों की कल्पना की है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष व आनन्दमय कोष। इनमें से प्रत्येक कोष उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्म और गम्भीर है।[2] काव्य-कला और भक्ति का सम्बन्ध मुख्यतः आनन्दमय कोष से है। विज्ञान-दर्शन आदि विचार- बुद्धि-प्रधान विषय, मनोमय कोष या विज्ञानमय कोष तक ही ठहर जाते हैं : यद्यपि इन क्षेत्रों के साधकों का भी अपना एक विशेष व गंभीर आनन्द है, यह निर्विवाद है। 'सत् चित् और आनन्द—ब्रह्म के इन तीनों स्वरूपों में से काव्य और भक्ति मार्ग आनन्द' स्वरूप को लेकर चले।"[3]

सब साधना-पद्धतियां (दर्शन, कला, विज्ञान आदि) अपनी अपनी विशिष्ट वृत्ति या कार्य प्रणाली के अनुसार अन्तत: उसी उच्च कोटि के आनन्द की या सत्य की प्राप्ति के लिए सचेष्ट हैं। दर्शन, प्रज्ञा (Pure intellect) के द्वारा, सत्य की खोज में निमग्न है। विज्ञान, नि:संग बुद्धि की सहायता से पदार्थ-जगत का वस्तुओं के विश्लेषण-वर्गीकरण की पद्धति द्वारा अपनी विशिष्ठ कार्य-शैली को अपना कर उसी सत्य का उद्घाटन कर रहा है। इसी प्रकार कला-काव्य आदि भाव-पद्धति पर रहते हुए, सौंदर्य के माध्यम से, उस आनन्द या सत्य की प्राप्ति की चेष्टा कर रहे हैं। कोरी निरपेक्ष बुद्धि से या कोरी निरपेक्ष भावना से जीवन का समग्र सत्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। काव्य या कला के अतिरिक्त अन्य साधना-पद्धतियां भावना की

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'चिन्तामणि,' 'कविता क्या है' निबन्ध का आरम्भ।
२. देखिए, तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, प्रथम अनुवाक।
३. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृष्ठ २१३।

प्राय: उपेक्षा करती हैं किन्तु काव्य, बुद्धि या विचार (जो कला-पक्ष के विन्यास में व्यवहृत होता है) और भावना दोनों का ही ग्रहण करने से हमारी सम्पूर्ण अन्तः सत्ता की पूर्ण तृप्ति का उद्योग करता है और इसी में उसकी मानव हृदय-व्यापी प्रभावशालिता का रहस्य निहित है। बात यह है कि जब तक मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासा और हृदय की आकुलता दोनों एक ही साथ शांत नहीं होती तब तक उसकी पूर्ण तृप्ति हो ही नहीं सकती। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की पूर्ण तृप्ति का अनुभव मनुष्य को पहली बार काव्य अथवा कलाओं में ही आकर प्राप्त हुआ। कला के इसी विशेष गुण के कारण मानव-हृदय पर, अन्य अनेक जीवनोपयोगी विषयों की अपेक्षा, उसका एकच्छत्र अधिकार सदैव से स्थापित रहता आया है। सूक्ष्मतम बौद्धिक जिज्ञासा की तृप्ति के बाद भी हृदय की प्यास बनी रह सकती है।[१] किन्तु हृदय की स्वस्थ तृप्ति में बुद्धि की शांति या तुष्टि पूर्णतया निहित है। कदाचित् इसीलिए महान् प्रकृति-प्रेमी अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) ने कविता को "समस्त ज्ञान की सूक्ष्म आत्मा" कहा है।[२]

कला और अन्य जीवन-विषयों में वृत्ति-भेद मुख्य वस्तु है किन्तु कला के विविध प्रकारों (स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य) में परस्पर ऐसा कोई भेद नहीं। वे सब एक सुदृढ़-सुकोमल भावना-सूत्र में, उपकरण-भेद से, अविच्छिन्न रूप से बँधे हुए हैं। सभी कलाओं में पारस्परिक मुख्य अन्तर है तो यही कि उनके आनन्द के परिमाण में (?) और उनके द्वारा ग्राह्य विशिष्ठ उपकरणों (पत्थर, रंग शब्द आदि) या ऐन्द्रिक माध्यमों (मुख्यत: आँख-कान) में ही अन्तर है, अन्यथा अपने मूल आत्म-तत्त्व की प्राप्ति के लक्ष्य में पूर्णत: एक हैं।[३] सभी कलाएँ आनन्द-तीर्थ की यात्रिणियाँ हैं, सबका साधन सौंदर्य है, सब का आधार राग तत्त्व है, सब की अपील (appeal) हमारी कल्पना को है, और सब की साधना-पद्धति रस की मधुर पद्धति है। सब अपने अपने विशिष्ट उपकरणों के द्वारा आनन्द का ही उद्घाटन करके मानव-हृदय की पूर्णता का प्रयत्न कर रही हैं। काल-गाल का ग्रास मानव, अपनी आत्मा की अक्षय प्यास-निवृत्ति के हेतु, 'ताज', संगमरमर की मूर्त्तियां, ऐलोरा और अजन्ता के भित्ति-चित्र, वागीश्वरी की तान, तथा 'मानस' 'सूरसागर' 'गीतांजलि' 'कामायनी', 'गुंजन', 'दीप-शिखा' और 'गीतिका' आदि कलाकृतियों की रचना करके इनमें सब कालों के लिए जीकर, अपने अमरत्व का जयघोष कर रहा है।

---

१. 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' का "तुमुल कोलाहल कलह में···" नामक गीत ('निर्वेद' सर्ग) इस तथ्य को बड़ी ही सहृदयता व पूर्णता से निरूपित करता है।

२. "Poetry is the finer spirit of all knowledge." (Wordsworth)

३. विशेष देखिए—

W. Basil Worsfold : "*Judgment in Literature*" p. 5—10.

कला अथवा काव्य का सारा जादू है उसका 'रागतत्त्व'। यही वह तत्त्व है जो उसे अन्य विषयों से पृथक कर उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करता है और उसे वह मोहिनी प्रदान करता है जिसके वशीभूत हो मानव-मन सिर झुका कर, समस्त तर्क-वितर्क को भूल कर, जीवन-रस ग्रहण करने के लिए चुपचाप आत्म समर्पण कर देता है। इस 'रागतत्त्व' का स्वरूप समझना आवश्यक है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'कविता क्या है ?' नामक निबन्ध ('चिन्तामणि' भा० १) में कविता की परिभाषा इस प्रकार की है :—[1]

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।"

इस परिभाषा में शुक्ल जी ने बहुत व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि से कविता के सम्बन्ध में सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ अवश्य कह दिया है। उससे हमें ये तथ्य प्राप्त होते हैं :—

(१) 'आत्मा' शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर का है।[2] (२) ज्ञान-क्षेत्र व काव्य-क्षेत्र (भाव-क्षेत्र) भिन्न-भिन्न हैं। (३) काव्य का सम्बन्ध हृदय से है। (४) हृदय की मुक्तावस्था साधारण दैनिक अवस्थाओं से ऊपर की अवस्था है। (५) कवि स्वयं मुक्ति की अनुभूति प्राप्त करता है व अन्य को भी उसका भावन कराता है। (६) काव्य में रस का ही महत्त्व है। (७) कविता साधना की वस्तु है, कोरा मन बहलाव या मनोरंजन नहीं। (८) यह साधना बहुत प्राचीन काल से होती आई है। (९) 'शब्द-विधान' के द्वारा कविता के कला-पक्ष के सुव्यवस्थित एवं पुष्ट विन्यास की ओर संकेत है। (१०) कविता भाव-योग है (जिस प्रकार अन्य योग-पद्धतियों से आत्म-साक्षात्कार सम्भव है उसी प्रकार इस भाव-योग के द्वारा भी पूर्ण मुक्ति सम्भव है। ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र में शुक्ल जी ने ही पहली बार अन्य साधना-क्षेत्रों की तरह कविता को एक स्वतन्त्र साधना-क्षेत्र घोषित किया है। इतना ही नहीं, कर्मयोग एवं ज्ञान-योग जैसे सर्वोच्च योगों के समकक्ष कविता अथवा भाव-योग को बैठा कर उन्होंने जीवन में भाव-मार्ग अथवा भाव-योग की एक निरपेक्ष सत्ता स्थापित कर कविता के माहात्म्य की स्थापना की है)।

---

१. हम आचार्य शुक्ल की धारणा को आधुनिक हिन्दी काव्य-चिन्ता की प्रतिनिधि धारणा मान कर उसके माध्यम से ही अपनी बात कह रहे हैं।

२. किन्तु, रहस्यवादी कवि होने के नाते 'प्रसाद', अपनी काव्य-चिन्ता में, 'आत्मा' शब्द के प्रयोग में नहीं हिचकते—देखिए, 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (सं० १९९६), पृ० १७।

साधारणत: काव्य की समस्त परिधि से सम्बन्धित प्राय: सभी बातें इस धारणा में आ गई है। सब में मुख्य बात जो इसमें निहित है वह है कविता की रागात्मकता। मुख्यत: हृदय के ही क्षेत्र की वस्तु होने से उसका रागात्मक होना स्वत: सिद्ध है। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने कवि में शक्ति, निपुणता और अभ्यास—ये तीन गुण आवश्यक बताये हैं। उसकी प्रतिभा कारयित्री (Creative) होती है जो नवनवोन्मेषशालिनी होती है। इसी शक्ति के कारण वह ब्रह्मा के समान सृष्टिकर्ता और प्रजापति कहा जाता है। राजशेखर ने उसकी इसी कारयित्री प्रतिभा का अलौकिकत्व निरूपित किया है।[1] इसी प्रतिभा के बल पर वह अपनी सहज भावना व मेधा से प्रातिभ ज्ञान (Intuitive knowledge) का उपार्जन कर लेता है जिस तक शास्त्रीय ज्ञान की पहुँच सम्भव नहीं। इसी प्रतिभा अथवा आन्तरिक भाव-चक्षु के बल से वह जगत् व जीवन के अधूरे और खंडित सत्य को न देखकर, सहसा प्रस्फुटित विद्युत्-आलोक के समान अपनी अलौकिक प्रतिभा के आलोक की कौंध में, क्षण भर में ही चराचरव्यापी पूर्ण व अखण्ड सत्य को, अपने निर्विकार रूप में, सहसा ही ग्रहण कर उठता है। वर्डस्वर्थ (Wordsworth) ने भी कवि की इसी शक्ति की ओर संकेत करके कहा है कि "वह (कवि) वस्तुओं की वास्तविक सत्ता की तह में उतर कर देखता है।[2] रवीन्द्र ने भी यही बात कही है।[3] यही प्रतिभा कवि को अपना प्राणवान् भाव-सत्य, अपने पूर्ण वेग के साथ, सौन्दर्यात्मक रूप में व्यक्त करने को विकल कर देती है। प्रतिभा ही मूल वस्तु है। उसके अभाव में निपुणता और अभ्यास प्राय: अशक्त ही रहते हैं। अभ्यास, अनुभूति को समर्थ भाषा में, प्रभावशाली शैली की सहायता से, सहृदयों के लिए प्रेषणीय बनाने के सामर्थ्य को कहते हैं। शास्त्रों का अध्ययन, मानव-जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण व प्रकृति पर्य्यवेक्षण—ये सब 'निपुणता' के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

कविता के लक्ष्य के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है। भाव-क्षेत्र में रहते हुए, प्रतिभा व प्रातिभ ज्ञान के बल से, मधुर साधना-पद्धति द्वारा ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप का अन्वेषण व उद्घाटन करके अखण्ड रसानुभूति में लीन होना व लीन करना ही कविता का चरम लक्ष्य है। जिस लक्ष्य-बिन्दु पर टकटकी लगाते हुए जीवन की अन्य साधना पद्धतियाँ अग्रसर हो रही हैं, कविता भी उधर ही जा रही है किन्तु उसका साधन और कार्य-पद्धति भिन्न किन्तु सहज व मधुर है। वस्तुत: इसी साधना व पद्धति की भिन्नता व विलक्षणता में ही कविता की सारी प्रभविष्णुता, सारी शक्ति, व सारी

---

१. **'काव्य-मीमांसा' (राजशेखर), चतुर्थ प्रकरण।**

२. "He sees into the realities of things."

३. "...To get to the heart of things where things are one."—*'Personality'*, Page 23.

अपील का रहस्य छिपा हुआ है। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह सौन्दर्य को अपना साधन बनाती है। वह सौन्दर्यात्मक उपकरणों का ही चयन करती है, उनका विन्यास भी सौन्दर्यात्मक ढंग से करती है और पाठक के हृदय पर प्रभाव या अपील भी रमणीयता व सुन्दरता के साथ छोड़ती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं:— "शक्ति शील और सौन्दर्य—भगवान् की इन तीन विभूतियों में से कवि 'सौन्दर्य' को लेकर चला।"……"शुद्ध काव्य क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है, न बुरी; न शुभ न अशुभ, न उपयोगी, न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, कवि उसके सौन्दर्य-पक्ष पर आप ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भव-बन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है। पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती। वह उधर देखता है जिधर सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।"[१] असुन्दर का चित्रण भी कवि इस तल्लीनता के साथ करेगा कि पाठक की भावना में उस वर्ण्य की मूर्त्ति भी रमणीय या सुन्दर रूप में ही अंकित होगी। रवीन्द्र ने सत्य और सौन्दर्य के सृष्टि-निर्माण को ही काव्य या मुख्य क्रिया-कलाप ठहराया है।[२] वस्तुत: आचार्य शुक्ल व रवीन्द्र दोनों ही सौन्दर्य को काव्य का साधन ही मानते हैं, साध्य नहीं।[३] साधन की इस विशिष्ठता के कारण ही कविता की कार्य-प्रणाली अन्य साधना-प्रणालियों से भिन्न है। वह वैज्ञानिक की विश्लेषणात्मक प्रणाली को नहीं अपनाती जिसके अनुसार वह (वैज्ञानिक) तर्क-बुद्धि से केवल पदार्थों के बाहरी रंग-रूप तथा उनके विधायक भौतिक तत्वों का विश्लेषण करता हुआ सत्यानुसंधान करता रहता है। वह सामान्य सत्यों व धारणाओं को स्थिर करने वाली दार्शनिक की बुद्धि-प्रधान प्रणाली को भी नहीं अपनाती। वह तो वस्तुओं व तथ्यों का मर्म-भेद करके, बाहरी रूपाकारों व उनकी आंतरिक चेतन सत्ता दोनों की गहराई में उतर कर सत्य, शिव व सुन्दर से समर्थित पूर्ण सत्य को ही निकाल कर लाती है। वह धार्मिक या हठयोगी की तरह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्तियों के

---

१. 'चिन्तामणि' भा० १, 'कविता क्या है' नामक निबन्ध।

२. 'This building of man's true world,—is the function of Art.' '*Personality*', page 31.

३. "…Beauty in art has been the mere instrument and not its complete and ultimate significance" —'*Personality*', page 19

परन्तु, क्रोचे (Croce) तो कल्पना और सौंदर्य को साधन न मान कर साध्य ही मानते हैं। विशेष देखिए—पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र, खण्ड २, पृ० ४४८।

समूलोच्छेदन का भी उपदेश नहीं करती, प्रत्युत् उनके निर्मलीकरण, सहजीकरण और उदात्तीकरण (sublimation) का ही उद्योग करती है। वह मानवी धरातल पर ही रह कर मानव-हृदय को सुन्दर, निर्मल, मधुर और सहज बनाने का प्रयत्न करती है क्योंकि उसका विश्वास है कि हृदय की भाव-सत्ता ही, जीवन के समस्त क्रिया-कलापों के मूल में होने से, जीवन-चक्र की प्रेरिका या संचालिका है, अतः हृदय का सुन्दर और निर्मल बना देना ही पर्याप्त व अभीष्ट है। इसलिये वह सौन्दर्य को माध्यम बना कर चलती है जिससे कि उसके सहज गुणों के कारण मानव-हृदय पर स्वाभाविक रूप से जीवन का सत्य अंकित हो जाय। वह कोरे रूखे उपदेश नहीं देती, स्वर्ग का लोभ भी नहीं देती, और न नरक का भय ही दिखाती है। वह तो प्रभुसम्मित (राजाज्ञा के स्वर में), व सुहृत्सम्मित (इतिहास-पुराणादि के मैत्रीपूर्ण स्वर में) आदेश व सलाह न दे कर कान्तासम्मित[१] रसव्यंजनापूर्ण स्निग्ध उपदेश ही करती हुई एक ही साथ तीन लक्ष्यों की सिद्धि करती है—शिक्षण (to teach), रंजन (to delight), और उत्प्रेरण (to move)।[२]

कविता की समस्त सार-सत्ता अथवा उसकी जीवनी-शक्ति उसका 'रागतत्त्व' है। यह रागतत्त्व क्या है? इसके समझने के लिये हमें व्यक्ति और विश्व दोनों पर एक साथ थोड़ी दृष्टि डालनी होगी। वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) ने जन्म-काल के समय के मानवों की ओर संकेत करते हुए लिखा है :— 'Trailing clouds of glory do we come'. अर्थात्, हम विराट् चेतना के अपने मूल उद्गम (ब्रह्म के प्रकाशमान् लोक) से पूर्ण निर्मल व उज्ज्वल रूप में आते हैं। शनैः शनैः हम पर संसार व सभ्यता की तहें पर तहें जमती चलती हैं और हमारा आदि निर्मल रूप म्लान व विकृत होता जाता है। हम इतने स्वार्थलिप्त हो जाते हैं कि ईश्वर की रची परम रमणीय सृष्टि (प्रकृति) को रस-मग्न हो कर एक क्षण को भी नहीं देख पाते। हम संसार को या प्रकृति को केवल अपने सुख-दुख के ही रंग में रँगा देखते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और संसार दोनों के ही मूल प्राकृतिक स्वरूपों पर सभ्यता के कृत्रिम आवरण पड़े रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जीवन में हमें सच्चे आनन्द की अनुभूति कभी नहीं हो पाती—वह अनुभूति तो केवल अपने निरपेक्ष और शुद्ध आत्म-रूप का दर्शन करने से ही प्राप्त हो सकती है। जब तक साधना द्वारा हम अपने आत्म-स्वरूप को, सब कृत्रिम आवरणों से मुक्त कर, देखने का अभ्यास न डालें तब तक आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं। यहीं भावों के परिष्कार की बात आ जाती है। केवल बुद्धि-बल से यह कार्य सम्भव नहीं। न यह कार्य केवल

---

१. **'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'—मम्मट : काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।**

२. R. A. Scott-James : *'The Making of Literature'* (1940), p. 84, 87 and 141.

नियमों के पालन द्वारा ही संभव है और न विधि-निषेध के द्वारा ही। वास्तविक आनन्द के लिये तो हमें कर्म, बुद्धि, व्यवहार, तर्क आदि के सब प्रदेशों को पार कर अपनी तथा विश्व की अन्त: सत्ता या भावात्मक सत्ता तक जाना होगा। हमारी अन्त: सत्ता तथा जगत् की सत्ता के पूर्ण तादात्म्य का मूल आधार ही यह 'राग तत्त्व' है। यह रागतत्त्व हमारे हृदय के सभी भावों—प्रेम, क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा आदि—के मूल में समाविष्ट है। समस्त सृष्टिकी सत्ता के मूल में भी यही रागतत्त्व व्याप्त है। इसी से हार्दिक स्नेह-सम्बंध स्थापित होते हैं तथा आत्मीयता जागृत, विकसित व पुष्ट होती है। यही रागात्मकता कलाओं का प्राण है। कवि और कलाकार इसी रागात्मकता से अपनी कला-सृष्टि को सजीव, प्रभावशालिनी व प्राणवान् बनाते हैं। यह रागात्मकता कोरी बौद्धिकता और शुष्क व्यवहार से परे है, क्योंकि बौद्धिकता और व्यवहार के द्वारा वह आत्मैक्य सम्भव नहीं जो मानव-भावों की रागात्मक भूमि पर सहज-सुलभ है। "केवल तर्क बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अनन्तर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है।" रागतत्व से समाविष्ट इन भावों के ही संघात से 'रस' की निष्पत्ति होती है। संस्कार रूप में सुप्त भाव स्वत: निष्क्रिय हैं। उनकी सक्रियता बाह्यजगत् के पदार्थों (आलम्बन) पर ही निर्भर रहती है अत: इस 'रागतत्त्व' की व्याख्या के लिये व्यक्ति (आश्रय) तथा विश्व (आलम्बन) दोनों ही पक्षों का ग्रहण करना पड़ता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल व रवीन्द्र दोनों ने ही अपने अपने ढंग पर इस तत्त्व की व्याख्या की है। शुक्ल जी जिसे 'रागात्मकता' अथवा 'रागात्मक सम्बन्ध' कहते हैं, रवीन्द्र उसे ही व्यक्ति व बाह्यजगत् का 'व्यक्तित्व' या भावात्मक अस्तित्त्व (Personality) कहते हैं। दोनों ही इस तत्त्व को बाहर के अनेक आवरणों के भीतर झलमलाता हुआ वास्तविक जीवन तत्त्व कहते हैं। कवि या कलाकार उसी के स्वरूप का दर्शन करते हैं, उसी को ढूँढ निकालते हैं, अपनी प्रभविष्णुता के लिये उसी से शक्ति ग्रहण करते हैं, और उसे सब कृत्रिमताओं से परे प्रतिपादित करते हैं।[1]

मानव की समस्त अभिव्यक्ति (वाङ्मय) का केवल संवेदनात्मक अंश ही काव्य है। शेष अभिव्यक्ति केवल सूचना या अर्थ-बोधन मात्र है। कवि की अभिव्यक्ति संवेदनात्मक होने का कारण उसकी अनुभूत्यात्मकता है। भाव-प्रवण कवि अपनी अनुभूति या भावना को रूपाकार देने के लिए तथा उसे अन्य रसिकों के लिये संवेद्य या आस्वाद्य बनाने के लिये विशिष्ट अभिव्यंजन-शैली का आश्रय लेता है।

---

१. देखिए, शुक्ल जी के 'कविता क्या है?' नामक निबन्ध का 'मनोरंजन' खंड (चिन्तामणि, भा० १), तथा रवीन्द्रकृत *'Personality'*, (What is Art?), p. 13—16.

अनुभूति के भाव-मूलक होने तथा उसका तात्कालिक प्रयोजन सहृदय का रंजन या प्रसादन होने के कारण उसका समस्त क्रिया-कलाप भावात्मक ही होता है अतः उसकी अभिव्यंजना रागात्मक अभिव्यंजना कहलाती है। निश्चित ही इस रागात्मक अभिव्यंजना का स्वरूप मानव हृदय पर मार्मिक प्रभाव डालने के ही उद्देश्य से संघटित होता है। इसीलिये अभिव्यंजना के लिए शब्द की शक्तियों (अभिधा, लक्षणा व व्यंजना), अनुभूति के स्वरूप का स्पष्टता के साथ उद्घाटन करने वाली अभिव्यक्ति की शैलियां—अर्थात्, अलंकारों, विविध भाव-वाही छंदों, अनुकरणमूलक या ध्वन्यात्मक शब्दों आदि विविध विधाओं का कवि को आश्रय लेना पड़ता है। विज्ञान व दर्शन आदि में जहां समूह को ध्यान में रखकर केवल प्रमाएँ (Concepts) ही तैयार की जाती हैं वहां अभिव्यक्ति की रमणीयता की इस सामग्री की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

कवि कोरी सूचना, सामान्य कथन, इतिवृत्त, तथ्य-निरूपण, सिद्धान्त-प्रतिपादन, वस्तु-परिगणन मात्र से चलाऊ काम न करके[1] अपनी प्रतिभा से भावनाओं के अनेक चटकीले और रंजनकारी चित्र तैयार करता है और पाठक या श्रोता की भावना या कल्पना पर चित्रण या वर्णन द्वारा उन्हें अंकित करता है। अपने मानस-पटल पर प्रतिबिम्बित इन रमणीय चित्रों का अन्तर्दर्शन पाठक या श्रोता को इतना मुग्धकारी प्रतीत होता है कि वह सहज ही उन की मोहिनी के वशीभूत हो जाता है। कवि चित्रों की सतरंगी भाषा में बोलता है, संगीतपूर्ण और चित्रात्मक छाया-छवियां तैयार करता है, और पाठक हठात् उनमें खो जाता है। यही मानव-हृदय पर कला की विजय का रहस्य है। इस प्रक्रिया का स्वरूप इतना जटिल व विलक्षण है कि शताब्दियों से इस रहस्य की व्याख्या साहित्य-चिन्ता के क्षेत्र में होती आई है किन्तु उसका अंतिम वाक्य आज तक न लिखा जा सका।

इस प्रकार कविता का प्राण रागतत्व है। यह रागतत्व प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सभी रसों की कविता में प्राप्त होता है किन्तु प्रेम-सौंदर्य सम्बन्धी कविता में सर्वाधिक। प्रेम-सौंदर्य का विषय शास्त्रीय दृष्टि से काव्य में शृंगार-रस से सम्बन्धित है जो अपनी रागात्मकता के कारण साहित्य में 'रस-राज' कहलाता है।

४. शृङ्गार रस का रसराजत्व

प्रेम और सौंदर्य का विषय रस-चक्र में शृंगार रस के अन्तर्गत आता है। ऊपर

---

१. "Mere narration (Nirvaha, Itihas), bare utility, are not art, or are only art in a rudimentary sense. Nor has art as such a merely informative value confined to its explicit meaning (vyutpatti)."—A. Coomarswamy : *'Transformation of Nature in Art'*, P. 46.

'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः।'– ध्वनिकार आनन्दवर्धन।

हमने प्रेम की उच्चता व गंभीरता के सम्बन्ध में पर्याप्त कह दिया है। श्रृंगार के सम्बन्ध में जनसाधारण की धारणा प्रायः बड़ी हल्की या कभी कभी अभद्र तक होती है किन्तु साहित्य के मर्मियों ने, विशेषतः—भरत मुनि, कालिदास, भोज, काश्मीर के रसवादी आचार्य, 'उज्ज्वल नीलमणि' व 'भक्ति रसामृतसिंधु' के निर्माता आदि—इसका जो गौरव प्रतिपादित व प्रतिष्ठित किया है उसको देखकर ही इस विषय का सच्चा महत्व समझ में आ सकता है।[1] वस्तुतः श्रृंगार रस सब रसों में निर्मल व आत्मा को उच्च बनाने वाला रस है।[2] इसीलिये साहित्य में इसका रसराजत्व स्वीकार किया गया है।[3] जो इसके मर्म को नहीं समझते वे श्रृंगार की उदात्त भावना व कल्पना से वंचित ही रह जाते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि आचार्यों ने मर्यादा-विरुद्ध, कुत्सित, व पतनोन्मुख श्रृंगारवर्णन को 'रसाभास' के अन्तर्गत पहले से ही रख दिया है। स्वयं भोजराज की धारणा श्रृंगार के सम्बन्ध में कितनी उदात्त है—

श्रृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः
आम्नासिषुः दश रसान् सुधियो, वयं तु श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥[4]

शारदातनय की भी श्रृंगार-संबंधी धारणा अत्यन्त उच्च है। उनके अनुसार भी आत्मा का प्रेम ही बाह्य पदार्थों या व्यक्तियों के प्रति प्रेम में प्रकाशित होता है। श्रृंगार रस में अभिव्यक्त प्रेम वस्तुतः सात्विक कोटि का है।[5]

---

१. वि०दे०—'संस्कृत रत्नाकर' नामक पत्रिका, काशी, कार्तिकपूर्णिमा, २००६।

२. भरतमुनि का नाट्य शास्त्र, अध्याय ६।

३. किन्तु अनेक आचार्यों ने अन्य रसों को भी 'रसराजत्व' का पद दिलाने का पर्याप्त उद्योग किया। भवभूति ने 'करुण' को ही एकमात्र रस माना—'एको रसः करुणैव।' शान्त रस को ले कर भी बड़ा विवाद रहा किन्तु भरत तथा धनंजय ने उसकी रसराजत्व-सम्बन्धी स्थिति अस्वीकार कर दी। गौड़ीय वैष्णवों ने 'मधुर रस' या 'उज्ज्वल रस' को सर्वश्रेष्ठ कहा किन्तु वस्तुतः वह भक्ति के धरातल पर श्रृंगार रस' के रसराजत्व की स्वीकृति का रूपान्तर मात्र ही है।

विशेष देखिये—पं० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९४८, पृष्ठ ३६१।

४. भोज की श्रृंगार-सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए —Dr. V. Raghavan : '*Bhoja's Srngara Prakasa*, (Vol. I, Part II), p. 462-470.

५. 'या चैयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः। विषयाक्ता रतिः सैव श्रृंगार इति गीयते।' — Quoted from Dr. V. Raghavan : '*Bhoja's Srnagara Prakasa*', (Vol. I, Part II), p. 462.

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में भी शृंगार रस की उदात्तता व व्यापकता की धारणा आचार्यों के द्वारा व्यक्त हुई है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने शृंगार रस के संबंध में (काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, रस मंजरी, पृ० २०१) अपनी महत्वपूर्ण धारणा व्यक्त की है जो निम्नलिखित है—

"यहां यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि कुछ लोग शृंगाररसात्मक काव्य और तत्सम्बन्धी विवेचना में अश्लीलता का दोषारोपण करते हैं। यह उनका भ्रम है। अमर्यादित शृंगार रस के वर्णन को तो कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ अच्छा नहीं कहता है। इसे सभी प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रंथों में त्याज्य कहा गया है किन्तु शृंगारात्मक वर्णन मात्र को ही त्याज्य समझना काव्य के वास्तविक महत्व से अनभिज्ञता है। शृंगार रस तो काव्य में सर्व प्रधान है। इसके बिना तो काव्य का तादृश महत्व ही नहीं रह सकता। महाभारत, वाल्मीकीय रामायण और श्री मद्भागवत आदि शान्तरस, करुण रस एवं वैराग्य भक्ति प्रधान आर्ष ग्रंथों में भी शृंगार रस का समावेश है।"

शृंगार को बहुत से लोग स्त्री-पुरुष के लौकिक प्रेम-सम्बन्ध के संकीर्ण क्षेत्र तक ही मानते हैं किन्तु बात ऐसी नहीं। शृंगार रस का विस्तार बहुत बड़ा है।[1] आत्मा को विश्वव्यापी बनाने वाला रस इतना संकीर्ण नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के विचार नितांत मननीय हैं। वे लिखते हैं—

"वस्तुतः शृंगार का विस्तार बहुत दूर तक है। इसकी सीमा के भीतर प्राणी मात्र ही नहीं, उन वनस्पतियों के वर्ग भी आ जाते हैं जिन्हें हम साधारणतया जड़ समझते हैं। अन्य किसी रस का विस्तार इतना अधिक नहीं है। स्मरण रखना चाहिये कि यहां शृंगार से तात्पर्य उस सीमाबद्ध भावना से नहीं है जिसके लिए प्रायः इस शब्द का प्रयोग अब रूढ़ सा हो रहा है। इस शृंगार के दायरे में प्रेम, वात्सल्य, स्नेह श्रद्धा, भक्ति, सख्य सभी कुछ आ जाता है। इतना विस्तार और किसी का नहीं और न इतने व्यापक स्वरूप भेद ही किसी रस या भाव में पाए जाते हैं। इतना ही नहीं, यह हृदय की संकीर्णता को भी अपने प्रभाव में उदारता में परिणत कर देता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो करुण, वीर और शांत रस में हृदय का विस्तार कुछ देख पड़ता है, अन्य रसों में वह भी नहीं।"[2]

श्री डॉ० नगेन्द्र ने भी निभ्रांत शब्दों में शृंगार रस का, अत्यन्त संक्षेप में किन्तु स्पष्टता से मर्मोद्घाटन कर दिया है —

---

१. दे०—बम्बई हिन्दी साहित्य सम्मेलन (३५ वां अधिवेशन) में साहित्य परिषद् के सभापति पद से दिया गया पं० चन्द्रबली पांडे का अभिभाषण।

२. 'पद्माकर पंचामृत' का 'आमुख' पृ० ६१–६२; तथा इस ग्रंथ के पृष्ठ १० पर पाद्-टिप्पणी।

"शृंगार का अर्थ है कामोद्रेक। उसके आगमन अर्थात् उत्पत्ति का कारण ही शृंगार कहलाता है। उत्तम प्रकृति का ही कामोद्रेक, जिसमें शारीरिकता का ही प्राधान्य हो, शृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता।"[१]

शृंगार रस का सर्वोपरि महत्त्व स्पष्ट है। इस प्रकार यदि हम प्रेम और सौंदर्य के विषय को प्राचीन आचार्यों द्वारा पूर्णता, स्पष्टता व सुव्यवस्था के साथ निरूपित किसी ऐसी विशिष्ठ रस-पद्धति में निर्धारित करके रखना चाहें जिसमें उस की व्यापकता और गम्भीरता के कारण प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित समस्त वस्तु-भाव-प्रपंच उसमें समाहित हो सके तो वह एकमात्र शृंगार रस ही है।[२]

प्रेम और सौंदर्य जैसे अत्यन्त गम्भीर विषय का सम्बन्ध केवल शृंगार से ही है, और रसों से नहीं। अतएव उसकी इस विशेषता या विलक्षणता को हृदयंगम करने के लिए यदि थोड़ी देर के लिए हम उसे समस्त रस-चक्र के अन्तर्गत रख कर देखे तो उसके इस विशेषाधिकार का कुछ रहस्य प्रकट हो सकेगा।

मानव-हृदय भावों का कोष है। उसमें प्रत्येक क्षण भावों का ही क्रिया-कलाप चलता रहता है। स्थायित्व एवं प्रभाव-व्यापकता की दृष्टि से आचार्यों ने उनमें से कुछ ऐसे भाव निर्धारित किये हैं जो मानव-हृदय पर अपना विस्तृत अधिकार रखते हैं। वे 'स्थायी भाव' कहलाते हैं और उनकी संख्या ९ है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद या शम। इनके अतिरिक्त भी हृदय में और बहुत से भाव हैं जो छोटी-छोटी तरंगों की तरह बनते-बिगड़ते रहते हैं। यों तो ये भाव असंख्य हैं किन्तु प्रमुखता व महत्त्व की दृष्टि से इनकी भी संख्या निर्धारित कर दी गई है जो तैंतीस है।

संसार में चारों ओर जिधर भी दृष्टि जाती है सर्वत्र पदार्थ ही पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। प्रत्येक पदार्थ या व्यक्ति को देखकर हृदय में एक मनोविकार या भाव अवश्य ही उत्पन्न होता है। जिस पदार्थ या व्यक्ति को देखकर यह भाव उत्पन्न होता है उसे आलम्बन (विभाव) कहते हैं क्योंकि वह भाव का कारण या बीज रूप है। यह जगा हुआ भाव ऊपर गिनाये हुए नौ स्थायी भावों में से कोई एक होगा। आलम्बन विभाव के द्वारा जगा हुआ यह भाव बाहर के अन्य पदार्थों, व्यापारों या परिस्थितियों

---

१. 'विचार और विवेचन', पृष्ठ ३७; और भी देखिए—'रीति काव्य की भूमिका', पृष्ठ १५२, १५८ व १५९।

२. "सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेम संज्ञक।"

"रीतिकालीन कविता और शृंगार रस" (डॉ० राजेश्वर चतुर्वेदी) के पृ० ९ से उद्धृत।

से (उद्दीपन विभाव) से उद्दीप्त या परिवर्द्धित होता है। ऐसे पदार्थ उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। जब भाव उद्दीपन विभावों की सहायता से हृदय में उद्दीप्त हो उठता है तो स्वाभाविक क्रम में भाव के अनुभवकर्ता (आश्रय) की कुछ आंगिक चेष्टाएं उत्पन्न होती हैं। इन चेष्टाओं (अनुभाव) से यह आभास मिलता है कि आश्रय को भाव का अनुभव हो रहा है। इस भावानुभूति-काल के बीच 'संचारी भाव' भी सक्रिय रह कर मूलभाव को रसकोटि तक पहुँचाने में सहयोग करते रहते हैं। यह सारी भाव-स्थिति अन्ततः अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त होती है। इस प्रकार भाव रस-सामग्री की सहायता से रस-रूप में परिणत हो जाता है और आश्रय रस-दशा या रसानुभूति को प्राप्त हुआ कहा जाता है।

प्रत्येक स्थायी भाव अपने उत्कर्ष में रस-रूप में परिणत होता है अतः रस भी ९ माने गये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। प्रत्येक रस में भिन्न २ विभाव, (आलम्बन व उद्दीपन) अनुभाव, संचारी भाव आदि रहते हैं।

शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है। आरम्भ में इस रति-भाव की सीमा केवल कांता-विषयक-रति तक ही सीमित थी। पर कालान्तर में ज्यों ज्यों व्यवहार क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ मानव का सामाजिक विकास होता गया, त्यों त्यों इस रति (मन का लगाव या अनुराग) का घेरा भी विस्तृत होता गया।[1] अतएव शनैः शनैः आचार्यों ने कांता-विषयक, पुत्रविषयक, देवविषयक और राजाविषयक रति को भी 'रतिभाव' की परिधि में सम्मिलित कर लिया। किन्तु हृदय की व्याप्ति व अनुराग की सीमा कब बँध सकी है! मानव-समाज के नित नये आदर्श भी इस रति की सीमा का निर्धारण प्रायः करते रहते हैं। हमारे जिस हृदय में अपनी प्रिया, संतति, माता-पिता, गुरुजन, राजा, (देशकालानुसार आज राजा के प्रति भक्ति प्रायः लुप्त हो चली है।) आदि के प्रति राग होता है उसी हृदय में अन्य अनेक आलम्बनों का समावेश भी होता चलता है। नये-नये आलम्बनों का यह ग्रहण हमारे हृदय के विकसित, परिष्कृत, सुसंस्कृत अथवा समुन्नत होने का परिचायक है। ऐसी स्थति में केवल गिने गिनाये व्यक्ति या पदार्थ ही हमारे हृदय के रति-भाव के स्थायी आलम्बन रहते रहें, इसमें मानव-मन की पूर्ण तुष्टि कैसे हो सकती है? मित्र या सखा, देश, प्राचीन वीर-पुरुष, वर्तमान नेता, मानव-मात्र (पड़ौसी, परिजन-पुरजन, अपने देश का नागरिक व विदेश-निवासी) प्रकृति (नदी, पर्वत, झरने, आकाश, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि) और विशिष्ठ कला-कृतियों के प्रति भी विशेष

---

१. उदाहरणार्थ, देश-विषयक रति के लिये देखिये—श्री सूर्यबलीसिंह : "हिन्दी की प्राचीन और नवीन काव्य धारा", (१९४८), पृ० ५४–५५।

विशेष अवसरों पर हमारे हृदय में रति-भाव जगता है और वह अपने चरमोत्कर्ष में हमें इन रूपों में बराबर रस-लीन कर देता है। इसीलिये ज्यों ज्यों सामाजिक सम्पर्क बढ़ता गया व साहित्य-चिन्ता का मार्ग प्रशस्त होता गया, त्यों त्यों रस की संख्या भी ८ तक ही सीमित न रह सकी।[१] शांत रस, भक्ति रस[२] वात्सल्य रस, माया रस आदि अनेक नव-नव रसों की परिकल्पना हुई। 'माया रस' नामक रस तो इतना बड़ा सिद्ध किया गया कि जिसमें सारे रस समाहित हो जायें—मानों वही 'रसराज' हो।[३] पर ये सब रस साहित्य शास्त्र में केवल भाव-मात्र ही कहलाए। शायद वे इसीलिए स्वीकृत न हुए कि प्राचीनों ने किसी भाव के रस-कोटि को प्राप्त होने के लिये कुछ शर्तें लगा दीं। सब से बड़ी शर्त थी रस के उपकारक सब अवयवों की उपस्थिति। और दूसरी शर्त थी 'साधारणीकरण'। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति-सम्बन्धी रस की भरी-पूरी विवेचना की किन्तु अन्त में उन्हें भी उसको 'भावानुभव' ही मान कर सन्तुष्ट हो जाना पड़ा। इसी प्रकार देव-विषयक रति भी केवल भावमात्र मानी गई, रस नहीं।

शृंगार रस की 'रस-राज' के रूप में स्वीकृति बड़े ही पुष्ट आधारों पर आधारित है। प्राचीन आचार्यों ने शृंगार रस को ही 'रसराज' की उपाधि से विभूषित किया है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि शृंगार रस के दो भेद हैं—विप्रलंभ और संयोग। ये दोनों ही पक्ष समस्त हृदय की वृत्तियों पर अपना पूरा शासन जमाये हुए हैं। शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य सब रस, सम्मिलित रूप से भी मानव हृदय पर उतना अधिकार नहीं रखते जितना अकेले इस रस के उक्त दोनों पक्ष। वस्तुतः अन्य सब रसों को, विचारपूर्वक देखने पर, रस कहलाने से पूर्व शृंगार रस का ही माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। क्या करुण रस, शृङ्गार या काम भावना से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित रहे बिना, अपनी पूरी भाव-विभूति या गंभीरता के साथ प्रकट हो सकेगा? क्या हास-विलास, बिना शृङ्गार के, कोई रंग लायेगा? क्या शृंगार के बिना वीरता जीवन में बिना मसाले का व्यंजन न होगी? क्या शृङ्गार की वीथियों में लीला किये बिना जीवन में सच्चे वैराग्य या शांत रस

---

१. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'शांत' के अतिरिक्त ४ रस और माने हैं—(१) भक्ति वा दास्य, (२) वात्सल्य, (३) सख्य, व (४) आनन्द। श्री शिवनाथ: 'भारतेन्दु की कविता' पृ० ६।

२. जैसे, मधुसूदन सरस्वती कृत 'भक्तिरसामृतसिंधु' और 'भक्तिरसायन' तथा रूपगोस्वामीकृत 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि ग्रन्थों में।

३. देखिये पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'माया रस' नामक लेख, 'मतवाला', (मई, १६४८)।

का आनन्द कोई ले सकेगा ? इसी प्रकार अन्य रसों की भी स्थिति समझिये। शृङ्गार रस से ये सब रस उसी प्रकार सम्बन्धित हैं जिस प्रकार कोई वृत्त अपने केन्द्र से। शृंगार जीवन की केन्द्रीय भावना है जिसके व्यापक व गंभीर अनुभव के बिना किसी भी रस की अनुभूति, जगत् व जीवन के व्यापक अनुभव की दृष्टि से, पक्की व प्रामाणिक नहीं समझी जा सकती।

शृङ्गार रस की स्थिति प्राणी-मात्र (सब वर्ग व स्तर के जीवधारियों) तक व्याप्त है। साहित्य-शास्त्र में जितने भी स्थायी भाव व संचारी भाव हैं उन सभी भावों का समावेश केवल शृङ्गार रस में ही होता है। समस्त भूमण्डल पर जितनी भी मानवेतर चराचर प्रकृति दिखाई पड़ती है उसका उद्दीपनगत-ग्रहण (आलम्बन-गत ग्रहण प्रकृति को रति-भाव का स्वतन्त्र आलम्बन मानने पर ही होता है।) केवल शृङ्गार रस के अन्तर्गत ही होता आया है। प्रकृति का काव्य से जितना घनिष्ट सम्बन्ध है वह सब इसी रस के निरूपण में प्रकट होता है। अन्य (करुण, रौद्र, वीर आदि) रसों में प्रकृति का प्राय: कोई विशेष उपयोग नहीं होता। विराट् और आनन्दमयी प्रकृति के समावेश के कारण यह रस (शृङ्गार) अत्यन्त ही गूढ़ व व्यापक हो जाता है। मानव हृदय पर सौन्दर्य (सभी प्रकार का) का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उसका आकर्षण बड़ा प्रबल व गम्भीर होता है। शारीरिक सौन्दर्य, प्राकृतिक सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य, वस्तु-सौन्दर्य, कला-गत सौन्दर्य आदि सबकी सत्ता व सार्थकता मानों इसी रस की सिद्धि के लिए है। दीप्ति, गन्ध शोभा, रंग-रूप सब मानो शृङ्गार (संयोग) में ही जाकर सजीव होते हैं। देव-विषयक रति (भक्ति रस) तक को शृङ्गार-भावना कितनी दूर तक प्रभावित करती है, यह बात आज प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। (शृंगार-भावना के बीच 'काम' भावना का अखण्ड साम्राज्य जीवन के व मन के स्नायु-जाल में विस्तृत है, यह बात आज मनोवैज्ञानिकों द्वारा सिद्ध की जा चुकी है। योगियों की ब्रह्मानुभूति-सम्बन्धी अभिव्यक्ति के लिए भी इस काम-मूलक शृंगार की भाषा व प्रतीक आदि का ग्रहण किया जाता है, यह तथ्य भी शृङ्गार रस की अखण्ड सत्ता का दिक्-घोष कर रहा है। इसके अतिरिक्त इस रस से सम्बन्धित अभिव्यक्ति का 'साधारणीकरण' जितनी सहजता व व्यापकता से होता है, उतना कदाचित् किसी और रस की अभिव्यक्ति का नहीं। संसार के काव्य का अधिकांश शृङ्गार-सम्बन्धी ही है क्योंकि इस रस की अपील मानव-हृदय पर सबसे अधिक गहरी होती है। शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक—जीवन के इन तीनों ही अंचलों या धरातलों से इस रस का घनिष्ठतम सम्बन्ध है।

उपरोक्त विवेचन से, शृंगार रस की सर्वश्रेष्ठता, निर्मलता, व व्यापकता का कुछ अनुमान हो सकता है। वस्तुत: यही है शृंगार की उच्च भावना। इसी के कारण सूक्ष्म-बुद्धि-सम्पन्न आचार्यों ने इसे 'रसराज' कह कर इसका उचित गौरव

प्रतिष्ठित किया है। जो काव्य शृंगार को इस उच्च भूमि पर रखकर उसका निरूपण करता है वही उच्च कोटि का सात्विक आनन्द प्रदान कर सकने में समर्थ है।

आगे विस्तारपूर्वक आधुनिक हिन्दी-कविता का विवेचन करके अंत में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि हमारी कविता शृंगार के इस उच्च आदर्श के कितनी निकट पहुँच पायी है। हाँ, इससे पूर्व भारतीय प्रेम-काव्य की कुछ मोटी-मोटी रेखाओं से परिचित हो जाना भी कदाचित् अप्रासंगिक न होगा। हिन्दी के प्रेम-काव्य का अध्ययन करने से पूर्व भारतीय प्रेम-काव्य के स्वरूप को, परम्परा ज्ञान के लिये, संक्षेप में जान लेना आवश्यक भी है। अपने काव्य की प्रेम-सौंदर्य-विषयक गति-विधि परखने में व उसके मूल्यांकन में इससे सहायता मिलेगी।

संस्कृत-साहित्य का प्रेम-काव्य अत्यन्त विशाल, विपुल, व समृद्ध है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, बाण, श्रीहर्ष, जयदेव, भर्तृहरि, अमरुक आदि कवियों ने प्रेम का विस्तृत वर्णन किया है। यों तो सभी कवियों ने प्रेम का न्यूनाधिक रूप में भरा-पूरा अंकन किया है पर वाल्मीकि, कालिदास, व भवभूति इस क्षेत्र में मूर्धन्य हैं। उनका काव्य, कला और सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

५. शृङ्गार-वर्णन की भारतीय परम्परा : एक झलक

(क) संस्कृत प्रेम-काव्य

प्रेम और सौंदर्य की भावना का सरस स्वर भारतीय कण्ठ से सबसे पहले सप्तसिन्धु प्रदेश के सरस्वती-तट पर स्थित उन यज्ञ-धूम्र-सुरभित ऋषि-कुंजों, आश्रमों व अरण्यों में फूटा था जहाँ प्रकृति किसी अनादि सत्ता का मधुर संकेत करती हुई शांत भाव से फल-फूल रही थी। उस रहस्य-मधुर वातावरण ने ऋषि-हृदय में एक पावन विश्व-प्रेम की मधु-धारा का अखण्ड स्रोत प्रवाहित कर दिया था। ऋषि-कण्ठ से पहाड़ी झरने-सी यह ऋचा एक दिन सहसा ही फूट पड़ी—

> ऋतूयन्ति क्रतवो हृत्सुधीतयो वेनन्ति पतयन्त्यादिशः।
> न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा असंयत ॥[1]

अर्थात्—"वह कौन है जिसकी ओर हृदय में रखे हुए संकल्प जा रहे हैं, प्रेम से भरी हुई अभिलाषाएं जिसकी कामना करती हैं और निर्देश प्रेरणाएं जिसकी गोद में चारों ओर से गिर रही हैं। निस्सन्देह वे दयामय देव ही हैं जिनके अतिरिक्त अन्य कोई सुख दे सकने वाला नहीं है। मेरी समस्त कामनाएं इन्हीं देवों में नियमित व केन्द्रित हो गई हैं।"

---

१. ऋग्वेद, १०/६४/२

अनन्त सौंदर्य के निधान उस प्रभु की भावना से उल्लसित होकर ऋषि-कण्ठ फिर फूट पड़ा—

त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः ।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम् ।।[1]

अर्थात्—"हे सुन्दरता के स्रोत ! तुमसे सौन्दर्य की धाराएं निकल कर वैसे ही फैलती हैं जैसे वृक्ष से उसकी शाखाएं। तुम्हारा भक्त धन, शक्ति, दैवी वृष्टि और स्तुत्य ज्योति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।"

ऐसे ही महा मधुर भाव-स्फोटों से ऋग्वेद व अथर्ववेद भरा पड़ा है।[2]

रहस्यमयी अखण्ड सत्ता के प्रति निवेदित इन उल्लासपूर्ण अभिव्यक्तियों में दैवी प्रेम व सौन्दर्य का स्वर ही प्रमुख है। वैदिक साहित्य को पार करने पर तो मानवीय प्रेम व सौंदर्य की भावना की अभिव्यक्ति भी लौकिक साहित्य में विपुलता से प्राप्त होने लग जाती है। स्वयं ऋग्वेद में ही आदिम मानव-प्रेम की इस मूल-धारा के उद्गम हमें मिलने लग जाते हैं। ऋग्वेद (१०/९५) के पुरुरवा-उर्वशी प्रेमाख्यान में मानवी प्रेम-भावना की बड़ी ही प्रगल्भ व हृदयग्राहिणी अभिव्यक्ति हुई है।[3] इसी गीति-भावना से उच्छ्वसित व मर्म-मधुर भग्न-प्रेम-विषयक आख्यान का विस्तार शतपथ ब्राह्मण में भी हुआ है। दूसरी गीति[4] सुप्रसिद्ध यम-यमी संवाद है। इन दोनों हा संवादों में यथेष्ट काव्यतत्त्व विद्यमान हैं। संहिताओं में भी ऐसे प्रसंग मिलते हैं।[5] उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में फिर ऐसी मांसल प्रेम-विषयक रचना नहीं मिलती। हां, अथर्ववेद में प्रेम-विषयक कुछ उद्गार मिलते हैं किन्तु वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं। आगे का ब्राह्मण-साहित्य तो इस दृष्टि से प्रायः शून्य ही है। पालि साहित्य की गाथाओं व महाकाव्योपयोगी आख्यानों में भी शृङ्गारात्मक प्रेम-सम्बन्धी कोई ऐसी रचना नहीं दिखाई पड़ती जो ऋग्वेद के आरिम्भक उद्गारों की कोटि में रखी जा सके, यद्यपि यह बात भी अविश्वसनीय नहीं है कि उन्हीं आरम्भिक मानवीय प्रेमोद्गारों की क्षीण अन्तर्धारा बौद्ध गाथाओं को थोड़ी बहुत हरियाली देती हुई कई शताब्दियों बाद तक अमरु अमरुक व हाल की लौकिक संस्कृत या प्राकृत कविता तक बहती चली आई हो। बौद्ध-कालीन साहित्य भी अपने

---

१. ऋग्वेद ६/१३/१

२. ऋग्वेद, अध्याय १, सूक्त ९२; १/७/६/१; ४/३/२१; ७/३२/१७; ९/९२/३२। अथर्ववेद १/३४/२; १/३४/३

३. S. K. De : *'Treatment of love in Sanskrit Literature'* (1929), page 1.

४. ऋग्वेद १०/१०   ५. मैत्रायित्री संहिता, १/५/१२

धार्मिक-दार्शनिक शासन के कारण शृङ्गारात्मक काव्य को कोई प्रश्रय व प्रेरणा न दे सका हो, यह भी सर्वथा अस्वाभाविक नहीं। कदाचित् यह बौद्ध जीवन-दृष्टि का ही दूरगामी प्रभाव रहा हो कि तत्कालीन महाकाव्यों में भी उस मानवीय प्रेम-भावना का, नैतिकता-उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति के आग्रह से, कोई रसात्मक निरूपण नहीं हो सका।[1] यह बात नहीं कि मानवीय प्रेम-भावना का उस युग के साहित्य व जीवन में कोई मूल्य नहीं था। वस्तुत: प्रेम तत्कालीन महाकाव्यों व प्रेम-प्रसंग प्रधान कहानियों का प्रेरणा-स्रोत था, किन्तु युग की सभ्यता व सामाजिक वातावरण आदि शुद्ध प्रेम-काव्य के विकास के लिए अवश्य ही अनुकूल नहीं थे।[2]

लौकिक संस्कृत काल में जाकर ही इन नैसर्गिक प्रवृत्तियों को स्वच्छन्द क्रीड़ा का अवसर मिला। लौकिक संस्कृत में काव्य-सृजन का क्रम वाल्मीकि से आरम्भ हुआ। रामायण हमारा आदि काव्य है।

आदि कवि वाल्मीकि प्रेम-सौंदर्य और प्रकृति के विश्व-कवि हैं। उन्होंने सीता और राम के पारस्परिक प्रेम का अत्यन्त ही भव्य चित्र अंकित किया है; सीता की प्रेम-भावना, रूप-लावण्य व अंग-प्रत्यंग के चित्रण में तो उन्होंने अपनी समस्त प्रतिभा ही अर्पित कर दी है। सुन्दरकांड (सर्ग १५, १६, १७ व १९) में वर्णित सीता के आध्यात्मिक सौन्दर्य का चित्रण नारी-सौन्दर्य-चित्रण के क्षेत्र में विश्व-साहित्य की अद्वितीय वस्तु है।[3] राम के शारीरिक रूप-सौंदर्य का भी बड़ा ही मनोयोगपूर्ण, चित्ताकर्षक व सूक्ष्म चित्र अंकित हुआ है। इस प्रयत्न में मानवीय प्रेम का सर्वोच्च आदर्श कवि ने प्रस्तुत कर दिया है। प्रेम में ऐन्द्रिकता व आध्यात्मिकता का मणि-कांचन योग घटित हो गया है—कोरा एन्द्रिक और कोरा आध्यात्मिक, दोनों ही जैसे अ-मानवीय हैं। सारी प्रेम-सृष्टि बड़ी ही पुष्ट, रंगीन, चहचहाती हुई, मानवीय तथा आदर्श है। प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग तथा विप्रलम्भ—का भरपूर वर्णन हुआ है।

प्रकृति-निरूपण वाल्मीकि का अपना विशेष व निजी क्षेत्र है। उद्दीपन के रूप में तो उन्होंने प्रकृति का पुष्कल ग्रहण किया ही है, किन्तु आलम्बन के रूप में भी उसका भरपूर वर्णन करके तथा चराचरव्यापी प्रकृति तक अपनी आत्मा के

---

१. "The same attitude towards love is also illustrated by the epic literature. The epic poetry with its serious and didactic bias is not rich in what may be called love poetry in the strict sense of the term"—S. K. De : '*Treatment of love in Sanskrit Literature*', p. 11.

२. वही, पृ० १२

३. K. S. Ramaswami Shastri : "*Studies in Ramayana*" (1944), P. 134.

प्रसार को सूचित करके उन्होंने हमें अपनी प्रतिभा तथा सहृदयता से मुग्ध कर लिया है। वास्तव में वे प्रकृति के ही रस-सिद्ध कवि हैं। प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र में ही उन्होंने राम और सीता के पवित्र प्रेम का कमल खिलाया है। वे प्रेम-सौंदर्य व प्रकृति के विश्व-कवि व नाटककार कालिदास की प्रेरणा के भी स्रोत हैं।

वाल्मीकि का ऋतु-वर्णन अनूठा है। उन्होंने सब ऋतुओं का यथातथ्य, संश्लिष्ट व रसात्मक वर्णन किया है, जिनमें वर्षा व शरद् (किष्किन्धा कांड), हेमन्त (अरण्यकांड) तथा वसन्त (किष्किन्धा कांड) के वर्णन अत्यन्त ही मनोहारी बन पड़े हैं। अगाध और आक्षितिज विस्तृत समुद्र का वर्णन बड़ा रोमांचकारी है। पर्वत, वन, नदी, नक्षत्र, मेघ-विद्युत्, रात्रि, संध्या-उषा-वृक्ष, फल-फूल आदि का ऐसा वर्णन हुआ है जिनसे उनके व्यक्तिगत रूप, रंग, आकार-प्रकार आदि का सूक्ष्म निरीक्षण व अध्ययन (जैसा अंग्रेजी के टैनीसन आदि कवियों में मिलता है) झलकता है। कवि का प्रकृति के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो गया है। कवि ने जहाँ तटस्थ चित्रकार की भाँति प्रकृति के अनासक्त शब्द-चित्र अंकित किये हैं वहाँ उसने प्रकृति पर चेतना का आरोप करके उसे जीवित-जाग्रत सत्ता के रूप में भी निरूपित किया है। प्रकृति मानव को केवल अपनी रूप-माधुरी से तृप्त ही नहीं करती, वह मानव के सुख-दुःख में सम्मिलित भी होती है, मौन उत्तर देती है, आश्वासन देती है, धैर्य बंधाती है, और हंसती–रोती भी है। इतना ही नहीं वह अपने गूढ़-मौन नैतिक व आध्यात्मिक प्रभावों से मानव के चरित्र-निर्माण व आत्मोत्थान में भी सहायक होती है। इस प्रकार मानव-भावों की विराट् चित्रपटी पर मानव-हृदय व प्रकृति की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का (विशेषत: प्रेम के संयोग-वियोग पक्ष में) भी मोहक चित्रण हुआ है। अलंकार-विधान के लिए उपमान-रूप में भी प्रकृति का अबाध ग्रहण हुआ है।

देखिए, प्रकृति की शोभा का एक संश्लिष्ट चित्र कितना मनोहारी है—

व्यामिश्रितं सर्जकदम्ब पुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगा: शीघ्रतरं वहन्ति॥
रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥
मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गा: सुरेन्द्रदत्तं तृषिता: पिबन्ति॥[1]

नई वर्षा का, गेरू से मिला, पहाड़ी नदियों का लाल पानी, जिसमें सर्ज और कदम्ब के फूल भी मिले हैं, मोरों की आवाज, भौंरों-से काले रस-भरे जामुन के फल तथा वायु के झोंको से टूट कर भूमि पर पड़ते पके आम आदि का कैसा सुन्दर चित्रण है।

---

१. रामायण, किष्किन्धा काण्ड।

प्रेम का चित्रण इसके बाद पतंजलि, पाणिनि और वररुचि के काव्य में मिलता है पर कम। भास (दूसरी शताब्दी ई० पूर्व) का एक सायंकाल की शोभा का चित्र क्या ही मनोहर है—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढ़ो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिबनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्त किरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रतिशति शनैरस्तशिखरम्॥[१]

अर्थात, पक्षी अपने अपने नीड़ों में लौट गये हैं। जलाशयों में मुनिजन स्नान कर रहे हैं। यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित हो रही है और धूँआ चारों ओर फैल रहा है। सूर्य अपनी किरणें समेट कर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर जा रहा है।

कविकुलगुरु कालिदास तो प्रेम-सौंदर्य और प्रकृति के अनन्त भण्डार ही हैं। सभी प्रकार की प्रेम-विषयक भावनाओं, आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के सौंदर्य के मार्मिक चित्र यहाँ मिल जायेंगे। सौंदर्यपूर्ण प्रकृति यहाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी रखती है और प्रेम-जन्य मानसिक अवस्थाओं में अनुभूत विविध भावनाओं के रँग में रंग कर मानव-जीवन की व्यापक चित्रपटी पर भी उपस्थित होती है। पार्वती के शरीर के अंगों का एक सुन्दर चित्र देखिए.—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥[२]

भयंकर आँधी-पानी वाली रातों में, बिजलियों के नेत्रों वाली वर्षा की काली रातों के द्वारा, खुले मैदानों में पत्थर की पट्टियों पर पड़ी रहने वाली, शिव के लिए तपस्विनी पार्वती के तप व सौंदर्य का साक्षी रूप में देखा जाना यहाँ वर्णित हुआ है।

शिव द्वारा काम के भस्मीभूत होने पर रति का विलाप देखिए:—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमेव दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥[३]

यहाँ, पवन के झोंके के समान गये हुए काम के विरह में, बुझे हुए दीये की धूँआ देती हुई बत्ती भर बची हुई रति का वसन्त के प्रति उद्‌गार है।

शकुन्तला का सौंदर्य कितना अभिराम है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वीकिमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥[४]

---

१. स्वप्नवासवदत्त, १/१६ २. कुमारसम्भव, ५/२४
३. कुमारसम्भव, ४/३० ४. शाकुंतल, १/१६

नये लाल-पत्ते से कोमल अंगों पर कठोर बल्कल धारण करने पर भी अत्यन्त सुन्दर लगने वाली शकुन्तला के स्वाभाविक रूप-लावण्य की सराहना है।

शकुन्तला की विदाई पर प्रेम के उदात्त व निर्मल स्वरूप की कैसी करुण व्याप्ति चराचर प्रकृति तक दिखाई गई है—

उद्गलितदर्भकवलाः मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपुत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥[1]

शकुन्तला की विदाई के प्रसंग पर विह्वल हरिणियाँ-चबाई हुई कुशा के कौर उगल रही हैं, मोरों ने नृत्य छोड़ दिया है और लताएं पीले पत्ते झाड़ कर मानों आँसू गिरा रही हैं।

'रघुवंश' में तपोवन का यह शोभा-चित्र देख कर किसके हृदय में आनन्द न उमड़ पड़ेगा :—

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुश फलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥
आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झित वृक्षकम्।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्यय संक्षिप्त नीवारासु निषादिभिः।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजांगणभूमिषु ॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥[2]

समिधा, कुशा और फल लिये, जंगलों से आश्रम में साँझ को लौटे व अग्नि होत्र करने की तैयारी वाले तपस्वियों, हरिणों तथा आश्रम के दैनिक क्रिया-कलापों का क्या ही रसीला चित्र है!

अब, बसन्त-वर्णन देखिए:—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुम कोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलतापवनाहृतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥[3]

भौंरों से गुंजारित, कोमल फलों से अलंकृत व पवन से प्रमोदित बसन्त-ऋतु की लताओं का कैसा सुन्दर चित्र है!

---

१. शाकुंतल, ४/१२ २. रघुवंश, सर्ग १४६/५३
३. रघुवंश, सर्ग ६/३५

'मेघदूत' कालिदास का अत्यन्त सरस गीतिकाव्य है। प्रकृति-सौंदर्य की ऐश्वर्यपूर्ण सुललित झाँकियों, प्रेम के विरह पक्ष के करुण-सजल स्निग्ध चित्रों व कोमल-मसृण कल्पनाओं का तो वह नन्दन-वन ही है। प्रेम और सौंदर्य की समस्त श्री यहां गुञ्जारित हो उठी है।

कालिदास ने शृंगार (जिसमें प्रेम के विरह-मिलन दोनों पक्ष, मानवीय बाह्य सौंदर्य व अन्त: सौन्दर्य तथा इन सबसे अभिन्न रूप से सम्बन्धित नाना रूप-रंग-संकुल विशाल प्रकृति समाविष्ट है) की कविता को अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। 'मानवीय सौन्दर्य में तथा नैसर्गिक चारुता में कालिदास का हृदय इतना रमा है कि उनकी कविता शृंगार से स्निग्ध तथा विप्रलम्भ से आप्लुत है।···मनुष्य तथा प्रकृति—दोनों का मंजुल सम्पर्क तथा अद्‌भुत एकरसता दिखाकर कवि ने प्रकृति के भीतर स्फुरित होने वाले हृदय को पहचाना है।" प्रेम के आदर्श व यथार्थ दोनों ही रूपों का भरा पूरा निरूपण कालिदास की विशेषता है। इन्होंने प्रकृति का कोमल तथा मृदुल का रूप ही अधिक लिया है।

कालिदास की प्रेम-भावना बड़ी ही परिष्कृत व उदात्त है। उनकी प्रेम-दृष्टि पूर्णत: सांस्कृतिक है। उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक भावना के अनुसार सर्वत्र काम पर प्रेम की विजय दिखायी है। कुमारसंभव' उनका निदर्शन काव्य है। उस में उन्होंने काम का नाश दिखा कर तपस्या के द्वारा ही प्रेम-प्राप्ति की संभावना बताई है (कुमारसंभव; ५/१, २)। रूप की वासना काम मात्र है। बाहरी चाकचिक्य के द्वारा केवल रूप-लुब्ध होना काम है, और आंतरिक वृत्ति से हृदय का पकड़ा जाना प्रेम। यह प्रेम तभी पुष्पित-पल्लवित होता है जब साधक या प्रेमी तपस्या के द्वारा स्वार्थ-भावना से ऊपर उठे। 'अभिज्ञान शाकुंतल' व 'कुमारसंभव' दोनों से यही चरितार्थ होता है। तपस्या से ही काम विशुद्ध प्रेम में परिणत होता है, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं। जो मृत्युंजय पति (शिव) है उस को प्राप्त करने का साधन बाहरी रूप व काम नहीं किन्तु पार्वती का तपस्या-जन्य निर्मल प्रेम ही है। इसी का परिणाम था कि शिव ने पार्वती को अपनी अर्द्धांगिनी बनाया व उसे ऊँचा पद दिया। बाहरी रूप के आकर्षण को हटा कर भीतरी प्रेम-वृत्ति से सम्बन्ध जोड़ना ही काम के गरल-दंत को तोड़ना है।

कालिदास का ध्येय गीता की निष्काम भावना है। काम का धर्म के साथ कोई विरोध नहीं।[1] प्रेम के साथ कर्त्तव्य भी जुड़ा हुआ है। जहां प्रेमासक्ति के

---

१. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥– गीता, ७/११.

इस स्थल पर कुछ गंभीर शंका या आपत्ति उठ सकती है और वह यह कि क्या कालिदास की कृतियों की यह व्याख्या (interpretation) न्यायोचित है; वे तो

कारण कर्त्तव्य की अवहेलना हुई कि 'मेघदूत' के यक्ष को दंड मिला।[1] काम को प्रेम में परिणत करने का अभ्यास करने के लिए कवि ने यक्ष के लिये रामगिरि आश्रम का अनुकूल वातावरण चुना है जहां कर्मयोगी राजर्षि जनक की कन्या ने जीवन बिताया। इसलिये वहां के कण-कण में काम को शुद्ध करने की शक्ति भी थी। कर्मयोगी की पुत्री में प्रेम व कर्म का कैसा मंजुल सामंजस्य है! अत: ऐसे पवित्र स्थान में केवल आठ मास की शिक्षा के पश्चात् ही यक्ष को निष्काम प्रेम रूपी परिपक्व फल मिल गया।

इसी प्रकार 'शाकुन्तल' में भी काम को प्रेम में परिणत करने का कार्य उसी

कवि थे, धर्मोपदेशक नहीं। यदि उक्त व्याख्या मान भी ली जाय तो उन स्थितियों या वर्णनों की, जहाँ काम-भावना शारीरिक व्यापारों में खूब खुल कर खेली है, प्रेम के उदात्त स्वरूप से संगति कैसे बैठेगी? उत्तर में निवेदन यह है कि सत्य-भाषण, क्षमा-दान, अतिथि-सत्कार या ऐसे ही अन्य गुणों या सांस्कृतिक-धार्मिक मूल्यों का, अपने अपने ढंग पर दोनों ही—धार्मिक और कवि—प्रतिपादन करते आये हैं। कवि संस्कृतियों के चिर-प्रतिष्ठित अथवा शाश्वत मूल्यों में कोई नए परिवर्तन नहीं किया करता। वह तो भौगोलिक, ऐतिहासिक व सामाजिक परिस्थितियों के परिवेश में उन गुणों अथवा मूल्यों को, काव्य की रमणीय रसात्मक पद्धति से, घटना-व्यापारों अथवा वर्णनों के बीच या उनके माध्यम से अपने जीवन-दर्शन की छाया में, निरूपित व पुनर्स्थापित मात्र किया करता है। इस प्रकार दोनों के क्रिया-कलापों तथा कार्य-पद्धतियों का अन्तर बाहरी या व्यावहारिक ही है, तत्वत: दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं।

जहां तक काम-भावना के उच्छृंखल रूप का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में हमने ऊपर अपना दृष्टिकोण पर्याप्त विस्तार से, प्रमाणपुरस्सर, व्यक्त कर दिया है। कालिदास वासना और बाह्य सौंदर्य की पूर्णतः अवहेलना नहीं करते (क्योंकि उनकी धातुयें रसोपजीवी कवि की हैं), अपितु उनमें से ही आंतरिक-प्रेम और सौंदर्य के रस-गंध पूर्ण मनोरम सुमन खिलाते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि जो आकृति से सुन्दर हैं वे प्रकृति से भी सुन्दर होते हैं (शाकुन्तल, चतुर्थ अङ्क)। उन्होंने यक्षिणी (मेघदूत), इन्दुमती (रघुवंश) तथा शकुन्तला के बाह्य सौन्दर्य के अत्यन्त रसात्मक चित्र अंकित किये हैं और काम का जीवनोपयोगी भव्य समुन्नत चित्र खींचा है। उन्होंने काम का चरमोत्कर्ष तपोमय शृंगार में किया है तथा उच्छृंखलता को अभिषाप द्वारा दण्डित किया है, किन्तु फिर भी तपस्या पर काम (संयत प्रेम) की विजय घोषित की है:—

अद्यप्रभत्यवनतांगि त्वास्मि दासः क्रीतस्तपोभिः (कुमारसम्भव)।

१. मेघदूत, पूर्वमेघ, १

पद्धति, अर्थात्, साधना या तप के बल पर सम्पादित हुआ। पार्वती की तपस्या का अर्थ है काम या मदन का दहन। जब तक दुर्वासना है तब तक प्रेम असंभव है। जब हृदय में शुद्ध प्रेम का उदय होता है तभी सारी सृष्टि सुन्दर होती है। कालिदास बाहरी स्थूल सौंदर्य को सौंदर्य कभी भी नहीं कहते। वास्तविक सौंदर्य तो आत्मा का गुण है जो शील, संयम, सदाचार, दृश्यजगत् के पदार्थ तथा सात्विक कार्य-व्यापार आदि सब में झलकता है या झलक सकता है। सौंदर्य-प्रेम का वास्तविक स्वरूप बहुत पवित्र व गंभीर है, इस गहन् विचार की मार्मिक गूढ़ता झलकाने के लिये कवि उसे आत्मा व पूर्वजन्म की भावना से संयुक्त करके ही सन्तुष्ट होता है। शाकुंतल में प्रेम की लोकोत्तर पवित्रता दर्शाते हुए दुष्यंत कहते हैं—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्व भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥"[१]

कालिदास का मानवीय सौंदर्य (शकुन्तला, अज, इन्दुमती आदिका) व प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण (रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, पूर्वमेघ आदि में) तो अद्वितीय ही है। प्रकृति आलम्बन व उद्दीपन दोनों ही रूपों में चित्रित हुई है।

और, भवभूति के प्रेम की गंभीरता तो सहृदय-संवेद्य ही है। प्रेम संबंधी उनकी उदात्त धारणा परमोत्कृष्ट है। "कोई अज्ञात भीतरी हेतु ही दो पदार्थों या हृदयों को मिलाता है। बाहरी वस्तु काम होती है, और भीतरी वस्तु प्रेम। कहां सूर्य और कहां कमल! (दोनों में रूप-रंग और भौगोलिक दूरी की दृष्टि से कितना अंतर है), किन्तु यह आंतरिक प्रभाव ही है कि दोनों हृदय मिलकर प्रफुल्लित हो जाते हैं"[२] वस्तुतः दाम्पत्य प्रेम की जैसी गंभीर व्यंजना भवभूति ने की है वैसी अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही है। प्रेम अनिर्वचनीय वस्तु है। उसका रहस्य तो हृदय ही जानता है—"हृदयंत्वेवजानाति प्रीतियोगं परस्परं।"[३] प्रेम बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं रहता।[४] सच्चा प्रेम तो सुख व दुःख दोनों ही स्थितियों में समान भाव से अविचलित रहता है।

प्रेम के उदात्तस्वरूप तथा उसके अनिवार्य-अंगभूत सौंदर्य (शारीरिक व प्राकृतिक) के विविध रूपों का अत्यन्त लीनकारी वर्णन करने में भावमूर्त्ति भवभूति पूर्ण पटु हैं। 'भवभूति ने उज्ज्वल उदात्त प्रेम का चित्रण किया है। अन्य कवियों का प्रेम सांसारिक वासना से भरा हुआ काममात्र है परन्तु भवभूति का प्रेम इन सबसे निराला अपने ढंग का है।'[५] प्रकृति के क्षेत्र में वे कालिदास की तरह कोमल रूपों

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, ५/२;　　२. उत्तररामचरित, ६/१२
३. उत्तररामचरित, ६/३२;　　४. उत्तररामचरित, ६/१२
५. पं० बलदेव उपाध्याय : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० २४९।

के ही उपासक नहीं; उनकी गम्भीर वृत्ति प्रकृति के भयावह रूपों में भी सौन्दर्य के दर्शन करती है। करुण रस के तो ये सिद्धहस्त चित्रकार हैं ही। वियोग-वर्णन में अत्यन्त कुशल हैं। उदात्त प्रेम इनका मुख्य विषय है और इसकी व्यंजना के लिए इन्होंने मानव व प्राकृतिक सौन्दर्य का पूरा पूरा सहारा लिया है। बिना व्यर्थ अलंकारों का सहारा लिये हुए पूर्ण विवरण के साथ स्पष्टतापूर्वक भाव या वस्तु का गम्भीर अन्तः साक्षात्कार करा कर रस-मग्न कर देने में ये अद्वितीय है। बारह वर्ष के पश्चात् राम से भेंट होने पर सीता के विविध भावाकुल हृदय की परम गम्भीर दशा का अवलोकन कीजिए—

तटस्थं नैराश्यदपि च कलुशं विप्रियवशात्
वियोगेदीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ।।[1]

प्रेममयी सीता की उदासीनता, निराशा, क्रोध, निश्चलता प्रसन्नता शोक व द्रवणशीलता की सम्मिलित भाव-स्थिति का यह चित्र कितना स्निग्ध व सुकुमार है।

सीता-हरण का चित्र देखने पर राम के हृदय में उठी भाव की आँधी और उसके परिणामों का वर्णन लक्ष्मण द्वारा कैसे सुंदर शब्दों में करवाया गया है—

अयं ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ।।[2]

होठ और नाक का स्फुरण करने वाले बहुत दिनों तक मन में रुके हुए दुःख के कारण सीता के नेत्रों से आँसू मोतियों की माला की तरह पृथ्वी पर टूट-टूट कर गिर रहे हैं।

सुपरिपक्व और रसपेशल प्रौढ़ मानवीय प्रेम की मिठास इस भावना से बढ़कर और कहाँ मिलेगी—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासुय—
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं तत्प्राथ्यर्ते ।।[3]

---

१. उत्तररामचरित, ३/१३ २. उत्तररामचरित, १/२९
३. उत्तररामचरित, १/३९

प्रकृति के भयावह रूपों के संश्लिष्ट चित्र भी इन्होंने अत्यन्त ही तल्लीनता से अंकित किये हैं। प्रकृति के कोमल रूपों का चित्रण भी मनोमोहक है। वस्तुतः मानव और प्रकृति के कोमल और कठोर—ये दोनों ही रूप उन्होंने आत्मा के प्रकाश में ही देखे हैं।

अश्वघोष की प्रेम-सम्बन्धी उक्तियां भी सुन्दर हैं। यथा,

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥[1]

अर्थात्, भगवान्-बुद्ध के अनुज नन्द, भाई के उपदेशों से विरक्त व सुन्दरी पानी के अनुराग से आसक्त होकर इस प्रकार अनिश्चय-जन्य दुविधा में पड़े हैं मानो नदी की धारा के विपरीत तैरता हुआ हंस जो न तो आगे ही बढ़ सकता है और न पीछे ही जा सकता है।

परवर्ती संस्कृत-कवियों के प्रेम-चित्रण का स्वरूप **उपरोक्त** कवियों से बहुत-कुछ भिन्न है। यद्यपि उसमें पर्याप्त रसात्मकता है तथापि भावों का वह नैसर्गिक प्रवाह, माधुर्य तथा सजीवता नहीं जो पूर्ववर्ती कवियों में प्राप्त होती है। बात यह है कि संस्कृत की कविता आगे चलकर राज-दरबारों के विलासपूर्ण सामंती वातावरण में पहुँच गई। इसके अतिरिक्त उस समय तक काव्य क्षेत्र में कुछ साहित्यिक रूढ़ियाँ और परम्पराएं भी बन चुकी थीं जिनका पालन करना कवियों के लिए बहुत कुछ आवश्यक हो गया। इस कारण काव्य में शनैः शनैः वह स्वाभाविकता स्फूर्ति और ताजगी न रही जो पहले विद्यमान थी। कविता अब बहुत कुछ श्रम-साध्य, बौद्धिक, रूढ़, जटिल, और अलंकार-बहुल हो गई। प्रेम-चित्रण भी उतना भावप्रेरित व सहज न रहा। भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों का प्रेम-वर्णन अलंकार-प्रधान ही है। बात यह है कि देशकालानुरोध से उस समय कवियों को सामाजिक-राजकीय वातावरण तथा नागर रुचि को परख कर व अपना शास्त्रीय काव्य-ज्ञान तथा पाण्डित्य बताते हुए ही रचना करनी पड़ती थी। संस्कृत-कवि के अधिकांश श्रोता और पाठक, राज-दरबार के ऐसे सम्भ्रान्त व्यक्ति व सुशिक्षित नागरिक होते थे जो कामशास्त्र व काव्य-शास्त्र आदि से परिचित होते थे। उनके द्वारा काव्य प्रशंसित हो, इसके लिए उनकी नागरिक रुचि की परिचर्या और रंजना आवश्यक थी। ऐसी स्थिति में उनके काव्य का मूल्यांकन करते समय तत्कालीन लोक-रुचि व परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना न्यायोचित है। औसत नागरिक की रुचि ही कवि के काव्य तथा कला-शिल्प के स्वरूप, उसकी भाव-धारा, व विचारधारा का बहुत कुछ नियंत्रण करती है। इस कारण काव्य-गत प्रेम बहुत कुछ बाह्यार्थक व

[1] **सौन्दरनन्द** ४।४२

ऐन्द्रिक हो चला। यह दूसरी बात है कि प्रेम-सौंदर्य की अभिव्यक्ति कला की सीमा के भीतर ही रही; वह सोने के मोटे-मोटे ज़ेवर पहने बनी-ठनी रही। काव्य में नायक-नायिकाओं की ललित लीलाओं का वर्णन कामसूत्र से अनुमोदित होता रहा। इस तथ्य की ओर यहाँ इस कारण संकेत किया गया है कि ऐसी ही परिस्थितियाँ हिन्दी के रीतिकालीन काव्य के संमुख उपस्थित थीं। ऐसी परिस्थितियों में प्रेम की अभिव्यक्ति के नैसर्गिक स्वरूप में न्यूनाधिक विकृति आ ही जाती है।

इन कवियों के अतिरिक्त जयदेव, भर्तृहरि व अमरुक आदि कुछ अन्य प्रसिद्ध कवि भी हुए हैं जिन्होंने संस्कृत के प्रेम-काव्य को बहुत सम्पन्न व समुन्नत किया।

द्राक्षारसमधुर व सजल-सरस भावों के रस से छलकती, संगीत-लहरियों पर थिरकती और कोमलकान्तपदावली-समन्वित, शृंगार-प्रधान अमर गीति-रचना 'गीतगोविन्द' के अमर गायक जयदेव अपने प्रेम की उदात्त भावना के कारण विख्यात हैं। प्रेमियों की सुललित लीला-भङ्गियाँ, रसमयी चेष्टाएँ, हृद्गत भावों का सौकुमार्य्य आदि इनकी रचना में बड़ी कमनीयता के साथ चित्रित हुए हैं। सहज-प्रसन्न व स्निग्ध गति से प्रवाहित होते इन छन्दों के द्वारा जयदेव की काव्य-माधुरी का आस्वादन कीजिए—

> निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्।
> व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम्॥

इसमें राधा की विरहपीड़ा वर्णित है।

गोपियों के साथ क्रीड़ा करते कृष्ण का सौंदर्य देखिए—

> चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
> केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगः स्मितशाली॥

और, अब प्रकृति का यह कोमल चित्र देखिए—

> ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
> मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे॥

जयदेव के काव्य के प्रसंग में श्लील-अश्लील का प्रसंग भी कभी-कभी उठ जाया करता है। उससे वर्णित उत्ताल शृंगार के औचित्य-अनौचित्य सम्बंधी शंका का समाधान केवल यही कह कर किया जा सकता है कि प्रेमावतार कृष्ण तथा राधा जिस काव्य के नायक-नायिका हों, कामशास्त्र-प्रिय लोक-रुचि जिसे प्रस्तुत करने की फरमाइश करती हो, और जिसमें लौकिक वासनाओं को अलौकिक आवरण में व्यक्त करने का खुला लाइसेंस कवियों को हासिल रहा हो, उस काव्य के आकांक्षी लोक-हृदय के विरुद्ध खड़ा होने का खतरा कौन उठाता। फिर यदि उस काव्य को पूर्णतया आध्यात्मिक सिद्ध किया जा सकता हो, तब तो कहने-सुनने की गुंजायश ही कहाँ ?

जो भी हो, शुद्ध काव्य की दृष्टि से गीतगोविंद संस्कृत-साहित्य की एक अत्यंत मधुमयी रचना है।

संस्कृत गीति-कव्य के क्षेत्र में प्रेम का प्रगल्भ, व्यापक, व गम्भीर निरूपण करने वाले दो कवि संस्कृत भारती के शिरोमणि हैं। इनके बिना प्रेम-सौंदर्य का विवरण फीका व अधूरा ही है। ये कवि हैं—भर्तृहरि तथा अमरुक। इन कवियों की भूयसी प्रशंसा करते हुए संस्कृत-समीक्षकों की वाणी नहीं अघाती। भर्तृहरि ने अपने 'श्रृंगार-शतक' में लीलावती स्त्रियों की काम-कलित ललित चेष्टाओं, तथा आशा-निराशा, हर्ष-विषाद व लज्जा आदि भावनाओं का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण किया है। प्रेमी-प्रेमिका के हृदय की भावनाओं का सजीव चित्र ही उपस्थित हो गया है। किन्तु यह प्रेम भवभूति के प्रेम जैसा गम्भीर व उदात्त न होकर घरेलू, चिरपरिचित व यथार्थ कोटिका है जो अपनी व्यावहारिक सादगी के कारण आकर्षक है। साथ ही इस प्रेम के चित्रण में भर्तृहरि का हृदय संसार की असारता. जीवन की क्षण-भंगुरता, स्त्रियों के सौन्दर्य की मादकता तथा उनके स्वभाव की कुटिलता से भी पूर्ण परिचित है अतः इस प्रेम-व्यंजना में वह अमिश्रित श्रृंगारिक माधुर्य कम दिखाई पड़ता है जो अमरुक या अमरु के काव्य में है।

प्रेम-भावना के चित्रण में प्राकृत कवियों में हाल सर्वोत्कृष्ट कहे जाते हैं। काव्य सौष्ठव में उनके समकक्ष संस्कृत में यदि कोई कवि है तो अमरुक।[1] आनन्द वर्द्धनाचार्य ने अमरु की बड़ी प्रशस्ति गाई है। अमरु ने प्रेम की जीवंतता के ऊष्मानुभव को अपने छोटे-छोटे प्रवाहपूर्ण, संगीतात्मक व सुगुम्फित छंदों में साकार कर दिया है। अमरु के प्रेम-चित्र प्रेम के सामान्य व सादे रूपों के न होकर प्रेमानुभव के विशिष्ट क्षणों की सूक्ष्म व मृदुल विवृतियाँ हैं। अपने 'अमरुकशतक' में उन्होंने प्रेमियों की नाना अन्तर्दशाओं, अलस चिन्ताओं अथवा भावमयी जल्पनाओं (fancies), और उन सब विशिष्ट व सूक्ष्म क्रिया-कलापों का चित्रण किया है जो प्रेम के आनन्द व दुःख, इन दोनों को ही पूर्ण रमणीय व आस्वाद्य बना देते हैं।

संस्कृत में महाकाव्यों की पर्याप्त रचना हुई है। नायिकाओं के सौंदर्य वर्णन के साथ कवियों ने नायकों के सौन्दर्य का चित्रण भी रुचिपूर्वक किया है। वाल्मीकि ने राम के सौंदर्य का विस्तृत व भरा-पूरा वर्णन किया है। आगे चलकर सौन्दर्य-वर्णन के बहुत से उनके द्वारा गढ़े हुए उपमान ही काम में आते रहे हैं। कालिदास (रघुवंश में अज; कुमारसम्भव में शिव; मेघ-दूत में यक्ष आदि), माघ (शिशुपालवधम् में श्रीकृष्ण), भारवि (किरातार्जुनीय में अर्जुन), श्रीहर्ष ('नैषधीय

1. S. K. De : '*Treatment of Love in Sanskrit Literature*', P. 26—27.

चरित' में नल), बाण (कादम्बरी में पुण्डरीक व चन्द्रापीड) आदि कवियों ने सौंदर्य-वर्णन के इस पक्ष पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया है ।

'भारवेरर्थगौरवम्', यह प्रशस्ति जिसके लिए प्रयुक्त होती आई है, वे भारवि सुप्रसिद्ध महाकाव्यकार कवि हैं । उनके वीररस-प्रधान 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में प्रेम-सौंदर्य की व्यंजना बड़ी ही मनोहारिणी है—

मुखैरसो विद्रुमभंग लोहितैः शिखाः पिशंगी कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुः श्रियं गोत्राभिदोऽनुगच्छति ॥[1]

अर्थात्, कोमल हरे तोतों की कतार, जो शिरीष पुष्प के समान हरी व कोमल है, अपनी मूंगे की सी लाल चोचों में धानों की पीली बालियाँ लिये शरद् के आकाश में से उड़ती हुई जा रही है—मानो आकाश में इन्द्रधनुष ही उग आया हो ।

और, जल-केलि-निरत अप्सराओं का यह चित्र भी कैसा मनोहर है :—

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विहागादलकैः प्रसारिभीः ।
ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृंदान्तरितैः सरोरुहैः ॥[2]

अर्थात्, जलक्रीड़ा के समय जल से भीगे व मुख पर बिखरे कुन्तलों वाली सुन्दरियों के सुन्दर व प्रफुल्लित मुख ऐसे जान पड़ते थे मानो भ्रमरमाला से आच्छादित प्रफुल्लित कमल ।

भारवि तथा माघ के समय की कविता में श्लेष व अतिशयोक्ति से पुष्ट आलंकारिता पर्याप्त आ गई है ।[3] प्रेम भावना की काम-शास्त्र-सम्मत सूक्ष्म विवृत्ति से वह चित्र-विचित्र हो उठी है ।[4] माघ का प्रभात वर्णन देखिए :—

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमाला कज्जलेनन्दीवराक्षी ।
अनुपयति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥[5]

अर्थात्, रात बीतने पर आई प्रभात बेला उस कमल से हाथ-पांव वाली, कमल पर मंडराती भ्रमर माला जैसे कज्जलयुक्त नेत्र वाली बालिका के समान है जो अपनी मां के पीछे-पीछे दौड़ती आ रही हो ।

प्रभात का ही एक दूसरा चित्र और देखिए:—

उदयशिखरिश्रृंगप्रांगणेष्वेव रिङ्गन्, सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मनीभिः ।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्यावयोभिः, परिपततिदिवोङ्के हेलया बालसूर्यः ।[6]

---

१. किरातार्जुनीय, ४/३६ २. किरातार्जुनीय, ८/४७.
३. पं० बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १४८-१४९.
४. शिशुपालवधम्, ११/४० ५. शिशुपालवधम्, ११/४७.
६. S. K. De: '*Treatment of Love in Sanskrit Literature*', p. 37.

हंसता-खेलता व किलकता बालक कोमल हाथ फैलाता हुआ जैसे अपनी मां गोद की में जा गिरता है वैसे ही प्रभात का सूर्य, अपनी कोमल किरणों के हाथ फैलाता हुआ, खिलती कमलिनियों को देखते देखते, पक्षियों के स्वर के बहाने पुकारती हुई आकाश रूपी माता की गोद में जा गिरा।

श्री हर्ष का उद्यानलता की कलियों का यह शृंगारपूर्ण चित्र मानवीकरण की कला से कितना स्निग्ध-रमणीय हो उठा है—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्ध जृम्भां क्षणा—
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥ [1]

प्रेमातुर प्रमदा के समान प्रियमिलनोत्कांठिता दीर्घ निःश्वासों से अत्यधिक विकल, जागरण के कारण जमुहाई लेती हुई व पीली पड़ी हुई उद्यान-लता, तथा उस पर शनैः शनैः खिलने का उपक्रम करती चटकने को तैयार, पवन के झकोरों से निरन्तर थिरकने वाली कलियों की शोभा का कैसा गूढ़-गुम्फित चित्र है!

श्री हर्ष ने अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष आदि अलंकारों की सहायता से प्रेम-सौंदर्य के बड़े छबीले चित्र अंकित किये हैं। दमयन्ती के सौंदर्य का एक चित्र देखिए—

हृत्सारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥[2]

अर्थात्,—ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख की रचना चन्द्रमा का सार भाग काट कर की। यह जो काला भाग दिखाई पड़ता है वह कलंक नहीं है बल्कि घिसे चन्द्रमा का छेद हैं जिसमें से नीला आकाश दिखाई पड़ रहा है।

श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य को 'शृंगारामृतशीतगुः'—शृंगार रूपी अमृत के लिए चन्द्रमा—कहा है। विप्रलंभ और संयोग शृंगार के अत्यन्त रसात्मक व अलंकृत वर्णन कवि ने प्रस्तुत किये हैं।

विस्तार-भय से इस प्रसङ्ग को अब हम यहीं समाप्त करते हैं। वस्तुतः इतने संक्षिप्त निरूपण से वे सब बातें स्पष्टतया प्रकट नहीं हो सकतीं जो संस्कृत के शृंगार काव्य का प्राण है। हां, निष्कर्ष रूप में कुछ मोटे तथ्य अवश्य ही रखे जा सकते हैं। मूल भावना प्रेम ही है। प्रेम ही मानव व प्रकृति में सौंदर्य की स्थापना कर लेता है। प्रेम के साथ मानव व प्रकृति अनिवार्य रूप से लिपटे हुए हैं। प्रबन्ध व मुक्तक, दोनों

---

[1] रत्नावली, २/४; [2] नैषधीयचरित, २/२५

ही क्षेत्रों में शृंगार का वर्णन हुआ है पर मुक्तक तो उसका घर ही है। प्रकृति का अपने स्वतन्त्र रूप-सौंदर्य के कारण भी अस्तित्व है किन्तु मुख्यतः वह मानव के सुख-दुःख में तदनुकूल रंगों में ही रंगी हुई (उद्दीपन रूप) उपस्थित होती है। चाहे स्वतन्त्र आलम्बन के रूप में, चाहे उद्दीपन के रूप में, चाहे वातावरण-चित्रण, या काव्य के अप्रस्तुत विधान आदि के लिए; प्रकृति की सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है। उसके मधुर-कोमल और भीषण-भयावह (यह रूप भवभूति में विशेष रूप से प्राप्त होता है।) दोनों ही रूप गृहीत हुए हैं। पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल, लता-पत्र, नदी-नाले, पर्वत आदि सभी रूपों का काव्य में समावेश हुआ है। कवियों ने लोध्र, कर्णिकार, शिरीष, अशोक, नीम, चमेली, पाटल, पद्म आदि फूलों का तथा प्रियंगु, वसन्तिका, माधवी, लवंग, रत्तिका आदि लताओं का वर्णन किया है। भव्य व साधारण प्रकृति के दोनों ही रूप समान रसवत्ता के साथ अंकित हुए हैं। रंगों व ध्वनियों पर भी कवियों की दृष्टि रही है। वास्तव में प्रकृति के इस विशद व व्यापक ग्रहण से ही प्रेम-भावना में रमणीयता और कांति आ गई है। प्रकृति के ग्रहण के बिना प्रेम में मानों वह सजीवता, लोच और दमक आ ही नहीं सकती थी। इस प्रकार प्रकृति प्रेम-भावना व सौंदर्य-चेतना का अनिवार्य अङ्ग बनकर उपस्थित हुई है।

शुद्ध यथार्थ से लेकर शुद्ध आदर्श—इन दोनों छोरों के बीच में पड़ने वाली प्रेम की जितनी भी कोटियाँ स्थिर की जा सकती हैं, उन सबका हृदयहारी वर्णन हुआ है। यदि एक ओर कालिदास व भवभूति के आदर्श प्रेम की झाँकी मिलती है तो दूसरी ओर भर्तृहरि व अमरु का सामान्य लोक-धरातल का प्रेम भी अपनी सादगी व सहजता से मन को मोह लेता है।[१] शेष कवियों की रचनाओं में प्रेम-भावना का संचरण इन दोनों कोटियों के बीच ही कहीं न कहीं निर्धारित हो जाता है। प्रेमियों, विशेषतः प्रेमिकाओं के बाहरी रूप-सौंदर्य चित्रण में कवियों ने कुछ भी उठा नहीं रखा। प्रेम का आलम्बन स्पष्ट, मांसल स्थूल व यथार्थ है। वस्तुतः केवल काल्पनिक या कोरा आदर्श प्रेम-लोक बनाने का इन कवियों ने कभी प्रयत्न नहीं किया। प्रेम जीवन की पुष्ट भूमि पर खड़ा हुआ है। वह निषेधात्मक या निवृत्ति मूलक न होकर ठोस (Prositive) और यथार्थ है चाहे वह बाल्मीकि-कालिदास-भवभूति का प्रेम हो चाहे अमरूक आदि का।

कवियों ने बाहरी सौंदर्य भी बहुत मनोयोगपूर्वक निहारा। वस्तुतः संस्कृत

---

१. काव्य की रस-दृष्टि से यथार्थ प्रेम के चित्रण की प्रवृत्ति को डे (S. K. De) महोदय ने उपयुक्त ठहरा कर बड़ी युक्तियुक्तता से उसकी पुष्टि भी की है। इतना ही नहीं उन्होंने यथार्थ प्रेम में ही आदर्श प्रेम की प्राप्ति बताकर इन शृंगारी कवियों का महत्व प्रतिपादित किया है। देखिए—'*Treatment of Love in Sanskrit Literature*', *Page 36 and 39.*

रीति-काल के कवियों ने नारी के अंग-प्रत्यंग के चित्रण में सूक्ष्मदर्शिता का तो मानो पूर्ण परिचय ही दे दिया। अंगों की सूक्ष्मता-सुकुमारता, त्वचा की वर्ण-कांति, कुंतलों की सघनता-श्यामता व विन्यास-अलंकृति, चन्द्र-भाल पर टहलती लट, सर्पाकार वेणी, शुभ्र ललाट और उस पर अंकित चन्दन का तिलक व कस्तूरी-बिन्दु, भाव-भंगिमामयी चंचल चितवन, अंजन-रंजित अमी हलाहल व मद-भरे श्वेत-श्याम-रतनार नेत्र, भौंहें, कटाक्ष-युक्त मधुर मुसकान, सुकोमल अरुण अधर, अनारदानों या मोतियों से दांत, आभूषण युक्त नासिका व कर्ण, ललित ग्रीवा-भंग, स्निग्ध-सुढर लज्जारक्त कपोल, ग्रीवा व उसकी रेखाएँ, मृणाल-बाहु, पुष्प-माल या झूलते स्वर्ण-हार से सुशोभित पुष्ट-समुन्नत व क्षोज, सूक्ष्म कटि, गंभीर नाभि व त्रिबली, जानु-नितम्ब, कमल-चरण, हंस या गज की सी गति, मंजुल नादकारी किंकिणी, पुष्पाभरण, सुगन्धित द्रव व गन्धानुलेपन, दृष्टि व स्पर्श आदि समस्त अंगों व शोभा-सामग्रियों का सूक्ष्म वर्णन करके कवियों ने 'कामसूत्र' का जीवित रूप ही मानो नारी के रूप में उपस्थित कर दिया।

इन शब्द-शिल्पी कवियों ने बड़ी सूक्ष्म व लचीली तूलिका से, कज्जल-श्याम से लेकर रजतस्वर्णोज्ज्वल रंगों के बीच पड़ने वाले समस्त हल्के-गाढ़े रङ्गों से, स्थूल-सूक्ष्म रेखाओं में प्रेम के संयोग व वियोग दोनों ही पक्षों में प्रकट होने वाली प्रेमीजनों की नाना अन्तर्दशाओं व बाहरी स्थितियों के कोमल, सर्वांगपूर्ण व चटकीले चित्र तैयार किये हैं। यों नायक-नायिकादि प्रायः मध्यवर्ग के सम्भ्रांत नागरिक ही हैं, किन्तु अमरुक (प्राकृत में हाल ने भी) आदि ने समाज के निम्न वर्ग की प्रेम-भावना का भी चित्र पूर्ण मनोयोगपूर्वक अंकित किया है। ऐसे स्थलों पर समर्थ भाषा व प्रवाहपूर्ण सुस्निग्ध छन्दों का प्रयोग भावों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सहायक सिद्ध हुआ है।

(ख) प्राकृत-अपभ्रंश प्रेम-काव्य

संस्कृत के साथ प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेम-काव्य ने भी हिन्दी प्रेम-काव्य (विशेषतः रीतिकालीन) को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से, अर्वाचीन अथवा साम्प्रतिक हिन्दी काव्य भी उससे प्रभावित कहा जा सकता है। अतः उक्त काव्य पर भी एक दृष्टि डाल देना अप्रासंगिक न होगा।

संस्कृत के अमरु की तरह ही प्राकृत में हाल (सातवाहन) अपने शृंगार-वर्णन के लिए अत्यधिक लोक-प्रिय रहे हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती हुई लोक-भाषा प्राकृत में जनता की शृंगार-भावना हाल की 'गाथासप्तशती' में सुरक्षित है। राजा हाल ईसा की प्रथम शताब्दी में जीवित थे। उस समय तक प्रेम की कितनी मञ्जुल व सरस कविता हो चुकी थी, यह देखकर आश्चर्य होता है। हाल ने अपने समय में प्रचलित १ करोड़ गाथाओं में से ७०० सरस शृंगारिक गाथाएँ चुनकर 'गाथा-सप्तशती' का निर्माण किया। महाराष्ट्रीय प्राकृत के इस गीति-काव्य में

समाज के निम्न वर्गों की भावना अपनी पूर्ण सजीवता के साथ सुरक्षित हैं। ग्राम्य जीवन के सादे, घरेलू व अत्यन्त स्वाभाविक चित्रों से परिपूर्ण, शृंगार-रस से छलकती इन प्रेम-गाथाओं में कल्पना की रमणीयता व उपमा आदि अलंकारों की छटा बड़ी मोहक है। इनमें ऊँची आदर्शवादिता या दार्शनिकता जैसी कोई चीज़ नहीं। इनमें तो मानव-हृदय की आशा-निराशा, सुख-दुःख, हास-रुदन आदि स्वाभाविक भावनाओं का ही चित्रांकण है। गांव की मुग्धा नायिका ही प्रधान है। मुग्धाओं के चित्र सबसे अधिक मार्मिक व मोहक हैं। उदाहरणार्थ—

१. 'युवा पति परदेश से आया है। व्यर्थ ही घर वाले उससे लम्बी-चौड़ी बातें कर रहे हैं। अधीर-हृदया प्रेमिका ने 'हाय ! मुझे किसी बिच्छू आदि ने काट लिया' कह कर अपने रेशमी वस्त्र से दीपक बुझा दिया ताकि शीघ्र प्रिय से भेंट हो।'

२. 'सखियां नायिका को कुछ नखरे करना सिखा रही हैं। नायिका कहती हैं—धीरे बोलो, कहीं मेरे हृदय में बसे प्राणनाथ सुन लेंगे।'

३. 'केलि के समय रात में घर के तोते ने जो शब्द सुन लिए थे उन्हें वह प्रातः बोल-बोल कर घर वालों को सुना रहा था। नायिका ने अपनी कान की बालियों के नग उसके आगे डाल दिये ताकि वह अनार के दाने समझ कर चुप हो जावे।'

४. 'चन्द्रमुखी युवा पथिक को पानी पिला रही है। पेट भर गया, पानी उंगलियों के बीच में से निकलते देता जा रहा है, किन्तु वह रुकता नहीं ताकि उसकी रूपछटा कुछ देर और देख सके।'

५. 'बच्चे के मुख में पहला दाँत उग आया है। पत्नी अपने पति को वह दिखा-दिखा कर प्रसन्न हो रही है। पति-पत्नि दोनों ही बड़े आह्लादित हैं।'

६. 'ग्राहक माला ख़रीदने का अभिनय-मात्र कर रहा है। वह तो मालिन की सुन्दर भुजा व उसके बाजूबन्द की शोभा को देखना भर चाहता है।'

७. 'वर्षा हो रही है। निर्धन ग्राम-युवती अपने बच्चे को आँचल में ले, छाजन से टपकते पानी को अपने सिर पर लेकर बच्चे को सुखाए रखने का प्रयास तो कर रही है पर उसे नहीं मालूम कि वह उसे अपने आँसुओं से भिगोती जा रही है।'

८. 'पति विदेश जाने का निश्चय कर चुका है। यह सुनते ही प्रिया दुर्बल हो गई। बाजूबन्द ढीले होकर गिर पड़े, आंसू भी साथ छोड़ कर उनके साथ चल पड़े, आहें भी चलीं। नायिका अपने जीवन को कहती है कि अब तुम ही यहाँ अकेले रह कर क्या करोगे !'

९. 'रसोई बनाते समय सुन्दरी के मुख पर किसी चीज़ का दाग़ लग गया। मनचला युवा पति कहता है कि अब तो तुम्हारा मुख चन्द्रमा (कलंक-युक्त) ही हो गया।'

१०. 'पति-पत्नि में मनमुटाव था। रात में एक ही शय्या पर विपरीत दिशा में मुंह किये लेटे थे। हृदय से दोनों ही सन्धि करने को तो उत्सुक थे किन्तु बाहर से अपना-अपना स्वाभिमान रक्खे हुए थे। कनखियों से एक-दूसरे को छिप-छिप कर देख भी लेते थे। अचानक दोनों की दृष्टि टकरा गई तो हँसी फूट पड़ी, और दोनों ने एक दूसरे के गले में बाहें भरकर आलिंगन कर लिया।'

सचमुच इन गाथाओं में प्रेम की यथार्थ अनुभूति का सारा सार खिंच आया है। ये अभिव्यक्तियाँ किसी प्रकार की दार्शनिकता से पीड़ित न होकर दैनिक जीवन की रसमयी भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इनमें जीवन का हास (humour) व करुणा, (pathos) दोनों ही मिलेंगे। काव्य की अनावश्यक बारीक पच्चीकारी या कौशल का भी प्रदर्शन इनमें नहीं मिलेगा। प्रेम भी दैनिक-जीवन के अनुभव पथ में आने वाला है। इस प्रकार इस प्रेम-काव्य की अपनी कुछ निजी विशेषताएँ हैं। हिन्दी के रीति-काल तथा आधुनिक-काल के प्रेम-काव्य पर इस प्रकार के प्रेम-निरूपण का दूर-पास का सम्बन्ध साफ दिखाई पड़ता है।

१०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजशेखर ने अपनी 'कपूरमंजरी' में इस प्राकृत का माधुर्य प्रेम-व्यंजना के लिए अपनाया। झूला झूलती हुई सुन्दरी का सौंदर्य अंकित है—

रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं,
कणक्वणिअकिङ्किणीमुहलमेहलाडम्बरम्।
विलोलवलआवली जणि अमञ्जुसिञ्जारवं,
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणम्॥[1]

अर्थात्, झूलती हुई सुन्दरी के मणि-नूपुर की झंकार, छोटे-छोटे घुंघरुओं वाली करधनी का स्वर, कण्ठ-हार की चमक-दमक, हिलते हुए कड़ों की प्रिय ध्वनि कितनी मधुर है। यह दृश्य देख कौन मोहित न हो उठेगा?

प्रेमी युवक के हृदय पर सुन्दरी के प्रेम के प्रभाव का एक और चित्र देखिये—

परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो,
खदक्खारो हारो रअणिपवणा देहतवणा।
मुणाली बाणाली जलई थ जलद्दा तणुलदा,
वरिट्ठा जं दिट्ठा कमलवअणा सा सुणअणा॥[2]

१. कर्पूरमंजरी, २/३२.	२. कर्पूरमंजरी।

कमलमुखी सुन्दरी के देखने पर विरह में चांदनी, चंदन, हार, शीतल पवन, सब कुछ दुःखदायक हो गये। कैसा स्वाभाविक व सादा चित्र है !

इस कोटि के प्रेम की परम्परा अपभ्रंश-साहित्य में भी वर्षों तक जीवित रही। पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश के अनेक दोहों तथा अन्य छन्दों में प्रेम-शृंगार के बड़े ही मार्मिक उद्‌गार प्राप्त होते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए[1]—

१. वियोग से दुबली नायिका ने कौआ उड़ाते हुए प्रिय को आते देख लिया। प्रसन्नता के मारे वह सहसा ही इतनी मोटी हो गई कि चूड़ियाँ तड़ातड़ चटख गईं।

२. हे प्रिये ! गये यौवन पर मत सोच कर ! शक्कर के सौ टुकड़े होने पर भी वह मीठी ही रहेगी।

३. हाय, न तो मैं गोरी के ही गले लगा और न युद्ध में शत्रु पर ही कभी टूटा। जीवन यों ही चला गया !

४. प्रिय सखी ! गरम साँस से तप्त हो कर यह चूड़ी आंसू का जल लगते ही टुकड़े-टुकड़े हो जायगी।

५. सांवला पति और गोरी वधू ! मानो कसौटी पर सोने की रेखा हो !

६. पति की बताई अवधि को नित्य गिनते-गिनते उंगलियां घिस गईं।

७. सखी, देख ! अनेकों युद्धों में जिसकी प्रशंसा होती है वह मेरा पति किस प्रकार युद्ध में हाथियों के कुंभों को विदीर्ण कर रहा है !

८. मुख की किरण के प्रकाश में भी जब नायिका को अपना हाथ दिखाई पड़ता है तो फिर चांद के प्रकाश में वह क्यों न दिखाई देगा !

९. तुच्छ मध्य भाग (पतली कमर), तुच्छ (लज्जावश अल्प) भाषण, तुच्छ रोमावली (यौवनोदय के लक्षण), तुच्छ हास (लज्जावश) व तुच्छ (सुकुमार) काया वाली नायिका का स्तनान्तर भी इतना तुच्छ (स्तन विस्तृत व परिपुष्ट होने के कारण) है कि बीच में मन (जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है) भी नहीं समाता !

१०. हे लोगों ! जो अपने हृदय को ही फोड़ रही है (स्तनों की विशालता व्यंजित है) उसे परायों पर (उसके चाहने वालों पर) क्या दया आयेगी (सौंदर्य का घातक प्रभाव दिखाया गया है) !

---

१. देखिये, **'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'** (भाग २, संवत् १९७८) में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के **'पुरानी हिन्दी'** नामक चार लेख। प्रस्तुत उदाहरण उन्हीं लेखों से संग्रहीत किये गये हैं।

११. हे सखी ! मेरे पति में दो ही अवगुण हैं—देते देते तो मैं बची (दान-शीलता की प्रशस्ति) और लड़ते लड़ते तलवार (वीरता की प्रशस्ति)।

१२. हे सखी ! यदि विपक्षी भाग रहे हैं तो मेरे प्रियतम ने ही उन्हें भगाया होगा, और यदि स्वपक्ष भाग छूटा है तो निश्चय ही मेरे प्रिय के युद्ध में काम आने पर ही ऐसा हुआ होगा।

१३. ऊँचे स्तन तो पति द्वारा चुम्बन में घाटे की बात है क्योंकि इस बाधा से अधरों का अधर तक पहुँचना कठिन हो जाता है (नव यौवन का सुन्दर स्वास्थ्य व अंगों की सुडौलता का सौंदर्य व्यंजित है)।

१४. हे सखी ! अबकी बार प्रेमावेश से पति से इस प्रकार मिलूंगी जैसे नये मिट्टी के बर्तन में पानी उसके रोम-रोम में रम जाता है।

१५. नायिका के अधर पर दंत-क्षत ऐसा लगता है मानों प्रिय ने रस-पान कर शेष पर भविष्य की सुरक्षा व पवित्रता के लिये सील (मुहर) लगा दी हो।

१६. हे सखी ! गोरी के नेत्र-वाण अश्रु-जल में उबाले-औटाये गये हैं, इसलिए उनकी चाल सीधी है पर मार तिरछी।

१७. हे सखी ! मेरा पति ऐसा वीर है कि शत्रु के द्वारा जलाये अपने झोंपड़े को वह या तो उनके ही रक्त से बुझायगा या अपने से ही।

१८. हे सखी ! बस एक चाँद ही मेरे पति से कुछ-कुछ समानता रखता है। दोनों ही समृद्धि में सीधे किन्तु धन-वैभव नष्ट होने पर टेढ़े (बाँके, हेकड़ी वाले) रहते हैं।

१९. हे मेघ ! मत बरस ! नमक (लवण) पानी में गलता है। मेरी प्रिया भी लावण्यवती है।

२०. हे सखी ! प्रिय तो जाने का आडम्बर-मात्र करता है। मैं उसके हृदय में आड़ी-टेढ़ी कई तरह उलझी हुई हूँ, रास्ता रोके बैठी हूँ। मैं पल्ला-वल्ला नहीं पकड़ती। जाने दे, देखूँ कै पग जाता है !

२१. हाय ! उस सर्व-सलोनी (श्याम-सलोनी) गोरी के रूप-यौवन का क्या कहना ! विष की गांठ ही है। कोई तो गले पर विष की गांठ होने पर मरता है, किन्तु जिस किसी के गले यह न लगे वह बस जान से ही जाये !

२२. हे सखी, मुझे तो अपने रूप-यौवन का घमंड नहीं ! किन्तु हाँ, प्रिय को संदेशा तो ऐसा भेजूँगी जो तीर की तरह जाकर चैंठ ही जाये।

२३. हे मेरे हृदय ! तू ने तो कहा था न, कि प्रिय के प्रवास करते ही फट पड़ूँगा। किन्तु तू तो नहीं फटा !

२४. सिर पर तो जर्जर लुगड़ी (वस्त्र), और गले की माला में गिनती के बीस मनके (मणि) भी नहीं, किन्तु हाय, उस मुग्धा ने अपने रूप-सौंदर्य से गोष्ठ (चौपाल) के छैलों को ऊठक-बैठक करा रखी है !

२५. स्मरण तो उसका किया जाय जिसे भूल चले हों। और जिसकी स्मृति न रहे उससे स्नेह था ही कब ? जिससे प्रेम है उसे भूलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता !

२६. 'प्रिय आया'—बस इतना सुनते ही विरह दुम दबा कर ऐसा भगा कि उसकी धूल भी न दिखी, उसकी लँगोटी भी हाथ में नहीं आई।

२७. किसी जलाशय के तीर पर प्रेमी ने प्रमिका के हाथों से जल दिया था। विरहिणी अब तो अपने हाथों को ही चूम-चूम कर इस विरह में जी रही है।

२८. नायिका विरह में इतनी दुबली हो चुकी है कि सुहाग-चिह्न चूड़ी के जमीन पर गिर पड़ने के भय से वह सदा ऊँचा हाथ किये चलती है—ऐसा जान पड़ता है मानो गहरे पानी की थाह लेने वाला कोई व्यक्ति सिर पर ऊँचा हाथ किये पानी की थाह लेता हो। नायिका भी विरह के महा दह की थाह ले रही है।

२९. नायक (कोई तपस्वी) का मुख तेजस्विता से इतना सुन्दर है मानो लावण्य मत्सर से भरा हुआ आग में कूद पड़ा हो। (राई-नौन आग में डालकर नज़र लगने के प्रभाव का निवारण किया जाता है)। नौन (लवण, लावण्य) आग (मुख का तेज) में पड़ गया है। मुख इतना सुन्दर है।

३०. वियोगी पथिक वर्षारंभ में पहाड़ पर उठते मेघों को देख कर कहता है कि जो मेघ पर्वतों को निगलने का हौसला रखते हैं वे हाय, बेचारी वियोगिनी को तो क्या छोड़ेंगे !

३१. प्रिया अपने प्रिय की वीरता की पराकाष्ठा का बखान करती हुई कहती है कि धन्य है मेरा कंत, जिसकी आँतें युद्ध-क्षेत्र में लड़ते-लड़ते पांव में आ लगीं और सिर कंधे पर लटक गया पर बंदे के हाथ से कटार अभी भी नहीं छूटी !

३२. बड़ा अच्छा हुआ, हे सखी ! जो मेरा प्रिय रणक्षेत्र में मारा गया। यदि रण में पीठ दिखा कर घर भाग आता तो मैं सखियों से कैसी लज्जित होती !

इन उदाहरणों को, स्थूलतः, अपभ्रंशकालीन प्रेमकाव्य का प्रतिनिधि मानते हुए प्रेम-निरूपण सम्बन्धी कुछ सामान्य तथ्य निर्धारित किये जा सकते हैं। यह प्रेम यथार्थ जीवन-सम्बन्धी एवं रोमांटिक टाइप का है। नायिकाएँ स्वकीया एवं परकीया दोनों ही प्रकार की हैं। मुख्य विषय श्रृंगार और वीरता है किन्तु वीरता श्रृंगार से ही अनुप्राणित है। संयोग औरवियोग—दोनों की ही अनभूति जीवन-सुलभ एवं व्यावहारिक है। नायक-नायिका दोनों ही समान भाव से प्रेम

से प्रेरित-उच्छ्वसित दिखाये गये हैं; प्रेम करना केवल नायिका का ही कार्य या उत्तरदायित्व नहीं। प्रेम का स्वर (tone) दार्शनिक-आध्यात्मिक नहीं किन्तु प्राकृतिक, रसवादी, अथवा आदर्शोन्मुख यथार्थवादी-सा है; कोरा यथार्थ वादी अथवा ऐन्द्रिक भी नहीं। वह जीवन के उच्च आदर्शों से अनावश्यक ही संत्रस्त न होकर लीला-विहार की रसमयी व जीवनोपयुक्त भावना से संसिक्त है अतः अधिक घरेलू, चिर-परिचित व मोहक है। इसमें कहीं कोई मनोवैज्ञानिक कुंठा या ग्रंथि (Complex) नहीं, कृत्रिम मनोनियोग या निग्रह द्वारा उसे जीवन के धार्मिक-आध्यात्मिक धरातलों पर या मन के अचेतन-अवचेतन स्तरों पर टाँकने, पहुँचाने या उतारने के लिए उदात्त (sublime) बनाने का कोई अनैसर्गिक प्रयत्न नहीं। यह प्रेम प्राकृतिक, ताज़ा, पॉजिटिव्ह व प्रामाणिक है। वह सम्भ्रान्त या आभिजात्य वर्ग से सम्बन्धित न होकर जन-साधारण या औसत सामाजिक वर्गों के बीच फलने-फूलने वाला है। यह प्रेम प्राकृतिक वातावरण में ही पनपा है, किन्तु प्रकृति का विस्तृत वर्णन या उसका बहुविध प्रयोग इसमें बहुत कम ही दिखाई देता है। काव्य का मूल केन्द्र मानव है, प्रकृति नहीं। मुख्यतः यह मानव-काव्य है। आलम्बन-वर्णन व काव्य-अभिव्यक्ति, दोनों में ही बारीकी, सूक्ष्मदर्शिता या मीनाकारी का काम नहीं है; जो प्रभाव उत्पन्न किये गये हैं वे स्पष्ट, खरे व गहरे हैं। उपमान-पक्ष जीवन के पूर्ण जाने-पहचाने अनुभवों या वस्तु-व्यापारों से ही संगठित किया गया है। सूझें व कल्पनाएँ अनेक स्थलों पर चित्ताकर्षक हैं। प्रेमाभिव्यक्ति में वेग, खरापन व स्पष्टता होने से उसकी अपील बड़ी मार्मिक होती है। संवादों या प्रश्नोत्तरों में नाटकीयता का सा वातावरण रोचकता उत्पन्न कर देता है। इस काव्य में प्रेम का जीवन अपने पूर्ण हास-विलास (humour) व चटक-मटक के साथ प्रकट हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं।

कालिदास—भवभूति आदि आदर्शवादी कवियों या उनके परवर्ती संस्कृत रीति-कवियों का प्रेम किस रूप में इस प्रेम से भिन्न अथवा इसके समान है, यह भी ऊपर के समस्त विवेचन से स्पष्ट हो सकेगा। हिन्दी प्रेम-काव्य ने आगे चल कर मुसलमानी व यूरोपीय प्रभाव अवश्य ग्रहण किये किन्तु उसकी मूलधारा निश्चित ही इन्हीं प्राचीन प्रेम धाराओं के जल से पुष्ट, गतिशील तथा समृद्ध रही।

(ग) हिन्दी प्रेम-काव्य (प्राचीन तथा मध्यकालीन)

(i) वीरगाथा काल

संवत् १०५० से लेकर सं० १३७५ तक का काल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'वीरगाथा काल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में देश की राजनीतिक स्थिति बहुत अस्त-व्यस्त व डाँवाडोल थी। हर्षवर्धन भारत का अंतिम हिन्दू-सम्राट् था। उसकी मृत्यु के बाद देश के केन्द्रीय सूत्र ढीले पड़ गये अतः राजा लोग परस्पर स्वतन्त्र

राज्यों की स्थापना के लिये लड़ने लगे। उधर देश के उत्तर-पश्चिमी भागों से मुसलमानों के आक्रमण भी होने लगे थे। इस समस्त ऊहापोह की स्थली पश्चिमी भारत था जहाँ दिल्ली, अजमेर, कन्नौज आदि बड़ी बड़ी रियासतें थीं। धीरे-धीरे प्राकृत व अपभ्रंश की प्रतिष्ठा अब कम हो चली क्योंकि जनता की भाषा लोकभाषा या डिंगल अधिकाधिक बल-संग्रह कर चली थी। उसमें नीति-शृंगार के दोहे व वीररस के छप्पय आदि लिखे जाते थे। राज-दरबारों में इस नवीन भाषा के कवि भी—जो चारण या भाट कहलाते थे—पहुँचने लगे और राजाओं की वंशावली तथा वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करके अपने आश्रयदाताओं की सेना को प्रेरित-उत्साहित करने के लिये काव्य-रचना करने लगे। उस समय के क्षत्रिय राजा प्रायः अपनी वीरता का आतंक जमाने के लिये ही युद्ध छेड़ देते थे या अपने को बलशाली सिद्ध करने के लिए किसी पराई सुन्दर राज-कन्या को बलात् छीन लाते थे। अतः इस समय की कविता के दो ही मुख्य विषय हुये—प्रेम और युद्ध। प्रधान रस वीर था और शृंगाप उसका-सहायक। ये काव्य-रचनाएँ वीरगाथाएँ कहलाती थीं जो मुक्तक रूप में न होकर प्रबन्ध के रूप में होती थीं। ये प्रबन्ध आकार में प्रायः बड़े होते थे जिनमें किसी राजा का विस्तृत जीवन-वृत्त अनेक वर्णनात्मक प्रसंगों को लेकर अंकित होता था—जैसे खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक जसचन्द्रिका आदि। कुछ छोटे काव्य भी होते थे जिनमें संक्षिप्त घटनाएँ मनोरंजक शैली में वर्णित रहती थीं—जैसे बीसलदेव रासो, आल्हा आदि।

हिन्दी-साहित्य संस्कृत व प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य का ही स्वाभाविक विकास है।[१] अतः उन साहित्यों की प्रवृत्तियों या काव्य-शैलियों का इनमें प्रवाहित हो आना स्वाभाविक ही है। इस काल की 'पिंगल' या लोकभाषा को पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकता मूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक' प्राप्त हुये हैं।[२] हमें तो यहाँ केवल इस काल की कविता में वर्णित प्रेम के स्वरूप पर विचार करना है। ऊपर जिस राजनीतिक स्थिति का उल्लेख किया गया है इससे विदित होता है कि उस समय का काव्यांतर्गत प्रेम स्थूल ऐन्द्रिक या मांसल प्रेम ही था; हाँ, वह वैसा उद्दाम भी नहीं जैसा उत्तर-कालीन संस्कृत काव्य तथा हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में दिखाई पड़ता है। इस प्रेम के मूल में काम-तृष्णा और विराम का संतोष ही मुख्य है। वस्तुतः यह सामन्ती युग का प्रेम है जो प्रकृत्या रोमान्टिक है और जिसकी चरम-परिणति भोग मात्र है। फिर भी इस में क्षत्रियोचित साहस और वीरता तथा अन्य वीरोचित

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, चतुर्थ संस्करण, पृ०२८ तथा डॉ० नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पूर्वार्द्ध ; पृ० १९१.

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २९

गुण निहित हैं। कवियों के लिए इस प्रेम या रति का मूल आलम्बन नारी क्षत्रियोचित गौरव की प्रमाणस्वरूप विजय की प्रतिमा है। भक्तिकालीन नारी के समान इस काल की नारी न तो केवल हाड़-मांस की पोटली, नरक की खान और माया का फंदा है और न रीतिकालीन नारी के समान केवल भोग-विलास की पुतली अथवा भोग्या मात्र; वह भयंकर युद्ध के बाद प्राप्त हुआ पुरस्कार है, जीवन-संग्राम के बीच शीतल छाया है अतः वह स्पृहणीय है। हम इस काल की नारी और उसके प्रति प्रेम को रीतिकाल और आधुनिक काल की नारी और उसके प्रति प्रेम के मध्य में ही कहीं रख सकते हैं। उस काल के राजे-महाराजे एक स्वस्थ व गौरवशाली संस्कृति के रक्षक सम्राटों के वंशज हैं, जो यदि विलासी हैं, तो रणक्षेत्र में आन पर मिटने वाले संयमी वीर भी हैं; रीतिकालीन राजा-महाराजओं की तरह कोरे विलासी ही नहीं। शौर्य या वीरता का प्रदर्शन ही इस काल के राजाओं का मुख्य कार्य है; शृंगार तो अवकाश के क्षणों की ही वस्तु है। हिन्दी की इस आरम्भिक कविता में न तो प्रेम की कोई विशद व्यंजना हुई है और न उसमें सौंदर्य की—मानव या प्रकृति के—कोई विशेष या गंभीर दृष्टि ही मिलती है। विषय-विन्यास और अभिव्यंजन-शैली दोनों परम्परागत संस्कृत से ग्रहीत हैं। उपमा, रूपक, भ्रांति आदि अलंकारों का स्वरूप भी घिसा-पिटा सा है। वस्तुतः उत्तरकालीन संस्कृत कवियों की रीति-निष्ठ कविता ही इस काल के काव्य पर हल्के-गहरे चरण-चिन्ह छोड़ती हुई सीधे हिन्दी के रीति-युग में जा पहुँची है।

यह तो हुई प्रबन्धकार कवियों की बात। इस काल की समाप्ति की ओर खुसरो और मैथिल कोकिल विद्यापति हिन्दी के सुप्रसिद्ध मुक्तककार कवि हुए। १४वीं १५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश कविता का प्रवाह चलता आ रहा था किन्तु लोकभाषा या पुरानी हिन्दी में भी कविता पिछली ४-५ शताब्दियों से होती चली आ रही थी। अतः विद्यापति को अपभ्रंश व हिन्दी (मैथिली), ये दो भाषाएँ मिल गईं और उन्होंने दोनों में ही अपनी रचना की। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'कीर्त्तिलता' अपभ्रंश में तथा 'पदावली' मैथिली में है।

समाज के निम्न वर्गों व अभिजात वर्गों की प्रेम-भावना का प्रतिनिधित्व करने वाली, शृंगार रस की मुक्तकों की प्राचीन धारा प्राकृत कवि हाल या सातवाहन की गाथासप्तशती, संस्कृत के कवि अमरु के 'अमरुशतक', गोवर्धन की 'आर्यासप्तशती' व अपभ्रंश के मुंज-रचित काव्यों में से होकर दीर्घकाल से प्रवाहित होती चली आ रही थी। इस धारा के साथ ही भक्ति स्तोत्रों की एक दूसरी धारा भी बहती चली आ रही थी जो संस्कृत व प्राकृत के प्रभाव के कारण, भक्तिनिष्ठ होते हुए भी अपने बाह्य रूप में शृंगारिक थी। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' का प्रभाव भी गहन रूप से इन धाराओं पर पड़ता आ रहा था। बंगाल व बिहार में राधा-कृष्ण को आलम्बन बनाकर

कई कवियों ने रचना की। विद्यापति इसी धारा के कवि हुए और उन्होंने राधा-कृष्ण की शृंगार-चेष्टाओं का बहुत विस्तार व सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया। परम्परागत नायिका-भेद पर भी इनकी दृष्टि रही। इनकी राधाकृष्ण-विषयक कविता को कोई विद्वान् आध्यात्मिक कहते हैं और कोई शृंगारी। पर शृंगारी मानने वालों का ही पक्ष भारी जान पड़ता है "उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में न समझना चाहिए।"[1]

विद्यापति के इस काव्य में शृंगार-रस का समस्त माधुर्य सजीव हो उठा है। नायक-नायिका की नाना प्रेम-चेष्टाओं, हाव-भाव व मुद्राओं, रस-मग्न हृदय की विविध अन्तर्दशाओं, विरह मिलन के अनेक प्रसंगों, आनदोल्लासमयी प्रकृति के नाना रूपों, वयः सन्धि, तारुण्य, आदि अवस्थाओं, विहार, रास-लीला, मान-भंग आदि के आमोद-प्रमोद पूर्ण प्रसंगों का चित्रण अतिशयोक्ति अपन्हुति उपमा, रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा के साथ व परम संगीतमयी कोमल कान्त पदावली में किया गया है। यह प्रेम मुख्यतः ऐन्द्रिक ही है। प्राकृतिक व शारीरिक सौंदर्य का भरापूरा वर्णन है, पर शारीरिक सौंदर्य ही मुख्य है। प्रकृति शुद्ध उद्दीपन-रूप में प्रयुक्त हुई है। दो चार नमूने देखिए :—

चाँद सार लाए मुख-घटना करु, लोचन चकित चकोरे।
अमिअ धोए आँचरे धनि पोछल, दह दिस भेल उँजोरे॥

× × ×

ससन-परस खसु अम्बर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर तर संचर रे, जनि बिजुरी-रेह।
आज देखल धनी जाइत रे, मोहि उपजल रंग।
कनकलता जनि संचर रे महि निरअवलव॥

× × ×

चिकुर गरये जलधारा
जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा॥

खुसरो मियाँ ने भी प्रेम-विषयक कुछ दोहे, गीत आदि लिख। पहेलियां व मुकरियाँ खड़ी बोली में हैं और दोहे व गीत ब्रजभाषा में। कुछ उदाहरण लीजिए—

उज्जल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप की खान॥

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ५७।

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारै केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥

× × ×

मोरा जोबन नवेलरा भयो है गुलाल । कैसे गर दीनी बकस मोरी माल ॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरह अगिन मोहि डस डस जाय ।

संक्षेप में, हिन्दी के वीरगाथाकालीन काव्य के मुख्य विषय वीरता और प्रेम थे, किन्तु वीरता की भी मूल प्रेरणा मुख्यत: प्रेम ही थी । इस काल के लोकगीतों व प्रबन्ध काव्यों में वर्णनों की प्रमुखता है । रीतिकालीन प्रेम की तरह यह प्रेम (लौकिक) अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यौरों के साथ चित्रित नहीं हुआ है । कारण यह कि वीरता के वर्णन के कारण नायक पक्ष ही प्रबल हो उठा है, नायिका तो केवल एक प्रेमिका, भोग्या या वीरता का पुरस्कार मात्र है । किन्तु, उधर रीतिकाल के कवियों की सारी दृष्टि नायिकाओं पर ही केन्द्रित हो गई है, अत: उनके रूप-सौंदर्य, अनुभावों, यथा संचारी भावों आदि के विशद चित्रण का अवकाश निकल आया है । इसके विपरीत वीरगाथा काव्य में न तो प्रेमाभिव्यक्ति में वह विशदता आई है और न सौंदर्य-वर्णन में वह सूक्ष्मता-सजीवता । कमल, चन्द्र, भ्रमर आदि वे ही प्रसिद्ध परम्पराभुक्त उपमान सौंदर्य-वर्णन में आये हैं । सौंदर्य के प्रति कवियों की दृष्टि पूर्णत: स्थूल और भौतिक है । उसमें किसी भी प्रकार की कोई ऐसी विशिष्ट आंतरिक कांति या मिठास नहीं मिलती जो हमें सहज ही आकृष्ट करे । इन कवियों के प्रेम-सौंदर्य-चित्रण संस्कृत की रीतिकालीन प्रवृत्तियों से भी ग्रस्त हैं । आगे चलकर आक्रांताओं के संसर्ग में आकर भारतीय शृंगार ने पतनोन्मुख रूप धारण कर लिया । काव्य में परकीया का अधिक महत्व बढ़ा जो फारसी साहित्य के सम्पर्क का परिणाम था । भारतीय साहित्य में सिद्धान्त रूप से परकीया का महत्व केवल भक्ति-काव्य के आध्यात्मिक वातावरण व परिवेश में ही स्वीकृत हुआ, लौकिक प्रेम-प्रसंगों में नहीं ।

(ii) भक्तिकाल

ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति-धारा

भक्तिकाल की निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर की कविता का मुख्यांश ईश्वर-भक्ति सम्बन्धी है । उनकी कविता वेदांत की अद्वैत भावना, सूफियों का लोकोत्तर प्रेम, योगमार्ग की साधनात्मक रहस्य-प्रवृत्ति, वैष्णवों का भक्ति-भाव आदि तत्वों से निर्मित है । कबीर ने प्रेम को लौकिक धरातल से उठा कर पारलौकिक तथा आध्यात्मिक धरातल तक पहुँचा दिया है । मुख्यत: ज्ञानी होने कारण उन्होंने निर्गुण ब्रह्म को ही लक्ष्य करके कविता लिखी है किन्तु भक्ति-भाव के

आग्रह से निर्गुण के साथ सहज ही व्यक्तिगत रागात्मक संबंध स्थापित हो गया है। इसी कारण इनकी भक्ति निर्गुण भक्ति कही जाती है। इनके राम दाशरथि राम नहीं, किन्तु घट-घटवासी ब्रह्म ही हैं। कबीर मूलतः ज्ञानी हैं पर उनमें भक्ति-भावना भी पर्याप्त है। ज्ञान मार्ग के ब्रह्म को उन्होंने निर्गुण उपासना का ही नहीं किन्तु, सूफियों के अनुकरण पर, अपने रागात्मक प्रेम का भी विषय बना लिया है।

कबीर का प्रेम आध्यात्मिक प्रेम है। उसमें लौकिक वासना का कहीं स्पर्श नहीं। वास्तव में कबीर ने इस अलौकिक प्रेम की जो अभिव्यक्ति की है वह अत्यन्त मधुर व प्राणवान् है। उनका यह प्रेम दो रूप धारण करता हुआ दिखाई पड़ता है। जब कवि निर्गुण व निराकार ज्योति की मर्म मधुर प्रेमानुभूति में पूर्णतया रसलीन हो जाता है और अपने को इस जगत से परे एक ऐसे प्रकाशवान् अमर लोक में पहुँचा हुआ पाता है जहाँ नूर ही नूर है, सर्वत्र आनन्द व शांति है, तब उसका प्रेम पूर्णतया आध्यात्मिक हो जाता है। ऐसा निर्मल, सशक्त व आत्मोल्लास से पूर्ण प्रेम साहित्य मात्र की परिधि में विरल ही होगा।

कबीर की प्रेम-विषयक कविता की दूसरी कोटि उस रचना की है जो तत्त्वतः तो आध्यात्मिक है किन्तु अभिव्यक्ति के लिये रूपकों और अन्योक्तियों का सहारा लेकर चलती है। ऐसी रचना में ईश्वर के प्रति प्रेम-भावना की तीव्रता, गम्भीरता और मधुरता की स्पष्ट अनुभूति कराने के लिए दाम्पत्य प्रेम के क्षेत्र के वस्तु-व्यापारों या प्रसंगों की प्रतीक रूप में अवतारणा की जाती है। दाम्पत्य भाव की अनुभूति सार्वजनीन व सार्वकालिक अनुभूति है, अतः यदि ईश्वर-प्रेम की गहनातिगहन अनुभूति को दाम्पत्य भाव से संबंध रखने वाले प्रतीकों की भाषा में अभिव्यक्त किया जाय तो वह अत्यन्त प्रभावशाली एवं सर्व-सुलभ हो जाती है। काव्य की दृष्टि से कबीर की ऐसी कविता ही सब से अधिक मार्मिक हुई है। चुम्बन, आलिंगन, दूल्हा, बालम, दुलहिन, सेज, नेहर, रमण, सगाई, व्याह, शृंगार, भरतार, घूंघट, रंगमहल, दीया आदि सांसारिक दाम्पत्य-प्रेम-संबंधी शब्द कबीर की कविता में आध्यात्मिक प्रेम के बड़े ही शक्तिशाली प्रतीक बन गए हैं।

सूफीमत में परमात्मा पत्नी या प्रिया के रूप में और साधक पति या प्रेमी के रूप में समझा जाता है किन्तु कबीर ने अपने को पत्नी रूप में व परमात्मा को पति रूप में मानकर अपने प्रणयोद्गार व्यक्त किए हैं। प्रेम के संयोग व वियोग—इन दोनों ही पक्षों का निरूपण हुआ है, किन्तु वियोग ही प्रधान है। विरहोद्गार इतने पैने हैं कि सहृदय पाठक द्रवीभूत, रोमांचित और चंचल हो उठता है। आत्म-पीड़ा, विरह-भावना व व्यथा-निवेदन आदि का निरूपण बड़ा ही मार्मिक है। समस्त प्रकृति उद्दीपन के रूप में आकर कबीर के आध्यात्मिक दुःख को बढ़ाती है, और स्वयं भी जलती हुई प्रतीत होती है।

संसार के सभी महाकवियों की तरह कबीर ने भी प्रेम का निरूपण (मुख्य विषय उनका ज्ञानधर्मोपदेश ही है) किया है पर वह लौकिक न होकर अलौकिक और आध्यात्मिक ढंग का है। कबीर ज्ञानी एवं तत्वदर्शी थे जो डाल-पात का पसारा न देखकर केवल जड़ को ही देखते थे। ज्ञानी प्रपञ्चात्मक जगत् के मूल में निवास करने वाली सनातन, अखंड व अनादि शक्ति, जिसे ब्रह्म कहते हैं, का ही अनुभव, चिंतन व मनन करते हैं। इसलिए कबीर ने भी निर्गुण ब्रह्म को ही अपनी अनुभूति का विषय बनाया। किन्तु रूप, रेख, गुण, जाति रहित ब्रह्म का चिन्तन करते-करते उसका कुछ रूप और आकार मन में बनने ही लग जाता है, और इसी प्रकिया में अन्ततः उस सत्ता के प्रति न्यूनाधिक रूप में रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित हो ही जाता है। कबीर की इसी साधना-पद्धति एवं अनुभूति ने उनके प्रेम का स्वरूप स्थिर कर दिया। जिस हृदय से सांसारिक व्यक्ति आकार-प्रकारधारी व्यक्ति से प्रेम करते हैं उसी हृदय से कबीर ने त्रिगुणातीत निर्गुण ब्रह्म की भक्ति की। प्रेमी हृदय में जो आवेग, उल्लास, व्यथा-वेदना आदि की विभूति होती है, वह कबीर के पास अथाह थी। आध्यात्मिक विरह सम्बन्धी कबीर की कविता में यह विभूति सबसे अधिक पूर्णता व मार्मिकता के साथ प्रकट हुई है। सांसारिक जीव प्रेमानुभूति की प्रामाणिकता प्रायः सांसारिक व्यक्तियों या वस्तु-व्यापारों के अधिकरण में या माध्यम द्वारा ही समझने-बूझने के अभ्यासी होते हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कबीर ने अरूप के प्रति भी जो प्रेम व व्यथा प्रकट की है वह उनकी आत्मा की उज्ज्वलता, जागरूकता और निर्मलता की भव्य साक्षी है। कबीर प्रायः रूखे, अनगढ़ व अक्खड़ कवि कहलाते हैं पर कठोरता में भी माधुर्य का जिन्होंने अनुभव किया है वे समझ सकेंगे कि उनके प्रेम-काव्य में जो आवेग, विकलता, जलन-टीस प्रकट हुई है वह हिन्दी की ही नहीं वरन् संसार के साहित्य की अमर निधि समझी जायगी।

जब प्रेम का आलम्बन ही अरूप है तो उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन ही कैसे हो ? ज्ञानी होने के नाते कवि बाह्य-सृष्टि को माया का मिथ्या पसारा समझता है इसलिए प्रकृति, मानव व मानव-जीवन के बाहरी सौन्दर्य का वर्णन करने में उसकी कोई रुचि नहीं। वह तो इसी भावना में आत्म-विभोर रहता है कि सृष्टि की वह मूल शक्ति जो रंग-रूप व आकारों में चिरन्तन प्रकाश कर रही है कितनी रसमयी, रमणीय, सुन्दर व रहस्यपूर्ण है। बस, कवि की सारी सौंदर्य-भावना इसी मौन चर्वणा से तृप्त है। कविता संसार के समस्त सौंदर्य के मूल उत्पादक या उद्गम के सौंदर्य पर ही मुग्ध है। संसार के अन्य कवियों की तरह प्रकृति व मानव-जीवनके स्थूल सौंदर्य का बखान न करके वह तो सौ बातों की एक तत्वपूर्ण बात कह कर ही जैसे तृप्त हैं, सन्तुष्ट है। यदि उसे वर्णन करना ही पड़े तो वह उस सौन्दर्य को भी एक ऐसे ही लोक में प्रतिष्ठित करना चाहता है जहाँ केवल प्रकाश ही प्रकाश है, मुक्ति मुक्ति है, आनन्द ही आनन्द है।

इस प्रकार कबीर में प्रेम-सौंदर्य की भावना बड़ी ही गूढ़ व उदात्त है जो स्थूल रंग-रूपों की चर्चा के परे की चीज है। हम कबीर को प्रेम-सौंदर्य का कवि मानें, न मानें—कबीर को मानो इसकी चिन्ता नहीं। जो बाहर की नहीं, घट की ही बात करता है, जन्म-मृत्यु के कठघरे को तोड़कर जन्म-जन्मान्तरों की बात करता है, उस रहस्य-लोक की चर्चा करता है जहाँ प्रकाश ही प्रकाश है, नूर ही नूर है, अनहद का नाद है—उसकी प्रेम-भावना और सौंदर्य-दृष्टि की थाह लगाना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जिसके रूपाकार, गुण-शील आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं उस निर्गुण ब्रह्म के प्रति कबीर का प्रेम भक्ति या दाम्पत्य विरहानुभूति की कोटि को कैसे पहुंच गया ? इसका उत्तर यही है कि कबीर ने संसार के स्त्री पुरुष या प्रेमी-प्रेमिका के जीवन या आचार संबंधी अपना सारा निरीक्षण अपनी आत्मा (प्रिया) व परमात्मा (प्रियतम) के एकान्त मानसिक सम्बन्ध पर आरोपित कर दिया। ब्रह्म और आत्मा का अनुभव तो उन्हें है पर वे उनका विवरण (रूप, रंग, आकार, प्रकार, व्यवहार, आचरण आदि) प्रस्तुत कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। केवल आत्मा व परमात्मा के ही मूक, निश्छल व प्रगाढ़ प्रेम सम्बन्ध का उन्हें ज्ञान है, जिसे उन्होंने रोमांच व घिग्घी के साथ, अटपटी वाणी में, प्रतीकों की सहायता से, कला की कच्ची बनावटी लगामों को तोड़, युद्ध-क्षेत्र के ताबड़तोड़ घोड़े की तरह स्वतन्त्र रहकर, गुड़-खाये गूँगे की सी स्थिति में प्रकट कर दिया है। या यों कह सकते हैं कि समस्त आनन्द, सौंदर्य, सुषमा, शक्ति व प्रकाश के अमर उद्गम ब्रह्म के प्रति हुई अनुभूति को कवि ने श्रृंगार की पदावली व रूपकों में प्रस्तुत मात्र कर दिया है। जितनी रसमयी व वेगवान् वाणी से लौकिक प्रणय का बखान किया जाता है, उतनी ही और वैसी ही वाणी से उन्होंने अपनी आत्मा व परमात्मा (निराकार) के एकान्त प्रेम-सम्बन्ध की अनुभूति को सशक्त व दर्दीली वाणी दी है। हमें यह सब कुछ विरोधाभास या पहेली-सा जान पड़े, पर कबीर के लिए यह सोलहों आने सत्य है। सूर, जायसी, घनानन्द, मीरा की तरह कबीर प्रेम के कवि भले ही न कहलायें, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि धरातल-भेद व अधिकरण-भेद से प्रेम के जितने भी विधायक तत्व (आकुलता, उत्कंठा, जलन, दरद-दहक, व्यथा-वेदना आदि) हैं वे सब उनमें भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं। हमारी इस व्याख्या से, कबीर कोरे अक्खड़ ज्ञानी थे या हिन्दी के सबसे बड़े कवि थे, इन दोनों अतिवादों में कदाचित् कुछ सामञ्जस्य बैठता दिखाई देगा।

अन्य कवियों की तरह कबीर की कविता में रस के विविध अवयवों (आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, संचारी, अनुभाव आदि) का ब्यौरेवार निरूपण भले ही न मिले, किन्तु वर्णित रस की केन्द्रीय अथवा मार्मिक भावना अवश्य ही उनमें अत्यन्त शक्ति-

शाली रूप में व प्रचुर परिमाण में मिलेगी। उनकी प्रेम की मर्म-मधुर उक्तियाँ उनके गम्भीर प्रेमानुभव व विदग्धता की परिचायक हैं। प्रकृति का बहुमुखी व सूक्ष्म निरीक्षण उनकी कविता में नहीं मिलता, किन्तु विराट् विश्व में फैली प्रकृति को देख कर जो विस्मय, उल्लास आदि की भावना होती है, वह उनके काव्य में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। प्रकृति के सुप्रसिद्ध अथवा सामान्य उपकरणों (कमल, हंस, चकवा-चकवी, कली-फूल, चन्द्र-सूर्य-तारा आदि) में जो प्रतीकत्व उन्होंने संचित किया है वह उनके प्रकृति-निरीक्षण व प्रकृति के साथ तादात्म्य को सूचित करता है। इसी प्रकार अन्य कवियों की तरह उन्होंने माननीय (शारीरिक) सौंदर्य और शील-सौंदर्य का निरूपण भी नहीं किया है। इसका कारण, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह है कि ज्ञानी होने के कारण वे स्थूल और व्यक्त को नश्वर समझकर उसकी ओर देखते भी नहीं; (जब तक कि वे पदार्थ आध्यात्मिक प्रतीक ही न दिखाई पड़ने लग जायें) न अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण और न सिद्धान्त के कारण। इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें सौंदर्य-दृष्टि नहीं थी, अथवा उसका अभाव था। वास्तव में उनकी सौन्दर्यान्वेषिणी दृष्टि इस प्रपंच के पीछे खड़ी मुसकराने वाली अनन्त रमणीय सौंदर्य सत्ता को देख-देखकर उनके मन में आनन्द का मौन ज्वार उत्पन्न करती रहती थी। पर बाहर से ऐसा ही दिखाई देता रहा कि कवि रूखा है, अनगढ़ है, अक्खड़ है। वास्तव में नारी रूप में उन्होंने परम पुरुष के प्रति जो अपने उद्गार व्यक्त किये हैं, वे उनकी भाव-विह्वलता और गम्भीर प्रेमानुभूति को यथार्थ रूप से प्रकट करने वाले हैं। कबीर के काव्य में, निःसंदेह, कठोर चट्टानों में कलकल नाद करने वाली रसधारा बह रही है।

प्रेमाश्रयी निर्गुण-भक्ति-धारा

जिन्होंने प्रम-गाथा के रूप में उस प्रेम-तत्व का वर्णन किया है जो ईश्वर से मिलाने वाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है[१], उन हिन्दी कवियों में जायसी का स्थान सर्वोच्च है। उन्होंने प्रेम का जैसा निरूपण किया है वह हिन्दी-साहित्य में अनूठा है। कबीर और जायसी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं; किन्तु जायसी अधिक व्यावहारिक हैं, अधिक प्रत्यक्ष हैं, और हृदय के अधिक निकट हैं। यद्यपि आगे चलकर रीतिकाल में प्रेम का धारा-प्रवाह वर्णन हुआ, किन्तु उस में वह निर्मलता, वह कांति, और वह वेग-ज्वार नहीं, जो सूफियों के प्रेम-काव्य में है। एक केवल लौकिक है तो दूसरा लौकिक होते हुए भी पूर्णतः आध्यात्मिक। भौतिक प्रेम की सारी विवृत्ति आध्यात्मिक प्रेम की गंभीरतम अनुभूति की प्रतीक बन कर आई है। वास्तव में सूफी कवियों ने जो प्रेम-धारा बहाई उससे हिन्दी-साहित्य रस-मग्न और प्रफुल्लित हो उठा। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"इन्होंने

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : "हिन्दी साहित्य का इतिहास" पृ० १०१।

प्रेम के जिस एकान्तिक रूप का चित्रण किया है वह भारतीय साहित्य में नई चीज़ है। प्रेम की इस पीर के सामने ये लोकाचार की कुछ परवाह नहीं करते। भारतीय काव्य-साधना में प्रेम की ऐसी उत्कट तन्मयता दुर्लभ थी। विरह-वर्णन करने में ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा कथा के लिए नहीं कहते, इनका लक्ष्य सदा भगवत्प्राप्ति रहती है। इसीलिए भगवान् के विरह में जीवात्मा की तड़पन का ये बड़ी सजीवता के साथ वर्णन करते हैं।"[१]

सूफी साधक एकेश्वरवाद के पूर्ण निर्गुण खुदा में कुछ गुणों का आरोप करके, उसे अपने रागात्मक हृदय का आलम्बन बनाकर उसके साथ व्यक्तिगत प्रेमसंबंध स्थापित करते हैं। उपासना करने के उद्देश्य से, निर्गुण में अनन्त सौंदर्य व अनन्त माधुर्य की भावना करते हैं जैसी कि उपनिषदों में हुई है। ये लोग पूर्ण तन्मयतापूर्वक, स्थूल, लौकिक प्रेम-सम्बन्धों के व्याज से, निर्गुण में सगुण का निरूपण करते हैं। इस के लिए शराब, प्याला, मद, मैखाने आदि से सम्बन्धित पदावली का भी समावेश करते हैं जो वस्तुतः केवल प्रतीक रूप में ही प्रयुक्त होती है। सूफ़ी मत में मिलन की अपेक्षा विरह का माहात्म्य बहुत अधिक है। भक्त के हृदय की प्रेम की पीर और जलन ही उसकी सारी निधि और जीवनी-शक्ति (vitality) है। भारतीय वेदांत के प्रतिबिम्बवाद के अनुसार सूफ़ी साधक सृष्टि के समस्त सौंदर्य, माधुर्य, प्रफुल्लता, विकास, दीप्ति व कांति में उसी परम प्रियतम का आभास, छाया या प्रतिबिम्ब देखते हैं। ब्रह्म की भावना भी वे जमाल और जलाल, इन दो रूपों में करते हैं। जमाल रूप में कल्पना करने वाले जमाली केवल ईश्वर की सुन्दरता को ही देखते हैं और जलाल रूप में कल्पना करने वाले जलाली उसके ऐश्वर्य, शक्ति, और शील को। हिन्दी के सूफी कवि (जायसी, कुतबन, मंझन आदि) पहले वर्ग के ही हैं।[२] इस विचार-पद्धति का प्रभाव आगे चलकर प्रेम-लक्षणा भक्ति वाले कृष्णभक्त कवियों पर भी पड़ा। एक बात यह भी है कि सूफी साधक अपने आप को प्रेमी व उस निर्गुण सत्ता को प्रिया या प्रेयसी के रूप में कल्पित करता है, जब कि भारतीय माधुर्य-भाव का भक्त साधारणतः अपने आप को प्रियतमा व ईश्वर को अपना प्रेमी या पति मान कर चलता है। यह बात मुसलमानी देशों व भारत की दार्शनिक या सांस्कृतिक विचारधारा की भिन्नता के कारण-स्वरूप कही जाती है।

हिन्दी के सूफी कवियों के काव्य का मुख्य रस शृंगार है और मुख्य विषय प्रेम। प्रेम के दोनों पक्षों (संयोग व विप्रलंभ) का निरूपण हुआ है किन्तु विप्रलंभ ही प्रधान है। शृंगार और वीरता आदि के वर्णन अधिकांशतः भारतीय परम्परानुसार ही हुए हैं। प्रायः सभी कवियों ने प्रेम-मार्ग की

---

१. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' पृ० ५८।

२. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'वाङ्मय विमर्श' (तृतीय संस्करण), पृ० २२५

ऐकान्तिकता का ही वर्णन किया है। केवल जायसी ने कथा का पूर्वार्द्ध पूर्णतः कल्पित एवं उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक रख कर काव्य की भूमिका व्यापक व लोकापयोगी बना दी है। प्रेम-पथ के विरह की अत्यन्त मार्मिक अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। रतनसेन व नागमती के प्रेम के माध्यम से विरह की भरपूर व्यंजना हुई है। नागमती का विरह-वर्णन तो अत्यन्त ही मार्मिक व मोहक है। हृदय की नाना अन्तर्वृत्तियों का बड़ा ही सूक्ष्म व हृदय-द्रावक वर्णन हुआ है। ऐसा विरह-वर्णन हिन्दी में संभवतः केवल सूर ही कर सके है, और कोई नहीं। इस विरह में नागमती रानी के विशिष्ट पद से उतर कर पूर्ण लोक-सामान्य भाव-भूमि पर आ जाती है। समस्त प्रकृति उस के शोक से शोकाकुल है। इतना ही नही, वह उस के दुःख को हल्का करने वाली समदु.खभोगिनी या सहानुभूतिशीला के रूप में सक्रिय भाग लेने वाली भी दिखाई गयी है। विरह की अवस्था में विरही की सारी सृष्टि किस प्रकार एक अविच्छिन्न प्रेम-सूत्र मे बँधी दिखाई देती है, इसका आभास कवि ने नागमती के विरह-वर्णन के द्वारा दिया है। इस विरह-वेदना के चित्रण में कवि ने कही कहीं फारसी साहित्य के विरह-वर्णन मे प्रचलित उपकरणों—मांस, खून, नसें, हड्डियां, रक्त, आबले, आंसू आदि—का भी प्रयोग किया है जो भारतीय दृष्टि से अविधेय समझा गया है।

प्रेम जायसी का मूल विषय है। यह प्रेम निर्गुण ब्रह्म के प्रति है। कबीर जहाँ निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रति अपना प्रेम मूलतः वुद्धि की प्रेरणा से प्रदर्शित करते हैं वहाँ जायसी हृदय के शुद्ध राग की प्रेरणा से। यही मौलिक भेद उन दोनों की जीवन-दृष्टि, प्रेम के स्वरूप और अभिव्यंजन-पद्धति में गहरा अन्तर उपस्थित कर देता है। कबीर तत्त्वतः ज्ञानी हैं, अतः वे वेदान्त के माया-वाद की प्रेरणा से प्रकृति के परे जो एक सनातन तत्त्व है उसे ही सत्य और सुन्दर मान कर व्यक्त प्रकृति को मिथ्या कह उठते हैं। किन्तु जायसी वेदान्त के ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त-प्रतिबिम्बवाद के आधार पर प्रकृति को, चिर सुन्दर व प्रेममय ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब मान कर और उसी के नाते सुन्दर व सरस ठहराते है (यह दृष्टि सूर की दृष्टि से भी, जो जगत् को मिथ्या और असत् नही ठहराती, अद्भुत साम्य रखती है)। जब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब या आभास ही इतना सुन्दर है तो ब्रह्म स्वयं कितना रमणीय व सुन्दर होगा, यही व्यंजना है।[1] फिर, यह

---

१. इस प्रसंग में जायसी के 'पदमावत' का वह स्थल द्रष्टव्य है—

रवि, ससि, नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ, मानिक मोती॥
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन-जोति नग हीर॥

सारी प्रकृति जायसी की दृष्टि में (सूफीमत की विचार-धारा के अनुसार भी) अपने परम प्रियतम से अनादिकाल से बिछुड़ी हुई है।[1] अतः प्रत्येक क्षण अपने प्रिय के विरह में जल रही है, धधक रही है, रुदन कर रही है। उसके विरह में चन्द्र, सूर्य व तारे जल रहे हैं, समुद्र और नदियाँ विकल हैं, और प्रकृति का कण-कण महामिलन के लिये ललक रहा है, अशांत है, व्यग्र है। उसमें सर्वत्र प्रेम की पीर, विरह की व्यथा, जलन, दाह और टीस है। यद्यपि ये ही सब मसाले कबीर के काव्य में भी मिलेंगे पर वे कबीर की आत्मा और परमात्मा, इन दोनों के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध में ही प्रयुक्त हुये हैं। जायसी की तरह कबीर की व्यथा चराचर व्यापी नही, यदि है भी तो उस मात्रा व परिमाण मे नही। इस प्रकार प्रकृति में घनीभूत सौदर्य-तत्त्व, वेदना-तत्त्व और प्रेम-तत्त्व के सहज समावेश से जायसी के काव्य में एक ऐसी अनोखी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है कि उसके द्वारा वह काव्योपयोगी रमणीय भावात्मक रहस्यवाद सहज सम्भव हो सका है जो उन के काव्य की कांति इस समस्त प्रेमतत्त्व और रहस्यतत्त्व को, सामान्य सहृदयपाठक के लिये सुलभ बनाने के लिये कवि ने, रतनसेन और पदमावती की एक लौकिक और जीवंत कहानी के माध्यम से उदाहृत और चरितार्थ कर दिया है। यह सब प्रयत्न ऐसे रूप में और इस सुन्दर ढङ्ग से हुआ है कि जायसी के काव्य से प्रत्येक औसत सहृदयकाव्य-पाठक का हृदय-पक्ष पूर्णतया तृप्त, तुष्ट और अनुरंजित होता है। संक्षेप में, हृदय के मार्ग से निर्गुण निराकार ब्रह्म के साथ रागात्मक प्रेम-सम्बन्ध जैसा सुन्दर जायसी ने स्थापित किया है वैसा सम्भवतः हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं कर सका है।

रतनसेन-पद्मावती की कहानी में वर्णित लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम का प्रतीक बन कर आया है। वस्तुतः सारी कहानी एक रूपक है जिसके बीच यत्र-तत्र अलौकिक प्रेम के संकेत मिलते है। प्रेम का पूरा मज़ा अनुभव कराने के लिये उसके विरह-पक्ष का ही लम्बा-चौड़ा बखान हुआ है। अन्त में मिलन का भी उद्दाम वर्णन है। वह आत्मा और परमातमा के मिलन-क्षण के रंग-रहस्य का कितना प्रतीक है, यह कहना

---

१. तुलसी में भी ऐसी भावना कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है, यथा—

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि-पद विमुख काहू न लह्यो सुख सठ यह समुझि सबेरो।
बिछुरे रवि-ससि, मन! नयननि तें पावत दुख बहुतेरो॥
भ्रमत श्रमित निसि दिवस गगन मों तहँ रिपु राहु बडेरो॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुं पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥

(विनयपत्रिका)

कठिन है। पर जायसी का प्रेम में पवित्रता, गम्भीरता, निर्मलता और सरसता भरपूर मात्रा में विद्यमान है, इसमें सन्देह नहीं।

जायसी की सौदर्य-दृष्टि बड़ी ही सूक्ष्म, पैनी और मार्मिक है। पदमावती के अलौकिक सौन्दर्य-वर्णन मे कवि की प्रतिभा सर्वोत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। इस वर्णन में साहित्यिक रूढ़ियों (नख-शिख वर्णन, बारहमासा आदि) का भी बहुत कुछ पालन हुआ है। पदमावती सर्वत्र एक अमर अलौकिक ज्योति के रूप में ही चित्रित की गई है। अनेक कल्पनाएँ बड़ी ही मौलिक और रमणीय दिखाई पड़ती हैं। प्रकृति का वर्णन स्वतन्त्र आलम्बन रूप में न होकर सर्वत्र उद्दीपन रूप में ही हुआ है। उसके कठोर और कोमल दोनों ही रूपों का ग्रहण हुआ है। अलंकार-विधान और रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में भी प्रकृति का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। जायसी निश्चय ही प्रेम के एक महाकवि है।

कृष्ण-भक्ति धारा

सगुण-भक्ति-धारा की कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि सूर हिन्दी-साहित्य के शीर्षस्थानीय प्रेम-कवियों में से हैं। इनका प्रेम बाह्य दृष्टि से लौकिक होते हुये भी पूर्णतः आध्यात्मिक है और वह मधुरा भक्ति की परमोच्चकोटि को प्राप्त हो गया है। वल्लभाचार्य की प्रेम लक्षणा भक्ति के दर्शन से परिपुष्ट होकर यह प्रेम आत्मा के वसंत का पर्याय हो उठा है। भागवत की रासपंचाध्यायी में प्रेम का जो निर्मलतम स्वरूप अकित हुआ है, वही सूर ने लिया है। भागवत के अनुसार यह प्रेम जीव को मुक्त व पवित्र करने वाला है, पूर्ण निष्काम है और चैतन्य ज्योति से सजीव व अनुप्राणित है। यह प्रेम केवल लोक-वेद की मर्यादा के पालन मात्र से प्राप्त नही होता। यही परम पुरुषार्थ है। ज्ञानियों की मुक्ति इसके घर पानी भरती है। संसार में तीन प्रकार के जीव होते हैं—(१) प्रवाह जीव–जो विवश व पराधीन से संसार की लहरों में थपेड़े खाते बहते जाते हैं, (२) मर्यादा जीव—जो विधि-निषेध से फूँक-फूँक कर पाँव रख कर जीवन पूरा करते हैं, और (३) पुष्टि जीव—जो भगवान के अनुग्रह और पोषण पर ही जीते हैं। ऐसे ही जीव वस्तुतः श्रीकृष्ण के परम प्रेम के रस के अधिकारी होते है। सूर का लक्ष्य इसी प्रेम की अनुभूति, अभिव्यक्ति और गान है। यह सर्वोच्च प्रेम सूर-काव्य में मुख्यतः विप्रलंभ शृंगार के माध्यम से ही व्यक्त हुआ है। ऐसा प्रेम इस मर्त्यलोक में अत्यन्त विरल है। जिस उदात्त मानसिक भूमिका पर पहुँच कर श्रीकृष्ण के परम प्रिय भक्त उस प्रेम का रसास्वाद कर उनके साथ नित्य आनन्द लीला में सम्मिलित होकर जीवन का लाभ लूटते हैं, उसकी गोलोक के रूप में कल्पना की गई है। इस लोक में निरन्तर रहना ही इस प्रेम-साधना का परम फल है। कवि ने भूलोक पर गोलोक की अवतारणा

कर दी है।[1]

सूर का काव्य प्रेम-सौंदर्य की भावना का विश्वकोष है। यह भारत की सुख-समृद्धि और आनन्दोल्लास का भरा-पूरा और विशाल चित्र है। कोटि-कोटि कामदेव के सौंदर्य को लज्जित करने वाले मेघवर्ण श्रीकृष्ण और उनकी प्रिया राधा तथा गोपियाँ सूर-काव्य के आश्रय-आलम्बन हैं। राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम-वर्णन में सूर की सारी प्रतिभा लग गई है। कवि ने श्रीकृष्ण के अनेक रूपों (योगेश्वर, योद्धा, प्रेमी नीतिज्ञ, आदि) में से मुख्यतः प्रेमावतार रूप ही लिया है, और केवल इसी रूप की पूर्ण अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रेम का अमर संजीवन तैयार किया है। मानव-हृदय में प्रेम की जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं उन सबका वर्णन सूर-काव्य में हुआ है। त्याग, आशा, विश्वास और समर्पण की महत् भावनाओं से यह प्रेम लौकिक धरातल से उठकर पूर्णतः अलौकिक हो गया है। विरह और मिलन—प्रेम के दोनों ही पक्षों का चित्रण हुआ है, किन्तु महिमा विरह की ही है। तुलसी की सारी मर्यादा इस उत्ताल प्रेम-प्रवाह में मानो ढह गई है, तुलसी जो कुछ भी मर्यादा के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं, सूर ने उसे मुक्त प्रेम के द्वारा प्राप्त करने का मानो निश्चय कर लिया है। प्रणय अथवा दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त सूर ने वात्सल्य रस का भी अत्यन्त विशद और रमणीय निरूपण किया है जो उनके भाव-क्षेत्र के विस्तार का सूचक है।

वेदान्तियों के रूप, रेख, गुण, जाति रहित निर्गुण ब्रह्म की आराधना से भ्रमित सूर ने साकार ब्रह्म (श्रीकृष्ण) और उनकी शक्ति, प्रकृति या माया (राधा) के सौंदर्य को भर-भर आंखों देखा है। सूर रूप-चित्रण के अद्भुत कलाकार हैं। वस्तुतः प्रेम और सौंदर्य की इनकी अभिव्यक्ति इतनी अथाह और अपार है कि उसके आधार पर प्रेम और सौंदर्य का भरा-पूरा दर्शन-शास्त्र सहज ही खड़ा किया जा सकता है। प्रेम-वृत्ति के अनुभव में जितनी गहराई कवि ने बताई है, उसी अनुपात में उसने सौंदर्य के सूक्ष्म और गम्भीर निरीक्षण का भी परिचय दिया है। शारीरिक मानसिक, प्राकृतिक और कला-गत—चारों प्रकार के सौंदर्य की छटा सूर-साहित्य में दर्शनीय है। शारीरिक सौंदर्य के निरूपण में कवि ने अपनी समस्त निरीक्षण-शक्ति झोंक दी है। राधा और कृष्ण के एक-एक अंग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवृत्ति हुई है। मेघ, बिजली, कमल, मीन, मधुप, मयूर, चकोर, हंस, खंजन, हाथी, शुक, चातक, बिम्बाफल, मुक्ता, तिल-प्रसून, तमाल, वज्र, नग, विद्रुम, बन्धूक कुसुम, गंगा, शरच्चन्द्र, कमलनाल, क्षीरसागर, निर्धूम अग्नि आदि परम्परागत और प्रसिद्ध उपमानों की सहायता से सौंदर्य का सूक्ष्म वर्णन हुआ है। अनुभावों (कायिक चेष्टाओं

---

[1] **जन नायक जगदीश पियारौ, जगत जननि जगरानी।**
नित बिहार गोपाल बाल संग, बिन्द्रावन रजधानी॥
—सूर

और सात्त्विक भावों) का चित्रण सजीव है। वर्ण-भावना का भी कवि ने सुन्दर परिचय दिया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, भ्रान्ति, सन्देह, यथासख्य आदि अलंकारो का बहुत प्रयोग हुआ है। अनेक स्थलों पर अति-प्राकृतिक तत्त्वों (Super-natural Elements) का भी समावेश किया गया है। सौदर्य-वर्णन में प्रकृति का भरपूर प्रयोग हुआ है। प्रकृति मुख्यत: अलंकार-विधान और उद्दीपन के रूप मे ही प्रयुक्त हुई है। ब्रजभूमि से सम्बन्धित होने के कारण प्रकृति का भरपूर प्रयोग स्वाभाविक ही है। यद्यपि अलंकार-विधान और उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति ग्रहीत हुई है किन्तु इस प्रयोग में कवि का प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र अनुराग भी निहित है। प्रकृति का मधुर रूप ही लिया गया है, कठोर रूप प्रायः नहीं। प्रकृति के भीषण रूप से सम्बन्धित कुछ पद मिलते अवश्य हैं।

मुक्तक काव्य होने के कारण शील-सौदर्य या चरित्र-चित्रण का वैसा सुन्दर उद्योग सूर में नहीं दिखाई पड़ता जैसा प्रबन्धकार कवियों में (तुलसी, जायसी, मैथिलीशरण गुप्त आदि) दिखाई पड़ता है।

राम-भक्ति धारा

मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अपना आराध्य मानने वाले रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि तुलसी ने प्रेम को नैतिक पवित्रता व मर्यादा का सौंदर्य प्रदान किया है। उनके प्रेम में स्थूल ऐन्द्रिकता का स्पर्श भी नहीं है, फलत: उनका प्रेम परम्परागत (साहित्य मे साधारणत: निरूपित) प्रेम से भिन्न होकर धार्मिक कोटि का हो गया है। सैद्धान्तिक मतवाद की दृष्टि से तुलसी का प्रेम सेव्य-सेवक भाव का प्रेम है; प्रेम के इस स्वरूप ने ही तुलसी के प्रेम-निरूपण के स्वरूप को निर्धारित और नियंत्रित कर दिया है। तुलसी के प्रेम का आदर्श चातक व मेघ का प्रेम (दोहावली, चातक चौतीसी) है जो पूर्ण निष्काम, निर्मल, तृप्तिदायक एवं पवित्र है। यह प्रेम नितांत शुद्ध आत्माओं में ही उत्पन्न हो सकता है और संसार में अत्यन्त विरल है। प्रेम की यही सर्वोच्च कसौटी है। तुलसी ने आदर्श प्रेम के इसी मूल तत्व को मानवजीवन के समस्त प्रेम-संबंधों—जैसे, भ्रातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, गुरु-प्रेम, मानव-प्रेम, भक्त व भगवान का प्रेम, वात्सल्य प्रेम, पति-पत्नी का प्रेम आदि—के बीच प्रतिफलित किया है। यह ध्यान देने की बात है कि तुलसी अधिकांश कवियों की तरह केवल प्रणय के क्षेत्र तक ही सीमित न रहे, अपितु उन्होंने प्रेम को मानव-जीवन के नाना क्षेत्रों में ले जा कर दिखाया और उसे भक्ति में पर्यवसित किया। प्रणय के क्षेत्र में जहां अन्य कवि अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता से काम लेते हैं, वहां भी तुलसी ने यही पवित्रता और मर्यादा निभाई है। उनके लिए प्रिय व सुन्दर वही है जो केवल राम से नाता रखता हो। राम के अभाव में या उन से विमुख सब कुछ निस्सार या हेय है। विद्वानों का विचार है कि इस

आत्यंतिक आदर्श-भावना व मर्यादावाद के कारण तुलसी धर्म-क्षेत्र में तो पूज्य हुए किंतु काव्य क्षेत्र में, अन्य प्रेम-कवियों के काव्य को देखते हुए, मानवीय प्रेम-स्पंदनों का वैसा संचार न कर सके।[1] रामायण उनकी दृष्टि में धर्म-ग्रन्थ ही बना रहा।

वास्तव में प्रेम के सम्बन्ध में तुलसी की स्थिति पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है। जहाँ तक प्रणयेतर प्रेम के अन्य क्षेत्रों का प्रश्न है वहाँ तक तो ठीक ही है, किन्तु नर-नारी के प्राकृतिक प्रेम-सम्बन्ध को भी जिस कठोर नैतिकता और मर्यादा के हाथों तुलसी ने सौंप दिया है, वह विचारकों की दृष्टि में आज नई-नई आलोचना व गम्भीर आपत्तियाँ खड़ी कर रहा है।[2] साहित्य में परिपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अब ऐसी आलोचना बहुत स्पष्ट रूप से सामने आने लगी हैं, जिन पर तटस्थ दृष्टि से वैज्ञानिक विचार करने की आवश्यकता है।[3]

---

१. "कृष्ण मे प्रेम, विरह और समर्पण वाले सिद्धांत का प्रचार करके भागवत के अनुयायी श्री वल्लभ स्वामी और चैतन्य ने उत्तरीय भारत मे इसी कारण अधिक सफलता प्राप्त की कि उनकी धार्मिकता में मानवीय वासनाओं का उल्लेख उपास्य के आधार पर होने लगा था। फलतः कविता का वह प्रवाह व्यापक हो उठा। सुधारवादी शुद्ध धार्मिक ही बने रहे। रामायण का धर्मग्रन्थ की तरह पाठ होने लगा; परन्तु साहित्य दृष्टि से जनसाधारण ने कृष्ण चरित्र को ही प्रधानता दी।"

—जयशंकर 'प्रसाद' : "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध", पृ० १३१।

२. "तुलसी मर्यादा की रज्जु में इतने बँधे हुए थे कि वे सामान्य भावक की स्वाभाविक भूखों को परितृप्त कर ही नहीं सकते थे।"

—प्रो० रमाशंकर तिवारी ("समालोचक" का सौंदर्यशास्त्र अङ्क, पृ० १२१)

३. "But the diversity and expanse, the vigour and vitality of the fuller and more varied experiences of life are absent··· ···. The universality which characterizes Sanskrit literature of the earlier periods is not to be found in the Hindi literature of the Middle ages. Since the beginning of time, woman, God and nature, in their manifold aspects, have been the inspiration and the subject-matter of literary exercises. Of nature there is no mention in Hindi poetry of this period, except in the works of Tulsidas. Woman, and the joys and pleasures of love were, as a rule, forbidden subjects. In respect of the latter, Keshavdas, Bihari and Padmakar are the much berated sinners.

Even when it is recognised that there is a definite and pronounced spiritual side to the genius of our people it appears somewhat strange that medieval Hindi literature should have developed

यहाँ हम विस्तार में न जा कर केवल इतना ही कहेंगे कि काव्य के सहृदय रसिकों की दृष्टि से कदाचित् कोई अभाव प्रेम-वर्णन में अवश्य ऐसा रह गया है जो तुलसी (तथा ऐसे ही अन्य कवियों) के प्रति ऐसी आपत्तियों व आलोचनाओं को जन्म देता है या दे सकता है। हमारा आशय यह कदापि नहीं है कि तुलसी प्रेम-वर्णन में रीति-काल के कवियों के धरातल पर उतर आते। हाँ, इतना तो अवश्य लगता है कि जीवन-सुलभ प्रणयानुभूति के निरूपण में, सामाजिक मर्यादा और नैतिकता का ऐसा तीव्र व कठोर अंकुश पात्रों में वह प्रफुल्लता, सजीवता और ताजगी नहीं रहने देता जो धरती का पाठक धरती के काम के महापुरुषो में भी देख सकता है या देखना चाहता है। काव्यशास्त्र का साधारणीकरण का सिद्धान्त और मनोविज्ञान भी इसी का समर्थन करेंगे। हाँ, यह दूसरी बात है कि सामाजिक पुनर्स्थापना के युग में तुलसी ने व्यक्ति को समाज के विशाल यन्त्र का पुर्जा बना कर ही रखना वांछित समझा हो। कविवर गुप्त जी ने 'साकेत' में लक्ष्मण–उर्मिला के चरित्र-चित्रण में जो मनोविज्ञान-सम्मत और युगानुरूप मानवीय सजीवता–प्रफुल्लता दिखाई है, कदाचित् आज का काव्य-पाठक उससे अधिक संतुष्ट होता है। अस्तु।

तुलसी की सौंदर्य-दृष्टि बहुत परिष्कृत और प्रौढ़ है। राम और सीता सौंदर्य के निधान हैं। सृष्टि को सारी सुन्दरता उनसे ही प्राप्त होती है। प्रकृति जड़ है। राम के प्रभाव से वह सरस और चेतन हो उठती है। राम का सौंदर्य जड़ पदार्थों, जलचरों तथा पशु-पक्षियों तक को मोहित करने वाला है। वे साक्षात् ब्रह्म हैं और शक्ति, शील और सौंदर्य के पुज हैं। राम और सीता के शारीरिक और मानसिक सौंदर्य (शील) के चित्रण में कवि ने कोई कसर बाकी नहीं रखी है। अनेक स्थलों पर सौंदर्य का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओं में किया गया है। प्रकृति के सुन्दर से सुन्दर उपमान जुटाये गए हैं। कवि की जड़-चेतन-व्यापी सौंदर्य-दृष्टि का बोध हमें ऐसे स्थलों पर होता है—

---

a religious bias to the extent of excluding all other emotions and experiences of life from its ken. It must be remembered that from the earliest days Indian writers had produced secular literature of a very high quality along with devotional literature of outstanding merit. Kalidas very nearly summed up divinity in the physical beauty of woman. It would appear that the early Hindi literature grew in isolation from the mainstream of the literary tradition of India.

—Maharajakrishna Rasagotra : "*Hindi as a Medium of Poetic Expression*" (An article in one of the Sunday Supplements of the 'Hindustan Times', July, 1957.)

लोने लाल लषन सलोने राम, लोनी सिय,
चारु चित्रकूट बैठे सुर-तरु-तर हैं।
गोरे-सांवरे सरीर पीत नील-नीरज से,
प्रेम रूप सुखमा के मानसिज-सर हैं॥
लोने नख-सिख, निरूपम, निरखन जोग,
बड़े उर कंधर, विशाल भुज बर हैं।
लोने लोने लोचन, जटनि के मुकुट लोने,
लोने बदननि जीते कोटि सुधाकर हैं॥
लोने लोने धनुष, बिसिष कर-कमलनि,
लोने मुनिपट, कटि लोने सरघर हैं।
(गीतावली)

तुलसी को राम से अनन्य प्रेम है, फिर अपने आराध्य अथवा प्रेम-पात्र तथा उनसे सम्बन्धित सब कुछ यदि भक्त को प्रिय न लगे तो वह प्रेम कैसा !

जो कवि इस प्रकार सर्वत्र सौंदर्य का दर्शन करना जानता है, उसकी सौंदर्य-दृष्टि वास्तव में पूर्ण है।

तुलसी ने शक्ति, शील और सौंदर्य के निधान राम को केन्द्र में रखकर शारीरिक, मानसिक और प्राकृतिक सौंदर्य की एक साथ अवतारणा करके पूर्ण सौंदर्य की सृष्टि की है।

कवि की सौंदर्य-दृष्टि की पूर्णता दो बातों से और दिखाई पड़ती है। उसने राम के सौंदर्य (शारीरिक और मानसिक) को उभारने के लिए घमंडी व अत्याचारी राक्षस रावण की सृष्टि की है। अन्धकार में प्रकाश की किरण कैसी चमक उठी है ! इसके अतिरिक्त कवि केवल कोमल सरस और मधुर में ही सौंदर्य नहीं देखता। वह उसे प्रचण्ड, परुष, वीभत्स और भंयकर में भी देखता है। समुद्र के प्रति राम का विकराल रूप-धारण, विजयोन्मुख अथवा विजयी राम की उपस्थिति में लंका के युद्ध का वीभत्स दृश्य, और लंका-दाह आदि के दृश्य में जो सौंदर्य है वह सब राम के नाते है। असत् में सत् की ज्योति के दर्शन से बढ कर और क्या सुन्दर हो सकता है।

रामचरितमानस में कवि ने जो नाना पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों के बीच जीवन के सौंदर्य का वसन्त खिलाया है वह भी कवि की सौंदर्य-दृष्टि की ही उपज है।

और सब से सुन्दर तथा मोहक तो है कवि की आंखों का वह स्वप्न जिसे हम 'रामराज्य' की कल्पना कहते हैं। प्रेम से परिपूर्ण हृदय और सौंदर्यपूर्ण आंखों के बिना ऐसी कल्पना कर ही कौन सकता है !

(iii) रीति-काल

भक्ति काल में अलौकिक प्रेम की भरपूर व्यंजना हो चुकी थी। सं० १७०० से १६०० तक देश की जो राजनीतिक-सामाजिक दशा थी उसने ही इस काल के प्रेम-चित्रण का बहुत कुछ स्वरूप-निर्धारण किया। विलासप्रिय मुगल सम्राटों के अधीनस्थ छोटे-छोटे हिंदू राजाओं, उमरावों व रईसों के राज्याश्रय में रहने वाले इस काल के कवियों का मुख्य कार्य, काव्य के परम्परागत आश्रय व आलबन—राधाकृष्ण—के सुमिरण के बहाने अपने उद्दाम व वासनापूर्ण भौतिक प्रेम का चित्रण कर के अपने स्वामियों का मनोरंजन करना मात्र रह गया। भक्तिकालीन प्रेम की सारी पवित्रता, अलौकिकता व आध्यात्मिकता लुप्तप्राय हो गई। सारा प्रेम-निरूपण कामशास्त्रानुमोदित होने लगा। नायक-नायिकाओ की प्रेम-क्रीड़ा, विरह-वेदना, पूर्वानुराग, मिलनोत्कंठा मान, दूतीकर्म, अभिसार, षट्ऋतु, बारहमासा, शारीरिक रूप-सौदर्य, और प्रकृति के उद्दीपक रूप आदि के वर्णन से हिंदी-काव्य परिपूर्ण हो गया। प्रेम वासना का पर्याय-सा हो गया। देव, बिहारी, केशव, मतिराम, पद्माकर आदि कवि इस काव्य के प्रमुख सृष्टा है। परकीया प्रेम के निरूपण में तो ये कवि पूर्ण स्वतंत्र हो गये है।

क्रिया-प्रतिक्रिया प्रकृति का नियम है। भक्ति-काल में अपार्थिव और अलौकिक प्रेम की व्यंजना पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप रीति-काल में पार्थिव, लौकिक अथवा ऐन्द्रिक प्रेम वासना का रूप धारण कर प्रबल ज्वार-सा उमड़ उठा। प्रकृति को किसी भी बात की अति सह्य नहीं। घड़ी के पेंडुलम की तरह प्रतिक्रिया-स्वरूप अति की निवृत्ति विपरीत दिशा की ओर प्रबल प्रवृति के रूप में शीघ्र ही होती है। पृथ्वी का वासी इन्द्रिय-युक्त प्राणी सूक्ष्म हवा में कैसे तैरता रहे? रीति-काल का सारा काव्य सूक्ष्म के प्रति स्थूल की, पारलौकिक के प्रति लौकिक की, अध्यात्मिक के प्रति भौतिकता अथवा ऐन्द्रिकता की प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया मानो इस बात की घोषणा करती है कि अतिवाद को छोड़कर सुन्दर मध्यमार्ग ग्रहण करना ही उचित है; मनुष्य उस मध्यमार्ग पर अधिक न रह सके यह दूसरी बात है।

रीति काव्य के स्वरूप पर विचार करके उसके यथार्थ व निष्पक्ष मूल्यांकन के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक, साहित्यिक और सामाजिक परिस्थितियोंको ध्यान में रखना आवश्यक है। सामाजिक, राष्ट्रीय, और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग में साहित्य की श्रेष्ठता के जो मान-मूल्य हमने निर्धारित कर लिये है, वे उस समय अनुपस्थित थे, अत: इन बटखारों से उस काव्य को तोलना व्यर्थ है। यदि उस युग में देश में किसी व्यापक उत्क्रांति के परिणामस्वरूप कोई राष्ट्रीय व सामाजिक ऊहापोह हुआ होता तो प्रकृति के नियमों के अनुसार देश की साहित्यिक मेधा और प्रतिभा, बहुत संभव है,

काव्य के आवश्यक मान-मूल्य आविष्कृत कर लेती। किन्तु वातावरण में उस समय ऐसी कोई थपेड नही थी। मुगल सम्राटों की सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता की छाया में सारा देश विलास की झपकी ले रहा था। कवियों के लिए कोई सामाजिक उत्तरदायित्व नही था। स्वभावतः वे केवल आत्माभिव्यंजन का सुख और अपने आश्रयदाता की रंजना में ही निमग्न थे। आचार्यत्व के क्षेत्र में आनन्दवर्धन, मम्मट, और अभिनवगुप्त से बढकर वे क्या कहते ? काव्य के क्षेत्र में दर्शन का जैसा उपयोग और विनियोग भक्ति-काल के कवि कर गये थे, उनसे बढ़कर ये कवि और कर ही क्या सकते थे। विराट् भाव-भूमि पर जीवन की व्याख्या के लिए मानो इनके उपयुक्त कोई भी क्षेत्र छूटा न था। ऐसी स्थिति में मानव-जीवन का वही अनादि विषम—प्रेम—इनके पास शेष रह गया था जिसे घिस-घिस कर और माँज-आँज पर चमकाना इनका एकमात्र कार्य रह गया। ऐसी स्थिति में इनका कवि-कर्म प्रेम-वर्णन और अभिव्यक्ति-कौशल तक ही सिमट कर रह गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या ! और गहराई से देखने पर जान पड़ेगा कि शुद्ध कला अथवा काव्य की दृष्टि से यह क्षेत्र भी कम महत्व का नहीं प्रेम का विषय मानव हृदय का सनातन विषय है। रीति काल के कवियों ने लौकिक प्रेम का वर्णन करके मानों प्रेम के दोनों छोरों (आध्यात्मिक व लौकिक) में एक स्वाभाविक संतुलन स्थापित किया। जो कुछ विषय या कार्य-क्षेत्र उनके पास रह गया था, परिस्थिति के अनुरूप उन्होंने उसका अच्छे से अच्छा उपयोग किया। अंग्रेज़ी की प्रसिद्ध कहावत "Every Cloud has a silver lining" के अनुसार हमें इस विलास-भावना से प्रेरित काव्य से प्रेम के एक विशेष क्षेत्र—दाम्पत्य या कौटुम्बिक प्रेम—से सम्बन्धित बहुमूल्य अनुभूतियों का रत्न-कोष प्राप्त हुआ। इस प्रकार इस काव्य का एक सामाजिक, कलात्मक और मनोवैज्ञानिक महत्व निर्विवाद है। वास्तव में लौकिक प्रेम की जो रस-रंगीनी, मूर्त्त, प्रस्तुत अथवा ऐहिक जीवन का सौंदर्य देखने वाले प्राचीन संस्कृत कवियों (कालीदास, अमरूक, भर्तृहरि आदि) में दिखाई पड़ती है, वहीं हिन्दी रीतिकाल में (निम्न मानसिक धरातलों पर) एक बार फिर अपने पूरे उछाल के साथ आ गई। इस काव्य का अनुशीलन करने पर इतना तो लगता है कि लौकिक प्रेम भी यों ही नहीं है उसका भी अपना एक अनोखा सौंदर्य है जिसका अनुभव चाहे सब कर सकते हों किन्तु जिसको कला का मोहक आवरण देना सब के बूते की बात नहीं; वह मानो रीति काल के कवियों का ही विशषाधिकार है।

जहां प्रेम की यह अभिव्यक्ति उद्दाम, अमर्यादित व अधोमुखी हो गई है वहां कुछ ऐसी विशेषताएं भी हैं जिनके कारण रीतिकालीन काव्य का महत्व सदा बना रहेगा। स्वकीया प्रेम से कवियों ने गृहस्थ जीवन के जैसे यथार्थ सादे, व मनोहारी चित्र अंकित किए हैं कि वे सहृदयों को सदा लुभाते रहेंगे। प्रेमवृत्ति की जितनी सूक्ष्मता तक इनकी दृष्टि पहुंची है वह स्तुत्य है। कोमल दाम्पत्य प्रेमभाव की व्यंजना

के उपयुक्त जैसी ललित पदशय्या, स्निग्ध छन्द-प्रवाह, कोमल व रमणीय कल्पना अपेक्षित है वैसी इन में पूर्णतया विद्यमान थी। ईश्वरीय प्रेम का महत्व जीवन में सर्वोच्च बना रहे, पर इससे भौतिक प्रेम के महत्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। वास्तव में इतना श्रेय तो इन कवियों को देना पड़ेगा कि भौतिक प्रेम की रमणीयता और माधुर्य को हमें इन्होंने समझाया। अतः इस काल का महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से व कला की दृष्टि से भी निर्विवाद है।[१]

इस प्रकार रीति-काल का प्रेम वास्तविक और यथार्थ है। वह जीवन का है, और उसका भी अपना एक निजी महत्व है। वह हवा पर नहीं, किन्तु ठोस पर जीता है। इस प्रेम के वर्णन में कवियों की अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्ति की स्वच्छता-स्निग्धता वास्तव मे मोहक है। इस काव्य को हम 'कला-कला के लिए' नामक काव्य-सिद्धान्त का अनुयायी कह सकते हैं।

इन आधारों पर रीतिकालीन काव्य का एक अपना कलात्मक सौंदर्य है जिसे स्वीकार न करना साहित्यिक अन्याय होगा।

रीति-काव्य का प्रेम मुख्यतः ऐन्द्रिक है। किन्तु घनानन्द जैसे कवियों के काव्य में यह मन के उदात्त धरातलों पर भी पहुँचा दिया गया है। प्रेम के प्रमुख आलम्बन श्रृंगार के सार किशोर-किशोरी हैं। नायिकाएँ स्वकीया व परकीया दोनों ही है। प्रेम-वर्णन में साहित्यिक परम्पराओ और रूढ़ियों का, जो संस्कृत काल से ही चली आ रही थीं, पालन किया गया है। अनेक कवियों के काव्य में प्रेम-वृत्ति से सम्बन्धित विविध भावनाओं की बड़ी ही रमणीय अभिव्यक्ति हुई है। संक्षेप में, प्रेम यद्यपि ऐहिक अथवा ऐन्द्रिक है, किन्तु माल महीन और मजबूत है, पोत घुटा हुआ, चिकना, और चमकदार।

प्रेम के इस स्वरूप से ही कवियों की सौंदर्य-दृष्टि निर्मित और नियन्त्रित हुई है। वस्तुतः इन कवियो की सौंदर्य-दृष्टि बहुत ही सूक्ष्म और गम्भीर है। नायक के सौंदर्य को भी उन्होंने देखा जरूर, पर नायिकाओं पर ही इनकी दृष्टि पूर्ण निश्चितता के साथ और खूब गहराई से जमी है। नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग, रूप-रंग, कांति, सौकुमार्य, गठन, आयु, चेष्टाएँ, वेश-भूषा, आभूषण, अनुलेपन—इन सभी का बड़ा ही सूक्ष्म-मादक व विशद चित्रण हुआ है। इस प्रकार रूप-चित्रण, अत्यन्त

---

१. विशेष देखिये, बा० श्यामसुन्दरदास-कृत 'हिन्दी-साहित्य' (इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग) मे तत्सम्बन्धी प्रकरण तथा, डॉ० नगेन्द्र : 'रीति काव्य की भूमिका' (१९४९) पृ० १७५, १७९ तथा उक्त ग्रन्थ की 'भूमिका' की समाप्ति—"और, इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्व है।"

मोहक, मादक व कलापूर्ण है। वयः-संधि, यौवन, तन-द्युति, जगरमगर रूप और उसकी आभा, प्रभाव, सुखदता, दर्शनीयता, और सामूहिक छवि-छटा का, शिरीष-पुष्प के पराग-तन्तु की सी सुकोमल नोक वाली तूलिका से, महीन अंकन किया गया है। एक-एक मुद्रा, एक-एक भाव और एक-एक स्थिति का, विविध दृष्टि-भंगी से सौ-सौ, तरह से घुमाव-फिराव के साथ चित्रण हुआ है। वास्तव में इन कवियों ने रूप का आकठ पान किया है। सौंदर्य-वर्णन के लिए प्रकृति के क्षेत्र से सुन्दर और आकर्षक उपमान चुने हैं, जैसे—कमल, चाँद, चाँदनी, मोती, हीरा, दाड़िम के दाने, बिम्बाफल, केसर, बिजली, मिश्री, चाँदनी, किरण, खंजन, चकोर, हरिण, शुक, चक्रवाक्, कदली, कनकलता आदि। गदरारे अङ्गों वाली अलबेली रसीली, व छवीली गोरटियों के मुख, भ्रू, नेत्र, पलक, दाँत, नाक, उरोज, केश, नाभि, जंघा, जानु, गति, वाणी, अँगड़ाई, मुसकान, अंगलता, वेणी, चरण आदि के लिए चुन-चुन कर एक से एक बढ़िया उपमान लाये गये हैं। केसर, कस्तूरी, इत्र, कपूर, चन्दन, सुगन्धित द्रव्य आदि के साथ हीरे, मोती, पन्ने, माणिक, नीलम, पुखराज आदि की भी व्यवस्था की गई है। इस प्रकार शारीरिक सौंदर्य-वर्णन में कवियों ने अपनी प्रतिभा का सारा कोष ही खोल कर डाल दिया है। सौंदर्य-वर्णन में कवि प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं से भी बहुत प्रभावित हुए हैं, इसमें संदेह नहीं।

इस काल की कविता तीन महत्वपूर्ण धाराओं में प्रवाहित हुई—(१) रीति-धारा, (२) स्वच्छन्दतावादी धारा, व (३) नीतिवादी धारा। पहली में प्रेम का वर्णन मुख्यतः रीतिग्रस्त अथवा परम्पराभुक्त है जो अलंकार ग्रन्थों में उदाहरणों के रूप में आया है। दूसरी धारा भी बहुत महत्वपूर्ण है। इस धारा के प्रमुख कवि घनानन्द, रसखान, ठाकुर, आलम आदि हुए है। इन्होंने रीति के बन्धनों से मुक्त रहकर, प्राकृतिक मानव-प्रेम का हृदय की स्वाभाविक भाव-पद्धति पर, विशद चित्रण किया है। घनानन्द इन कवियों में सर्वोत्कृष्ट कहे जाते हैं। उनकी प्रेम-व्यंजना की मार्मिकता, गम्भीरता व प्रभावशीलता उच्चकोटि की है। तीसरी धारा के कवि गिरिधर, वृन्द, रहीम आदि नीतिवादी हैं। इन्होंने काव्य में नीति व उपदेश की बातें इतिवृत्तात्मक ढंग से कही हैं। प्रेम की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व नहीं।

ऊपर अत्यन्त स्थूल रेखाओं में भारतीय प्रेम-वर्णन की कुछ मोटी-मोटी विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे बीसवी शताब्दी के हिन्दी प्रेम-काव्य के स्वरूप को समझने में कुछ सहायता मिलेगी।

इस भूमिका के पश्चात् सब से पहले प्रेम और सौंदर्य के शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन अत्यावश्यक है जिससे कि उसके प्रकाश में विवेच्य वृत्तियों से सम्बन्धित काव्य के गुण और मूल्य का यथार्थ निर्धारण करने में सुभीता हो।

प्रकरण : १

प्रेम और सौंदर्य का स्वरूप

(शास्त्रीय विवेचना)

प्रेम

१. व्युत्पत्ति, शब्दार्थ व परिभाषाएँ

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रेम-सौदर्य विषयक कविता का अनुशीलन करने से पूर्व प्रेम व सौंदर्य की भावनाओं का यथार्थ व स्पष्ट स्वरूप-ज्ञान नितान्त आवश्यक है, जिससे कि उसके प्रकाश में आलोच्यकाल की कविता का सही सही विश्लेषण व मूल्यांकन किया जा सके।

यह भी जान लेना आवश्यक है कि 'प्रेम' शब्द का प्रयोग प्राचीनतम भारतीय साहित्य–ऋग्वेद–में नहीं पाया जाता। हाँ, 'प्रिय' शब्द अवश्य मिलता है जिसका प्रयोग तीनों लिंगों व लगभग सभी विभक्तियों में हुआ है।[1] 'प्रेम' शब्द आगे चल कर पुराण-इतिहास काल में श्रीमद्भागवत आदि पुराण व नारदभक्ति सूत्रादि भक्ति प्रधान ग्रन्थो में अवश्य मिलने लगता है।

व्युत्पत्ति :—'प्रेमन्' भाववाचक संज्ञा शब्द है। यह शब्द संस्कृत में नपुंसक लिंग तथा हिन्दी में दोनों लिंगो में प्रयुक्त होता है। प्रसिद्ध वाचस्पत्य कोष में इसकी व्युत्पत्ति 'प्रिय' शब्द से की गई है : यथा, "प्रियस्य भावः इमनिच् प्रत्यय प्रादेशः।"[2] प्रियस्य भावः=प्रेमा (पुल्लिग)। प्रिय 'प्र' प्रकृति तथा भावार्थक 'इमन्' प्रत्यय से 'प्रेमा' शब्द निष्पन्न हुआ। इसलिए 'प्रेमन्' का अर्थ हुआ 'प्रियता', प्रिय का भाव या प्रिय होना।

'प्रेमन' शब्द की व्युत्पत्ति 'प्री' (अर्थात् प्रसन्न करना, आनन्द लेना या आनन्दित होना) धातु से मनिन् (मन्) प्रत्यय जोड़ कर भी हो सकती है। इस शब्द का लिंग नपुंसक होगा।

'प्रेम' शब्द की एक और व्युत्पत्ति व्याकरणानुसार हो सकती है। 'प्रीञ् प्रीतौ'

---

१. ऋग्वेद संहिता (वैदिक संशोधन मंडल, पूना), सूचीखंड (जिल्द ५), पृ० ३९७–३९८।

२. वाचस्पत्य कोष, पृष्ठ ४५४०।

धातु से उणादि सूत्र "सर्व धातुभ्यः" से मनिन् प्रत्यय करके 'प्रेम' शब्द निष्पन्न हुआ है।

इस प्रकार व्युत्पत्तिलभ्य 'प्रेम' शब्द का अर्थ हुआ—जो प्रीति देता हो, अर्थात्, अनन्त तृप्ति प्रदान करता हो।

शब्दार्थ :—'प्रेम' शब्द एक अत्यन्त व्यापक शब्द है जो इसके विविध अर्थों की व्याप्ति द्वारा विदित होता है। इसके शब्दार्थ से ही इसकी व्यापक परिधि अथवा विशाल भावना का बोध होता है। वाचस्पत्य कोषकार, अमरकोषकार तथा सुप्रसिद्ध भारतीय कोषकार आप्टे ने इस शब्द को अनेक सूक्ष्म भावनाओं का वाहक बताया है।[1] पाश्चात्य कोषकारों ने भी प्रेम की यही विशाल भावना दर्शाई है और उसे सूक्ष्मता प्रदान की है।[2] ध्यान देने की बात यह है कि पूर्व व पश्चिम के इन सभी कोषकारों ने प्रेम को स्थूल इन्द्रियों तक ही कहीं भी सीमित नहीं रखा है, प्रत्युत् उसे मन के सूक्ष्म व उदात्त स्तरों तक उठाया है।

---

१. **'सौहार्द स्नेहे हर्षे' (वाचस्पत्य कोष, पृ० ४५४०)।**

प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम्। (अमरकोष, प्रथमं काण्डम्)।

"Love, affection, favour, kindness, kind or tender regard, sport, pastime, joy, delight, gladness."

—आप्टे (*Sanskrit-English Dictionary*—1922, Page, 380.)

2. 'Love, affection, kindness, tender regard, favour, predilection, fondness. —Sir Monier - Williams: *Sanskrit - English Dictionary*, second edition (Oxford, 1899), page, 711.

"A feeling of strong personal attachment induced by that which delights or commands admiration, by sympathetic understanding, or by ties of kinship or ardent affection.

Manifestation of desire for, and earnest effort to promote, the welfare of a person, esp. as seen in God's solicitude for men and men's due gratitude and reverence to God.

Strong liking, fondness, goodwill, the object of ideal regard, as love of learning, love of freedom, love of country, love of money, tender and passionate affection for one of the opposite sex, as to marry without love, also, an instance of love, a love affair.

Sexual passion or, rare, its gratification.

The object of affection, often employed in endearing addresses; Cupid, or Eros, as the God of love, etc."

—Webster's *New International Dictionary of English Language* (Page, 1279).

कोषकारों के अर्थों का आधार प्राय: व्याकरणगत व्युत्पत्ति व साहित्यगत प्रयोग आदि होते हैं, अत: वे पूर्ण प्रामाणिक होते है। इसके अतिरिक्त कवियों, भक्तों, दार्शनिकों व अन्य साधकों के द्वारा भी अनुभव व अध्ययन आदि के बल पर शब्दों के वास्तविक अर्थों की स्थापना होती है। अत: प्रेम शब्द का मर्म भली भाति समझने के लिए कतिपय विचारसूत्रों, व्याख्याओं या परिभाषाओं का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। विचार के आधार के लिए कुछ सूत्र प्रस्तुत किये जा सकते है।

परिभाषाएँ अथवा विचार-सूत्र :

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्। प्रकाशते क्वापि पात्रे। गुण-रहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।"

—महर्षि नारद[1]

"सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ॥
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥"

—श्री रूपगोस्वामी[2]

"कहते है कि प्रेम का मज़ा चखने के ही लिए आत्मा एक बार फिर अस्थि पिंजर में बन्द होने को राजी हुआ है। बाह्य सौंदर्य किस काम का जब कि प्रेम, जो आत्मा का भूषण है, हृदय मे न हो। प्रेम जीवन का प्राण है। जिसमे प्रेम नहीं वह केवल मांस से घिरी हुई हड्डियों का ढेर है।"

—ऋषि तिरुवल्लुवर[3]

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोपि हेतु र्न
खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयंते ॥ × × ×
"अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्वस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।"

—भवभूति

"प्रेमा पुमानो महान्।" —महाप्रभु चैतन्य

"जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।" —कबीर

"एक भरोसो एक बल, एक आस बिसवास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥" —तुलसी

---

१. नारदभक्तिसूत्र, ५१ से ५५ सूत्र।
२. श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धुः (अच्युतग्रंथमाला, काशी), पृ० ११५।
३. तामिलवेद (अजमेर) पृ० ८३–८४।

"जब मैं स्वयं को विश्वव्यापी समझता हूँ तो मुझ में स्वार्थता नहीं रह जाती; परंतु जब मैं भ्रमवश यह सोचने लगता हूँ कि मै स्वयं मर्यादित हूँ तो मेरा प्रेम संकीर्ण तथा विशेप भावापन्न हो जाता है : विश्व की सब वस्तुएँ ईश्वर-जन्य हैं और इसीलिए वे प्रेमपात्र हैं। यही ध्यान में रखना चाहिए कि समष्टि के प्रेम में ही अंश का प्रेम अंतरभूत है।"

—स्वामी विवेकानन्द

"विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते है।"

—पं रामचन्द्र शुक्ल

"प्रेम ऐहिक सान्निध्य की पार्थिव आकांक्षा है। अन्य प्रवृत्तियों की भांति वह भी नितांत भौतिक है।···उसे आरंभ से ही अभौतिक आध्यात्मिक अथवा ईश्वरीय समझना अवैज्ञानिक है।"

—पं० सद्‌गुरुशरण अवस्थी

"He whom Love touches not, walks in darkness."

—Plato.

अर्थात्, प्रेमानुभव से रहित व्यक्ति सदा अंधकार में भटकता रहता है।

"Only from love springs the profoundest insight."[1]

—Nietzsche.

अर्थात्, प्रेम से हमारे अन्तर्चक्षु खुल पड़ते हैं।

"Only through loving, one becomes one with the object."

—Hegel.

अर्थात्, प्रेम-व्यापार के द्वारा ही अभेद की स्थिति प्राप्त होती है।

"Ideas are born in the arms of a wise friend."

—Muller.

अर्थात्, भुज-बन्धन में बँधने पर ही कल्पनाओं के कल्ले फूटते हैं।

"It is not until lust is explanded and eradicated that it develops into the exquisite and enthralling flower of Love."[2]

—Havelock Ellis.

अर्थात्, तुच्छ वासना के रहते प्रेम का कमल नहीं खिल सकता।

---

1. Oswald Schwarz, '*The Psychology of Sex*', (1951), p. 104.
2. '*Psychology of Sex*', Vol., V., p. 133.

"Both popular and philosophic thought has recognized these deep foundations of love. Popular thought has given the same name to the effective tie that binds man and woman sexually, man and man in friendship, and parents and child in family relationships. A king's love for his people, a disciple's love for his teacher, an animal's love for its young and its master have all been included in the one category inspite of various differences."[१]

—Christopher Caudwell.

आशय यह है कि विभिन्न मानवों को और विभिन्न सामाजिक वर्गों सम्बन्धों और प्राणियों को एक सूत्र में बाँधने वाला एक प्रेम ही है। अनेक विभेदताओं के होते हुए भी मूल मे एक प्रेम ही है जिसकी नींव की गहराई, व्यवहार और दर्शन, इन दोनों क्षेत्रों मे स्वीकृत है।

"True love, like the sun, expands the self...Love means perception of beauty...A man who has never loved can never realise God; that is a fact."[२]

—Swami Ram Tirtha

अर्थात्, सच्चा प्रेम सूर्य की तरह आत्मा के प्रकाश को फैलाता है···प्रेम का अर्थ है वास्तविक सौंदर्य का दर्शन...यह सत्य है कि जिसने कभी प्रेम नही किया, उसे ईश्वर की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

"For love is the ultimate meaning of everything around us. It is not a mere sentiment; it is truth; it is the joy that is at the root of all creation. It is the white light of pure consciousness that emanates from Brahma...It is through the heightening of our consciousness into love, and extending it all over the world, that we can attain Brahma Vihara, communion with this infinite joy. He who has no love in him values the gifts of his lover only according to their usefulness. But utility is temporary and partial. It can never occupy our whole being; ..."[३]

—Tagore

आशय यह है कि प्रेम केवल एक भावना मात्र ही नहीं है। वह परमार्थ है, परम सत्य है, सृष्टि ही आनन्द-प्रेरणा है, ब्रह्म की शुभ्र ज्योति है, इसी के द्वारा हम

1. '*Studies in a Dying Culture*' (1949, London), p. 131-132.
2. '*Heart of Rama*', p. 130, 131, & 133.
3. Tagore : '*Sadhana*' (1947), p. 107.

ब्रह्म-विहार कर सकते हैं। केवल प्रेम-रहित व्यक्ति प्रेमोपहार पर भी हानि-लाभ या उपयोगिता के रूप में विचार करते हैं, किन्तु यह प्रेम नहीं है।

"To achieve this contact or communion (love) is the final aim and purpose of human existence"[१]

—Radhakrishanana

अर्थात्, प्रेम का अनुभव ही मानव जीवन का परमफल है।

"All things must die, but love alone eludes mortality. It overleaps the tombs, and bridges the chasm of death with generation. ...Our welath is a weariness, and our wisdom is a little light that chills; but love warms the heart with unspeakable solace, even more when it is given than when it Is received. All other things are futile; let us cherish it."[२]

Will Durant

आशय यह है कि प्रेम के अतिरिक्त इस संसार में सब कुछ नश्वर है। प्रेम यदि न हो तो धन-सम्पत्ति भार है और हमारा ज्ञान-ध्यान एक ऐसा प्रकाश है जो जीवन की जड़ता या अन्धकार को कुछ और बढ़ाता ही है, घटाता नहीं। सचमुच प्रेम ही वह मधुर ऊष्मा है जो हृदय को तर-गरम रखता है और अनिर्वचनीय तृप्ति व शांति प्रदान करता है। लेने में नहीं, देने में ही प्रेम का स्वाद है। सब कुछ बेकार है, बस प्रेम ही एक सार वस्तु है।

"The meaning of love speaking generally, is the justification and deliverance of individuality through sacrifice of egoism..."[3]

—Vladimir Solovyev.

अर्थात्, सामान्यतः प्रेम का अर्थ है अहंकार के त्याग द्वारा अपनी मुक्ति।

"It is better to have loved and lost
than never to have loved at all."

Tennyson

अर्थात्, कभी भी प्रेम न करने की अपेक्षा, प्रेम करके असफल रह जाना कही अधिक उत्तम है।

---

1. From preface to Dilip Kumar Roy's '*Among the Great*' (1950)
2. Will Durant : '*The Mansions of Philosophy*' (1929), p. 170-171.
3. Quoted from '*Psychology of Sex*' by Oswald Schwarz, p 98-99.

"Not to love is not to live or it is a living death."

—R. W. Twine.

अर्थात्, प्रेम न करने का अर्थ है जीवन का निषेध या बस जीवित मृत्यु ही।

उपरोक्त परिभाषाओं तथा विचारों में भारतीय व पाश्चात्य तत्वचिन्तकों की प्रेम सम्बन्धी धारणाओं का हमें कुछ अनुमान हो जाता है। इनमें प्रेम की दो मुख्य विचारधाराएं स्पष्ट लक्षित हो रही हैं—(१) आत्मपरक, व (२) वस्तुपरक वस्तुतः प्रेमचिंता में प्रायः यही व्यापक व मौलिक मतभेद मिलता है। हिन्दी के प्रेम काव्य का स्वरूप समझने के लिए इस मतभेद को समझना नितांत आवश्यक है जिससे कि हम जान सकें कि क्या वस्तुतः प्रेम आत्मपरक व वस्तुपरक जैसी कोटियों में विभक्त किया जा सकता है या ये दोनों पक्ष एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं जो बाहरी भेद रखते हुए भी मूल में एक ही वस्तु हैं। ऐसा होने के बाद ही प्रेम के विभिन्न रूपों को समझने का प्रयत्न किया जायेगा और उनमें प्रेम के उस शाश्वत रूप को ढूँढने का प्रयत्न किया जायेगा जो बाहरी विभिन्नताओं के रहते हुए भी सब रूपो में अपने को अनुस्यूत किए हुए है। इसके लिए सर्वप्रथम हमें प्रेम-भावना के मूलस्रोत का अनुसधान करना होगा। इस मूल रूप को समझने के लिए हमें सृष्टि के अनादि तत्व (ब्रह्मतत्व) से आरंभ करना होगा।

२. प्रेम का मूल स्वरूप

(समष्टि में जो ब्रह्म या व्यापक परमात्मा है, व्यष्टि में वही तत्व आत्मा रूप से प्रतिष्ठित है) तात्त्विक रूप से व्यक्ति की आत्मा में भी ब्रह्म या परमात्मा के सत्, चित् व आनन्द तीनों ही रूप प्रतिष्ठित हैं। जो व्यक्ति आत्मा का अनुभव या साक्षात्कार कर लेता है, वह वस्तुतः ब्रह्म या परमात्मा का ही साक्षात्कार करता है। सत्, चित् व आनन्द, ब्रह्म के ये तीनों स्वरूप, अलग अलग विभाजित किए हुए खंड या अंश नहीं हैं, बल्कि तीनों ही मिलकर एक है। वास्तव में कोई रूप एक दूसरे से पूर्ण पृथक् करके कदापि नहीं देखा जा सकता। जो सत् है वह अनिवार्यतः चित् है और जो चित् है वह आनन्द है।[1] ब्रह्म में या आत्मा में ये

---

१. यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो 'सत्' है उसके 'चित्' होने की और जो 'चित्' है उसके 'आनन्द' होने की शर्त अनिवार्य नहीं—प्रकृति (जड़) सत् तो है किन्तु वह 'चित्' नहीं और गतिशील चेतन व्यक्ति में 'चित्' है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उसमें आनन्द भी हो। बात ठीक ही है। आत्मा की सत्ता के स्पर्श से ही 'सत्' 'चित्' हो सकता है और 'चित्' आनन्द। कवियों या भक्तों आदि का जड़ प्रकृति में आत्मा (चैतन्य) का प्रसार देखना तथा स्वामी विवेकानन्द तथा रामतीर्थ जैसे चिरचेतन सक्रिय पुरुषों का निरन्तर आनन्द में लीन रहना प्रसिद्ध ही है। प्रकृति

तीनों ही पूर्ण सम मात्रा में व सामंजस्य के साथ शाश्वत रूप में विद्यमान है। भिन्न-भिन्न तो उनको हम केवल व्यावहारिक विषय-ज्ञान या शास्त्रीय विवेचना के लिए ही करके देखते हैं या दिखाते हैं। वस्तुत: ये तीनों रूप मिलकर ही, एक होकर ही, उस पूर्णता की भावना कराते हैं। जैसे मक्खन की कोमलता, चिकनापन, निर्मलता, धवलता और पिंड सब मिलकर ही मक्खन कहलाता है, कोई एक गुण ही नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म भी सत्, चित् व आनन्द तीनों की समष्टि है। जो ब्रह्म के एक भी स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, वह वास्तव में सब स्वरूपों का साक्षात्कार करता है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो समझो कि उसने उस पूर्ण स्वरूप का संश्लिष्ट और मार्मिक साक्षात्कार नही किया। जो सच्चा भक्त है वह सच्चा ज्ञानी है जो सच्चा ज्ञानी है वह पूर्ण भक्त है, और जो सच्चा कर्म योगी है वही सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त है।

यद्यपि उपरोक्त तीनों ही स्वरूप अनुभूयमान हैं तथापि अनुभव और शास्त्र यह बताता है कि ब्रह्म का आनन्द स्वरूप ही सहज-गम्य है।[1] इस स्वरूप के साक्षात्कार के लिए आत्मा को निर्गुण से उतर कर सगुण रूप मे आना पड़ता है।[2] आत्मा निर्गुण और सगुण दोनों है।[3] अपने निर्गुण स्वरूप में वह जीव-देह की उपाधि अज्ञान व ईश्वर की उपाधि माया, प्रकृति के शुद्ध (विशुद्ध सत्व) और अशुद्ध (सत्व, रज, व तम) गुणों, देश-काल, कार्यकारण, भाव, ज्ञान व द्वन्दों आदि के परे पूर्ण निरुपाधि, प्रकाशवान् व पूर्ण सत्ता है जो तटस्थ, मौन, एकरस, अचिंत्य, अरूप व अनाम होकर अपनी समस्त शक्तियों को समेटे व्यक्ति मे लीन रहती है। उसका सगुण रूप चित्त व देह के माध्यम से प्रकाशित होता है। प्रेम की अनुभूति से ही आत्मा का उन्मीलन होता है और आनन्द कला छिटकती है। निर्मल प्रेम की अनुभूति एक ऐसी व्यापक, विराट्, व शक्तिशाली अनुभूति है कि उससे अन्त:करण में स्थित

अपने आप में जड़ ही है अत: आत्मा के स्पर्श के अभाव मे 'सत्', 'चित्' नहीं हो सकता, यह स्पष्ट ही है। कोई व्यक्ति दिन भर स्वार्थ-हेतु सक्रिय बना रहे तो वह न तो आनन्द की स्थिति में ही है और न समझा ही जा सकता है। वस्तुत: आत्म-तत्व के आलोक मे ही ये भेद पूरी तरह मिटते है, अन्यथा नहीं।

१. नारद भक्ति सूत्र, ५८।

२. हंस : शुचिषद् वसुरन्तिरिक्षसद्धौता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥
—कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली २, मंत्र २।

३. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय ४, मंत्र ६।

आत्मा का तत्काल अनुभव होता है, जीवन व प्रकृति का सम्पूर्ण रहस्य तत्काल समझ में आ जाता है और यह अनुभव होता है कि चराचर जगत् के समस्त पदार्थ एक ही दिव्य सत्ता में 'सूत्रे मणिगणा इव'[1] पिरोये हुए हैं। इस अनुभूति के पूर्व सब कुछ निर्जीव, आनदरहित व जड़ है और इस अनुभूति के होते ही सब कुछ दिव्य, प्रफुल्लित, आलोकमय, जागृत और सद्य। इस अनुभूति से ही प्राणी प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होता है,[2] और पवित्र होकर, देह और चित्त से ऊपर उठकर, अपनी आत्मा के आनन्दमय स्वरूप में लीन हो जाता है।[3]

प्रेम की ऐसी उदात्त अनुभूति के स्वरूप का पूर्ण संतोषजनक विश्लेषण इसी आत्मतत्व को आधार बना कर किया जा सकता है, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं।[4] विश्लेषण की अन्य पद्धतियाँ ऊपर ही ऊपर तैरती रह जायेंगी; अतल गहराइयो में उतर कर प्रेम की वास्तविक सत्ता का मर्मोद्घाटन नहीं कर पायेगी। स्थूल दृष्टि से यह ठीक है कि प्रेम की वृत्ति का उदय व विकास चित्तभूमि पर (प्रकृति में) ही होता है, वह प्रकृति का ही धर्म लगता है, तथा इन्द्रियों के माध्यम से प्रकाशित होता जान पड़ता है, किन्तु उसकी गति-विधि यहीं तक समझ लेना बालक के पाठशाला तक न जा कर रास्ते से ही पतंग उड़ा कर लौट आने के समान है। वास्तविक बात यह है कि स्थूलतः चित्त व इन्द्रियों से अभिव्यक्त होते हुए भी प्रेम-भावना का मूल उद्गम हमारी आत्मा ही है। आत्मा की प्रेरणा के बिना कोई

---

१. गीता, अध्याय ७, श्लोक ७।

२. नारदभक्तिसूत्र, सूत्र ४६, ४७ व ५०।

३. नारदभक्तिसूत्र, सूत्र ६०, ६८ व ७१।

४. "आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट है": कठोपनिषद्, १, ३, १०; गीता ३।४२; तथा, "आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।"—शांकरभाष्य, २।३।७.

"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्तीति प्रतीयात्।" —ब्रह्मसूत्र, १।१।१ पर शांकरभाष्य।

—पं० बलदेव उपाध्याय-कृत 'भारतीय दर्शन' के पृष्ठ ४१५–४१६ से उद्धृत।

"स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्म नस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।" —बृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।४.

भी आनन्दात्मक इन्द्रिय-व्यापार नहीं हो सकता।[१] वही से इस अनुभूति को आलोक का चैतन्यपूर्ण व दिव्य स्पर्श प्राप्त होता है। आत्मा के सम्बन्ध से रहित करके प्रेम जैसी सूक्ष्म व उदात्त वृत्ति को समझने का सारा प्रयास अधूरा ही नहीं, निःसार भी है। प्रेम का सारसत्व आत्मिकदृष्टिशील होकर ही ग्रहण किया जा सकता है। स्वय वात्स्यायन ने भी अपने कामसूत्र में इस अमर तत्व आत्मा को ही प्रमुख स्थान दिया है।[२] फिर भी स्पष्टता के लिए प्रेम का विवेचन दो आधारों से किया जा सकता है—

१. आत्मा की दृष्टि से, जिसके अनुसार प्रेम शाश्वत (नित्य) आत्मा का शाश्वत धर्म है।[3]

२. देह व चित्त की दृष्टि से, जिसके अनुसार प्रेम केवल चित्त या प्रकृति का ही धर्म है[४] और जो परिवर्तन को प्राप्त करके अस्थिर और अनेक रूप वाला होता रहता है।

इनमें से प्रथम आधार ही स्वस्थ व पुष्ट आधार है क्योंकि, जैसा कि आगे चल कर विदित होगा, आत्मा के आधार पर की हुई प्रेम की आध्यात्मिक व्याख्या ही पूण और सतोषजनक है। आत्मिक आधार में चित्त व देह के समस्त क्रियाकलाप समाहित हो जाते है, जबकि चित्त व देह के आधार पर प्रस्तुत व्याख्या मे आत्मतत्व अछूता रह जाता है। अतः ऐसी व्याख्या अधूरी है और सहृदय तत्व चिंतकों के हृदय व बुद्धि को पूर्ण ग्राह्य नहीं हो सकती।

---

१. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुःषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

—केनोपनिषद्, मंत्र ५, ६, तथा ७।

2; "And lastly, Kama," the enjoyment of appropriate objects by the five senses of hearing, seeing, tasting, feeling and smelling assisted by the mind together with the soul.

'Kamsutra of Vatsyayana'—an article by S. T. Alexander in the 'Illustrated Weekly of India', (dated, April 25, 1954), P. 33.

3. "Love is a condition of the Soul."—Plato : *Phaedrus*, P. 5. (Also, Plato's *'Symposium'*, P. 88—89)

4. "Love must be implicit in matter."
—Christopher Caudwell : *'Studies in a Dying Culture'* (P. 131.)

ऊपर कहा जा चुका है कि निराकार रूप में आत्मा अपने में सब शक्तियाँ समेटे हुए है। आत्मा का धर्म प्रेम या आनन्द अपने मूल स्थान आत्मा में ही शाश्वत रूप में विद्यमान है, किन्तु उसका प्रकाशन आत्मा के सगुण होने पर चित्त व इन्द्रियों के माध्यम से ही सम्भव होता है। हमारी आत्मा आलोकवान् सूर्य पिंड के सदृश है। वह प्रकाश व शक्ति का पुंज है और समस्त अन्तर्बाह्य जीवन को प्रकाश दान करने वाला अथवा आलोकित रखने वाला केन्द्र है। अतः आत्मा धर्म रूप भी है और धर्मी रूप भी। (जब तक आत्मा अपना प्रकाश चित्त व इन्द्रियों के माध्यम से विकीर्ण नहीं करती, तब तक वह अपने निराकार रूप में ही कही जाती है, और ज्योंही प्रकृति की सहायता से वह अपना प्रकाश विकीर्ण करने लग जाती है, उसके सगुण रूप का उन्मीलन हो जाता है। निर्गुण रूप में प्रेम और आत्मा दोनो एक ही बात है, दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। इसी उच्च अवस्था के प्रेम को सूचित करने के लिए कहा जाता है—"Love is God, and God is Love."। [1])

किन्तु इस निर्गुण अवस्था में तो प्रकाश के विकीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब प्रेम-रूप धर्म का प्रकाशन बाहर चित्त व देह के माध्यम से होने लगता है तभी प्रेम की प्रकाश-किरणें फूटने लगती हैं। इसे और अच्छी तरह स्पष्ट करने के लिए हम यों कह सकते हैं। विद्युत्-शक्ति-केन्द्र से सारे नगर को प्रकाश मिलता है। प्रकाश का मिलना न मिलना उसी पर निर्भर है। इसी प्रकार जब आत्मा निर्गुण रूप मे रहती है तब तो उसी निष्क्रियता के कारण प्रेम की विद्युत्-धारा या प्रकाश का प्रवाह सम्भव नहीं होता, किन्तु जब आत्मा रूपी केन्द्र सक्रिय होकर प्रकाश खोल देता है तो सारा अन्त.करण जगमगा उठेगा। आत्मा का यह प्रकाश सबसे पहले चित्त रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होगा और वहां से उस प्रेम की प्रकाश किरणे बाहर इन्द्रियों व प्रकृति में फैल जायेंगी। ऐसी अवस्था में प्रकृति बन्धन का कारण नहीं, प्रत्युत् मुक्ति का आनन्द देने वाली हो जायगी। यहाँ हम चित्त को समस्त अन्तःकरण के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं जिसमें मन बुद्धि और अहंकार आदि सभी का समावेश है। यह चित्त अपने मूल रूप में एक बहुत विशाल व उज्ज्वल दर्पण है। यह जितना ही स्वच्छ होगा, आत्मा का प्रेम-प्रकाश उतना ही उज्ज्वल होकर आगे इन्द्रियों की ओर अपनी किरणें फेंकेगा। यदि चित्त उज्ज्वल नहीं है तो उज्ज्वलतम आत्मा का आलोक भी भली-भांति प्रकाशित नही होगा।[2] बाहर सूर्य

१. विशेष देखिए, Christopher Caudwell. '*Studies in A Dying Culture*', *p. 132*

२. यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥
—कठोपनिषद्, २।३।५.

चमक रहा है। हम ऐसे कमरे में बैठे हैं जिसकी खिड़कियों के लाल, हरे, नीले, पीले, शीशे लगे हैं। जैसे शीशे होंगे वैसा ही प्रकाश छनकर आयेगा। उसी प्रकार हमारे चित्त जैसे होंगे वैसा ही प्रकाश हम ग्रहण करेंगे। इसमें सूर्यरूप आत्मा का कोई दोष नहीं। वह तो शीशो के पार या बादलों में, जहाँ भी हो, पूर्ण उज्ज्वल व प्रकाशवान् है।[1]

(यदि प्रकाश अपने मूल रूप में आया तो प्रेम है अन्यथा वह प्रेम से इतर काम आदि कोई मनोविकार होगा।) काम और प्रेम में बहुत अन्तर है। प्रेम का निवास पूर्णतः शुद्ध चित्त में ही होता है और काम का निवास अशुद्ध चित्त में।) अशुद्ध काम लोहे के समान है और शुद्ध प्रेम निर्मल व प्रकाशवान् सुवर्ण के समान। काम स्वार्थभाव मूलक है और प्रेम औरों को निस्वार्थ सुख पहुँचाकर तृप्त होता है।[2] चित्त यदि निःस्वार्थ है तो प्रेम है किन्तु यदि देह या इन्द्रियों के साथ उसका सम्पर्क सीमातीत हो गया तो वह हल्का पड़ जाता है। पर यह भी निश्चित है कि वह इन्द्रियों के द्वारा प्रकाशित भी होगा ही, अन्यथा न तो वह काम कहा जायगा न प्रेम। उपनिषदों में काम सृष्टि-निर्माण की प्रेरिका शक्ति के व्यापक और परिष्कृत अर्थ में ही आया है। वह काम आनन्द भावना से समन्वित है, अतः श्रेयस्कर है।[3]

---

१. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु.खेन बाह्यः॥
कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली २, मंत्र ११।

२. आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा, तार नाम काम। कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम-नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल। कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
आत्म-सुख-दुख गोपी ना करे विचार। कृष्णसुखहेतु करे सब व्यवहार॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म कर्म। लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म॥
सर्वत्याग करये करे कृष्णेर भजन। कृष्णसुखहेतु करे प्रेमेर सेवन॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग। स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कौन दाग॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर। काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपीगणे नाहि कामगंध। कृष्णसुख हेतु मात्र कृष्णेर सम्बन्ध॥
श्री चैतन्यचरितामृत (प्रेमदर्शन, पृष्ठ ५५, गीता प्रेस, गोरखपुर)

३. तद्वा अस्यैतदतिच्छंदा अपहतपाप्माभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्॥
—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।३।२१.

(शेष अगले पृष्ठ पर देखिए)

चित्त और देह का घनिष्टतम सम्बन्ध है। देह की सारी गति-विधि का नियन्त्रण चित्त वृत्तियों के ही हाथ है। आत्मा और देह के बीच चित्त ग्रन्थि-स्वरूप है। वह उन दोनों का योजक भी है और विभाजक भी। चित्त पर उतरा हुआ आत्म-प्रकाश आगे बढ़ कर इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त होगा। यह तभी होगा जब इन्द्रियाँ चित्तानुरूप आचरण करेंगी। यदि चित्त देह के साथ अपना तादात्म्य शिथिल कर चुका हो तो यह प्रकाशन सम्भव न होगा। और वह प्रकाश चित्त में ही टिका रहेगा तथा तत्काल आत्मा मे ही लौट जायेगा क्योंकि बिना धारण किये उसकी बहिर्गति नही। यदि चित्त नही रहेगा तो देह भी नहीं रहेगी। (हा, विक्षिप्तावस्था में वृत्तियों के विपर्यय से स्थिति कुछ और ही होगी जिसका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से ही है। देह के अक्षुण्ण रहते हुए भी चित्त की कृतकार्यता नही रहती।) केवल आत्मा से तो काम चलेगा नही। योगी जब चित्त वृत्तियों का निरोध करके योग में लीन रहता है तब भी प्रकाश उसके चित्त में प्रकाशित रहता है। सविकल्प अवस्था में चित्त को आलोकित करके वह चित्त से अभिन्न होकर रहता है, वाहर इन्द्रियों के माध्यम से प्रकाशित नही होता। समाधि की सविकल्प अवस्था भी अज्ञान रूप ही कही गई है क्यो कि इस (उच्च अवस्था) मे भी पुरुष प्रकृति के बधनों से सर्वथा मुक्त नही कहा जाता है।[1] उसमें पुरुष और प्रकृति अभी अभिन्न या मिले हुए से रहते हैं। इस ग्रन्थि को खोल देने का ही नाम है निर्विकल्प समाधि, निर्बीज समाधि, या कैवल्य। उस समय प्रकाश चित्त को छोड़ देता है और लौटकर आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। उधर चित्त भी प्रकाश से अलग होकर मूल प्रकृति में लीन हो जाता है और यही कैवल्य या मोक्ष है।[2]

यहाँ तक तो हुआ आत्मा को ही मूल आधार मान कर प्रेम-तत्त्व का विवेचन। अब चित्त व इन्द्रियों के आधार पर प्रेम-तत्त्व पर विचार किया जाये। ऊपर कहा जा चुका है कि आत्मा स्वरूपतः निर्गुण ही है, सगुण नहीं। अतः आत्मा की निष्क्रियता को ध्यान में रखते हुए यह तर्क भी माना जा सकता है और मानना पड़ेगा कि प्रेम चित्त का गुण है, क्योकि वह चित्त के ही द्वारा देह के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। बहुत से लोग आत्म-तत्व जैसी वस्तु में विश्वास करते भी नहीं किन्तु, प्रेम में उनकी भी आस्था दिखाई देती है। (भगवान् बुद्ध को ही लीजिए।

तथा, कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथम यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, १०।१२९।४

१. पातंजल योगसूत्र, समाधिपाद, ४६।

२. पातंजल योगसूत्र, कैवल्यपाद, ३२, ३४।

वे पुनर्जन्म को मानते है, ईश्वर को नहीं। फिर भी वे अनन्त प्रेम व करुणा के समुद्र हैं।) किन्तु इन सब तर्कों के बावजूद भी यह नही समझा जा सकता कि प्रेम, आत्मा से सर्वथा निरपेक्ष चित्त का ही गुण है। यहा भी यद्यपि कार्य चित्त ही कर रहा है किन्तु आत्मा से ही प्रकाश पाकर या आत्मा के ही तत्वाधान में।[1] आत्मा मानो तटस्थ साक्षीरूप है और चित्त सक्रिय है। इसे उपनिषद् में आये परमात्मा और आत्मा रूपी एक पेड़ के दो पक्षियों के पारस्परिक सम्बन्ध की तरह समझिये, जिनमें से एक (परमात्मा) तो साक्षी रूप में सब कुछ देखता रहता है और दूसरा (जीवात्मा) प्रारब्धानुसार सुख-दुःखरूप कर्मफल को भोगता रहता है। दोनो ही अवस्थाओं में प्रेम का प्रकाशन चित्त या देह के ही द्वारा होगा, इसमें संदेह नही। तो केवल इस अर्थ से प्रेम चित्त का ही धर्म हुआ। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि देह से सम्बद्ध होकर ही चित्त वृत्तियों को उपजाता है और चित्त से सम्बद्ध देह ही उन वृत्तियों के अनुरूप आचरण करता है। (तात्पर्य यह है कि देह-सम्बन्ध बिना किसी भी वृत्ति का उदय नही होगा। हमारे चित्त में प्रेम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि नाना प्रकार की चित्त वृत्तियों का आविर्भाव और विकास मूल में देह होने पर ही तो सम्भव है।) यदि देह नही तो न तो चित्त वृत्तियों के उदय का ही प्रश्न उठता है और न उनके लौटने का। देहात्मबोध में ही लौटने का प्रश्न उठता है।

यदि मान भी लिया जाय कि प्रेमवृत्ति का बीजारोपण आत्मा से सर्वथा स्वतन्त्र रह कर चित्त-भूमि में ही होगा, किंतु फिर भी यह मानना होगा कि उसके पोषण तथा विकास को काम आत्मा के द्वारा उसी प्रकार होगा जिस प्रकार भूमि (चित्त) में बोये गये बीज (प्रेमवृत्ति) का पोषण व विकास धरती के रस, जल, प्रकाश, व पवन (आत्मा) करते हैं। कोरी भूमि (चित्त) ही क्या कर लेगी ? ठीक है कि बीज लगेगा तो धरती (चित्त) में ही, पर अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित व फलित होगा दिव्य तत्त्वों (आत्मा) से। भूमि तो निमित्त मात्र है। तत्वों की सहायता बीज को अंकुरित करके विकास करने की शक्ति देना मात्र है, बीज का रूप या गुण बदलना नही—आम के बीज को नीम बनाना नहीं, प्रेमवृत्ति को क्रोध या करुणा बनाना नहीं। चित्त में प्रेम रूपी धर्म हो तभी विकास सम्भव है, नहीं तो विकास होगा ही क्या और किसका ? बस केवल इस दृष्टि से प्रेम आत्मा का धर्म नहीं, चित्त का ही (अथवा सगुण आत्मा का ही) गुण ठहरता है। आत्मा तो विकास में सहायक भर होती है।

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय ४, मंत्र ६।

निश्चय ही यह विकास आत्मा के सम्बन्ध से ही सम्भव हुआ अन्यथा बीज धरती में ही सड़ गल जाता। अतः प्रेम के पूर्ण विकास के लिए आत्मा व देह, सभी की पूरी-पूरी आवश्यकता है। आत्मा रूपी प्रकाश, जल, पवन, आदि के बिना प्रेम-बीज का पल्लवन व विकास नितान्त असम्भव है। इसी अर्थ मे इन्द्रियाँ प्रेमाभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम मानी जा सकती है। आत्मा बीज का भी बीज है। जब पौधा तैयार हो गया, और फल काम मे आ चुके, तो वे तत्व जो वहां क्रियाशील थे, सब के सब पुनः अपने मूल स्थान आत्मा को ही लौट जायेगे। तात्पर्य यह कि आत्मतत्व प्रेम विकास में सहायक होकर पुनः आत्मा मे ही लौट जाता है।[१] आत्मा प्रेम-प्रकाशन के लिए चित्त भूमि पर उतरती है। योगी चित्त वृत्तियों का निरोध करके देह को भुला देता है अतः उसे भावों या चित्त-वृत्तियों से विचलित होने की आवश्यकता नहीं। देह जब पूर्णतः निवृत्त हो तो वह वृत्ति नहीं रहेगी—जैसे, ईन्धन के जल चुकने पर अग्नि स्वतः शात होकर अपने तत्त्व में लीन हो जायगी।[२] इसी प्रकार प्रेम का विकास देह में ही होगा। प्रेम की साधना करते करते चित्त और देह दोनों ही नहीं भी रह सकते है। जब देह गयी तो चित्त भी गया और चित गया तो देह भी गई। चाहे दोनों चले गए कितु प्रेम की महान् अनुभूति तो हो ही चुकी।[३] इस अवस्था में अब प्रेम अत्यन्त उच्च, निर्मल व पवित्र वस्तु रह गई। केवल देह में तो भोगभाव ही था; परिष्कृत चित्त से युक्त देह ही स्वस्थ व निर्मल प्रेम का अनुभव कर सकती थी। उज्जवल चित्त में अत्यन्त उज्जवल प्रकाश था। चित्त में व देह में दोनों में ही आत्मा की क्रिया थी। सब कुछ कार्य करके प्रेम पुनः अपने मूल स्थान आत्मा या परमात्मा में ही लौट आयेगा। अग्नि काष्ठ में थी। वह जलाई गई तो जल गई। जलाई नहीं गई तो भीतर ही थी। जलाने के बाद अग्नि पुनः अपने तत्त्व में लीन हो गई। काष्ठ समाप्त हो गया। अग्नि अमर थी। उसने काष्ठ को जला दिया; स्वयं समाप्त नहीं हुई। वह तो अपने

---

१. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
मुण्डकोपनिषद् ३।८

२. गीता, ४।३७; पातंजल योगसूत्र, ४।३४
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् : आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।
—तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली ३, अनुवाक ६।

३. "To achieve this contact or communion is the final aim and purpose of human existence."—Dr. S. Radhakrishanana : From Preface to Dilip Kumar Roy's "*Among the Great*" (1950)

तत्त्व में समाहित है। इसी प्रकार प्रेम रूपी अमर अग्नि आत्मा से उत्पन्न होकर काष्ठ के समान जड़ क्षणभंगुर देह को समाप्त करके स्वयं पुनः अविकृत रूप में आत्मतत्त्व को ही लौट जाती है। (अतः प्रेम का प्रकाशन चित्त या देह के द्वारा ही सम्भव हो सकता है—यद्यपि वह अपने आदि रूप में आत्मा में ही निवास करता है। अतः सिद्ध है कि प्रेम आत्मा की ही वस्तु है और वह शाश्वत आत्मा का शाश्वत धर्म ही है। प्रेम ही जीवन का सारभूत पदार्थ है।)

(इस प्रकार आत्मा, चित्त और देह—तीनों ही प्रेमानुभूति में सहायक हुए हैं आत्मा ही मुख्य है इसलिए चित्त और देह—इनमें से किसी को भी प्रेम का एकमात्र धर्मी नही कहा जा सकता। वस्तुतः प्रेम का मूलस्रोत और आदि उद्गम-स्थल तो निःसंग और निर्लेप आत्मा ही है, किन्तु उसकी प्रकृत संचरण भूमि चित्त ही है। प्रेम-प्लावित चित्त का आन्दोलन ही सात्विक अथवा कायिक अनुभावों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार चित्त का कार्य दुहरा है। वह आत्मा से प्रेम रस का दोहन कर देह को संचालित करता है, और इस प्रकार प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति द्वारा ही सात्त्विक आनन्द प्राप्त करता है, जिसे प्रेमानन्द कहना चाहिए।

ऐसी दशा में तीनो (आत्मा, चित्त और देह) की भूमिका (role) परस्पर सम्पृक्त होते हुए भी मोटे तौर पर पृथक्-पृथक् भी स्पष्ट ही है, अतः प्रेम को कभी चित्त का धर्म बताना और आत्मा को सहायक भर कहना, तथा कभी आत्मा को ही प्रेम का शाश्वत धर्मी मानना, विरोध उत्पन्न करते से दिखाई देते हैं। अतः सामान्य रूप से समन्वयात्मक दृष्टि ही वांछनीय है, और पृथक्-पृथक् विवेचन के लिए आत्मा को प्रेम का मूलस्रोत, चित्त को संचरण भूमि तथा देह को प्रेम प्रकाशन का प्रकृत माध्यम मानना ही उचित है, क्योंकि निस्संदेह व्यावहारिक और तात्विक दोनों ही दृष्टियों से चित्त और देह का आत्मा से कम महत्व नहीं।

पर अब एक प्रश्न उठता है। चित्त में तो प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध आदि अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं। फिर उन वृत्तियों को परस्पर भिन्न करके हम कैसे देखें और कहें कि यह तो प्रेम है, यह द्वेष और यह घृणा आदि। अर्थात्, वह कौन सा लक्षण है जिसके द्वारा हम वृत्ति को प्रेमवृत्ति के रूप में पहचान सकें और उसे अन्य वृत्तियों से स्वतन्त्र करके समझ सकें। प्रेम का परिचय क्या है? इसका उत्तर यह है कि प्रेम, क्षमा, क्रोध आदि सब मलतः चित्त की वृत्तियां तो है, किन्तु स्वरूप में सब एक दूसरे से नितांत भिन्न है। एक ही मिट्टी से घड़ा, सुराही, दीपक आदि सब बनते हैं। आकार सब का भिन्न भिन्न है किन्तु उनका उपादान कारण मिट्टी एक ही है। GOD व DOG, इन दोनों शब्दों में एक ही वर्णमाला के अक्षर हैं किन्तु दोनों नितांत भिन्न हैं। यही बात प्रेम व अन्य चित्तवृत्तियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। तात्पर्य यह

कि प्रेम सब वृत्तियों से एक स्वतन्त्र वृत्ति है और उसके कुछ निजी लक्षण या मौलिक गुण हैं (इसी प्रकरण में आगे देखिए)। इतना ही नही, प्रेम-वृत्ति सभी चित्तवृत्तियों के मूल में है (यों मूलवृत्ति इच्छा है जो विशिष्ट होकर प्रम-वृत्ति कहलाती है) और अत्यन्त गहरी है, तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रायः सभी चित्तवृत्तियो का स्वरूप-निर्धारण व नियमन-संचालन करने वाली है। अधिक स्पष्टता के लिए हमें चित्त का इस सम्बन्ध में कुछ और विश्लेषण करना होगा। हमारे चित्त में तीन प्रकार की वृत्तियाँ है :—

(१. इच्छा, (Feeling), २. ज्ञान (Knowing) व ३. क्रिया या संकल्पवृत्ति (Willing)—इन तीनों में से प्रेम का सम्बन्ध 'इच्छा' वृत्ति केन्द्र से है।) पर इच्छा करना मात्र ही प्रेम नहीं है। वह 'काम' भी हो सकता है और 'प्रेम' भी। (जब हम एक विशिष्ट इच्छा करते है तभी प्रेम कहलाता है। यह विशिष्ट इच्छा क्या है? किसी को चाहना और शुद्ध आनन्द के लिए चाहना। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमको आनन्द मिले और दूसरे को भी सुख मिले, यही प्रेम की मूलभूत भावना है। क्या चाहें?—आनन्द। किस से चाहें?—व्यक्ति से, वस्तु से, विचार से, या आत्मा से। चाहते हम अवश्य है। यदि इस या ऐसे चाहने से हमें यह विशिष्ट आनन्द मिलता है, तो प्रेम है, अन्यथा काम।) यह आनन्द पूर्णता की दृष्टि से, हम चक्षु से, श्रोत्र से व मन से सभी से चाहते हैं।[1]

इस प्रकार 'प्रेम' में चित्त की तीनों वृत्तियों का सुखद सयोग होता है। प्रेम मूलतः इच्छा होता है जो ज्ञान का निर्देशन या नियन्त्रण पाकर विशिष्ट या संयत रूप ग्रहण करता है। बिना ज्ञान के इच्छा अन्धी है और बिना इच्छा के ज्ञान पगु, और क्रिया के बिना दोनों निष्क्रिय। इच्छा गति देती है, ज्ञान उसको उचित दिशा-निर्देश करता है और क्रिया दोनो के समन्वयात्मक स्वरूप—प्रेम—को अभिव्यक्त करती है अथवा दोनों क्रिया के माध्यम से अभिव्यक्ति का मार्ग खोजते है।

प्रम की भावना के पूर्ण स्पष्टीकरण व विकास के लिए दो की कल्पना करनी ही पड़ती है : भक्त-भगवान, माता-पुत्र, मातृभूमि-देशभक्त, प्रेमी-प्रेमिका, मित्र-मित्र आदि की—क्योंकि दो के सम्बन्ध के बिना प्रेम-वृत्ति के प्रकाशन की गुजायश ही नहीं।[2] पर, प्रेम प्रायः मानवीय सम्बन्धों में ही अपने आपको अधिक प्रकट या

---

१. **ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

—उपनिषद्, शान्तिपाठ।

२. "Are they not first that love exists only in relation to some object, and second that that object must be something of which he is at present in want?" —Plato : '*Symposium*', *Page 77-78.*

चरितार्थ करता है। वय-सम्बन्ध से प्रेम की तीन स्पष्ट कोटियाँ स्थापित हो सकती है :—[1]

१. छोटे की बड़े के प्रति प्रीति : अर्थात्, श्रद्धा (देवता, ऋषि-मुनि, गुरु, नेता व अन्य पूज्य व्यक्ति के प्रति)।

२. दो समवयस्कों की प्रीति : अर्थात्, सख्य या मैत्री, (मित्रों का या प्रेमी-प्रेमिका का पारस्परिक प्रेम) जिसमें 'प्रणय' भी सम्मिलित है।

३. छोटे से बड़े की प्रीति : वात्सल्य (अपने या पराये पुत्र, कोई बालक या अन्य स्नेहपात्र के प्रति प्रीति)।

इन तीनों कोटियों में बीच की कोटि का प्रेम (प्रेमी-प्रेमिका का सख्य-प्रेम अथवा प्रणय) सबसे अधिक गम्भीर, व्यापक व शक्तिशाली कहा जाता है[2] क्योंकि जहा प्रथम कोटि की प्रीति में पूज्यभाव होने तथा तृतीय में वात्सल्य भाव होने से दोनों में लज्जा, संकोच आदि का पूर्ण तादात्म्य की अनुभूति में विक्षेप या व्यवधान होता है वहां बीच की कोटि में दैहिक, मानसिक व आत्मिक सम्बन्धों का सहज और पूर्ण विकास सम्भव माना जाता है।[3] संभवतः इसीलिए काव्य में रसानुभूति के लिए आचार्यों ने इसी प्रकार के प्रेम को शृंगार रसोपयुक्त ठहरा कर अन्य सब प्रकार के प्रेम को भाव मात्र ही माना।

ईश्वर का प्रेम इन सब प्रकार के प्रेमों का चरम विकास कहा जाता है। माधुर्यभाव, सेव्य-सेवक-भाव, सख्यभाव, व वात्सल्य भाव, ये चार (पाँचवां 'शांत-भाव' इन चारो में निहित है) उपासना के मार्ग है। इनमें से किसी भी भाव के अनुसार उपासना करने पर ईश्वर का साक्षात्कार होना कहा जाता है। पर ईश्वर-प्रेम भी उसी हृदय से होता है जिससे हम दिन रात प्रेमानुभव करते है। दूसरे, यह प्रेम मानव के बीच के प्रेम का ही अत्यन्त उज्ज्वल व विकसित रूप है।

हाँ, तो उपरोक्त आनन्द का विश्लेषण दो प्रकार से किया जा सकता है :—

१. हम आंख, कान, नाक, मुह, त्वचा आदि से केवल अपना ही आनन्द चाहें, और जिस से हम यह आनन्द चाहें उसके आनन्द की तनिक भी चिंता न करें;

२. हम अपना आनन्द बिल्कुल भी न चाहें। हमारा प्रिय पूर्ण सुख व आनन्द में रहे, यही हमारी एकमात्र व प्रिय कामना हो। और इस आनन्द की प्राप्ति के लिए हम सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हों।

---

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी : 'हिन्दी काव्यधारा मे प्रेमप्रवाह,' पृ० ६।

२. पं० परशुराम चतुर्वेदी : हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह, पृ० ६।

३. विशेष देखिये, आगे पृ० ५३-५७ (प्रणय का विवेचन)।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पहले प्रकार का आनन्द निकृष्ट आनन्द है। वह स्थूल भोगवाद, मांसाचार व इन्द्रियपरायणता है। केवल अपने सुख के लिए—शुद्ध स्वार्थ-साधन के लिए—प्रेम करना आत्म चैतन्य-ज्योति से शून्य जड़ता है। 'तुम मेरे हो' यह कोरी शासनपूर्ण अधिकार भावना प्रेम का निर्मल स्वरूप कभी भी प्रस्तुत नहीं करती। हां, यदि प्रिय को पूर्ण सुख पहुँचाने के लिए प्रिय के प्रति 'तुम मेरे हो' (तुम पर मेरा अधिकार है) यह निःस्वार्थ भाव से कहीं व्यक्त होता हो तो वहाँ 'चन्द्रावली' वाला उच्च कोटि का पवित्र प्रेम प्रकट होगा, और इन शब्दों की आत्मा ही बदल जायेगी।

दूसरे प्रकार का प्रेम अत्यन्त उदात्त व निर्मल है। इसमें प्रेमी एक मात्र प्रिय का सुख चाहता है—चाहे तन, मन, धन सर्वस्व लुट जाये। प्रिय को आनन्द होना ही चाहिये। इस प्रेम में प्रिय का उठना, बैठना, चलना, हँसना, बोलना, आदि सब कुछ सुन्दर लगता है। इस प्रेम का सूत्र है : 'मैं तुम्हारा हूँ।' इसमें सर्वस्व त्याग, उत्सर्ग व समर्पण की ध्वनि है।[1] इसमें प्रेमी का सारा आनन्द केवल इस भावना में निहित है कि मै प्रिय को प्राणों से प्रेम करता हूँ, वह मुझे चाहे या न चाहे।[2] यदि

---

१. विशेष देखिये, तुलसीदास की दोहावली मे चातक चौतीसी के दोहे; और भी,

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरसु एतनहिं माहीं॥

—रामचरितमानस, सुन्दरकांड

२. श्रीमद्भागवत, १०।३२।१६–२२ तथा १०।३३।१६।

इस प्रसंग पर हमने काशी मे श्रद्धेय पं० गोपीनाथ कविराज जी से अपनी कुछ विनम्र जिज्ञासा की थी। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा' (दे० 'चिन्तामणि' भाग १ में 'लोभ और प्रीति' नामक लेख) वाली बात उन्हें अपनी विचार पद्धति के अनुकूल नहीं जान पड़ी, इतना ही नहीं, इसे उन्होंने साहित्य के लिए हितकर भी नहीं समझा। उन्होंने बड़े बलपूर्वक इस बात का समर्थन व पोषण किया कि एकांकी प्रेम भी परमोच्च कोटि का प्रेम होता है या हो सकता है। पं० बलदेव उपाध्याय जी ने भी काव्य में 'रसाभास' के प्रकरण पर साहित्य में भली-भाँति पुनर्विचार करने की हमें आवश्यकता बताई थी। कविराज जी की धारणा उन्हें भी मान्य जान पड़ी।

वस्तुतः प्रेम के संयोग पक्ष की माधुर्य भावना का अत्यन्त सघन एवं सरस स्वरूप तो 'तुल्यानुराग' में ही फलित होता है, एकांगी प्रेम में तो वह प्रायः संभव भी नहीं (एक ही पलंग पर कान=कान्ह रे, मोर लेख दूर देस भान रे)। कालिदास भी इसी का समर्थन करते हैं—

किसी माता का पुत्र अपने देश का उद्धार करने के लिए प्राण देने को जा रहा है, और माता अपने स्वार्थवश उसे न जाने दे तो वह स्वार्थपूर्ण मोह होगा, शुद्ध प्रेम नहीं। माता का सच्चा प्रेम तो इसी में लक्षित होगा कि वह अपने पुत्र की इच्छा-पूर्ति के लिए छाती पर पत्थर रख कर भी तैयार हो। इस प्रेम का सब से उदात्त व निर्मल स्वरूप भारतीय साहित्य में राधा या गोपियों के प्रेम में प्रतिबिम्बित हुआ है। यह प्रेम इतना उच्च है कि इसमें गोपियां श्री कृष्ण को अपना सर्वस्व अर्पित कर देती हैं।[1] केवल श्रीकृष्ण व गोपियों के प्रेम में ही काम व प्रेम में अन्तर नहीं माना गया। गोपियाँ श्रीकृष्ण के सुख के लिए अपना यौवन अर्पित करके भी पूर्ण पवित्र हैं। इस माधुर्यभाव के प्रेम से बढ़कर भक्त लोग और किसी प्रेम की कल्पना नहीं करते और न करना ही चाहते हैं। इसी प्रेम में वे जीवनमुक्ति मानते हैं।[2] पर यह प्रेम अत्यन्त ही कठिन है। हाँ, गोपियों के लिए बिलकुल सरल।

यह प्रेम की सब से व्यापक धारणा है जिसके अनुसार मानव जीवन में

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्ध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः॥
—मालविकाग्निमित्रम्, ३।१५

(There is no charm for me in a union of lovers one of whom is anxious and the other indifferent. Far more welcome were death when the lovers cherish equal love but have no hope of union with each other. —Kalidas : A Study, by Prof. G. C. Jhala)

हां, शृंगारांतर्गत वियोग-पक्ष की तीव्र छटपटाहट और गहन वेदना की विवृत्ति एकांगी प्रेम में अपेक्षाकृत अधिक होती है, क्योंकि प्रेमी प्रेम-पात्र के दर्शनों के लिए घुलता रहता है और प्रेम-पात्र अपनी निष्ठुरता, निर्दयता और उपेक्षा द्वारा उसे चिरवंचित बनाये रखने में ही लीन रहता है। प्रेम-पात्र की निष्ठुरता प्रेमी के मार्ग का व्यवधान होने के कारण विरह-वेदना पर सान रखती है। विरह की तीव्रता दिखलाने के लिए, तथा उपालम्भ आदि की स्थितियां उत्पन्न करने के लिए साहित्य में एकांगी प्रेम को ही अधिक प्रश्रय प्राप्त हुआ है। एकांगी प्रेम संयोगावस्था में कभी भी उच्च कोटि का नहीं हो सकता। गुप्त जी भी यही मानते हैं—'दोनों ओर प्रेम पलता है।' और भी,

तासीरे इश्क होता है दोनों तरफ जनाब।
मुमकिन नहीं जो दर्द इधर हो, उधर न हो॥

१ व २. श्रीमद्भागवत, १०।३३।३५, ३६, ३७ व ३८।

अमृत स्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति।
—नारदभक्तिसूत्र, ३; ४।

अनुभूयमान सभी प्रकार के प्रेम-सम्बन्धों की सफलतापूर्वक व पूर्ण व्याख्या हो सकती है। प्रेम चाहे जैसा हो, भौतिक या अलौकिक; यदि वह आत्म-सम्बन्ध से झंकृत व अनुप्राणित है, तथा चैतन्य से आलोकित है तो वह प्रेम है, अन्यथा स्थूल कामोपयोग की वृत्ति। या यों कहा जा सकता है कि प्रेम सम्बन्धों में यह आत्म तत्व या चैतन्य जिस अनुपात में अभिव्यक्त होता है उसी अनुपात में वह प्रेम उच्च है, अन्यथा हीन।

३. प्रेम का विवेचन

(क) प्रेम का सामान्य लक्षण

ऊपर प्रेम के मूल स्वरूप (निर्गुण-सगुण रूप) की व्याख्या के प्रसंग में हमने उसके अनेक लक्षणों या गुणो का प्रासंगिक रूप में यत्र-तत्र उल्लेख किया था। अब उसके सामान्य रूप की भावना के लिये उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का कुछ संश्लिष्ट रूप मे विचार किया जाना आवश्यक है।

प्रेम किसी भी रूप (भक्ति, दाम्पत्य, वात्सल्य, श्रद्धा आदि) का हो, उसका मुख्य लक्षण है आत्मा को तृप्त करना। किन्तु यह वास्तविक तृप्ति भी तभी सम्भव है जब कि प्रेम उच्च गुणों से संयुक्त हो। ऐसा ही प्रेम तप्त, मुक्त या पवित्र करने वाला होता है। मानव को इस तृप्ति का अनुभव उसकी अपनी छोटी सी 'स्व' की सीमा से लेकर व्यापक 'पर' की सीमा तक होता है या हो सकता है। वस्तुतः आत्मा का यही रसमय अनुभव जीवन की पूर्णता का अनुभव है। मनुष्य के लिये यह तृप्ति अत्यन्त आवश्यक, या यों कहिये कि अनिवार्य है, अन्यथा उसका जीवन निष्प्रयोजन और विफल ही है। प्रतिभा, धन, मान-सम्मान, व ख्याति आदि सब इस अनुभव के अभाव में प्राणहीन है[१] आत्मा प्रेम से ही सरस, स्वस्थ व प्रफुल्लित होती है। प्रेम के अभाव में जीवन जड़ व दीन है। इसलिये इस तृप्ति की खोज में मनुष्य नाना प्रकार के शारीरिक व मानसिक कष्ट झेलता है, संयम करता है, त्याग करता है व सहर्ष कंटकाकीर्ण पथ पर चलता है; बदले में प्रिय हमारे लिए चाहे कुछ भी न करे। प्रेमी के लिये इतना ही बहुत है कि उसका प्रिय उसके पास (दूर रहते हुए भी हृदय के लिये निकट) है। इतने से ही सच्चे प्रेमी का सारा दुःख दूर हो जाता है।[२] (भवभूति की दृष्टि में आदर्श प्रेम सभी अवस्थाओं में समान बना रहता है ; देश-काल की परिस्थितियाँ चाहे बदलती रहें।[३]) ऐसा ही प्रेम हृदय को अनिर्वचनीय सुख और शान्ति देता है। वस्तुतः ऐसा पवित्र प्रेम बड़े भाग्य से ही

१. Will Durant : '*Mansions of Philosophy*', p. 170-171.

२. **उत्तररामचरित; ६।५;**

३. **वही, १।४०;**

किसी को मिलता है ।[1] प्रेम का ऐसा मार्मिक अनुभव करने पर ही प्रेमी को जीवन का वास्तविक सौंदर्य (वस्तु-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य, कर्म-सौदर्य आदि का समन्वित रूप) अनुभूत होता है । ऐसे सौंदर्य का अनभव कराने वाला प्रेम तपस्या से ही सच्चा व निर्मल होता है ।[2] प्रेम की प्राप्ति से प्रेम की अप्राप्ति ही प्रेमियों के लिये श्रेयस्कर है क्योंकि वह प्रेमी को तप व संयम की शक्ति व प्रेरणा देती है । यद्यपि कालिदास उभयनिष्ठ प्रेम को बहुत महत्व देते हैं (मालविकाग्निमित्र, ३।१५) पर कालिदास की दृष्टि में भी वास्तविक प्रेम तो विरह में ही बढता है ।[3] मिलन में वह मन्द व बुझा-सा हो जाता है । ऐसा उच्च प्रेम निश्चित ही अधोगामिनी वासना से भिन्न होता है । प्रेम के स्वर्ण-स्पर्श का ऐसा प्रभाव है कि वह वासना को भी पवित्र प्रेम में परिवर्तित कर सकता है ।[4] प्रेम जब मर्यादित या धर्माचरणयुक्त होकर स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक यौन-सम्बन्धों में (केवल उसमें ही नहीं) प्रकट होता है, तब रति-व्यापार में भी ब्रह्म की ही मधुर इच्छा प्रकाशित होनी है ।[5] इसलिये प्रणय-सम्बन्ध भी ईश्वर के नाते ही मधुर होते हैं । यह प्रेम भी इतना पवित्र व तीव्र होता है कि प्रेमियों की आत्माएँ जन्म-जन्मान्तरों के लिए मिल जाती है ।[6] फिर ऐसा प्रेम क्यो न

---

१. वही, १।४०; तथा, प्रियंवदा की उक्ति—'सहि दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो ।'—अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अङ्क में ।

२. कुमारसम्भव, ५।२; रघुवंश १४।६६; कुमारसम्भव, ५।२, ५।२४, ५।५३।

३. मेघदूत, उत्तरमेघ, ५५।

४. कुमारसम्भव, ३।५२, ५।३६; कवि 'नीरज' की ये पंक्तियां इस सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं—

'एक दिन कह रही थी भ्रमर से कली—'ओठ जूठे किए है, मुझे तू न छू',
कह रहा था भ्रमर 'सुन अरी बावली निष्कलुष मै बनूँ ले मुझे चूम तू' ।'
—'प्राण-गीत'

५. "...क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।"
—ऐतरेयोपनिषद्, तृतीय अध्याय, प्रथम खंड, २;
तथा, कुमारसम्भव, ४।१०, ४।४२-४३.

६. अंग्रेज कवि ब्राउनिंग (Browning) का अपनी प्रिया के प्रति यह प्रेम कैसा अमर व अलौकिक है—

"...Then a light, then thy breast,
O thou soul of my soul ! I shall clasp thee again,
And with God be the rest !"
—Quoted from Browning's poem 'Prospice.'

रघुवंश, १४।६६, तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अङ्क ।

इश्वरीय प्रेम की सी पवित्रता धारण कर ले ! भर्तृहरि व भवभूति तो स्पष्ट ही ऐसे प्रेम को पूर्व-पुण्यों का फल समझ कर उस के भोक्ता को धन्य कह उठते है ।[१]

प्रेम-तत्व तो अखण्ड रूप से सर्वत्र ओत-प्रोत है, कोई उसको किसी भी प्रेम-सम्बन्ध के माध्यम से क्यों न अनुभूत कर ले । योग में ईश्वर की प्राप्ति के लिये सभी साधन पूर्ण विषय ठहराए गए हैं ![२] जिस ध्येय में भी ध्यान, धारणा, समाधि आदि का समावेश हो जाय, वहीं हमारा परम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है । अतः प्रेम-सम्बन्धों के माध्यम से ही ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है । ईश्वर का प्रेम ही कठिन है, अन्य प्रकार के प्रेम सरल; ऐसी बात नहीं । वस्तुतः ऐसा भेद भी कृत्रिम ही है । सभी प्रकार के प्रेम में आत्मा की पूर्ण शक्तियों का आह्वान करना पड़ता है । इसी लिए प्रेम सामान्य रूप से परम पुरुषार्थ कहा गया है । उसमें इतनी शक्ति है कि वह अपना स्वतन्त्र मार्ग तैयार कर ले । स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि एक प्रेम में ही ऐसी शक्ति है कि वह बड़े बड़े नियमों को भी तोड़ सकता है । "जहां प्रेम तहँ नेम नहीं, जहां नेम तहँ प्रेम ।" उक्ति प्रसिद्ध ही है । प्रेम सृष्टि का सर्वोच्च नैतिक या आध्यात्मिक नियम है । यदि प्रेम जीवन में न होता तो सृष्टि में 'आनन्द' ही न होता ।[३] प्रेम ही जीवन की स्फूर्ति है, प्रेरणा है और प्रतिभा है । प्रेम की यह महान् अनुभूति इन्द्रियो के माध्यम से भी पूर्ण सम्भव है । प्रेम के वास्तविक रहस्य को समझने वाला कवि इन्द्रियों के द्वारा ही मुक्ति लाभ करना चाहता है क्योंकि उसकी दृष्टि में ब्रह्म भी तो अपने आप को इन्द्रियों में प्रकाशित कर रहा हैं ।[४] यह रवीन्द्र की भावना है । वे अन्यत्र भी कहते हैं कि हम असंख्य बन्धनों में रह कर भी मुक्ति का स्वाद लेंगे ।

प्रेम की कुछ विशेषताएं और हैं । कालिदास की दृष्टि में अपने प्राणप्रिय के शरीर से लग कर चिता की राख भी पवित्र हो जाती है ।[६] प्रेम में वह शक्ति होती है कि लोकापवाद की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती ।[७] प्रिय के संसर्ग व सामीप्य से जीवन (दुस्तर व कण्टकाकीर्ण भी) स्निग्ध गति से चलने लगता है ।[८] सच्चा प्रेम प्राकृतिक

---

१. उत्तररामचरित, १।४०, शृंगारशतक, ३९,८६।

२. योगसूत्र, १।५,७

३. दे० रवींद्र की पुस्तक 'साधना' (Sadhana) में उपनिषद्वाक्य की व्याख्या।

४. देखिए, ग्रंथ की भूमिका ।

५. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'सूर-साहित्य' के 'प्रेमतत्व' प्रकरण में रवींद्र के एक गीत का भाषांतर व व्याख्या ।

६. कुमारसंभव, ५।७९ ।

७. कुमारसंभव, ५।८२; श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने भी तो यही कहा है—"हम-तुम जब हैं एक, लोग बकते फिरें । (कानन कुसुम)

८. अभिज्ञानशाकुन्तलम्; अङ्क ३ ।

चयन के नियम के अनुसार केवल श्रेष्ठ व्यक्ति से ही होता है; या यों कहें कि जिसे हम चुन लेते हैं, वही श्रेष्ठ हो जाता है।[१] प्रेम इतना संवेदनशील होता है कि तनिक भी आशंका उसके लिए सह्य नहीं।[२] प्रिय का ध्यान इतना शांतिदायी और धैर्यदायी होता है कि वही हृदय का सम्बल हो जाता है।[३] प्रेमपूर्ण व्यक्ति के निर्माण से कवि ब्रह्मा की रचना (जिसमें अनेक त्रुटियाँ है) को निर्दोष समझने लगता है।[४] कबीर की दृष्टि मे प्रेम में स्थायित्व उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है।[५] प्रेम करने वाला व्यक्ति मुख से अपने प्रेम का बखान नहीं कर सकता।[६]

संक्षेप में ये ही प्रेम के सामान्य लक्षण या उसकी विशेपताएँ है जो उसके कुछ मौलिक गुणो पर आश्रित हैं। अब उन गुणो पर विचार किया जाय।

(ख) प्रेम के गुण

प्रेम के मूलभूत स्वरूप का विश्लेषण करते समय पहले हम बता चुके है कि प्रेम में किन्ही दो की कल्पना अनिवार्य है—भक्त-भगवान्, प्रेमी-प्रेमिका, मित्र-मित्र आदि। तथा साथ ही यह भावना भी आवश्यक है कि हमारा प्रिय सदा सुखी रहे। जिस अनुपात में हमारे हृदय मे यह सहज आनन्दमयी भावना प्रज्ज्वलित रहेगी, उसी अनुपात में हमारा प्रेम, उच्च, उदार व निष्कलुष होगा। पर, "प्रिय सुखी रहे" इस भावना के निर्वाह के लिये बहुत बड़ी मानसिक साधना अपेक्षित है। यह साधना बाहरी लौकिक दृष्टि से आत्म-पीड़न समझी जा सकती है, किन्तु प्रेमी के लिये वह सहज-साध्य हो जाती है। इस साधना का आधार कुछ ऐसे चारित्रिक गुण हैं जिनका अभ्यास ही उस प्रेम को शिवत्व व शुभ्रता प्रदान करता है। बस, वे गुण ही उच्च प्रेम के गुण है। चातक व मेघ के प्रेम के बहाने, प्रतीक पद्धति से, तुलसी ने राम के प्रति अपने प्रेम का जो वर्णन दोहावली में किया है उस से

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्; अङ्क ३।

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्; अङ्क, ४।

"Where love is great, the littlest doubts are fears.
Where the fears grow great, great love is there."

—Shakespeare.

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क, ५।

४. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क, ५।

५. छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघर प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय॥

६. प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन मांहि।
रोम रोम पिउ-पिउ करै, मुख की सरधा नाहिं॥

हमें प्रेम के सब गुणों का एक गुच्छ प्राप्त हो जाता है।[१] निःसन्देह प्रेम के जिस निर्मल स्वरूप की कल्पना तुलसीदास ने की है वह हृदय का आमूल प्रक्षालन करने वाली है। परम उदात्त व निर्मल प्रेम की ऐसी कल्पना अन्यत्र दुर्लभ ही है। पपीहा आदर्श प्रेमी है और बादल आदर्श प्रिय या प्रेम-पात्र। इन दोनों के प्रेम-सम्बन्ध के माध्यम से तुलसी ने प्रेम के सर्वोच्च रूप को व्यक्त कर दिया है। बादल पपीहे का एकमात्र भरोसा, एकमात्र बल, एकमात्र आशा और विश्वास है। बादल चाहे जीवन भर न बरसे, परन्तु प्रेमी चातक की आशा तो अमर है। पपीहे की प्यास का तो नित्य बढते ही रहना अच्छा! बादल का नाम रटते-रटते जीभ सूख गई, प्यास के मारे अंग क्षीण हो गए, पर शरीर का रंग तो नित्य नया और सुन्दर हुआ जा रहा है। मेघ चाहे सौ प्रकार की निर्ममता, कठोरता व निर्दयता करे, पर पपीहा तो उसका दोष देखेगा नहीं। इसके विपरीत वह तो अपने नयन-सुखद और चित्त-रंजन मेघ की निष्ठुरता पर रीझेगा। पपीहे के लिए तो बस प्रेम की मर्यादा निभाने मे ही मजा है। मेघ जीवनभर स्वाति की बूंद दे या न दे, पपीहा तो बन्दा अन्यत्र नही ताकेगा। हाँ वह अपनी प्रेम-भीख लेगा अवश्य, पर दीन होकर जरा भी नहीं, पूर्ण आत्मसम्मान के साथ ही (मीरा की तरह)। बादल की सौ गर्ज़ हो तो दे; क्योंकि बादल और पपीहा दोनों ही अपने अपने क्षेत्र मे आदर्श है, एक महा दानी और दूसरा अनोखा याचक। और दोनों मे से पपीहे का तो कहना ही क्या। वह न मुँह से माँगता है, न आवश्यकता से अधिक स्वाति के जल का सग्रह करता है, और न वह सिर झुका कर ही लेता है। संसार के जितने चराचर जीव हे, बादल सब का हित करता है; ऐसे उस मेघ के प्रति सहज-स्वाभाविक प्रेम पपीहे के चित्त में ही बसा हुआ है। बादल की निर्ममता और कठोरता से पपीहे का क्या बिगड़ता है! इससे तो पपीहे के ही प्रेम का यश विश्व में और भी उज्ज्वल होकर बढ़ेगा। सौदा घाटे का नहीं।

यह है तुलसी के आदर्श प्रेम की कल्पना। इस प्रेम में अनन्यता, आशा, विश्वास, निश्छलता, निष्कामता व पवित्रता आदि गुणो का ही साम्राज्य है। वास्तव में ये गुण तुलसी की ओर से तो भक्ति-प्रेम के ही गुण हैं किन्तु यदि इन्हीं विशिष्ठ गुणों का पूर्ण समावेश किसी भी प्रेम सम्बन्ध में हो जाय तो इसमें बड़ी दिव्यता छिटक आएगी।

जिस प्रकार तुलसी ने इन उच्च गुणों को राम-भक्ति के प्रसंग में प्रकट किया है उसी प्रकार यूनानी दार्शनिक प्लेटो (Plato) ने भौतिक प्रेम-सम्बन्ध में इन्हीं गुणों को दिखाकर प्रेम को उच्च आध्यात्मिक धरातल पर उठा दिया है। उसने

---

१. तुलसीदास : दोहावली, दोहे २७७ से २९८ तक।

अपने 'सिम्पोज़ियम' (Symposium) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में 'प्रेम-देवता' की कल्पना की है और उसमें प्रेम का आदर्श स्थापित करते हुए अपनी प्रेम सम्बन्धी उदात्त धारणा व्यक्त की है। वह कहता है कि प्रेम-देवता एक अत्यन्त ही रूपवान, सुकुमार, बलिष्ठ, लावण्यपूर्ण, प्रसन्नवदन, कलानिपुण, सवेदनशील, सद्भावनापूर्ण, विनयवान्, बुद्धिमान, ओजस्वी, नीतिनिपुण, यशस्वी, सुप्रसिद्ध, आत्मसंयमी, साहसी, वीर, आज्ञाकारी, पूर्ण अहिंसाभावयुक्त, प्रतिभासम्पन्न, शातिप्रिय, सन्मित्र, व स्वर्ग के सब देवताओं मे से सबसे कम आयु वाला नवयुवक देव है। वह शांत, सुरभित, व सुरम्य कुजों मे तथा प्रेमी-प्रेमियों के हृदय मे निवास करता है। जहाँ कर्कशता व कठोरता दिखाई पड़ती है वहाँ से वह विदा हो जाता है। वह मनुष्यों व देवताओं—सबके लिए वरदानस्वरूप है। लेखक कहता है कि यदि प्रेमदेवता स्वर्ग में उत्पन्न हो गए होते तो देवताओं में उपद्रव कभी भी नहीं मचता।[1]

प्रकारांतर से ये गुण वे ही है जो तुलसी ने भक्ति के धरातल पर अपनी प्रेम-धारणा में व्यक्त किये है।

सक्षेप मे, ये हैं प्रेम के विशिष्ठ गुण। ये गुण चाहे लौकिक हो या अलौकिक, किसी भी अधिकरण में प्रकट होकर प्रेम को पूर्ण ईश्वरीय या दिव्य बना सकने में पूर्ण समर्थ है। पर मानवों का मानवों के प्रति या भौतिक वस्तुओ के प्रति प्रेम प्राय: अल्पकालिक, सीमित या भंगुर ही दिखाई पड़ता है। अत: प्रेमियों या भक्तों ने प्रेम की पूर्णता को भक्त व भगवान् के बीच के प्रेम-सम्बन्ध में ही अधिष्ठित किया है। मानवजगत् व पदार्थजगत् के सब आधार देश-काल के बन्धनों से ग्रस्त है, अत: वे अपूर्ण है। अपूर्ण में से पूर्ण कहाँ मिले ? इसी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए ही कदाचित् मानव-मस्तिष्क ने विश्वास के मसाले से ईश्वर नाम की (साकार ईश्वर; अनादि शक्ति नहीं, वह तो नित्य व अमर है।) एक अत्यन्त ही भव्य, नित्य नवीन, सुन्दर व अनुकूल वस्तु का आविष्कार किया जिसमें उसने परम पूर्णता, सुन्दरता, पवित्रता, स्निग्धता, निर्मलता, शक्ति, सामर्थ्य आदि गुण आरोपित कर दिए। हिन्दू-हृदय राम, कृष्ण व शिव में उसी पूर्णता का दर्शन करके पुलकित हो उठा, गा उठा, नाच उठा। उसे अपनी यह रचना इतनी प्रिय लगी कि भौतिक जीवन में इनकी समता किसी से करने का प्रयास भी मानो उसे असह्य लगा। यही बात अन्य धर्मों या सम्प्रदायों में भी हुई। इसीलिए सच्चे प्रेम के उपयुक्त सर्वोच्च वस्तु, सब ने अपूर्ण मानव अथवा मानवजगत् के पदार्थो की अपेक्षा पूर्ण पुरुष या ईश्वर ही ठहराई। प्रेम करने के लिए उस ईश्वर से बढ़कर मानो और कोई वस्तु ही नहीं; हाँ, उस मानव मूर्ति (ईश्वर) से प्रेम करने के लिए प्रेम की सारी भाव-सामग्री या वस्तु-

---

1. Plato : '*Symposium*' (Translation by W. Hamilton), p. 70—72

सामग्री फिर चाहे उसने क्यों न ग्रहण कर ली हो, जो मानव-मानव के बीच व्यक्त होने वाले प्रेम-सम्बन्ध में प्रयुक्त होती है !

प्रेम के ये गुण बता कर अब हम उसके विविध रूपों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करेंगे।

४. प्रेम के विविध रूप

(क) विभाजन का आधार

मानव-जीवन में प्रेम अनेक रूप ग्रहण करता है। यद्यपि प्रेम की आत्मा सब प्रेम-रूपों की विकसित अवस्थाओं में समान रूप से व्याप्त रहती है, फिर भी प्रत्येक रूप के क्षेत्र, परिधि एव उसकी व्यक्तिगत निजी विशेषताओं के, जो उसे अन्य प्रेम-रूप से स्पष्ट पृथक् कर सकें, व्यवस्थित परिज्ञान के लिए प्रेम का वर्गीकरण या विभाजन कुछ विशिष्ठ बौद्धिक आधारों पर किया जा सकता है। वे आधार ये हैं :—

१. व्यक्त या स्थूल (व्यक्ति, पेड़-पौधे व अन्य पदार्थ) के प्रति और अव्यक्त या सूक्ष्म (ईश्वर, कोई भावना, कल्पना या आदर्श) के प्रति प्रेम;

२. जड़ (पहाड़, पेड़-पौधे, कोई ग्रन्थ, लेखनी, भवन आदि) के प्रति और चेतन (चेतन मानव और चेतना के क्रम में विकसित जीव—जैसे, हाथी, घोड़ा आदि) के प्रति प्रेम; तथा,

३. बड़े का छोटे के प्रति (पिता का पुत्र के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति, वात्सल्य आदि), छोटे का बड़े के प्रति (जैसे, श्रद्धा), या समवयस्कों का परस्पर एक दूसरे के प्रति (मैत्री, सख्य, प्रणय आदि) प्रेम।

वास्तव में विभाजन के ये ही कुछ स्थूल आधार बन सकते हैं। इनमें से प्रथम दो आधार तो पर्याप्त पुष्ट है, क्योंकि उनमें दृश्यमान व अदृश्य, जड़ या चेतन व्यक्त या अव्यक्त, ऐन्द्रिक या अतीन्द्रिय आदि दो स्पष्ट वर्गों की सभी सत्ताओं का (जिनमें मानव जगत् का प्रेम भी सम्मिलित है) समावेश है। किन्तु तृतीय आधार अपूर्ण है। उसमें केवल मानवों के ही प्रेम-सम्बन्ध को ध्यान में रखा गया है। यों तो वैज्ञानिक व्यवस्था के हेतु वर्गीकरण का कोई न कोई आधार ग्रहण किया ही जाता है—पर पूर्ण निर्दोष आधार कोई भी नहीं। उदाहरण के लिए हम प्रथम को ही लें। प्रथम में जिसे हम व्यक्त या स्थूल के प्रति प्रेम कहते हैं, वह भावोद्रेक में अव्ययक्त या सूक्ष्म की कोटि को पहुँच जाता है। द्वितीय मे जिसे हम जड़ कहते हैं (पेड़-पौधे आदि), वह काव्य में मानवीकरण या चेतना के आरोप आदि के कारण कल्पना से सजीव या चेतन-से हो उठते हैं। जिन मानवों को हम चेतन कहते हैं

वे जीवन के विशिष्ठ लक्षणों—कला-प्रेम, उच्च आदर्शों में विश्वास आदि—से शून्य होने पर वस्तुतः जड़ ही है, स्थूल रूप से भले ही चेतन कहलाएँ। इस प्रकार ये आधार बहुत तरल है जो एक दूसरे की सीमा में बह जाते है। अतः प्रेम को किसी आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयत्न करके उसका विवेचन करने की अपेक्षा उसके विविध रूपों का स्वतन्त्र विवेचन ही उपयुक्त है। मानव-जीवन में प्रेम सामान्यतः इतने रूप ग्रहण करता दिखाई पड़ता है—भक्ति (निर्गुण-सगुण), प्रणय, वात्सल्य, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, विश्व-मैत्री या मानव-प्रेम, कुटुम्ब-प्रेम, मैत्री (समवयस्कों का प्रेम), श्रद्धा, सेव्य-सेवक प्रेम, सूक्ष्म (भावना, कल्पना आदि) के प्रति प्रेम, स्थूल (पदार्थों) के प्रति प्रेम, आत्म-प्रेम या स्व-प्रेम आदि। अब इन सब प्रेम-रूपों का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

(ख) प्रेम के विविध रूपों का विवेचन

भक्ति

श्रद्धा और प्रेम के योग से जो धर्म की रसात्मक अनुभूति होती है, वह 'भक्ति' कही जाती है[1]। भक्ति दो प्रकार की होती है—(१) निर्गुण भक्ति, व (२) सगुण भक्ति। निर्गुण ही सगुण रूप में प्रकट होता है अतः आदि या मूल सत्ता भारतीय चिन्तन के अनुसार 'निर्गुण' ही है। जब निर्गुण ब्रह्म के व्यक्त रूप किसी बाह्य आलम्बन के प्रति भक्त या साधक का व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तभी भक्ति की नीव पड़ती है। प्रेम के भेदों या प्रकारों में (भक्तों या भक्ति-मार्ग के आचार्यो के अनुसार) भक्ति का स्थान सर्वोच्च है (यद्यपि ज्ञानी इसे 'अविद्या' कहते है), क्योंकि इससे साधक को अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है। सृष्टि के मूल में निवास करने वाली जो प्रकाशमान अमर व चेतन सत्ता—निराकार व निर्गुण तत्व है उसका पूर्ण सामीप्य-लाभ करने के लिए, उसके साथ जो व्यक्तिगत, आन्तरिक, या एकान्तिक प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसे भक्ति कहते है। वह परमात्मा में परम प्रेम वाली है।[2] यह भक्ति या प्रेम अमृत स्वरूप है। इसको प्राप्त करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है, निष्काम, शोक रहित व द्वेष-रहित हो जाता है। सांसारिक पदार्थों में उसका मन नहीं रमता। उनके प्रति उसका कोई उत्साह नहीं होता। वह भक्ति

---

१. 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है' तथा 'धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है'। (पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग १, 'श्रद्धा-भक्ति' और 'मानस की धर्मभूमि' नामक लेख)।

२. सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा —(नारदभक्ति सूत्र, २); सा परानुरक्ति-रीश्वरे (शांडिल्यभक्ति सूत्र, २)।

का आनन्द प्राप्त कर उन्मत्त हो जाता है, जड़ और निष्क्रिय हो जाता है, (राजा जड़ भरत, अथवा बारम्बार आनन्द या प्रेम की समाधि में डूब जाने वाले श्री रामकृष्ण परमहंस की तरह) और केवल आत्मा में ही मग्न रहता है। वह केवल भगवान की ही इच्छा करता है कौर किसी की भी नहीं।[१] इस प्रेम में केवल आत्मसमर्पण है। प्रेमी बदले में कुछ नहीं चाहता।[२] यह प्रेम अनिर्वचनीय है, गूगे का गुड़ है।[३] यह प्रेम तीनों गुणों से परे है, पूर्णतः कामनारहित है और प्रत्येक क्षण बढ़ता जाता है। इसका अटूट प्रवाह जारी रहता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है और केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है।[४] यह प्रेम शान्तिरूप और परमानन्द-रूप है।[५] ऐसे प्रेम के अनुभवकर्ता प्रेमीभक्त परस्पर ईश्वरगुणानुवाद करते हुए प्रेम से कण्ठावरोध, रोमांच और अश्रु से युक्त होकर अपने कुलों को तार कर पवित्र कर देते हैं। उनसे सारी ही पृथ्वी पवित्र हो जाती है।[६]

यह भक्ति अवस्था भेद से दो प्रकार की है—पराभक्ति (निष्काम) और गौणी भक्ति (सकाम)। भगवान् के प्रति सर्वोच्च प्रेम पराभक्ति है। उसका स्वरूप पूर्णतः अनिर्वचनीय है, अवर्णनीय है। यह प्रेम किसी विरले ही भक्त को प्राप्त होता है। यह तीनों गुणों से परे, निष्काम, प्रति क्षण वर्द्धमान, अविच्छन्न, अतिसूक्ष्म और अनुभवगम्य ही है।[७] व्रज-गोपियों की भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति यही भक्ति या प्रेम है क्योंकि वे पूर्णतः निःस्वार्थ हैं और आत्मार्पण की भावना से परिपूर्ण हैं। गौणी भक्ति गुण-भेद से तीन प्रकार की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी।[८] भक्त भगवान् को अपनी भक्ति के कारण ही प्रिय है। भगवान् की प्राप्ति का उपाय भी भक्ति ही है। भक्ति के अतिरिक्त ईश्वर की प्राप्ति के अन्य सब साधन हास्यास्पद ही हैं।[९] मुक्ति से भक्ति ही श्रेष्ठ है।[१०] भक्ति ही परम पुरुषार्थ है।[११]

इस प्रेम के गुण, लक्षण, या विशेषताएँ अनेक हैं, किंतु, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इसके सारभूत तत्व है—निःस्वार्थता, अनन्य विश्वास, एकनिष्ठता आदि। इन गुणों का प्रेरणा–स्रोत केवल इतना ही है कि भक्त को अपना भगवान् प्यारा लगता है। बस। क्यों लगता है, इसका उत्तर देते नहीं बनता है। भगवान् बड़े हैं,

---

१. नारदभक्ति सूत्र, ३–७। २. वही, २४। ३. वही, ५१–५२।
४. वही, ५४। ५. वही, ६०।
६. नारदभक्ति सूत्र, ६८। ७. वही, ५१,५२,५४।
८. वही, ५५; तथा, गीता, अध्याय ७, श्लोक १६। गीता, अ० १२ श्लोक १३ से २०। श्रीमद्भागवत, ११।१४।२०।
९. वही, ७।७।५१-५२। १०. वही, १०।१४।४; ११।१०।१४।
११. "प्रेमा पुमानो महान्" चैतन्य।

अनन्त शक्ति, शील व सौंदर्य से सम्पन्न हैं, बड़े दयालु हैं, दुष्टों के लिए प्रचण्ड दावाग्निस्वरूप हैं, और वे सृष्टि के पूर्ण नियंता हैं। भक्त दीन है, भगवान् के द्वार का भिक्षुक है, साधनहीन है। वह सदा अपने को पातकी समझ कर ही संतोष धारण करता है—"मो सम कौन कुटिल खल कामी" (सूर)। वह अपने अज्ञान जन्य दुष्कर्मों पर रोता है व पछताता है। वह विनय-भाव धारण करता है, और सदा ही आत्म-ग्लानि से गला करता है। अपने प्रिय प्रभु को परम उपकारी समझकर अपनी कृतघ्नता पर अपने को फटकारता है, लांछना देता है। इस प्रकार वह अपना अन्तःकरण निर्मल करता है, और आगे के लिए भी यह दृढ़ निश्चय करता है— 'अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।' (तुलसी)। "नहीं ऐसौ जनम बारम्बार"— ऐसा सोच-सोच कर वह प्राणपण से आत्मोद्धार करने का दृढ़ संकल्प करता है। पर उसके करने से ही क्या हो, जब तक कि प्यारे की करुणा-कादम्बिनी उस पर न बरसे। पर, भगवान् को भी भक्त प्रिय है। बस फिर क्या है, भक्त कह उठता है— "सियाराम मय जग सब जानी, करौं प्रणामु जोरि जुग पानी।

भक्त के लिए जन्म-जन्मान्तरों तक केवल भगवान् का ही भरोसा है क्योंकि वे अनन्त, क्षमाशील, महिमावान्, प्रभावशाली, प्रतापी, दयालु और माया और कलियुग के प्रभावों से बचाने वाले हैं। भक्त के हृदय की जलन तो उनके बिना घट ही नहीं सकती। उसकी भ्रांतियों का निराकरण भी उनके बिना नहीं हो सकता तथा जन्म-मरण की भ्रमणा भी समाप्त नहीं हो सकती। ऐसे प्रभु जिस पर ढल जायँ बस वास्तव में वही कुलीन और सुन्दर है। इसलिए भक्त तो माया तथा मोह के पाश से मुक्त होने के लिए अपने प्रभु का ही स्मरण करता है। वह प्रतापी, प्रभावशाली प्रभु की अपार शक्ति देखकर या तो गूंगे की तरह चुप रहता है या उल्लास में पागल होकर गाता व नाचता रहता है। जब आत्म-बोध होता है तो पछताता है कि, हा! मैंने इतना जीवन यों ही खो दिया। तब तो वह अपने को अगुन, अलायक, आलसी, नराधम कह कर ही सुखानुभव करता है। अपने प्रभु का सहारा पक्का समझकर फिर तो वह उसके ही द्वार पर पड़ा रहना चाहता है क्योंकि नरक में भी उसके लिए जगह नहीं है; वहाँ भीड़ बहुत है, जम के भट पुराने पापियों को वहाँ से लाठी मार-मार कर निकालते हैं।

यह है भक्त-हृदयों की सामान्य मनोभूमि।

उस परम प्रियतम की भक्ति या प्रेम के ११ प्रकार हैं—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति।[1] अपनी

१. नारदभक्ति सूत्र, ८२।

अपनी वृत्ति के अनुकूल भक्त, भक्ति की उपरोक्त पद्धतियों या रूपों में से, कोई भी एक पकड़ कर चल सकता है। किंतु माधुर्य भाव की अथवा विरहभाव की भक्ति ही उच्च कोटि की भक्ति समझी जाती है। इस भक्ति मे भक्त व भगवान् का प्रगाढ़ तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

साहित्य या काव्य का भी इस भक्ति से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। यह भक्ति (ईश्वरविषयक रति) शृङ्गार रस के स्थायी भाव 'रति' के आधार पर आधारित होकर भक्ति-रस की सृष्टि करती है। किन्तु आचार्यो के अनुसार 'भक्ति-रस' साहित्यिक न होकर साम्प्रदायिक रस है। इसका कारण स्पष्ट है। काव्यानुभूति में मानव मात्र (जाति, लिंग, देश, वर्ग आदि भेदों से अतीत) के हृदय तक व्याप्त होने की क्षमता, साहित्य के प्रसिद्ध 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त के अनुसार, आवश्यक है। किन्तु, भक्ति-रस एक विशेष वर्ग से ही (राम, कृष्ण, विश्व या ऐसे ही अन्य देश-विदेश के अंवतार, महापुरुष आदि) सम्बन्ध रखता है। इस मुख्य तर्क के आधार पर भक्ति एक साम्प्रदायिक रस कहा जाता है।[1] 'रति' स्थायी से रस का परिपाक साहित्याचार्यो ने शृङ्गार रस में ही माना है कुछ आचार्यो ने व भक्तों ने इसे एक स्वतन्त्र ही रस मान लिया है। किंतु भक्ति भावना का क्षेत्र शृङ्गार की अपेक्षा' सीमित समझा गया। दूसरी बात यह है कि शृङ्गार रस में तो आश्रय व आलंबन दोनों की स्पष्ट स्थिति है किंतु भक्ति में एक पक्ष (भक्त) तो प्रत्यक्ष रहता है पर दूसरा पक्ष केवल भाव मे या कल्पना में ही घुमड़ कर रह जाता है। पाषाण-प्रतिमा आदि में तो चेतना रहती नही। वहाँ प्रत्युत्तरशीलता का अभाव है अतः रस सामग्री पूर्ण नहीं रहती। जो हो, आचार्यो ने जो कुछ कहा हो किन्तु इतना निश्चित है कि ईश्वर विषयक रति या भक्ति सम्बन्धी जो काव्य रचा गया उससे भक्त-पाठकों के हृदय अवश्य रस मग्न हुए।

भक्ति का घनिष्टतम सम्बन्ध यदि प्रेम के अन्य रूपों में से किसी रूप के साथ है तो वह कांताविषयक रति से ही। जिस हृदय से हम कान्ता-विषयक रति में निमग्न होते हैं, उसी हृदय से—हृदय की उन्हीं वृत्तियों से—हम भगवान् के साथ निकटतम प्रेम, सम्बन्ध स्थापित करते है। अन्तर केवल इतना ही है कि हमारे हृदय का केन्द्र या आधार एक लौकिक आलम्बन न होकर अलौकिक आलम्बन हो जाता है। ईश्वर अलौकिक आलम्बन है। भक्ति के जितने प्रकार हैं उनमें माधुर्यभावपूर्ण भक्ति या मधुरा भक्ति का स्थान सबसे ऊँचा समझा गया है। इस भक्ति में भक्त

---

१. विशेष देखिए, पं० करुणापति त्रिपाठी का 'भक्ति क्या रस है ?' (श्री सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३०९–३१३) नामक लेख; तथा, V. Raghavan : '*The Number of Rasas*', p. 129—137 (Bhakti and Madhura Rasa)

और भगवान् का सम्बन्ध प्रेमी-प्रेमिका या स्त्री-पुरुष का होता है; भक्त या तो परम प्रियतम प्रभु की प्रिया बनता है (जैसे कबीर), या वह परमात्मा को अपनी परम प्रेयसी के रूप मे देखता है, (जैसे, सूफी-साधना पद्धति में) । ऐसे सम्बन्ध की भक्त-भगवान् के बीच कल्पना क्यो हुई ? इस लिए कि जैसे लौकिक धरातल पर स्त्री-पुरुष के बीच, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक मिलन में पूर्ण तृप्ति मानी जाती है, वैसे ही अलौकिक धरातल पर भक्त और भगवान् के बीच भी किसी प्रकार का कोई परदा नही रह जाता । ऐसे मधुर सम्बन्ध को आधार बनाकर चलने में हृदय की उन सब पद्धतियों (सख्य, दास्य आदि) से प्राप्त तृप्ति से सर्वाधिक आनन्द की सभावना रहती है । हृदय का सब काम-भाव लौकिक आलम्बन के प्रति न रह कर, सूक्ष्म और आलोकिक की ओर उन्मुख होकर, भक्ति के उद्गारों के रूप में फूट निकलता है । कहने की आवश्यकता नही कि इस भक्ति के मूल मे परिष्कृत काम-भावना का सूक्ष्मतम बीज ही निहित रहता है ।[1] मनोविज्ञान इसका पूर्ण साक्षी है ।

प्रणय अथवा दाम्पत्य

वय:-प्राप्त व सयोगमुखाभिलाषी स्त्री-पुरुष के रूप-गुण-जन्य पारस्परिक आकर्षण से अनायास उत्पन्न मादन-भाव के नैसर्गिक प्रेम को 'प्रणय' कहते हैं । प्रेम केवल दाम्पत्य-रति या मादन-भाव के प्रेम तक ही अपनी गति-विधि सीमित नहीं रखता; वरन् हृदय के समस्त भाव-क्षेत्र व उनसे संबंधित या प्रेरित सभी जीवन-पथों व कार्य-व्यापारों को भी वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करता रहता है । संसार में चारों ओर जितने पदार्थ दिखाई पड़ते हैं उनमें कुछ तो सुन्दर, कान्तिवान् और आनन्दप्रद दिखाई पड़ते हैं और कुछ कुरूप वेडौल या कान्तिहीन । हमारी अन्तरात्मा सत्, चित् व आनन्दमय परमात्मा का ही अंश है, इस नाते वह स्वभावत: सृष्टि के मुन्दर पदार्थो का ही चयन करती है और कुरूप का त्याग ।[2] हाँ, यह भी बात है कि बाहरी आँखों से कुछ पदार्थ सुन्दर नहीं कहे जा सकते, किन्तु हमारे मन के लिए वे अवश्य सुन्दर या रमणीय होते हैं । सृष्टि के सब प्रिय या अनुकूल पदार्थो से हमारा एक मधर रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता है । हमारे मन की एक अत्यन्त गूढ़ वृत्ति है—रागात्मिका वृत्ति । इस वृत्ति के द्वारा हम अपना नाता बाहरी जगत् से जोड़ते हैं । यह नाता जोड़ना और कुछ नहीं, अपनी ही आत्मा को

---

१. पं० चन्द्रबली पाण्डे : 'तवस्सुफ़ अथवा सूफ़ी मत', पृ० ११६–११७; तथा, पं० सद्गुरुशरण अवस्थी : 'बुद्धितरंग', पृ० ६६ ।

२. यह बात सामान्यतः ठीक है । विशेष मनोरचना के और भावनाशील व्यक्ति, मकड़ी का ज़ाला, सिगरेट का धुँआ, धूल, मिट्टी और अनगढ़, बेडौल वस्तुओं से भी प्रेम कर सकते है ।

विश्वव्यापक बनाने का अभ्यास और उद्योग है। जिसकी रागात्मिका वृत्ति जितनी ही चराचरव्यापिनी होगी, उसकी आत्मा उतनी ही उन्नत, व्यापक और उदार होगी। जिसमें अपना-पराया का जितना ही कम भेद होगा उसमें यह वृत्ति उतनी ही ऊँची होगी। हमारे रागात्मक हृदय मे अपनी माँ, बहिन, भाई, पडौसी, ग्रामवासी, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-समुद्र, मेघ-बिजली आदि के प्रति एक सहज-स्वाभाविक लगाव विद्यमान है। यद्यपि इन सब के साथ हमारा लगाव है तथापि हमारे हृदय की पूर्ण तथा वास्तविक रागात्मकता इनके माध्यम से प्रकाशित नही होती। हमारा हृदय जब यथासभव सभी प्रकार के प्रेम-सम्बन्धों से परिपूर्ण हो जाता है तभी हमारी प्रेमानुभति पूर्ण समझी जा सकती है, अन्यथा अपूर्ण। यों तो सभी प्रकार के प्रेम-संबंधों में परिस्थिति-भेद से प्रेम की तीव्रता व स्थायित्व दिखाई पड़ता है पर प्रेम की यह वृत्ति जितनी स्पष्ट, जितनी पूर्ण और जितनी प्रभावशालिनी परस्पर आकृष्ट दो युवा प्रेमियों के प्रेम-सम्बन्ध में प्रकट होती है उतनी और कही नहीं समझी जाती।[१] मनोविज्ञान वेत्ताओं ने यह बात निश्चित रूप से हमारे सामने रख दी है कि लौकिक या अलौकिक, सभी प्रकार के प्रेम-संबंधों के मूल में हमारी काम-भावना ही सूक्ष्म-स्थूल रूप से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विद्यमान् है। स्वयं ऋग्वेद (नासदीय सूक्त) में काम ही सृष्टि की मूल प्रेरणा ठहराया गया है—

कामस्तदग्र समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीपा॥

उपनिषद् में भी बड़ी गम्भीरता के साथ इस विषय पर मनीषियों ने विचार किया है।[२]

---

१. "...Only false spirtuality and an impotent moralism could wish to replace sex love by any other kind of love, because only sex love creates the homogeneity, eqaulity, and reciprocity between two persons which alone exclude egoism. The authentic man in the fulness of his ideal personality can only exist in complete fusion of man and woman."—Vladimir Solovye : quoted from '*Psychology of Sex*' (p. 98—99) by Oswald Schwarz.

२. **"तदेतन्मिथुनमोत्येतस्मिन्नाक्षरे संसृज्यते यदा वै मैथुनी,**
समागच्छत आयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्।"

अर्थात्, "योनि-लिंग संयोग, रहस्यात्मक शब्द 'ओम्' का पर्याय है। जब दोनों का सम्मिलन होता है तो परस्पर एक दूसरे की इच्छा पूरी करते हैं।"

—छांदोग्योपनिषद् १, १, ६.

जीवन में काम-वृत्ति का उचित महत्व स्वीकार न करने वालों पर कुछ दार्शनिक तो बुरी तरह झुँझला उठे हैं:—

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं की धारणा है कि मानवीय प्रेम और आध्यात्मिक अनुभव दोनों ही एक तो किसी प्रकार नहीं है, किन्तु हाँ, दोनों का निर्माण करने वाले तत्व, उद्देश्य, भावनाएं अवश्य एक दूसरे से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं।[1]

भारतीय विचारक भी आज प्रमाणपूर्वक यही बात कहते हैं। "लौकिक रति के बिना अलौकिक रति की भावना हो नहीं सकती। लौकिक रति के व्यापार में जो अनिष्ट दिखाई पड़ते है उनको हटाकर शाश्वत आनन्द का विधान करना ही रति की अलौकिक भावना का मूल मंत्र है। इस मंत्र के लिए हमारे हृदय में कोई अलग स्थान नहीं यह रति भी हृदय के उसी कोने में अपनी झलक दिखाती है जिस में लौकिक या अति सामान्य रति। अन्तर केवल यह होता है कि इसका आलम्बन कोई अलौकिक व्यक्ति होता है, और उसका कोई लौकिक या सामान्य प्राणी"[2]

इससे स्पष्ट है कि प्रेम केवल स्थूल भोग या काम ही नहीं है। यह काम का उज्ज्वल और परिष्कृत रूप है। हां, इतना निश्चित है कि जिस हृदय में काम-विकार उत्पन्न होते है, उसी हृदय में, विशेष क्षणों में, उदात्त व निर्मल प्रेम की अनुभूति का भी संचार होता है। पर इस तथ्य को भली भांति न समझकर जल्दी से निष्कर्ष निकालने वाले मनोवैज्ञानिकों ने फौरन कहना शुरु कर दिया कि स्त्री-पुरुष की रति और ईश्वर के प्रति प्रेम, दोनों एक ही बात है। वास्तव में इस भ्रांति का मूल कारण यह है कि प्रेमोन्माद में भक्त को भगवान् के प्रति आत्मैक्य की जो गंभीर या उद्दाम अनुभूति होती है उसकी अभिव्यक्ति, उसका सही सही रूप व्यक्त करने के लिए, स्त्री-पुरुष के यौन-सबंधों की भाषा व ऐसे ही प्रतीकों के प्रयोग के बिना (जिनका प्रयोग, वे स्वयं जानते है कि, कितना दुर्बल व हृदय के वेग को व्यक्त करने में असमर्थ रहता है!) असम्भव है। अतः ऐसी भाषा के प्रयोग को देखकर ही तत्काल भ्रांतिपूर्ण अनुमान लगा लिया जाता है कि भक्त व भगवान् का संबंध ही साधारण स्त्री-पुरुष-सुलभ यौन-सम्बन्ध है।[3]

"To those for whom sex is impure, there are no flowers in the nature"—Sir Pattrick Gaddes.

"If Complete abstention makes a man perfect the ideal saint would be an enunch."—Nietzche.

१. C. Caudwell : *'Studies In A Dying Culture'*, p. 131—132; and Oswald Schwarz : *'The Psychology of Sex'* p. 94—95:—

"In fact, emotions have just as much or as little to do with the religious experience as they have with the experience of love between man and woman."

२. पं० चन्द्रबली पाण्डे : 'साहित्य संदीपनी', पृ० ९; तथा, 'सम्मेलन पत्रिका' (भाग ३५, सं० ४–६ में 'काव्य का उदय' नामक लेख)।

३. Oswald Schwarz : *'Psychology of Sex'*, p. 95.

इस प्रकार पाश्चात्य व भारतीय तत्वचिंतकों व मनोविज्ञानवेत्ताओं—दोनों की ही दृष्टि में काम और प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेम का मूल है 'काम', जो ब्रह्म की अनादि इच्छा 'एकोहं बहुस्याम्' का निर्वाह करने के लिये मानव-प्राणियों (पशु-जगत् में भी) में सृष्टि-संवर्धन-व्यापार की आदिम प्रेरणा के रूप में परम्परा से चला आ रहा है और हमारी भावनाओं व जीवन-व्यवहारो के सूक्ष्म स्नायु-जाल का पोषक जीवन-रस है।[१] सृष्टि-विकास के मूल में जो 'काम' निहित है वह सत्व, रज व तम—प्रकृति के इन तीन गुणों के भेद से विभिन्न स्तरों का हो जाता है। सात्विक काम उज्ज्वल व दिव्य होकर जीवन की शक्ति व प्रेरणा बन जाता है,[२] राजसिक काम जीवन को चिर गतिशील बना कर सुख-दुःख की मिश्रित अनुभूति कराता रहता है, और तामसिक काम जीवन को पतन की ओर धकेलता है। इन तीनों रूपों में से काम का प्रथम रूप ही मानव के स्वस्थ, बहुमुखी व संतुलित विकास के लिए कल्याणकारी समझा गया है। कला और साहित्य के अभ्यास तथा अनुशीलन द्वारा राजसिक व तामसिक काम का भी उन्नयन या उदात्तीकरण (Sublimation) पूर्ण सम्भव माना जाता है। हमारे हृदय में जो रागतत्त्व है उससे सभी प्रकार के प्रेम-सम्बन्धों—प्रणय, भक्ति, श्रद्धा आदि में झंकार व गुजन उत्पन्न होता है, किन्तु उससे सबसे अधिक कम्पन या आन्दोलन युवा स्त्री-पुरुष-सुलभ मादन प्रेम भाव में ही होता है।[3] चैतन्य से प्रकाशित होने पर स्त्री-पुरुष की काम-चेष्टाएँ व संभोग-व्यापार (जो अन्यथा पशु-आचरण ही है) भी आध्यात्मिक-महत्त्वसपन्न हो जाते है; सभोग-क्रिया पशु-व्यापार न होकर महानंद की अनुभूति की एक परम रहस्यमयी मुद्रा हो जाती है। (देखिये, प्रस्तुत ग्रन्थ के पृ० १४ पर पाद-टिप्पणी)। पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ताओं ने विवाहित जीवन में अध्यात्म की सम्भावनाओं को बड़ी वैज्ञानिक स्पष्टता और तटस्थता के साथ थाहा है और यह बात विचारणीय है।[४] अतः चैतन्य

---

१. Will Durant: '*The Mansions of Philosophy*', p. 151—160 and p. 297; **तथा, पं० सद्गुरुशरण अवस्थी: 'बुद्धितरंग', 'प्रेम' नामक लेख।**

२. **'प्रसाद'-कृत 'कामायनी' का 'श्रद्धा' सर्ग।**

३. Will Durant: '*The Mansions of Philosophy*', p. 162—163.

४. "Many cases of marriage failures come to the psychologist for adjustment: Cases in which in spite of the real attachment of husband and wife, and the desires of both to *realise a spiritual union*, the union is not attained and the family has hegun to disintegrate."

—Knight Dunlap; quoted from '*The Sexual side of Marriage*,' by M. J. Exner, M. D. (1949) p. 49—50.

"Lack of physical response tends to loss of *spiritual intimacy*,

का प्रकाशन ही मुख्य है। यह प्रकाशन सभी प्रेम-सम्बन्धों को सुन्दर, सार्थक व दिव्य बनाता है।

'काम' का प्रकाशन जब भिन्नलिंगी (Opposite sex) के साथ शारीरिक, मानसिक व आत्मिक संयोग के रूप में होता है, तब वह उच्च अवस्था को पहुँच जाता है।[1] वस्तुतः शारीरिक, मानसिक व आत्मिक—इन तीनों सयोगों के माध्यम से ही प्रेम की प्रगाढ़ व पूर्ण अनुभूति होती है। इस पूर्ण अनुभूति के लिये स्थूल भौतिक आधार (आश्रय-आलम्बन या नायक-नायिका) का अस्तित्व आवश्यक है। भक्ति में आलम्बन सूक्ष्म ही होता है अतः साहित्यशास्त्री भक्ति-भावना में, रसनिष्पत्ति के आधार आलम्बन के अभाव में, भाव मात्र की ही स्थिति मानते है, पूर्ण रस नहीं। किन्तु भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में भक्ति में पूर्ण रस माना है। हिन्दी

---

and coitus without that intimacy wears a threatening mien."—वही, Page 59

"Every single act, if it is to be a truly shared experience, an act that has something *of spiritual significance*, calls for prelude, for courtship and wooing" वही, P. 65

"Truly human sex relationships mean not merely a union of bodies but *a union of two personalities*." वही. P. 66

"There are often no moments of *greater spiritual meaning* in the relationships of married lovers than those moments when love has had its way and they rest relaxed in body and spirit in each other's arms."— वही, P. 68

"The approach to the physical *is by way of the spiritul.* When the woman has been wooed and won into spiritual harmony she will give herself to passionate expression of love with free and full abandon And only so can the men also experience real fulfillment of love." वही, P. 71.

"There are, as we know, two main functions in the sexual relationship, or what in the biological sense we term 'marriage', among civilized human beings, the primary psychological function of begetting and bearing offspring and the secondary *spiritual function* of furthering the higher mental and emotional processes." वही, P. 71; See also pages, 78, 86, 131, 141, 148, 149, 151 and Dr. Marie Stopes "*Married Love*", P. 73 and 76.

१. '*The Psychology of Sex*, Oswald Schwarz, p. 94—95.

के आचार्य भी भक्ति के रस-रूप मे माने जाने के पक्षपाती हैं।[१] अस्तु, निर्गुण स्वरूप के उपासक स्त्री-पुरुष की लौकिक रति का ईश्वरीय रति के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं करना चाहते।[२] पर, तटस्थ वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा सत्यानुसधान करने वाले मनोवैज्ञानिकों या साहित्य-शास्त्रियों ने दोनों में घनिष्ट संबंध किस प्रकार स्थिर कर दिया है, यह ऊपर बताया जा चुका है। वह सम्बन्ध निम्न-लिखित मुख्य तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

(१) ईश्वर-प्रेम की गम्भीरतम अनुभूति या भक्ति का आनन्द भी लौकिक रति की तरह आश्रय-आलम्बन की तादात्म्य-कल्पना पर खड़ा है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक रति का आधार लौकिक है तो दूसरी का अलौकिक। लौकिक रति भी अपने उद्रेक व परिष्कार में अलौकिक हो सकती है और अलौकिक रति व्यावहारिक रूपों के लिये लौकिक धरातल पर प्रकट हो सकती है।

(२) ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति लौकिक प्रणय की भाषा, प्रतीक व रूपको के सहारे से ही सबसे अधिक प्रभावशाली रूप मे हो पाती है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि लौकिक रति व अलौकिक रति एक ही वस्तु है।

(३) लौकिक व अलौकिक, दोनों प्रकार की रतियों में पूर्ण तादात्म्य सम्भव है। अलौकिक रति में नवधा-भक्ति का विधान अलौकिक या सूक्ष्म आलम्बन के प्रति शारीरिक सम्बन्ध भावना का ही मानसिक रूपान्तर या स्थानान्तर है—हाँ, यह भावना आलम्बन की सूक्ष्मता के कारण अत्यन्त सूक्ष्म व उदात्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लौकिक व अलौकिक रति—इन दोनों के ही मूल में 'काम' है। अवश्य, यह काम भक्ति या अलौकिक रति में आलम्बन के सूक्ष्म या काल्पनिक होने से अत्यन्त परिष्कृत व निर्मल है। परम भक्त की भी तो यह कमनीय कामना रहती है कि मै जन्म-जन्म तक भगवान् के मंगलमय व मधुर रूप

---

१. "...किन्तु 'भक्ति' को एक स्वतन्त्र रस न मानकर भाव मात्र मानना केवल प्राचीन परिपाटी-मात्र है। वास्तव मे अन्य रसों के समान सभी रसोत्पादक सामग्री भक्ति रस में भी होती है।"—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, रस मंजरी, पृ० २४४

और भी देखिए, श्री वियोगी हरि सम्पादित 'विनयपत्रिका' की 'हरितोषिणी टीका' की भूमिका।

2. "The attempt to treat it by detachment without complete excision breaks down; the attempt to sublimate it, favoured by many modern mystics in Europe, is a most rash and perilous experiment. For it is when one mixes up sex and spirituality that there is the greatest havoc." —Sri Aurobindo : *Bases of Yoga*, p. 98.

का दर्शन करूँ, उनके चरण चूमूं, और गोलोक की रासलीला में गोपी बनकर मुक्ति पाऊँ। स्पष्ट ही यह काम लौकिक रति में अभिव्यक्त काम से कई गुना सूक्ष्म है। अतः दोनों रतियों में अपने अपने ढंग की सात्विकता मानते हुये भी उनमें परिणाम-भेद, मात्रा-भेद व धरातल भेद अवश्य ही माना जायगा। दोनों एक ही हृदय से अनुभूत होते हुए भी विभिन्न धरातलों की है। भक्ति-भावना का प्रकाशन करने के लिये लौकिक रति की भाषा के प्रयोग की विवशता मात्र से ही भक्ति तथा लौकिक प्रणय दोनों को समकक्ष या एक ही ठहराना तो महान् भ्रांतिपूर्ण ही होगा।

जीवन में अनुभूत मादन-भाव का यह प्रेम, काव्य की भी मूलभूत प्रेरणा का अखण्ड स्रोत है। साहित्यशास्त्र में इस प्रेम पर सब से अधिक विचार हुआ है और जो 'श्रृंगार रस' के शास्त्रीय निरूपण में प्राप्त होता है। श्रृंगार रस के दो मुख्य भेद है—(१) सम्भोग-श्रृंगार, और (२) विप्रलम्भ या वियोग-श्रृंगार। काव्यों मे दोनो का विस्तृत वर्णन मिलता है। यद्यपि जीवन-व्यवहार में सयोग ही आनन्द का पूर्ण अनुभव कराता है किन्तु काव्य में विप्रलम्भ श्रृंगार का भी बहुत 'महत्त्व' है। कारण इसका यह है कि वियोग में प्रेमियों को जिन जीवन-स्थितियों का अनुभव होता है वे उनके हृदय को स्निग्ध और सुमृदु बनाकर अधिक व्यापक व उदार बनाती हैं। वे ही काव्य अधिक मार्मिक होते हैं जिनमें वियोग-वर्णन ही मुख्य हो। अस्तु। श्रृंगार रस के नायक-नायिका ही इस रस के आश्रय-आलम्बन कहलाते हैं। साहित्यशास्त्र में नायक-नायिका-भेद का भी, विशेषतः नायिकाओं का, बहुत बड़ा विस्तार है। नायक-नायिकाओं के परस्पर अवलोकन से जो भाव उत्पन्न होता है उसे 'रति भाव' (स्थायी भाव) कहते है। 'काम' रति के रूप में प्रकट होता है। किन्तु यह रति-भाव बहुत व्यापक है—जैसे, कांताविषयक रति, ईश्वर-विषयक रति, प्रकृतिविषयक रति आदि। इस उद्बुद्ध रति भाव को और भड़काने या उद्दीप्त करने वाले उपकरण जैसे, नायक-नायिका का रूप-सौंदर्य, उनकी मुद्रायें, तथा प्राकृतिक वातावरण—एकांत स्थान, चांदनी, सुगंधित मन्द पवन, कोकिल-कूजन आदि—'उद्दीपन विभाव' कहलाते है। आश्रय के हृदय की रति-भावना की सूचना देने वाली चेष्टाएं साहित्य में 'अनुभाव' कहलाती है।[1] ये अनुभाव मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं कायिक, वाचिक एवं मानसिक। स्त्रियों की यौवनावस्था में २८ अलंकार— ३ अंगज, ७ अयत्नज, और १८ स्वभावज, 'कायिक' अनुभाव में होते हैं। अंगज में हाव, भाव व हेला, (२) अयत्नज अलंकार में शोभा, कांति, दीप्ति आदि, व (३) स्वभाव अलंकार में लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक आदि होते हैं। इस प्रकार ये अनुभाव संख्या में कुल २८ हैं। वाचिक अनुभाव वाणी की चेष्टाओं को कहते हैं। अश्रु, स्वेद, रोमांच, स्तम्भ आदि ८ सात्त्विक अनुभाव

१. धनंजय : 'दशरूपक', ४/५.

प्रसिद्ध ही है। प्रेम काल (जो कुछ क्षणों से लेकर जीवन-व्यापी भी हो सकता है) के बीच हृदय में जो नाना भाव-तरंगें उत्पन्न व उसी में लय होती रहती है, उन्हें 'संचारीभाव' कहते है। संचारी भाव असंख्य होते है किंतु वे साहित्य-क्षेत्र में ३३ संचारी भावों में समाविष्ट कर दिये गये हैं। इस प्रकार आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, स्थायी भाव, संचारी भाव, अनुभाव आदि रस के अवयव या उपकरण है। जहाँ यह सामग्री अधूरी होती है, वहां 'भाव' मात्र की ही व्यंजना मानी जाती है, रस की नहीं। इस सब का विस्तृत विवेचन साहित्य-शास्त्र के सभी ग्रंथों में मिलता है, अतः उसका अधिक विस्तार यहाँ अनावश्यक है।

काव्य में शृंगार-प्रेम-वर्णन की चार प्रसिद्ध पद्धतियाँ प्रचलित है। प्रथम पद्धति का प्रेम वहाँ प्रकट होता है जहाँ प्रेमी व प्रिय विवाहित हों। द्वितीय प्रकार का प्रेम वहाँ होता है जहाँ विवाह में उसका पर्य्यवसान होता है। तीसरे प्रकार का प्रेम विलासी राजाओं की प्रेमचर्याओं में मिलता है। चौथे प्रकार के प्रेम का रूप वहा मिलता है जहां प्रेम किसी के गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन व स्वप्न-दर्शन आदि से अनायास ही उत्पन्न होता हुआ बताया जाय।[1]

वात्सल्य

बहुत छोटी आयु के बालक के प्रति हृदय में जो रतिभाव उत्पन्न होता है उसे वात्सल्य प्रेम कहते हैं।[2] यों साधारणतः यह प्रेम सुन्दर और छोटी आयु के बालक के प्रति ही उत्पन्न हुआ समझा जाता है किन्तु **बाहरी दृष्टि** से कुरूप व बड़ी आयु वालों के प्रति भी वह प्रकट होते देखा जाता है। कुरूप से कुरूप बालक भी उसकी माता के लिए अद्भुत सौदर्यशाली होता है और बड़ी आयु का व्यक्ति भी अपने वृद्ध माता-पिता अथवा कृपालुओं की समझ में अबोध या भोला बालक ही रहता है। फिर भी वात्सल्य प्रेम प्रायः स्तन-दुग्ध-जीवी, कलबल व तोतरे बैन बोलने वाले, लार टपकाने वाले, माटी खाने वाले, किलकने वाले, घुटनों के बल रेंगने वाले और पेट भरा रहने पर प्रसन्न, तथा भूख लगने पर रो-रोकर मुख लाल करके घर को सिर पर उठा लेने वाले नितान्त अबोध बालक के प्रति प्रकट होने वाले प्रेम को ही कहते है। बालक का रूप-सौंदर्य—अंगों की सुगढ़ता, स्निग्धता, शुभ्रता, कोमलता, सुकुमारता, सुडौलता—और आह्लादकारी चेष्टाएँ—वात्सल्य रस की वृद्धि में विशेष रूप में सहायक समझी जाती हैं। रहस्यदृष्टि-सम्पन्न भावुक या कल्पनाशील व्यक्ति बालक को देखकर उसकी सृष्टि करने वाले ईश्वर की भावना में मग्न हो जाते हैं और रहस्य की दृष्टि से देखने पर उसे अलौकिक प्रकाश व गुणों से सम्पन्न भी पाते हैं।

---

१. वि० दे०, पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका'. पृ० ३५-३७।

२. **विशेष देखिए**—V. Raghavan : '*The Number of Rasas*', p. 108—112.

सूर और तुलसी ने क्रमशः कृष्ण व राम की बाल-चेष्टाओं का वर्णन करते हुए उनके सम्बन्ध में अलौकिकता और ईश्वरीयता की भावना व्यक्त की है यह तो स्पष्ट ही है, क्योंकि दोनों भक्त-कवि कृष्ण व राम को साधारण बालक न समझ कर साक्षात् ब्रह्म का रूप ही मानते हैं; किंतु वर्ड्सवर्थ व पंत आदि कवियों ने स्वाभाविक कुतूहल व रहस्य भावना से उन्हें देखकर उनकी अलौकिकता दर्शाई है।[१] ऐसे भावुकों की दृष्टि में बालक सृष्टि का सब से निष्पाप, पवित्र व ईश्वरीय जीव है। टॉल्स्टाय ने स्वर्ग का साम्राज्य पृथ्वी पर बालक के रूप में ही देखा है।[२]

वात्सल्य प्रेम का महत्व जीवन व साहित्य दोनों में ही है—सभवतः जीवन में अधिक, साहित्य में कम। सूर और तुलसी जैसे कवियों ने ही वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति करके उसे रस कोटि तक पहुँचा दिया है। सूर तो वात्सल्य रस के अमर

---

१. देखिए, कवि की दृष्टि में बालक मूल रूप में कैसी आदर्शमयी, अलौकिक, प्रकाशपूर्ण व स्वर्गीय सत्ता है—

Our birth is but a sleep and a forgetting,
The Soul that rises with us, our life's Star,
Hath had elsewhere its setting.
And cometh from afar;
Not in entire forgetfulness,
And not in utter nakedness,
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home:
Heaven lies about us in our infancy!
Thou, whose exterior semblance doth belie
The Soul's immensity;
Thou best Philosopher, who yet dost keep
Thy heritage, thou Eye among the blind,
That, deaf; and silent, read'st the eternal deep,
Haunted for ever by the eternal Mind,
Mighty Profit! Seer blest!

—Wordsworth (*Immortality Ode*)

२. कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ? अये अभिनव, अभिराम।
निरे सांसों के पिंजर-द्वार ! कौन हो तुम अकलंक, अकाम ?
कौन तुम गूढ़, गहन, अज्ञात ? अहे निरुपम, नवजात !
विमल हिम-जल-से एक प्रभात कहाँ से उतरे तुम छविमान !

—पंत : 'पल्लव' की 'शिशु' नामक कविता से।

"Be ye like children, because there is the kingdom of heaven."

—Tolstoy

कवि ही हैं। बाल-विषयक रति रस-सामग्री से संपुष्ट होकर पूर्ण रस कोटि को पहुंच जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं। अतः काव्य में वात्सल्य-रस नामक रस का इस रूप में स्वीकृत होना सर्वथा न्याय्य है। किन्तु कुछ आचार्य इसे बाल-विषयक रति की ही संज्ञा से अभिहित करते हैं। इसकी अनुभूति से सहृदयों को अलौकिक व सात्विक आनन्द प्राप्त होता हुआ बराबर देखा जाता है।

प्रकृति-प्रेम

शृंगार, वीरता और भक्ति हमारे हृदय के अधिकांश भाग पर शासन करते हैं, किंतु फिर भी हृदय के पूर्ण विकास के लिए अभी और भी गुंजायश है। वस्तुजगत् व भावजगत् से अविच्छिन्न रूप से—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में—सम्बन्धित जो हमारे हृदय का मूलभाव है, वह 'रति' कहलाता है। इस 'रति' का क्षेत्र जितना ही व्यापक होगा उतना ही वह कवि के हृदय की व्यापकता का परिचायक होगा।[१] यह रतिभाव कांताविषयक व देवता विषयक ही नहीं होता प्रत्युत् देश-विषयक, मानव-प्रेम विषयक (अपनी संतान, पड़ौसी, देशवासी तथा मानवमात्र, प्रकृति-विषयक, पदार्थ-विषयक (मानवकृत पदार्थ, जैसे—भव, भवन, वस्त्र, अलंकार आदि) तथा प्रेम सौंदर्य व कला की सूक्ष्म भावनाओं व आदर्शों से सम्बन्ध रखने वाला भी होता है। जब कोई कवि या युग-काव्य 'रति' की सीमित परिधि को तोड़ कर अपने भाव-प्रसार का परिचय देता है उसी अनुपात में हम उस कवि या युग-हृदय की समृद्धि या विकास आँकने में समर्थ होते हैं। प्रकृति सम्बन्धी रति या प्रकृति-प्रेम हमारे हृदय के रति-वृत्त का एक महत्त्वपूर्ण खंड है। इस प्रेम की वाणी देना सम्पूर्ण हृदय की पूर्णता को वाणी देने का एक अनिवार्य अंग है।

मानव-प्रकृति व मानवेतर जड़-प्रकृति ब्रह्म की आत्म-प्रसार-स्फुरणा के नाते मूलतः एक है।[२] अतः मानव व प्रकृति का घनिष्ठतम सम्बन्ध है। एक से दूसरे को पृथक् करके देखना जीवन-समष्टि की वास्तविक सत्ता को न देखना है। चारों ओर के प्रकृति-प्रसार को देखकर मानव के हृदय में एक अनादि व चिर-निगूढ़ मुक्तितरंगवती प्रेम-भावना उत्पन्न होती है। यही प्रकृति-प्रेम काव्य मे भाव-व्यंजना तथा दृश्य-चित्रण दोनों का उपजीव्य है। काव्य में प्रकृति के जितने भी उपयोग होते

---

१. विशेष दे०—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'पदमाकर पंचामृत' की भूमिका; पं० चन्द्रवली पाण्डे द्वारा अ० भा० हि० साहित्य-सम्मेलन के बम्बई (३५वें अधिवेशन) में हिन्दी-साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से किया गया अभिभाषण; तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक लेख (चिंतामणि, भा० २ में)।

२. ऐतरेय उपनिषद्, ११, ११३; गीता, ७१७-८, १०१४१

हैं वे सब इसी प्रकृति-प्रेम से सार्थक व सप्राण होते हैं। किंतु आलंबनगत वर्णन या चित्रण के रूप में वह प्रकृति-प्रेम सब से अधिक प्रकट होता है। केवल स्वार्थमूलक मानव-प्रेम ही पर्याप्त नहीं। प्रकृति-प्रेम या प्रकृति की परिस्थितियों की आवतारणा के बिना कवि मानव जीवन का सरस-सलोना और लोचदार चित्र अंकित नहीं कर सकता। वास्तविक प्रकृति-प्रेम किसी एक रूप, दृश्य, वनस्थली या भू-खंड के ही प्रति प्रेम न होकर, कृत्रिम भौगोलिक सीमाओं को तोड़, समस्त प्रकृति के साथ तादात्म्य की अनुभूति है। यह अनुभूति जितनी ही संश्लिष्ट या समष्टिगत होती है उसमें उतना ही प्राण-प्रवेग रहता है। प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम वास्तव में विश्व भर से प्रेम करने की अनमोल प्रेरणा प्रदान करता है, अतः निर्बन्ध और मुक्त प्रकृति-प्रेम केवल अपने ही प्रांत या देश की प्रकृति तक सीमित रहना नहीं जानता। प्रकृति प्रेम मानव-प्रेम के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। और साथ ही वह हमें अपने चरित्र के प्रक्षालन की भी प्रेरणा देता है या दे सकता है।[१] वह हम में उदात्त भावनाएँ भर कर मनुष्यता की ज्योति जगाये रखता है। प्रकृति का दर्शन करते-करते हमें बहुमूल्य चित्तवृत्ति व अंतर्दृष्टि प्राप्त हो सकती है।[२] उसमें हमें मानव जीवन के गम्भीर से गम्भीर संदेश प्राप्त होते हैं और आनन्द की वह स्वर्गीय हिलोर और गंभीर मुक्ति-तरंग प्राप्त होती है जो कदाचित् और कहीं भी सम्भव नहीं होती।[३] प्रकृति के इसी

---

१. "...मानव जीवन के पुराने सहचर वृक्ष-लता, पगडंडी, पटपर, लम्बे मैदान लहराती जलराशि, वर्षा की झड़ी कोई पालतू या जंगली पशु, हमारी सोई हुई चेतना को जगाने में बहुत समर्थ हैं।" —(पं० रामचन्द्र शुक्ल)

२. इस सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ दृष्टव्य एवं माननीय हैं—

"That serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on,
Until, the breath of this corporeal frame
And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and become a living soul :
While with an eye made quiet by the power
Of harmony, and the deep power of joy,
We see into the life of things."

—Wordsworth : 'Tintern Abbey'.

३. वर्ड्सवर्थ की ये कुछ पंक्तियाँ इस आशय को स्पष्ट करेंगी—

"For I have learned
To look on nature, not as in the hour
Of thoughtless youth ; but hearing often-times
The still, sad music of humanity,

स्वास्थ्यकारी, सौम्य व गम्भीर प्रभाव के कारण प्राचीन आर्य ऋषि आश्रमों में जाकर कृति के जीवित सम्पर्क में निवास करते थे। यूरोप के रूस वर्ड्सवर्थ, टॉल्सटाय, रस्किन आदि लेखक अपने प्रकृति-प्रेम के कारण बहुत प्रसिद्ध है।

प्रकृति के प्रति हमारा वास्तविक प्रेम तभी प्रकट होता है जब हम उसके कोमल और मधुर रूपों के साथ ही पुरुष, रुखे, बेडौल व भीषण रूपों के प्रति भी आकृष्ट हों। केवल कोमल या व्यवस्थित रूपों के प्रति आकर्षण ही हमारे प्रकृति प्रेम का पूर्ण परिचायक नहीं। कटे-छँटे पेड़-पौधों या ऐसी ही चीजों को देखकर खुश होने वालों को आचार्य शुक्ल तमाशबीन कहते है, प्रकृति के सच्चे प्रेमी नहीं।[1] सच्चे प्रकृति-प्रेमी कवियों ने प्रकृति के रूखे और अनगढ रूपों के प्रति भी अपना गहरा प्रेम प्रकट किया है।[2] ऐसे ही कवि वास्तव में प्रकृति के सच्चे पुजारी है।

Nor harsh nor grating, though of ample power
To chasten and subdue. And I have felt
A presence that disturbs me with the joy
Of elevated thoughts; a sense sublime
Of something far more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,
And the blue sky, and in the mind of man;
A motion and a spirit, that impels
All thinking things, all objects of all thought,
And rolls through all things"

—Wordsworth : Tintern Abbey.

कालिदास, भवभूति और 'प्रसाद' आदि कवियों में यह चेतना प्रभूत मात्रा विद्यमान है।

१. चिंतामणि, भाग १ में 'कविता क्या है ?' नामक निबंध; तथा 'चिंतामणि', भाग २ में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक लेख।

२. भवभूति : 'उत्तररामरित'; कालिदास : 'रघुवंश', सर्ग १६, श्लोक ११ से २१ आदि स्थल दृष्टव्य है। अंग्रेज कवियों में से शैली (Shelley) का यह प्रकृति-प्रेम ध्यान देने योग्य है—

"I love snow and all the forms
Of the radiant frost;
I love waves, and winds, and storms,
Everything almost
Which is Nature's and may be
Untainted by man's misery."

—Quoted from '*Invocation*'

काव्य में प्रकृति का स्थायी महत्त्व व स्थान है। मानव अनादि काल से उसी की गोद में क्रीड़ा करता आया है। इसीलिए प्राचीन काव्यों में प्रकृति के प्रति आलम्बनगत प्रेम की भरपूर व्यंजना हुई है। किन्तु ज्यों ज्यों सभ्यता का कृत्रिम जाल फैलता गया, मानव अपनी जननी से दूर होता गया। उसका आनन्द भी केवल मानव जगत तक ही सीमित हो गया। काव्य में निरूपित प्रकृति में मानव हृदय को पूर्ण तृप्त या रसमग्न करने की भरपूर क्षमता है। पर हमारे आचार्य शताब्दियों से उसे केवल शृंगार रस के उद्दीपन की ही सामग्री समझते आये है। प्रसन्नता की बात है कि आधुनिक विचारक अब काव्य में प्रकृति वर्णन के द्वारा रस-निष्पत्ति की पूरी सम्भावना मानने लगे हैं जो उचित ही है।[1]

देश-प्रेम

सत्व-प्रधान व्यक्तियों का हृदय 'स्व' की सीमा से निकल कर विश्व-व्यापी होना चाहता है। देश-प्रेम विकास की इस आकांक्षा की एक महत्वपूर्ण मंजिल है। पूर्ण विश्वव्यापी होने की ललक प्रत्येक ऊर्ध्वमुखी व प्रबुद्ध व्यक्ति की आत्मा की एक चिरनिगूढ़ व सहज ललक होती है। किन्तु देश-काल की सीमाओं और शारीरिक मानसिक विवशताओं से सभी व्यक्ति उस दिशा में इच्छानुसार नही बढ़ पाते। हाँ, वे ग्राम, ग्राम से प्रांत, व प्रांत से भी आगे की विस्तृत परिधि देश। इस क्रम से सहज-सहज अपना आत्मप्रसार अवश्य कर सकते है। जो देश प्राय: एक ही भाषा, धर्म और संस्कृति को लिए होता है उस देश के साथ उसके किसी निवासी का तादात्म्य स्थापित करना अपेक्षाकृत सरल होता है। किन्तु जहाँ किसी देश में अनेक भाषाएँ, धर्म व सांस्कृतिक धाराएँ रहती हैं, उस देश के साथ एकाकार हो जाना अत्यन्त उच्च कोटि की मानसिक व आत्मिक साधना की अपेक्षा रखता है। अपने धर्म व संस्कृति के अतिरिक्त अन्य धर्म और संस्कृति के प्रति सहिष्णु तथा उदार होना हमारी उच्च संस्कृति का सूचक है। देश-प्रेम की भावना एक बड़ी ही उदात्त भावना

---

१. इस सम्बन्ध मे विशेष देखिए, हमारा ग्रन्थ—'कविता मे प्रकृति-चित्रण', प्रकरण द्वितीय; तथा, श्री परमेश्वर 'द्विरेफ' के कविता-संग्रह 'मरु के टीले' की भूमिका।

पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० उमाशंकर द्विवेदी इत्यादि विद्वान् प्रकृति-वर्णन में रस की सत्ता मानने के पक्षपाती जान पड़ते हैं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्पष्ट मत है— 'वह दिन अब जाता रहा है, जब प्रकृति सिर्फ उद्दीपन मात्र के रूप में या केवल सजावट के रूप में चित्रित की जाती थी, और यदि नहीं गया है तो जाने की तैयारी में है'—'हिन्दी साहित्य की भूमिका,' पृ० १३३।

है; किन्तु विश्वैक्य-भावना या विश्व-प्रेम तो उस से भी उच्च कोटि की वस्तु है। देश-प्रेम वस्तुत: अनेक प्रकार के प्रेम (जन्मभूमि-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, अतीत-प्रेम, मानव-प्रेम आदि) की एक संश्लिष्ट अनुभूति है। सच्चा देश-प्रेमी या देशभक्त अपने देश के समस्त अतीत वैभव (प्राचीन साहित्य, संस्कृति, कला आदि का चिरसंचित कोष) को प्यार करेगा, वर्तमान को व्यवस्थित करके देश के भविष्य को उज्ज्वलतम रूप में देखने का आकांक्षी होगा, देश का प्राकृतिक वैभव—समुद्र, पहाड़, नदियां, आकाश, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि—देखकर आनन्द से नाच उठेगा, यहाँ तक कि भूमि की मिट्टी से सन कर आह्लादित होगा, और अपने देशवासियों के साथ प्यार का बर्ताव करेगा। विज्ञान के कारण संसार ज्यों ज्यों संक्षिप्त हुआ जा रहा है, त्यों त्यों देश (पुराने अर्थो में) की भावना भी विस्तृत होती जा रही है। प्रताप या शिवाजी के लिए मेवाड़ या महाराष्ट्र ही 'देश' थे। किन्तु अब 'देश' बहुत बड़ा है। उसमें अनेक धर्म व संस्कृतियों के साथ एक विशाल भू-भाग की भावना भर गई है। इतने बड़े देश के प्रति जिसके हृदय में सच्चा प्रेम होगा वह व्यक्ति निःसदेह महान् है। राष्ट्रीयता की भावना का विकास अपने देश में इधर-उधर तीव्रता से हुआ है। भारत मे इस व्यापक देश-प्रेम का अत्यन्त सुन्दर रूप अथर्व वेद के मंत्रों में,[1] कालिदास की कृतियों में (जैसे, रघुवंश में) और शंकराचार्य द्वारा किये गये देश के सांस्कृतिक संगठन के प्रयत्नों में हमें मिलता है। मध्य युग में 'तुलसी' मे भी राष्ट्रीयता की हल्की सी भावना मिलती है।[2] घर, ग्राम व प्रांत आदि का प्रेम भी देश-प्रेम का अंग है। इस

---

१. अथर्ववेद में भारत की माता रूप में बड़ी ही विशद और गम्भीर भावना के दर्शन होते है। 'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः (१२, १, १०); माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२, १, १२); तस्यै हिरण्यवक्षे पृथिव्या अकरं नमः। (१२, १, २६) यस्यान्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्चकृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे। (१२, १, ४२); ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधि-भूम्याम्। य संग्रामा समितयस्तेषु चारु वदेम ते। (१२, १, ५६) तथा ऐसे ही अन्य (१२.१.१, १२.१.२, १२.१.३, १२.१.५, १२.१.११, १२.१.२६, १२.१.३६, १२.१.४४ आदि) मंत्रों में भारत माता के प्रति ऋषियों के अत्यन्त रसमय व प्राणवान् भाव-स्फोट हुए है।

(विशेष देखिए—Dr. R. B. Pandey : '*Atharvavedic Conception of the Motherland*', an article in B.H.U. Journal, Silver Jubilee Number, 1942).

उपरोक्त उद्धरण व संकेत वहीं से लिये गये हैं।

२. 'भलि भारतभूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि के...'

—कवितावली

प्रेम का हमारे रागात्मक हृदय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः काव्य में भी इसका बहुत महत्त्व है। राष्ट्रीयता की आधुनिक भावना के साथ काव्य में भी इसका स्थान और महत्त्व बहुत बढ़ चला है।

विश्व-मैत्री या मानव-प्रेम

सत्व-प्रधान व्यक्तियों के लिए देश-प्रेम अथवा राष्ट्रीयता विश्व-प्रेम या अन्तर्राष्ट्रीयता की एक सीढ़ी मात्र है। पर, है देश-प्रेम भी एक अनिवार्य सीढ़ी। जो व्यक्ति देश (घर, नगर, ग्राम, प्रान्त आदि) से प्रेम नहीं कर सकता वह विश्व से क्या करेगा ? जिन व्यक्तियों का हृदय क्षुद्र कठघरों को तोड़-फोड़ कर उड़ जाने में समर्थ है, वे ही महानुभाव इस उच्च कक्षा के प्रेम के अभ्यास और आचरण में लीन रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का हृदय राष्ट्रीयता, जाति, भाषा, धर्म तथा भौगोलिक सीमाओं को लाँघ कर या तोड़ कर मानवमात्र का प्रेमी हो जाता है। ऐसे ही व्यक्तियो का चरित्र प्रांतप्रेमी या देशप्रेमी के चरित्र से कई गुना अधिक मोहक होता है। प्राणीमात्र अथवा मानवमात्र से प्रेम की भावना आज की ही भावना नही है। भारत में यह किस सीमा तक बढ़ चुकी थी, यह इस उक्ति में ध्वनित हो रहा है—

"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

किन्तु आज जब कि संसार में राष्ट्र-राष्ट्र, धर्म-धर्म, तथा भाषा-भाषा का पारस्परिक संघर्ष छिड़ा हुआ है, इस प्रेम का प्रकाशन कवियों के काव्य में एक नवीन ही कांति धारण करता दिखाई दे रहा है। विश्वशांति तथा विश्वप्रेम के अग्रगण्य महापुरुषों (स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महात्मा गाँधी, रवीन्द्र, 'प्रसाद', संत विनोबा, रोम्यांरोला, टॉल्स्टॉय, एम० एन० रॉय आदि) ने मानवप्रेम की समस्या को आज के युग में हल करने का यथा-शक्ति प्रयत्न किया है। विश्वप्रेम या मानवप्रेम आज की जीवित ज्वलन्त समस्या है, अतः साहित्य में इस भावना का महत्त्व स्वाभाविक ही है। इस प्रेम में मनुष्यता की सबसे कड़ी साधना निहित है। वस्तुतः मानवप्रेम अपने विकास के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ कर 'प्रेम' की वह संज्ञा धारण कर लेता है जिसके पहले किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं। पर, एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है। क्या अन्तर्राष्ट्रीयता (मानवता नहीं) के लिए हमें राष्ट्रीयता छोड़ देनी चाहिये, क्योंकि वह सीमित है ? उत्तर यह है कि राष्ट्रीयता यदि अन्तर्राष्ट्रीयता में आत्म-विकास की दृष्टि से पूर्ण, या अधिकांश में बाधक हो तो उसका त्याग किया जा सकता है। यों जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह आगे बढ़ने का एक सोपान है, मंज़िल है। दृष्टि में अच्छे संतुलन का विकास करके हम अच्छे राष्ट्रीय भी बने रह सकते हैं और अच्छे अन्तर्राष्ट्रीय भी। जो देश की छोटी सीमा में रहकर ही कुछ न कर सका वह विश्व भर का क्या भला करेगा !

हम तो समझते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र या देश वर्णमाला के अक्षर की तरह अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता या इकाई रखता है। एक अक्षर दूसरे अक्षर का स्थानापन्न नहीं। राष्ट्र-प्रेम मानव-प्रेम या विश्व-प्रेम की प्रयोगशाला है। विश्व में हम किसी राष्ट्र के निवासी है, यह कहलाना भी (जब तक हम पूर्ण जीवन्मुक्त परिव्राजक न हो जायें) अत्यन्त आवश्यक है। उससे हमारे व्यक्तित्व की स्पष्ट पहचान होती है। किस भौगोलिक सीमा और किस ऐतिहासिक परिवेश में हमने (राष्ट्र के रूप में) सहस्रमुखी सत्य के किस पक्ष या रूप के दर्शन करने का प्रयत्न किया है, यह भावना राष्ट्रीयता की भावना से ही सम्भव है। जो डाल का नहीं वह कहीं का नहीं। इतना होते हुए भी मानव-प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वात्मा ही हमारा अन्तिम लक्ष्य है, और उसी पर टकटकी लगी रहनी चाहिए।

कुटुम्ब-प्रेम

कुटुम्ब का प्रेम साधारणत: सामान्य मानव के प्रेम की अन्तिम सीमा का सूचक है। पर, अपने घेरे में यह प्रेम भी प्रेमी के त्याग, सहयोग, सहिष्णुता, सेवा-परायणता आदि गुणों का परिचायक है। मानव का प्रेम जहाँ कुटुम्ब की छोटी सीमा में ही सीमित रह कर अपने पूर्ण और सुडौल विकास की संभावनाओं से अपरिचित ही रह जाता है वहाँ वह अपने परिष्कार, तीव्रता, व गम्भीरता के लिए नित-नई भूमियां, उतार-चढ़ाव व मोड़ भी पाता चलता है। इसलिए इस छोटी सी सीमा में भी, छोटे पैमाने पर त्याग, विसर्जन, सहिष्णुता व नि:स्वार्थ सेवा आदि गुणों के भव्य उदाहरण देखने को मिलते हैं। कुटुम्ब में छोटे के बड़े के प्रति, बड़े के छोटे के प्रति, और कभी कभी समवयस्कों के प्रति पारस्परिक प्रेम-व्यवहारों में हृदय की सभी वृत्तियों के विकास का सुन्दर अवसर व अनुकूल वातावरण मिलता है। कुटुम्ब ही हमारी परीक्षा का वास्तविक स्थल है। वहीं हमारा प्रेम निर्मल व विकासोन्मुख होने का अभ्यास पाता है। कुटुम्ब अपने आप में एक छोटा सा विश्व है। कुटुम्ब के प्रेम का अभ्यास करके ही शनैः शनैः विश्व भर के प्रति कुटुम्ब की भावना का विकास हो सकता है। कुटुम्ब का प्रेम अत्यन्त आवश्यक भी है। कौटुम्बिक स्नेह के अभाव में व्यक्ति (मुख्यत: शिशु या किशोर) के मन का पौधा बिना जल के वृक्ष की तरह असमय ही सूख जाता है। आज तो सम्मिलित परिवार प्रथा छिन्नभिन्न सी हुई जा रही है। कुटुम्ब के प्रति प्रेम भी अन्य प्रकार के प्रेम की तरह एक पूर्ण सात्विक कोटि का प्रेम है या हो सकता है। मन को सजीव, सरस, स्निग्ध, प्रफुल्लित तथा स्वाभाविक बनाये रखने के लिए, माँ, बाप, पत्नी, बहिन. भाई, भाँभी, अनुज आदि सदस्यों से निर्मित परिवार एक प्राकृतिक साधन है। सामाजिक परिस्थितियों के कारण अब सम्मिलित कुटुम्ब व्यावहारिक न हों, यह दूसरी बात है। काव्यों में बराबर इस प्रेम की भरपूर व्यंजना होती आई है। राम-भक्ति व कृष्णभक्ति से

सम्बन्धित काव्यों में इसका बहुत सुन्दर रूप मिलता है। वस्तुतः इस प्रेम में हृदय को सरस व सजीव बनाने की या बनाये रखने की भरपूर क्षमता है। काव्य के माध्यम से यह प्रेम हमारे जीवन को सजीव व प्रफुल्लित बनाये रख सकता है।

यहाँ लगे-हाथों समाज और कुटुम्ब आदि के प्रति ज्ञानियों (?) के दृष्टिकोण पर कुछ विचार कर लेना भी कदाचित् अप्रासंगिक न होगा। न जाने किन विकृत सामाजिक परिस्थितियों अथवा जीवन के प्रति आनन्द की भावना से सराबोर प्राचीन वेदान्त के विकृत रूप के व्याख्याताओं तथा धार्मिकों ने कुटुम्ब के प्रति घृणामूलक भावों के बीज हमारी चेतना में फेंक दिये कि उसका न्यूनाधिक प्रभाव आज तक भी देखने में आता रहता है। हमारी समझ में तो यह उसी प्राचीन उपदेश का प्रभाव है कि संसार नश्वर है, मिथ्या है, माया है, आदि। इस दृष्टिकोण का व्यापक कु-प्रभाव किस प्रकार हमारी जातीय-सांस्कृतिक चेतना पर पड़ा है, इसे विस्तारपूर्वक बताने का यहाँ अवकाश नहीं। यहाँ केवल इतना ही कहेंगे कि विश्व-संगठन और समाज-संगठन के इस युग मे यह दृष्टिकोण या धारणा पूर्णतया मार्जनीय है। तत्त्व-चिन्ता की दृष्टि से यह बात बहुत कुछ ठीक कही जा सकती है कि कुटुम्बी, मित्र, पड़ौसी आदि सब स्वार्थी हैं। यह तो जगत्-जीवन का शाश्वत रूप ही है अतः इसमें मतभेद की गुँजायश ही कहाँ। पर, समाज के बीच इस प्रकार का प्रचार करके दैनिक जीवन में विष की हवाएँ बहाना सभी दृष्टियों से (सूखे ज्ञान की दृष्टि को छोड़ कर) घोर सामाजिक पाप है। विश्व के पुनर्सङ्गठन और व्यापक सामाजिक व्यवस्था के इस युग में इस प्रकार की असामयिक विचारधारा का पोषण नहीं किया जा सकता। हम तो इन सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों में ही लहलहाते मानव-भविष्य की कल्पना करते हैं। कितना रसीला और पवित्र शब्द है 'बहिन'! कितना आह्लादक और स्फूर्तिदायक शब्द है 'भैया'। 'मां' और 'पिता' शब्दों में क्या भरा है, सोचिये तो! 'पति' और 'पत्नी' शब्दों में कितनी गहरी गूँज है! 'भाभी' शब्द में कितनी मिठास और रीझ-खीझ है! 'देवर', 'ननद', 'नानी', 'ताई' 'चाची'—सब शब्द क्या कह रहे हैं! और अब कल्पना कीजिए इस भरे-पूरे उद्यान की। अपने आदर्श रूप में यह पृथ्वी पर स्वर्ग का खंड ही है! हमारे श्रेष्ठ जातीय काव्यों में इस समष्टि की कितनी माधुरी प्रवाहित हुई है। ऐसे कुटुम्ब के प्रति उपेक्षा या घृणा का उपदेश देना कुछ समझ में नहीं आता! हम तो समझते हैं कि यदि विश्व की सरकारें सुखी कुटुम्ब की कल्पना को ही सामने रख कर चलें तो वे कृतकार्य हो जायँ। विश्व की सुख-शांति का अनुमापक व्यक्ति के सुख-स्वातन्त्र्य के साथ सुन्दर और सुखी परिवार ही माना जायगा, और माना जाना चाहिए।

मैत्री

मानसिक एकता के आधार पर प्रायः समवयस्कों की पारस्परिक प्रीति को

'मैत्री' कहते हैं। इसका रूप भक्ति (पूर्ण व निःसंकोच मानसिक तादात्म्य के कारण) व दाम्पत्य प्रेम (प्रणय) में भी समाविष्ट हुआ मिलता है। जहाँ ईश्वर की भी मित्र-भाव से उपासना की जाती है (जैसे ऊधव, सुदामा और अर्जुन की श्रीकृष्ण के प्रति प्रीति) वहाँ तो मैत्री का रूप स्पष्ट ही है, किन्तु पति-पत्नी का प्रेम भी वस्तुतः मैत्रीमूलक है क्योंकि उसमें तन और मन दोनों का मिलन घटित होता है। साधारणतः स्त्रीवर्ग में दो समवयस्काओं (सखियों) की या पुरुषवर्ग में दो समवयस्कों की मित्रता ही 'मैत्री' की संज्ञा से अभिहित होती है। जहाँ इस प्रेम में निष्छद्म और निःसंकोच व्यवहार-स्वातन्त्र्य या बाह्य अनौपचारिकता से प्रेम की वृद्धि तथा प्रगाढ़ता की पूर्ण संभावनाएँ दिखाई पड़ती हैं वहाँ तुलसीदास जैसे कवि समवयस्कों की इस मित्रता के बहुत पक्षपाती नहीं जान पड़ते। उनका तर्क है—

> कै लघु कै बड़ मीत मल, सम सनेह दुख होय।
> तुलसी ज्यौ घृत मधु सरिस मिले महा बिस होय॥ (दोहावली)

यह तुलसी के मर्यादावाद का प्रभाव तो है ही, पर मनोविज्ञान की दृष्टि से भी इसमें पर्याप्त सचाई दिखाई पड़ती है। फिर भी यह तो कहा ही जायेगा कि समवयस्कों की मित्रता से सुलभ मैत्री-रस के बिना जीवन स्वाद-रहित ही हो जायगा। सम के अभाव में 'लघु' और 'बड' मीत से ही मन कैसे सदा पूर्ण संतुष्ट रहेगा, यह समझते नहीं बनता। कृष्णभक्ति मार्ग में सख्यप्रेम (श्रीकृष्ण—गोप-गोपियों का प्रेम) का कितना महत्व है, यह सर्वविदित है। कविवर रवीन्द्र भी प्रभु को, अपने आत्मोल्लास और मुक्ति के क्षणों में, मित्र के रूप में ही पाते है।[1]

श्रद्धा

अपने से आयु में बड़े या किसी विशिष्ट गुण (शारीरिक बल, बौद्धिक विकास, शील, साधन-सम्पन्नता या प्रतिभासम्पन्नता आदि) में वृहत्तर किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम को हम 'श्रद्धा' कहते हैं (किसी सूक्ष्म गुण—जैसे सदाचार या किसी पूज्य ग्रंथ रामायण, गीता आदि के प्रति प्रेम को हम निष्ठा भी कह सकते हैं)। श्रद्धा में पूज्य बुद्धि का संचार प्राथमिक तत्व है। अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़कर या उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन करते हुए, स्व-लाभ-भावना से सर्वथा रहित हो, किसी वास्तविक गुणी व्यक्ति के महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति ही श्रद्धा-भावना का आधार है। श्रद्धा में व्यक्तिगत प्रेमसम्बन्ध थोड़ा बहुत हो भी सकता है और नहीं भी। हम किसी को जीवन भर आँख से न देखें फिर भी वह व्यक्ति हमारा श्रद्धेय हो सकता है। श्रद्धा का आधार कर्म (वीरता, उदारता या लोकोपकार के

---

1. ......Drunk with the joy of singing I forget myself and call thee friend who art my lord."— *Gitanjali*, p. 2.

कार्य, उच्च कोटि की साधना आदि) है, व्यक्ति नहीं। जब तक किसी विशेष गुणी व्यक्ति या आराध्य के प्रति हमारा लगाव उसके कार्य-व्यापार या गुणादि के कारण रहता है तब तक तो उसके प्रति हमारा प्रेम श्रद्धा मात्र ही कहलाता है, किन्तु आगे बढ़कर यदि उसके प्रति हमारा सम्बन्ध व्यक्तिगत प्रेम के रूप में स्थापित हो जाता है तो वह श्रद्धा 'भक्ति' के रूप में परिणत हुई कही जाती है। देवता, ऋषि-मुनि, नेता, आचार्य, गुरु, कोई लोकोपकारी महात्मा या ऐसे ही व्यक्तियों के प्रति हमारा प्रेम 'श्रद्धा' कहलाता है। प्रगाढ-व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्ध हो जाने पर इन सब के प्रति भक्ति भी हो सकती है। यह प्रेम प्राचीन व नवीन दोनों ही काव्यों में चित्रित हुआ है। देशोद्धार के नवीन आयोजनों तथा नवीन सांस्कृतिक उत्थान के साथ हम में पूज्य बुद्धि का संचार अब नए ढंग से हो रहा है। देश-भक्ति के आन्दोलनों के साथ ही अनेक लोकोपकारी देशभक्तों के बलिदान-पूर्ण जीवन का वृत्त काव्यों में अधिकाधिक वर्णित हुआ है। पूज्य व्यक्ति, श्रेष्ठ ग्रन्थ, तथा उच्च गुणों के प्रति मानव-मन का एक अंश सदा सुरक्षित रहा है और रहेगा। श्रद्धा-भावना में मन को शुद्ध व संयत करने की गहरी शक्ति विद्यमान है इसलिए काव्यों में भी इसका पर्याप्त समावेश हुआ है।

सेव्य-सेवक प्रेम

सेवक और स्वामी के पारस्परिक सम्बन्ध में जो प्रेम प्रकट होता है वह प्रेम भी हमारे अन्तःकरण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह प्रेम (मुख्यतः मानसिक व शारीरिक शोषणमूलक सामाजिक विषमताओं के कारण ही) व्यापक सामाजिक धरातल पर दो वर्णों—उच्च वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) तथा निम्न वर्ण (शूद्र) के बीच सदा से, समाज के बीच, प्रकट होता आया है। पर अब नवीन राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों व विश्व-व्यापी मानवता के आन्दोलनों के परिणाम-स्वरूप पारस्परिक सेव्य-सेवक-सम्बन्ध-भावना निरन्तर शिथिल होती जा रही है। वर्ण-व्यवस्था के आरम्भिक युग में भारत में इस सामाजिक सम्बन्ध में यह बात निहित थी कि सेवक प्राणपण से सेव्य की सेवा करें और सेव्य अपने सेवक को सब प्रकार से संतुष्ट रखे। यह व्यवस्था समाज की सुचारुता के लिये थी। किन्तु कालांतर में सेव्य वर्ग में सेवक वर्ग के प्रति संग्रह, भोग और शोषण की वृत्ति के परिणाम-स्वरूप घृणा या उपेक्षा का भाव भर गया। स्वभावतः सेव्य वर्ग के क्षोभ ने संगठित होकर राजनीतिक रूप ग्रहण कर लिया और समानता और मानवीय व्यवहार की मांग हुई। जब सेव्य वर्ग अपने आदर्शों से गिर जाय तो सेवक वर्ग अपने अधिकारों के प्रति सजग हो, वह सर्वथा उचित है। गांधी जी ने समाज के हरिजन-सेवकों के प्रति हमारे हृदय में स्नेह बनाये रखने का जो प्रयत्न किया था वह इसी प्रेम-भाव की रक्षा की प्रेरणा से था। संभ्रान्त परिवारों में स्वामी-सेवक के बीच का प्रेम अब

भी दिखाई पड़ता है। आधुनिक साहित्य में श्रमजीवियों, मजदूरों व हरिजनों आदि की समस्याओं का चित्रण भी विशेष रूप से होने लगा है। राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता की कटुता का परिहार काव्य में उक्त प्रेम के चित्रण के द्वारा बहुत सम्भव दिखाई पड़ता है। वस्तुतः सेव्य-सेवक प्रेम एक उच्च कोटि का प्रेम है, पर है यह मानव-मानव की असमानता का द्योतक। राम-भक्त हनुमान व भक्त कवि तुलसी ने राम के प्रति सच्चे सेवक का भाव धारण करके ही अपना परम उद्धार कर लिया अतः वे इस प्रेम के आदर्श हैं। किन्तु सिद्धान्त रूप में इस प्रेम का पोषण नही किया जा सकता। सामाजिक विषमताओं के कारण मनुष्य किसी की शारीरिक व मानसिक दासता करने पर वाध्य हो ऐसी स्थिति ही समाज में क्यों रहनी चाहिये। जहाँ तक महापुरुषों की शारीरिक व मानसिक सेवा का प्रश्न है, उसका सम्बन्ध व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्र इच्छा से है, क्योंकि ऐसी सेवा सच्चे सेवक स्वेच्छा से सब युगों में करते आये है और करते रहेंगे। निष्काम भाव से, आत्म-सुख की दृष्टि से, किसी चरित्रवान् व लोक-कल्याणकारो की सेवा जीवन की अवश्य एक ऊँची वृत्ति है।

सूक्ष्म (के प्रति) प्रेम

किसी भी प्रेम-सम्बन्ध में 'दो' की सत्ता आवश्यक है—प्रेमी व प्रिय की। प्रेमी या प्रेमभाव का अनुभव-कर्त्ता तो चेतन मानव ही हो सकता है, किन्तु प्रिय चेतन या शरीरधारी न होकर सूक्ष्म, जड़ या अशरीरी भी हो सकता है। अर्थात्, प्रेमी किसी सूक्ष्म भाव, पशु (हरिण, तोता, कुत्ता आदि) या जड़ वस्तु (प्रतिमा, पेड़ आदि) से प्रेम करके भी वही परिणाम प्राप्त कर सकता है, जो अन्य प्रकार के प्रेम सम्बन्धों से प्राप्त होते हैं। पर इस स्थिति में प्रेम शारीरिक न होकर पूर्णतः मानसिक ही रह जाता है। स्थूल को छोड़कर (जीवन की किसी असहाय विवशता या विषमता से) सूक्ष्म के प्रति प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना प्रेम की सूक्ष्मता की ओर बढ़ना है। बात यह है कि चेतन मानवों के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों में तो आदान-प्रदान की व्यावहारिक भावना लगी रहती है, किन्तु सूक्ष्म के प्रति प्रेम सम्बन्ध में प्रेम आदान-प्रदान की स्थूल भावना से मुक्त होकर शुद्ध व निर्मल हो जाता है। मानव की उदात्त भावनाएँ सूक्ष्म के प्रति प्रेम से बहुत अंशों तक तृप्त होती हैं। कदाचित् सूक्ष्म के प्रति प्रेम का चर्मोत्कर्ष ही ईश्वर-प्रेम है। इस सूक्ष्म प्रेम के अन्तर्गत हम विद्या-प्रेम, कला-प्रेम (संगीत, चित्र व काव्य आदि का), आदर्श-प्रेम, भावना के प्रति प्रेम और बुद्धि, गुण, सदाचार आदि के प्रति प्रेम की सूक्ष्म भावनाओं को सम्मिलित कर सकते है। सूक्ष्मजीवी भावुकों के लिये इन भावनाओं के प्रेम में कोरे स्थूल के प्रेम की अपेक्षा अधिक तृप्ति या संतोष का अनुभव निहित है। इस सूक्ष्म प्रेम में हम शनैः शनैः हृदय की मुक्ति को, मानवी बन्धनों में ही रह कर, पाने का उद्योग कर सकते हैं। प्रेम का सबसे बड़ा लक्षण है तृप्ति, मन की

मुक्ति या संतोष। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में ही अधिक सरलता से प्राप्य है। निर्गुण भक्ति व सगुण भक्ति को भी हम इसी सूक्ष्म प्रेम के अन्तर्गत रख सकते है। निर्गुण में जहां प्रतीक या प्रतिमा आदि की कोई मध्यस्थता अपेक्षित नहीं होती वहाँ तो सूक्ष्म के प्रति प्रेम स्पष्ट ही है, किन्तु सगुण भक्ति में भी (जहां मूर्ति, चित्र या अवतार आदि केवल निमित्त मात्र ही रहते है) प्रकारांतर से सूक्ष्म के प्रति प्रेम प्रकट होता है। तुलसीदास जी निर्गुण से सगुण को बड़ा अवश्य बताते हैं फिर भी ज्ञान व भक्ति को एक ही कहते है—

ज्ञान हि भगति हि नहिं कछु भेदा। उभय हरहि भव संभव खेदा॥
—मानस (उत्तरकांड)

सूक्ष्म के प्रति प्रेम की व्यंजना अन्य प्रकार के प्रेम (जैसे, दाम्पत्य प्रेम, प्रकृति-प्रेम, वस्तु-प्रेम आदि) के ढांचे में जरा मुश्किल से खपेगा। सूक्ष्म के प्रति प्रेम में तत्सम्बन्धी प्रेमियों को पूर्ण रस की अनुभूति हो सकती है पर साहित्य-शास्त्री तो उसे भाव मात्र ही मानेंगे। कांताविषयक प्रेम ही उनकी दृष्टि मे पूर्ण रस कोटि को पहुंचता है। अन्य प्रकार के पेम में तो आलम्बन स्पष्ट रहता है, किंतु यहां आलम्बन के नाम पर केवल सूक्ष्म भावना ही रहती है। तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत प्रसंग में आलम्बन मानसिक ही होता है। शास्त्रीय दृष्टि से इसी कारण इस भाव के रस-रूप में परिणित होने का प्रश्न ही नही उठता। हाँ, आश्रय, सूक्ष्म के प्रति प्रेम का अनुभवकर्ता कलाविद्, कलाकार या कोई भी आदर्श-प्रेमी व्यक्ति हो सकता है। आनन्द या संतोष-जन्य शारीरिक चेष्टायें या मुद्रायें अनुभाव, तथा हर्ष, औत्सुक्य (जीवन की सूक्ष्मताओं के रहस्य को जानने की उत्तरोत्तर जिज्ञासा) मति, दैन्य (शास्त्राभ्यास या कला के अभ्यास से जीवन के गम्भीर तथ्यों को समझ कर अपनी लघुता या क्षणभंगुरता सम्बन्धी भावना) आदि संचारीभाव है। कवियों, कलाकारों, दार्शनिकों आदि की साधना में हम इसी सूक्ष्म के प्रति प्रेम की अनेकरूपता के दर्शन करते है। सुदूर व स्वर्णिम आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न ही उनकी सृजन-प्रेरणा या मनीषा को उच्छ्वसित करता रहता है।

स्थूल के प्रति प्रेम[1]

स्थूल के प्रति प्रेम अथवा पदार्थ-प्रेम के अन्तर्गत दृश्यमान् जगत् के सब पदार्थों—प्रकृतिजगत् व मानवजगत् के सब पदार्थ तथा मानवकृत (Manufactured) पदार्थ—के प्रति प्रेम का ग्रहण हो सकता है। हम संसार में एक ही साथ या एक ही समय सब पदार्थों को समान भाव से प्रेम नहीं कर सकते क्योंकि हमारे हृदय की

---

१. यह प्रेम शास्त्रीय दृष्टि से 'माया रस' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। विशेष देखिए—V. Raghavan: '*The Number of Rasas*, (1940), p. 138-140.

रागात्मकता की भी एक सीमा व शक्ति होती है । स्वार्थ की संकुचित मनोवृत्ति वाले व्यक्ति अधिक से अधिक अपनी या अपने परिवार की ही वस्तुओं के प्रति प्रेम रखते हैं । उन्हें पराई वस्तुओं से वैसा प्रेम नही हो सकता । हमें अपने बाग का फूल सुन्दर लगता है, दूसरे के बाग का उतना नहीं । किंतु 'स्व' तथा 'पर' की लकीरें टूटने पर हमारा प्रेमभाव समस्त पदार्थ-जगत् तक परिव्याप्त हो सकता है। पदार्थों के प्रति यह प्रेम दो प्रेरणाओं से जागृत रह सकता है—(१) व्यक्तिगत मादनभाव के प्रेम की अनुकूलता, सफलता और उसकी तीव्र संवेदना से और (२) प्रेम-पथ की निराशा और असहायता से । बात यह है कि हमारे जीवन की रागात्मकता का मूल स्रोत हमारे प्रणय-सम्बन्ध हैं । प्रेम की अनुकूलता के उल्लास में सृष्टि के सब पदार्थों के प्रति एक विशेष प्रेम दृष्टि विकसित हो जाती है यही दृष्टि (विशेषत: भावुक व्यक्तियों में) क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थों तक में प्रेम के प्रभाव से अलौकिक सौदर्य ढूँढ निकालती है । प्रेम की उमंग अथवा उछाल से, सम्बन्ध भावना के कारण, अपने प्रिय से सम्बन्ध रखने वाले ही नहीं, बल्कि सृष्टि के अन्य पदार्थ भी एक अभिनव शोभा से सम्पन्न–से जान पड़ने लगते है । दृश्यजगत् में सौंदर्यानुभव करने का यही मूल रहस्य है । यह तो हुई जीवन में प्रेमानुभव की अनुकूलता की बात । अब प्रेम की निराशा या असफलता को लें, क्योंकि पदार्थप्रेम के साथ उसका भी घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रेम-पथ में अनुभूत निराशा या असफलता में वे ही सब पदार्थ विरक्तिजनक, सौंदर्य-हीन, और निष्प्रभ जान पड़ने लगते हैं जो संयोग सुख में अलौकिक दीप्ति से मण्डित जान पड़ते थे । ऐसी मानसिक दशा में सुन्दर से सुन्दर भोग्य पदार्थो में भी दृष्टा को कोई सौदर्य नहीं दिखाई पड़ता; उनसे किसी तरह का रागात्मक लगाव नहीं जान पड़ता । सब पदार्थ केवल जड़, ऊष्माहीन, बुझे हुए तथा निरानन्द से जान पड़ते हैं । यह मनोविज्ञान का सत्य है । किन्तु हमें सूखे ठूँठ, बबूल के कँटीले पेड़, टूटी चारपाई, फटे वस्त्र, पुराने पत्र, खंडहर तथा टूटी कलम आदि पदार्थों से भी प्रेम हो सकता है । पर कब ? जबकि इनके साथ हमारे जीवन का कोई गहरा और पुराना सम्बन्ध हो; इन पदार्थों से सम्बन्धित जीवन का स्वर्णिम और मधुर युग सब दिनों के लिए जा चुका हो, जब तांबे के रंग की कुम्हलाई और सूखी पत्तियों के करुण मर्मर स्वर में और शिशिर की कजलाई, उदास और पथराई साँझों में हमारे लिये अभिनव सौंदर्य भर आया हो । वस्तुत: ये पदार्थ अपने आप में प्रिय नहीं हैं । किंतु सम्बन्ध-भावना या प्राचीन स्मृतियों की मधुरिमा से संसिक्त होकर ये सुन्दर हो उठते हैं । अभिप्राय यह है कि जगत् के स्थूल पदार्थो के प्रति भी हमारे हृदय में प्रेम होता है जो हमारे अन्य विशिष्ठ प्रेम-सम्बन्धों पर आधारित होता है । इस भाव की परम्परा में हम सृष्टि के कण-कण से प्रेम कर सकते हैं । सारी सृष्टि और उसके पदार्थों के प्रति स्वार्थरहित मन से प्रेम करना कोई सरल

बात भी नहीं। किन्तु रूप-रचना आदि की प्रशंसा (appreciation) के बहाने किसी भी स्थान-वस्तु आदि के सम्बन्ध में प्रशंसा के दो शब्द कहना सभ्यता का लक्षण है। शिष्टाचार-सम्बन्धी यह गुण, बहुत अच्छे परिमाण में, हमने अपने कई विदेशी मित्रों में देखा है।

इन रूपों के अतिरिक्त प्रेम का एक रूप और है जिसे हम अत्यन्त असाधारण मनस्थिति के कारण, विलकुल स्वतन्त्र महत्त्व नही दे सकते। यह प्रेम है 'स्व-प्रेम' (Self-love)। जटिल मानसिक अवस्थाओं में कभी-कभी व्यक्ति, प्रेम के सब उद्गम सूख जाने पर, अपने से ही प्रेम करने लगता है। अपने को पुचकारना, सिर पर हाथ फेरना, शरीर सहलाना आदि क्रियाओं की स्वाभाविकता को मनोविज्ञान का भी समर्थन प्राप्त है। इस प्रेम का बहुत सूक्ष्म और प्रत्यक्ष रूप देखने में आता ही रहता है—आबाल वृद्ध नर-नारी का शीशे में अपना रूप निहारना आदि।

ये है प्रेम के विविध रूप। जिस हृदय में प्रेम के ये सब रूप एक ही साथ उचित अनुपात में प्राप्त होते है वह हृदय स्वस्थ हृदय कहलाता है। किंतु नश्वर मानव प्रतिक्षण देश-काल के बंधनों में बंधा हुआ है, अतः साधारणतः उसका प्रेम एक सीमा तक ही विकसित हो पाता है। मनुष्य प्रेम-सम्बन्धी पूर्णता का अनुभव करना तो चाहता है किंतु कर नही पाता। कारण यह कि उसकी अनुभूति सामाजिक रूढ़ि, शिक्षा व वातावरण की प्रतिकूलता, आर्थिक विपमता आदि कारणों से अपरिपक्व ही रह जाती है। इसीलिए वह क्षतिपूर्ति के लिए किसी ऐसी सत्ता, लोक या मानस-मूर्ति की कल्पना करने के लिए बाध्य होता है जिसमें उसे प्रेम का पूर्ण आदर्श पूंजीभूत रूप में प्राप्त हो जाये। कदाचित् मानव-हृदय भक्ति मार्ग में जाकर ही उस ईश्वर को खोज पाया जो पूर्ण प्रेममय है। हिंदुओं के राम व कृष्ण तथा ईसाइयों के ईसा मानो ऐसे ही प्रेम के पूर्ण प्रतीक हैं।

सब प्रकार के प्रेम सम्बन्धों का निरूपण परम्परागत काव्य-शास्त्र द्वारा स्वीकृत रस के ढाँचे में ढाल कर किया जा सकता है। इन सब प्रेम-रूपों का स्थायी भाव "रति' ही है जो प्रेम के रूप-भेद से अनेक संज्ञायें धारण कर सकती है। सब प्रेम रूपों की शास्त्रीय विवेचना आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, स्थायी भाव, संचारी भाव आदि रस के उपकरणों के अनुसार करने का प्रयत्न हो सकता है।[1]

ऊपर प्रेम के जो अनेक भेद किये गये हैं वे वस्तुतः वैज्ञानिक स्पष्टता की दृष्टि से ही हैं। एक ही हृदय में ये सब प्रकार के प्रेम समन्वित अथवा संश्लिष्ट रूप में गतिशील रहते हैं। पृथक्-पृथक् भेद देख कर ऐसा न समझ लिया जाय कि हृदय में इनके लिए कुछ अलग-अलग खंड बने हुए हैं।

---

१. देखिए, ग्रन्थ के अन्त में 'परिशिष्ट' में प्रेम के व्यापक क्षेत्र का चार्ट।

सौंदर्य

'प्रेम' के इस विवेचन के बाद अब 'सौंदर्य' पर विस्तृत विचार करना आवश्यक है। सबसे पहले 'सौंदर्य' शब्द और उसमें निहित अर्थों पर विचार करना उत्तम होगा।

१. व्युत्पत्ति, शब्दार्थ व परिभाषाएँ :

व्युत्पत्ति :—'सौंदर्य' शब्द की सिद्धि संस्कृत के 'सुन्दर' (विशेषण) शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय जुड़ कर होती है। स्वयं 'सुन्दर' शब्द की व्युत्पत्ति संदेहास्पद है। वाचस्पत्य कोष में 'सुन्दर' शब्द को 'सु' उपसर्गपूर्वक 'उन्द्' धातु से 'अरन्' प्रत्यय जोड़ कर सिद्ध किया गया है इसलिए धात्वर्थ के अनुसार 'सुन्दर' शब्द का अर्थ हुआ—'सु' अर्थात् सुष्ठु या अच्छी प्रकार और उन्द् अर्थात्, आर्द्र करना, और 'अरन्'=कर्तृवाचक प्रत्यय; इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ—अच्छी प्रकार आर्द्र (गीला) या सरस करने वाला।

इस शब्द की निष्पत्ति भ्वादि गण की "टुनदि समृद्धौ" धातु से भी हो सकती है : सु (उपसर्ग) अर्थात्, अच्छी प्रकार और 'नन्दयति', अर्थात्, जो प्रसन्न करता है; अर्थात्, जो अच्छी प्रकार प्रसन्न करे, वह 'सुन्दर' कहलाता है।

इस प्रकार 'सुन्दर' शब्द 'उन्द्' तथा 'नन्द'—इन दोनों धातुओं से सिद्ध सकता है। 'सु' (उपसर्ग) 'नर' (व्यक्तिवाचक संज्ञा)=सुष्ठु नरः अर्थात् सुनरः। इन दो शब्दों के बीच में भाषा-विज्ञान के मुखसुख (Euphony) के नियम के अनुसार 'द' वर्ण का आगम हो कर, 'वानर'=बन्दर के भ्रामक सादृश्य पर, 'सुनर' से 'सुन्दर' बन गया है। मध्यागम से अर्थ-विस्तार भी हो गया है। 'सुनर' से मानवीय सौंदर्य ही प्रायः लक्षित होता है, किन्तु 'सुन्दर' शब्द से मानव व मानवेतर जगत् के सौंदर्य को प्रकट करने की व्यापकता प्रकट होती है। संस्कृत में मूर्त्त वस्तु के लिए ही प्रायः 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग होना भी कहा जाता है। यूरोपीय देशों, मुख्यतः रूस, में भी 'सुन्दर' से प्रायः बाहरी सौंदर्य का ही अर्थ ग्रहण किया जाता रहा था। बुद्धि या भावना के सूक्ष्म मानसिक सौंदर्य का द्योतन करने के लिए 'सौंदर्य' शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में प्रायः कम ही मिलता है। हिन्दी में भी इस शब्द के साथ बहुत व्यापक और गहरा अर्थ संयुक्त हो गया है।[२] संस्कृत में, अमूर्त्त के लिए 'सुन्दर'

---

१. वाचस्पत्यकोष, पृ० ५३१४

२. पं० सद्गुरु शरण अवस्थी : 'बुद्धि-तरंग' (१९५०), पृ० १५–१६; तथा 'समालोचक' (आगरा) का सौंदर्यशास्त्र विशेषाङ्क', 'सम्पादकीय', पृ० ३–४।

सौंदर्य शब्द के अर्थ में वस्तुतः अनेक भाव-रंगतें समाविष्ट हैं, जैसे—उदात्त,

शब्द की अपेक्षा 'शोभन' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है।

'सौंदर्य' शब्द की एक व्युत्पत्ति और है,—'सुन्दं राति इति सुन्दरम्, तस्य भावः सौंदर्यम्।' 'सुन्द' को जो लाता हो वह सुन्दर, और उसका भाव जहाँ हो, वह 'सौदर्य' कहलाता है। सुन्द पूर्वक 'रा' (धातु) अर्थात् 'आदाने' (लाना) धातु से औणादिक 'अच्' प्रत्यय से 'सुन्दर' शब्द तथा "गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः ष्यञ्" इस पाणिनि सूत्र से 'ष्यञ्' प्रत्ययोपरान्त 'सौदर्य' शब्द व्युत्पन्न हुआ।

'सुन्द' का अर्थ है "कर्तनी", अर्थात् जो कैंची की तरह काटने वाला हो, उसको जो लाता हो, वह 'सुन्दर' हुआ। 'सौदर्य' हृदय पर, नेत्र के द्वारा, कैंची की सी काट वाला पक्का प्रभाव करता ही है, यह कौन नहीं जानता !

इसी प्रकार एक व्युत्पत्ति और भी विचारणीय है। बोली में 'अचानक' शब्द का रूपान्तर 'अचानचक' है, किन्तु सतत बाहुल्य प्रयोग की धारा से इस 'अचानचक' के 'अ' का भी लोप हो गया। इस प्रकार इस मौलिक शब्द 'अचानक' का रूप "चानचक" हो गया जिसका प्रतिदिन के व्यवहार में अधिक प्रयोग होता है। इसी तथ्यानुसार संस्कृत शब्द 'असून' अर्थात् 'प्राणों को' तथा 'ददाति' = 'देता है', अर्थात् जो प्राणो को दे वह 'सुन्दर' हुआ। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'असु' शब्द के आकार का लोप ('अचानक' की तरह ही) हो गया तथा मुखसुखार्थ दीर्घ ऊ-कार के स्थान में ह्रस्व उ-कार हो गया—यथा, संस्कृत 'पुत्र' शब्द का पालि भाषा में 'पुत्त' होता है। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से 'सुन्दर' शब्द का अर्थ 'जो प्राणों को दे' अर्थात्, 'जो जीवन या आनन्द दे'—यह हुआ।

शब्दार्थः—'सुन्दर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है।[1]

सौम्य, मनोहर, रमणीय, मनोज्ञ, मनोरम, मधुर, पेशल (Variegated) चारु, मंजुल, शोभन, रुचिर, साधु, कान्त, लावण्यवान्, द्युतिवान्, छविवान्, सुषुमावान्, अभिराम, मंगलकारी, भला, शुभ आदि। इनमें से प्रत्येक शब्द सौंदर्य की सामान्य भावना के अतिरिक्त, एक दूसरे से पृथक् अपना स्वतंत्र रंग और झांई (Colour and shade) रखता है।

१. वभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवाञ्ज्यङ् के हिरण्ययम्॥ (मंडल ८, सूक्त २९ मंत्र १)
यो वाधते ददाति सूनरं वसु स धत्ते अक्षिति श्रवः। (१, ४०,४)
विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि। (१, ४८, १०)
प्रति ष्या सूनरी जनीं व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता। (४,५२,१)
आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती। (१, ४८, ५)
विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्जयोतिष्कृणोति सूनरी। १, ४८, ८)
अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी। (७, ८१, १)

यथा—सूनरः (विशेषण), सूनरम् (कर्मकारक), सूनरि (स्त्रीलिंग सम्बोधन), सूनरी (स्त्रीलिंग प्रथमा विभक्ति) आदि।

'सौंदर्य' शब्द एक बहुत ही व्यापक अर्थ वाला शब्द है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी-कोषकार सर मोनियर विलियम्ज[1] तथा वैबस्टर[2] ने इस 'शब्द' से बाह्य व आभ्यंतर दोनों प्रकार के सौदर्यों को समाविष्ट करने वाला अर्थ ग्रहण किया है। भारतीय कोषकारों—आप्टे[3], अमरकोषकार[4], व वाचस्पत्य-कोषकार[5] आदि—ने भी इसके उसी व्यापक अर्थ को ग्रहण किया है। साहित्य में भी आचार्यों द्वारा 'सौंदर्य' शब्द बहुत व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[6] आश्रय की भावना और उसके सौंदर्य से लेकर आलंबन के रूप-सौंदर्य व उसकी चेष्टाओं का ग्रहण 'सौंदर्य' के अन्तर्गत हुआ है। वास्तव में 'सौंदर्य' इतना सूक्ष्मभावगर्भित शब्द है कि यह अपने शुद्ध रूप में रसानुभूति (Aesthetic experience) से घनिष्टतम रूप

समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु। (५, ३४, ७)
य ऋत्विजे ददाति सूनरं शोभनं वसु। सूनर सूपसृष्टादत्तः। (१, ४८, ५)
—ऋग्वेदसंहिता, सूचीखंड (जिल्द ५), वैदिक संशोधन मंडल, पूना।

१. "Beauty, loveliness, gracefulness, elegance, noble conduct, generosity." (p. 1253); Splendour, Brilliance, lustre, beauty, grace, loveliness (p. 1092); exquisite beauty, splendour (p. 1237)—Sir Monier Monier-Williams : *Sanskrit—English Dictionary.* II Edition, (Oxford—1899).

२. An assemblage of graces or properties, or someone of them satisfying, the oye, the ear, the intellect, the aesthetic faculty, or the moral sense; also, the abstract quality characteristic of such properties; the beautiful. In aesthetics, Beauty broadly comprises the sublime, tragic, comic, etc., as well as the sensuous qualities which characterize Beauty in the narrower sense."—Webster's *New International Dictionary of the English Language,*" p. 199.

३. "Beauty, loveliness, gracefulness, elegance." —V. S. Apte : *Sanskrit-English Dictionary* (1922). p. 616.

४. सुषमा परमा शोभा शोभा कान्तिर्द्युतिच्छविः।··· (अमरकोष, १।२।१८)
सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्
कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मंजु मंजुलम्।
रम्यं मनोहरं सौम्यं ··· (अमरकोष, ३।१।५२–५३)

५. वाचस्पत्य कोष, पृष्ठ ५३३८।

६. विश्वनाथ : 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद (हिंदी विमला टीका, पृ० १०८–११८)

में संबद्ध है; किन्तु विदेशी अर्थ में नहीं, भारतीय अर्थ में ही। किस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्यिक सम्प्रदायों में इस शब्द का रसानुभूति के प्रसंग में प्रयोग हुआ है, इसका विवेचन आगे चलकर 'कला-गत सौंदर्य' के अन्तर्गत किया जायेगा।

परिभाषाएँ तथा अन्य विचार-सूत्र :—सौंदर्य के स्वरूप को समझने के लिए संसार के कुछ प्रमुख सौंदर्य-चिन्तकों की तत्सम्बन्धी परिभाषाओं व विचारों का ज्ञान उपयोगी सिद्ध होगा। सौंदर्य-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण विचार इस प्रकार है :—

"सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला समीक्षा की यह एक बड़ी ऊंची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नही। कुछ रूपरग की वस्तुएं ऐसी होती है जो हमारे मन मे आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणित हो जाते है। हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।······जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।"[१]—पं० रामचन्द्र शुक्ल

"ज्यों ज्यों चित्त की वृत्ति शिथिल होगी त्यों त्यों अपने स्वरूप का, जो भीतर बाहर विद्यमान है, साक्षात्कार होगा। परन्तु द्वैत भावना एकदम दूर नहीं हो सकती। इसलिए अपना अन्तर्मुख होना बाह्य जगत की सूक्ष्मता के रूप में अनुभूत होगा। यह सूक्ष्मता की अनुभूति ही सौंदर्य की अनुभूति है।"[२]

"कुछ ऐसे दृग्विषय हैं जिन को देखकर हृदय में रस का संचार होता है।··· हम इन सब में जो मनोहारिता पाते है उसको सौदर्य कहते है।"[३]

—बा० सम्पूर्णानन्द

"उज्ज्वल वरदान चेतना का सौदर्य जिसे सब कहते हैं···"[४]

—जयशंकर 'प्रसाद'

"अकेली सुन्दरता कल्याणि, सकल ऐश्वर्यो की सन्धान।"[५] —पंत

---

१. **चिंतामणि, भाग १** (सन् १९३९), पृ० २२४।
२. **दर्शन और जीवन**, पृ० १८६। ३. **चिद्विलास**, पृ० २०९।
४. **कामायनी, कामसर्ग**। ५. **पल्लव**, पृ० ५४।

"वही प्रज्ञा का सत्य-स्वरूप हृदय में बनता प्रणय-अपार;
लोचनों में लावण्य-अनूप, लोक-सेवा में शिवअविकार;
स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार सत्य ही प्रेमोद्‌गार;
दिव्य-सौंदर्य, स्नेह-साकार, भावनामय संसार।"[1]

—पंत

"सौंदर्य की उत्पत्ति और उसके विकास का कारण यौन-व्यापार है।"[2]

—पं० सद्‌गुरुशरण अवस्थी

"स्थूल या सूक्ष्म जगत में आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौदर्य है।"[3]

—हरिवंश सिंह

स्वयं "सौंदर्य" हृदय को परिष्कृत, पवित्र, कोमल, और व्यापक बनाता है, यही उसकी उपयोगिता है।[4]—बा० गुलाबराय

प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौंदर्य है।[5] —डॉ० रामविलास

सत्य सदा शिव होने पर भी विरुपाक्ष भी होता है और कल्पना का मन केवल, सुन्दरार्थ ही होता है।।[6] —श्री मैथिलीशरण गुप्त

"अंगप्रत्यंगकानां यः संनिवेशौ यथोचितम्।
सुश्लिष्टसंधिबन्धः स्यात्तत्सौदर्यमितीर्यते।।"[7]

"भवेत्सौन्दर्य्यमगानां सन्निवेशो यथोचितम्।"[8]

"प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता।"[9]

"अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्व मा कृति विशेषाणाम्।"[10]

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।"[11]

---

१. पल्लव, पृ० ८७।
२. बुद्धि तरंग, पृष्ठ २३। ३. सौंदर्य विज्ञान, पृ० ५६-५७।
४. 'सौंदर्यानुभूति' नामक लेख ('समालोचक' का 'सौंदर्य-शास्त्र' विशेषाङ्क।)
५. "सौंदर्य की वस्तु सत्ता और सामाजिक विकास" नामक लेख, वही विशेषाङ्क। ६. साकेत।
७. उज्ज्वलनीलमणिः (बम्बई, काव्यमाला, ९५) पृ० २७४।
८. श्रीहरिभक्ति रसामृतसिन्धुः (अच्युतग्रन्थमाला कार्यालयः, काशी) पृ० १९५। ९. कालिदासकृत कुमारसंभव।
१०. कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुन्तल, १।१८
११. माघ-कृत शिशुपालवधम्।

रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम् । रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञान गोचरता । लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति विशेष: ।[1]

रवीन्द्र ने अपनी सौदर्य-विवेचना में सत्य व सौंदर्य की एकता प्रतिपादित की है ।[2] डॉ० आत्रेय ने सौदर्य की अवस्था को योग की सविकल्प समाधि की दशा कहा है ।[3]

पश्चिम में सौदर्य शास्त्रियों ने सौंदर्य पर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं । प्रसिद्ध आदर्शवादी दार्शनिक प्लेटो सौदर्य को शिवतत्व के प्रकाशन में सार्थक मानता है ।[4] विक्टर कूजियां ने सौदर्य की बहुत ऊंची धारणा व्यक्त की है ।[5] वह चरम सौंदर्य को ईश्वर में ही मानता है । लॉक ने आनन्ददायक बाह्य रंग व आकार में सौदर्य को माना है ।[6] नार्टन ने शारीरिक, मानसिक व आत्मिक ऐक्य में ही सौदर्य देखा है ।[7] हीगेल पदार्थ में आत्मा के प्रकाशन को सौदर्य कहता

---

१. रसगंगाधर ।

२. "This is the ultimate object of our existence that we must ever know that 'beauty is truth, truth beauty'.

—Tagore : *Sadhana*, p. 141.

३. "It is a state of complete repose and is very much akin to ecstasy or '*savikalpaka samadhi*' of Indian Yoga."

—B. H. U. Journal, Silver Jubilee Number, (1942), p. 44.

४. "The principle of goodness has reduced itself to the law of beauty. For measure and proportion always pass into beauty and excellence."

—quoted from '*A History of Aesthetic*' (by Bernard Bosanquet), 1934, p. 33.

५. "Thus the absolute being, which is at one and the same time absolute unity and infinite variety, God, is necessarily the final cause, the ultimate basis, the realized ideal of all beauty.

—quoted from '*The Principles of Criticism*' (by W. Basil Worsfold.), p. 125.

६. "Beauty consists of a certain composition of color and figure causing delight in the beholder."—Quoted from Webster's '*New International Dictionary*.'

७. "Beauty results from adaptation to our faculties and a perfect state of health, physical, moral, and intellectual.—Quoted from Webster's '*New International Dictionary*'.

है।[१] शेलिंग मानव के माध्यम से पूर्ण या दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति को सौंदर्य मानता है।[२] कांट निष्काम और निरपेक्ष आनन्द देने वाले पदार्थ को ही सौंदर्य-सम्पन्न मानता है।[3] शेलिंग ससीम में असीम का प्रकाशन ही सौंदर्य बतलाता है।[४] ह्यूम ने सौंदर्य को पूर्ण व्यक्तिपरक बताकर मन में ही ठहराया है।[५] अभिव्यंजना-वादी क्रोचे सौंदर्य को एक अत्यन्त कल्पनामूलक, निरपेक्ष, व आत्मपरक काल्पनिक सत्ता मानता है।[६] सुप्रसिद्ध कवि कीट्स सौंदर्य को उच्च कोटि के आनन्द व सत्य के साथ संबद्ध करता है।[७] विल ड्यूरेंट सौंदर्य का सबंध शाश्वत चेतना के स्रोत से बताते

---

१. 'Beauty is the shining of the Idea through matter."—Quoted from—Tolstoy's '*What is Art*', p. 100.

२. "Beauty is the spiritual making itself known sensuously.× ×
"Beauty is the idea as it shows itself to sense".—Hegel

"Beauty is a supreme expression of the absolute or divine reality as uttering itself through man".—Schelling.

३. "That is beautiful which pleases, which pleases all, which pleases without interest and without a concept, and pleases necessarily." See also '*History of Aestheic*' (by B. Bosanquet), p. 45. and '*What is art*' (By Tolstoy), p. 97.

४. "Beauty is the infinite represented in the form of finite".

५. "Beauty is not quality in things themselves, it exists merely in the mind which contemplates them."

६. "......it seems now both permissible and advisible to define beauty as successful expression, or rather, as expression and nothing more, because expression when it is not successful is not expression."
—Douglas Ainslie : '*Aesthetic*' (1922), p. 79.

"The beautiful is not a physical fact, beauty does not belong to things, it belongs to the human aesthetic activity, and this is a mental or spiritual fact."—Wildon Carr : '*Philosophy of Croce*', p. 164. Quoted from Pt. Baldeo Upadhyayas, 'भारतीय साहित्य शास्त्र', द्वितीय खंड, p. 453.

७. "Beauty is truth, truth beauty,—that is all
Ye know on earth, and all ye need to know." —Keats.

—Quoted from Matthew Arnold's '*Essays in Criticism*', second series, p. 83.

"A thing of beauty is a joy for ever;
Its loveliness increases; it will never
Pass into nothingness. —Keats : *Endymion*

हैं।[1] समाजवादी विचारधारा के काडवैल व प्लेखोनोव आदि लेखक सौंदर्य को सामाजिक उपयोगिता के प्रसंग में ही देखते हैं।[2] इस प्रकार पाश्चात्य विचारकों की सौंदर्य-संबधी धारणा भी बहुत व्यापक व विशाल है।

उपरोक्त परिभाषाओं से सौंदर्य के सम्बन्ध में तीन विशिष्ट प्रकार के दृष्टि-कोण हमें प्राप्त होते है। कोई (कांट, क्रोचे, ह्यूम तथा भारतीय विचारक आदि) तो उसे पूर्णतः आन्तरिक मानता है और कोई (काडवैल व प्लैखोनोव आदि) उसे पूर्णतः बाह्य। अनेकों दार्शनिक मध्यवर्गी भी है। वास्तव में सौंदर्य के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए इन तीनों दृष्टिकोणों की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है। उस व्याख्या के आधार पर ही हम सौंदर्य-संबंधी समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्थिर करने में समर्थ हो सकेंगे।

२. वस्तुपरक या वैज्ञानिक दृष्टि-कोण

(क) पाश्चात्य धारणा[3]

पाश्चात्य जगत् में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के युग, और (फिर कई शताब्दियाँ छोड़कर) पिछले तीन सौ वर्षों में सौंदर्य-तत्व का चिंतन शास्त्रीय

---

१. "All genius, like all beauty and all art, derives its power ultimately from that same reservoir of creative energy which renews the rays perpetually, and achieves the immortality of life."—'*The Mansions of Philosophy*', p. 299.

२. "If those acts of the individual are moral which he performs irrespective of all considerations of self-interest, this still does not mean that morality has no relation to social interest. Quite the contrary : self-abnegation on the individual has a meaning only in so far as it is useful to the kind. For this reason the Kantian thesis, that the beautiful is that which pleases us independently of all interest is wrong......Consequently the enjoyment of a work of art is enjoyment of the depiction advantageous to the kind, independently of any conscious consideration whatsoever of such advantage."—G. V. Plenkhanov : '*Art and Social Life*' (1953), p. 11.

३. 'पाश्चात्य' 'भारतीय' आदि विभाजन करने का हमारा यह आशय, जैसा कि स्वयं विवेचन से ही स्पष्ट हो जायगा, कदापि नहीं है कि एक भू-भाग में केवल एक ही प्रकार के विचारक रहे हैं। व्यक्ति, स्थान व काल-भेद से एक ही सत्य अनेक रूपों से प्रकट होता रहता है।

व्यवस्था के साथ एक निश्चित प्रणाली पर करने का प्रयास किया गया है सौंदर्य के संबंध में वहां अनेक उपपत्तियां (Theories) प्रचलित की गई है जो प्राय: पूर्ण व्यक्तिपरक हैं और एक दूसरे से बहुत कम मेल खाती है। फिर भी पाश्चात्य सौंदर्य-तत्व के चिंतक, विचार-साम्य की कुछ स्थूल रेखाओं के आधार पर, तीन स्पष्ट वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं : (१) वस्तु-वादी या यथार्थवादी वैज्ञानिक, (२) आत्मवादी या आदर्शवादी दार्शनिक, और (३) मध्यमार्ग का ग्रहण करने वाले समन्वयवादी।

वस्तुवादी या यथार्थवादी वैज्ञानिकों में सुकरात (Socrates), अरस्तू (Aristotle) पीयर बफियर (Pere Buffier), डिडेरो (Diderot), रेनाल्ड्स (Reynolds), होगार्थ (Hogarth), बर्क (Burke), एलिसन (Alison), रिचर्ड प्राइस (Richard Price), जेफ्रे (Geoffery), प्रो० बेन (Baine), लेसिंग (Lessing), डॉ० सली (Sully), हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer), स्टूअर्ट (Stuart), गेरार्ड (Gerard), डार्विन (Darwin), हैमिल्टन (Hamilton), कैमे (Kames), शेन्स्टन (Shenstone), ट्यूकर (Tucher) आदि मुख्य हैं। इन चितकों ने सौदर्य का विवेचन भौतिकवादी या वस्तुवादी दृष्टिकोण से ही किया है।[२] व्यक्ति और वस्तु के वे सब गुण या धर्म, जो हमारी पंचेन्द्रियों—आंख, कान, नाक, जीभ, और त्वचा—को सुखद व आनन्ददायी प्रतीत होते हैं, इन दार्शनिकों के सौदर्य-सम्बन्धी निर्णय के स्थायी और मूलभूत आधार है।[३] अतएव इन्होंने सौंदर्य को वस्तु, व्यक्ति, दृश्य या किसी स्थिति के रूप (Form), रंग (Colour), आकार (Shape) व्यवस्थित क्रम (Orderly arrangement), नियमितता (Regularity), एकान्विति

---

१. "*History of Aesthetic*" by Bernard Bosanquet; "*What is Art*" by Leo Tolstoy; "*The Philosophy of the Beautiful*" by W. Knight; "*A Modern Book of Esthetics*" by Melvin M. Rader;

ये ग्रंथ उस चिंतन का परिणाम बताने की दिशा मे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है।

२. इस दृष्टिकोण को प्रकट करने वाले विचार-सूत्रों का संकलन हमने 'साहित्यावलोकन' (श्री विनयमोहन शर्मा), 'साहित्य और सौंदर्य' (डॉ० फतहसिंह), 'सौंदर्य विज्ञान' (श्री हरवंशसिंह शास्त्री), *Mansions of Philosophy* (Will Durant) '*What is Art*' (Tolstoy) '*Indin Aesthetics*' (K. S. Ramaswami) आदि कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से किया है।

३. यूरोप के कुछ सौंदर्य-शास्त्री अपने स्थूल व हल्केफुलके ऐन्द्रिक अनुभवों को ही किस प्रकार सौंदर्य की उच्च अनुभूतियाँ मान बैठे, इसका मनोरंजक संकेत टॉल्स्टाय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "*What is Art*" (Chap II) में किया है। यह सौंदर्य के वस्तु-परक दृष्टिकोण की एक सीमा (Extremity) जान पड़ती है।

(Unity), स्पष्टता (Distinctness), मसृणता (Smoothness), स्निग्धता (Softness), वर्ण-दीप्ति (Brightness of Colours), वैचित्र्य (Variety) जटिलता (Intricacy), शुद्धता (Purity), उदात्तता (Sublimity), उपयोगिता (Utility), सम्मात्रा (Symmetry), प्रतीकमयता (Symbolicness), सुकुमारता-कोमलता (Tenderness or delicacy), सूक्ष्मता-अग्राह्यता (elusiveness), सजीवता (liveliness), वास्तवता (Life-likeness), व्यञ्जकता (Suggestiveness), विरोध (Contrast), अवयव-अवयवी-सम्बन्ध (Relation of parts with the whole), माधुर्य (Sweetness, agreeableness), नवता (Freshness), निश्चित विधान (Definite limitation), सामञ्जस्य (Harmony), संतुलन (Balance), संश्लिष्टता (Connectedness), औचित्य (Reasonableness or propriety), समन्वय (Synthesis), व अनुपात (Proportion) आदि आत्म-निरपेक्ष बाह्य गुण-धर्मों में ही माना। पिथेगोरस (Pythagoras) और सुकरात (Socrates) तथा डार्विन (Darwin) के पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों ने संगीत जैसी सूक्ष्म कला के सौदर्य को भी गणितशास्त्रोपयोगी अंकों की सी नियमितता व व्यवस्था में देखा।[१] इसी प्रकार अरस्तू ने सौदर्य को सम्मात्रा या सुषमा, क्रम-व्यवस्था, निश्चित विधान अनुपात तथा अंगी व अंगों के सहज तथा सुष्ठु सामंजस्य अथवा मेल में देखा।[२] विंकलमन (Winckelmann) और लैसिंग (Lessing) ने उसी को वाह्य विधान और रूप (Structure and form) में देखा।[3] होगार्थ को वही सौदर्य सम्मात्रा, स्पष्टता, दुरुहता, व आयतन (Quantity or magnitude) और वैचित्र्य मे मिला।[४] डिडेरो और बर्क ने इस सौदर्य के दर्शन वस्तु की लघुता, स्निग्धता, कोमलता, मसृणता, पवित्रता, और वर्ण की दीप्ति आदि में किये।[५] प्राइस और क्रूसाज को इस सौदर्य का साक्षात्कार वैचित्र्य, व्यवस्था, अनुपात, इकसांपन व सम्मात्रा आदि गुणों में हुआ।[६] गाल्सवर्दी (Galsworthy) ने उसे सामंजस्य (Harmony), लय (Rhythm), व सजीवता (Vitality) में देखा है।[७] रस्किन ने उसे अनन्तता (Infinity), एकता (Unity), स्थिरता (Repose), सम्मात्रा, शुद्धि एवं संयति (Moderation) में देखा है, किन्तु उसने सौदर्य का ईश्वर के साथ भी सम्बन्ध जोड़ा है।[८] लेसिग ने सौंदर्य को सामञ्जस्य, सुडौलपन, क्रम-व्यव-

---

१. Will Durant, "*Mansions of Philosophy*", p. 282.

२. वही, p. 283. ३. वही, p. 283.

४. श्री हरिवंशसिंह शास्त्री : 'सौंदर्य विज्ञान', पृ०२१। ५. वही, पृ०१६,२२।

६. वही, पृ० २७, ३०-३१।

७. श्री विनयमोहन शर्मा : 'साहित्यावलोकन', पृ० १२२-१२५।

८. डॉ० फतहसिंह, 'साहित्य और सौंदर्य', पृ० १०७।

स्था, विभिन्नता और अनुपात में देखा है। कॉडवल (Caudwell) ने 'सौंदर्य' की समाजपरक व्याख्या करते हुए उसे मनुष्य में ही माना है। वास्तव में वे एक समन्वयवादी सौदर्य-चिन्तक है।[1]

(ख) भारतीय धारणा

भारतीय आचार्यों में औचित्यविचारचर्चाकार क्षेमेन्द्र ने भी उचित-स्थान-विन्यास में सौदर्य माना है।[2] रूपगोस्वामी ने भी 'यथोचितसन्निवेश' को ही सौंदर्य का आधार बताया है।[3] पर इनकी दृष्टि अपने मूल मे आत्म-भाव से अछूती भी नहीं। भरत के रस-सूत्र के व्याख्याता भट्ट लोल्लट तथा श्री शंकुक सौदर्य को विषय में ही अधिक मानते है। अलंकारवादी, गुणवादी, रीतिवादी तथा वक्रोक्तिवादी आचार्य सौदर्य को बाह्य विषयों में मानने की ओर ही अधिक प्रवृत्त है। केवल रस-सम्प्रदाय वाले (भरत, अभिनवगुप्त विश्वनाथ महापात्र, पंडितराज जगन्नाथ आदि) उसे आत्म-प्रधान ही मानते जान पड़ते है। पर उन्हें हम समन्वयवादी मध्यमार्गी ही कहेंगे क्योंकि आत्मा तथा वाह्य रूप दोनों का उचित महत्व उन्होने आँका है। महाराष्ट्र के आधुनिक आचार्य श्री मढकर इन्द्रिय-संवेदन को पर्याप्त महत्त्व देने वाले (?) वस्तु वादी विचारक कहे जाते है।

अन्य अनेक छोटे-मोटे भौतिकतावादी वैज्ञानिकों ने उपरोक्त गुणों में से एक या एक से अधिक गुणों में सौदर्य की सत्ता का अनुभव किया है। ये सब वस्तुवादी दार्शनिक वस्तु या व्यक्ति को अधिक महत्त्व देने वाले हैं, दृष्टा अथवा उसकी आत्मसत्ता को नहीं।

३. आत्मपरक दृष्टिकोण:

(क) पाश्चात्य धारणा

दूसरा वर्ग उन आदर्शवादी दार्शनिकों का है जिनका सूक्ष्म चिंतन सौंदर्य के विषय को अध्यात्म की गहन नीलिमा में उठा ले गया है। इस वर्ग के चिंतकों में प्लेटो

---

१. देखिये, इस सम्बन्ध में डॉ० रामविलास की व्याख्या : "समालोचक" के 'सौंदर्य शास्त्र' अंक, पृ० १६० पर।

२. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युतानित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥
—क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा, (हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला, काशी) श्लोक, पृ० ५,६।

३. श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धुः —दक्षिण विभागे, १ लहरी।
(भवेत्सौंदर्य्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम्॥)

(Plato), प्लोटिनस (Plotinus), सैंट आगस्टाइन (St. Augustine), बॉमगार्टेन (Baum Garten), पीयर एण्ड्री (Pere Andre), लिवेक (Leveque), लार्ड शेफ़्ट्सबरी (Shaftesbury), रीड (Reade) शिलर (Schiller), आडगेन (Odgen), लोज (Lotze), हरबर्ट (Herbart), विशर (Vischer), मेन्डेल्सोन (Mendelssohn), काण्ट (Kant), हिगेल (Hegel), शॉपनहावर (Schopenhauer), बर्कले (Berkley), शेलिंग (Schelling). हचीसन (Hutcheson), ऑस्कर वाइल्ड (Oscar wilde), क्रोचे (Croce), रस्किन (Ruskin), शैले (Shelley), कीट्स (Keats) आदि मुख्य है। सौदर्य-सम्बन्धी इनकी सारी अथवा अधिकांश व्याख्या आत्मपरक है और इन्होंने वस्तु को अत्यल्प या गौण महत्व दिया है। इनमें से कुछ विचारक समन्वयवादी भी कहे जा सकते हैं; जैसे रस्किन और, वस्तुपरक सौदर्य शास्त्रियों में, स्पेन्सर, गाल्सवर्दी आदि। इसी कारण इनका चिंतन अत्यन्त सूक्ष्म एवं धूमिल हो गया है। इनके सौदर्य-सम्बन्धी निर्णय में इनकी व्यवितगत अनुभूति, उदात्त भावना व सूक्ष्म तथा मौलिक तत्वनिरूपिणी बुद्धि पूर्णतः सहायक सिद्ध हुई है। संक्षेप में सौंदर्य-सम्बन्धी इनकी समस्त विचारधारा की मुख्य बातें ये हैः—[१]

१. समस्त दृश्य जगत् या सृष्टि के मूल में कोई न कोई एक चिर निगूढ़ आध्यात्मिक सत्ता अवश्य विद्यमान है जो प्रत्येक क्षण सक्रिय रह कर कार्य कर रही है। शेलिंग उसे निरपेक्ष ज्ञान या प्रज्ञा (Absolute) कहता है। उसी को हेगेल जड़-चेतन में नित्य प्रकाशित होने वाली प्रज्ञा या अद्वय (Absolute or Thought) कहता है। शॉपेनहावर उसी को इच्छाशक्ति या संकल्प (Will) कहता है। प्लाटिनस के लिए वही मूल सत्ता बुद्धि या विषयात्मक प्रज्ञा (Intelligence or objective reason) है। प्लेटो ने उसी को विचार (Idea) या आदर्शजगत् (Ideal world) कहा है। तात्पर्य यह है कि इस वर्ग के मूर्धन्य चिंतक अपने सौंदर्य-संबंधी आधार के लिए एक लोकोत्तर व आध्यात्मिक सत्ता को मान कर चले है। विशर की धारणा है कि सौंदर्य की सम्यक् मीमांसा अद्वैत भूमि पर पहुँच कर ही हो सकती है। लौज भी एक ईश्वर (Personal Deity) की कल्पना आवश्यक समझता है।

२. सौंदर्य-संबंधी निर्णय व्यक्तिगत ही होता है; यह कांट और हरबर्ट की धारणा है। मन के बाहर सौंदर्य की सत्ता कहीं नहीं है। सौंदर्य केवल एक मानसिक वृत्ति है। रीड का कहना है कि सौदर्य वस्तुगत नहीं है।

---

१. इन विचार-सूत्रों का संकलन हमने उन्हीं ग्रन्थों से किया है जिनका उल्लेख पीछे पृष्ठ-संख्या १४८ की पादटिप्पणी नं० २ में हुआ है।

३. सैंट आगस्टाइन की धारणा है कि भगवान् सत्य, शिव, व अनंत सौंदर्य के निधान है, तथा उनका सौंदर्य ही सृष्टि के समस्त सौंदर्य का स्रोत या मूल कारण है।

४. प्लेटो तथा जाफ्राय का कहना है कि सुखकर, प्रिय या उपयोगी होना एक बात है और सुन्दर होना दूसरी। दोनों भिन्न भिन्न है। प्लेटो की धारणा है कि उपयोगिता सौंदर्य में वृद्धि कर सकती है पर वह स्वयं सौंदर्य नहीं। जाफ्राय का कहना है कि सुंदर वस्तु के स्वार्थभावना-जन्य सामीप्य-लाभ की कामना से वस्तु का सौंदर्य कम पड़ जाता है।

५. प्लेटो की धारणा है कि सृष्टि का मूल सौंदर्य सदा अखण्ड व एकरस रहता है तथा तमाम सुदर पदार्थों में वही मूल सौंदर्य निहित है। इसी प्रकार कांट व जाफ्राय की मान्यता है कि वे ही पदार्थ सुदर होते है कि जो हमें उच्च कोटि का सात्विक आनन्द प्रदान करें। कांट, मेडेलसोन, जाफ्राय, हरबर्ट व ऑगस्टाइन सौंदर्य के आनन्द को निःस्वार्थ, विमल व निष्काम मानते है। कांट की धारणा है कि सौंदर्य सार्वदेशिक है तथा वह सब को एक समान आनंद प्रदान करता है। मेंडेल्सोन कहता है कि हम सौदर्य के आनद के उपभोग में पूर्ण तृप्ति व शांति का अनुभव करते है।

६. लोज, रीड व हरबर्ट का कथन है कि सौदर्य-बोध सहज ज्ञान-गम्य है, अभ्यास साध्य नहीं। यह वृत्ति उच्च आत्मिक संस्कारों का परिणाम है। हरबर्ट स्पेंसर कहते हैं कि सौंदर्य की भावना व्यक्ति और जाति के जीवन में सदा संस्कार बनकर विकसित होती रही है।

७. बॉमगार्टन की धारणा है कि हमारे अन्तःकरण की समस्त वृत्तियां स्वाभाविक रूप से अपनी चरम पूर्णता का आदर्श प्राप्त करने के लिए सतत विकास-शील है। ज्ञान सत्य की ओर, इच्छा मंगल की ओर, और ऐन्द्रिक ज्ञान सौंदर्य की ओर बढ़ रहे हैं। अतः सौंदर्य हमारी वृत्तियों का एक आदर्श लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति में जो भी बाधक है वह कुरूप और कुत्सित है।

८. विक्टर कूजां का कथन है कि वस्तुओं का सौदर्य भावों को जागृत करने की शक्ति रखता है, इसीलिए सौंदर्य हमें प्रिय है।

९. जाफ्राय का कथन है कि सौंदर्य और ईश्वर एक हैं। प्रकृति का समस्त सौदर्य उसी परम प्रिय परमात्मा का प्रकाश है। रीड का कथन है कि सौंदर्य पूर्ण रूप से एक आध्यात्मिक वस्तु है। विक्टर कूजां की धारणा है कि शारीरिक व प्राकृतिक दोनों प्रकार का भौतिक सौंदर्य आध्यात्मिक या नैतिक सौंदर्य का प्रकाश है। फिर यह आध्यात्मिक या नैतिक सौंदर्य भी मूल रूप में स्वयं ईश्वर के सौंदर्य

पर ही आधारित है अतः ईश्वर के सौंदर्य से बढ़कर और कोई सौंदर्य नहीं। नैतिक जगत् व भौतिक जगत् में सर्वत्र उसी का सौंदर्य प्रकाशित हो रहा है।

पाश्चात्य आदर्शवादी सौंदर्यशास्त्रियों की ये ही मुख्य धारणायें हैं।

(ख) भारतीय धारणा

सौंदर्य के सम्बन्ध में भारत की दृष्टि मुख्यतः आध्यात्मिक दृष्टि है।[1] शंकराचार्य का उच्च आदर्शवाद जगत्-प्रसिद्ध है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' पर, जगत् को मिथ्या, ब्रह्म के अभाव में ही कहा गया है। ब्रह्म से युक्त जगत् का शबल रूप (जैसे अग्नि से तपता हुआ लोहा, वैसे ही ब्रह्म से परिपूर्ण जगत्) स्पृहणीय है। भारत की सगुण भक्तिधारा ने जगत् का बाह्य सौंदर्य भी ब्रह्म के नाते स्वीकृत किया है। तुलसी निर्गुण से सगुण को बड़ा बताते ही हैं। वस्तुतः भारतीय विचारधारा में कोरा बाहरी सौंदर्य अपने आप में क्षुद्र है। वह ब्रह्म-भावना से युक्त होकर ही रमणीय व आकर्षक होता है। निश्चय ही यह सौंदर्य केवल इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रखता।[2] मुख्यता आत्मतत्व की ही है। पश्चिम के सूक्ष्मतम सौंदर्य-चिन्तकों की ही तरह भारतवर्ष में भी ऐसे दार्शनिक रहे है जो पूर्ण 'अनिरपेक्ष सौंदर्य' में ही सौंदर्य मानते हों।[3] किन्तु पूर्ण सौंदर्य को सत्यतत्व व शिवतत्व से वे भिन्न कभी भी नहीं करते। वे ईश्वर को सत्य, शिव तथा सुन्दर तीनों की मिश्रित अनुभूति में ही मानते

---

१. "The Indian mind draws a distinction between beauty of spirit and beauty of nature. Nature in her apparent nakedness has no beauty, but it is beautiful in so for as it is the expression of spirit. ...The figure may be harmonious in all parts but it is beautiful when it is such as is indicative of the underlying meaning of the soul."
—Mahendra Nath Sircar : "*Eastern Lights.*" (1935), p. 123.

२. "At first we detach beauty from its surroundings, we hold it apart from the rest, but at the end we realise its harmony with all ......When he has the power to see things detached from self-interest and from the insistent claims of the lust of the senses, then alone can he have the true vision of the beauty that is everywhere." —Tagore: '*Sadhana*' (1947). p. 139-140.

३. "And yet there remain philosophers firmly convinced that an absolute Beauty (rasa) exists, just as others maintain the conceptions of absolute Goodness and absolute Truth." —Ananda Coomaraswamy : '*The Dance of Shiva*', p. 62.

है ।[1] कविवर रवीन्द्र ने भी सौंदर्य की यही उच्चतम धारणा व्यक्त की है ।[2] वास्तव में प्राचीन व नवीन सभी भारतीय सौंदर्य-चिन्तकों ने (शंकर, वल्लभ, तुलसी, सूर, कालिदास, भवभूति, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, गाँधी, विनोबा, अरविंद व सम्पूर्णानन्द आदि) की विचार पद्धति ने सौंदर्य के आदर्श रूप का ही वरण किया है। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री श्री भाटे, केलकर, राष्ट्रीय जोग आदि विद्वान् सौंदर्य का विचार आध्यात्मिक दृष्टि से ही करते हैं । सौंदर्य के सम्बन्ध में एक अर्वाचीन ऋषि ब्रह्मीभूत स्वामी परमानन्द जी महाराज के विचार भारतीय सौंदर्य-दृष्टि को पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करते हैं ।[3] वास्तव में सौंदर्य के प्रति भारतीय दृष्टि पूर्ण आदर्श की दृष्टि है, किन्तु उसमें यथार्थ का भी समुचित व सुन्दर सामजस्य हुआ है। शंकराचार्य ने सिद्धान्त रूप में निरुपाधिक ब्रह्म की ही अखण्ड सत्ता मानी है, किन्तु व्यवहार के लिए उन्होंने बाह्य जगत् को भी स्वीकृति दी है। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'सौंदर्य लहरी' के द्वारा यथार्थ जगत् की भी स्वीकृति सिद्ध होती है। भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों व कवियों की दृष्टि में, सगुण ब्रह्म की स्वीकृति के नाते, यथार्थ व आदर्श का सामञ्जस्य स्वयं सिद्ध है। वल्लभाचार्य ने तो जगत् को लीलानिकेतन श्रीकृष्ण के नाते, स्वीकार किया ही है। साहित्याचार्यों में से रसवादी आचार्यों की दृष्टि सौंदर्य के सम्बन्ध में पूर्णतः आदर्शवादी है, किन्तु रस-निष्पत्ति में (भौतिक) आलम्बन का आधार अनिवार्य होने से उन्हें समन्वयवादी विचारक मानना ही उपयुक्त होगा। वास्तव में सौंदर्य के सृष्टा कवि की दृष्टि न तो एकान्त आत्म-प्रधान ही होती है और न वस्तु-प्रधान ही। उसकी दृष्टि का सामञ्जस्यमयी होना अनिवार्य है।

---

१. "The lovers of God identify these absolutes with Him (or It) and maintain that He can only be known as perfect Beauty, Love and Truth." —वही, p. 63.

२. सत्य के साथ मंगलमय के पूर्ण सामंजस्य को यदि हम देख सकें तो फिर सौंदर्य हमारे लिए अगोचर नहीं है। ...मंगलमय वस्तु हमारा भला करती है—इस लिए हम उसे भली कहते हैं। वास्तव में जो भी वस्तु मंगलमय होती है, वह हमारी आवश्यकताओं को पूरा करती है और सुन्दर भी होती है।" : 'साहित्य', पृ० ३५ ।

३. 'स्वतन्त्रता और सौंदर्य विवेकिनी शक्ति का सौंदर्य है। वह सौंदर्य बाह्य पदार्थों में नहीं, प्रत्युत् हमारे आत्मा में विद्यमान है। ...हमारा आत्मा सौंदर्य विवेकिनी शक्ति के रूप में पदार्थों को सुन्दर बनाता है। ...सौंदर्य बुद्धि उस द्वैत का नाश कर देती है जो ज्ञान और कर्म की अवस्था में विद्यमान रहती है।...तर्क से हम परमात्मा का चिन्तन कर सकते हैं और सौंदर्य हमें साक्षात् ब्रह्म का दर्शन कराता
—श्री परमानंदामृत, पृ० २५-२६ ।

वैज्ञानिकों से भिन्न आदर्शवादियों की सौंदर्य सम्बन्धी विचारधारा का मुख्य प्रवाह संक्षेप में यही है।

४. आत्मपरक व वस्तुपरक दृष्टिकोणों का समन्वय :

(क) समन्वय की आवश्यकता

सौंदर्य के इन दृष्टिकोणों (आत्म-परक व वस्तु-परक) पर विचार करने से जान पड़ता है कि ये दोनों ही अतिवादी हैं, जो या तो केवल वस्तु को ही महत्व देते हैं या केवल आत्मा को ही। हाँ, इन दोनों सम्प्रदायों में अवश्य कुछ ऐसे भी सौंदर्य-शास्त्री हैं जिनकी दृष्टि समन्वय की ओर भी थोड़ी बहुत झुकी हुई जान पड़ती है। भारतीय विचारकों ने आदर्श के साथ यथार्थ को भी किस प्रकार निभाया है, यह बात ऊपर संकेत में यत्र-तत्र बता दी गई है। इसी प्रकार पश्चिम मे भी कट्टर पंथियों को छोड कर कुछ उदार चिन्तक हुए हैं जो न तो कांट व क्रोचे की तरह सूक्ष्म आदर्शजीवी ही है और न वैज्ञानिकों की तरह शुद्ध यथार्थ प्रेमी। यद्यपि अधिकांश चिन्तकों की चिन्ता पर्याप्त गम्भीर है तथापि उसमें दृष्टिकोण की एकांगिता अवश्य अखरती है। जो हो, हमें तो यहाँ सौंदर्य की रसपरक या काव्यपरक व्याख्या करनी है। अतः सौंदर्य सम्बन्धी वही दृष्टिकोण साहित्यिक दृष्टि से उपयुक्त हो सकता है जो आश्रय (भाव) व आलम्बन (विभाव) दोनों का पूरा-पूरा महत्त्व स्वीकार करें क्योंकि रसानुभूति के लिए ये दोनों ही पक्ष अनिवार्य हैं।[1] कांट (Kant) व क्रोचे (Croce) की तरह केवल अन्तःकरण में ही सौंदर्य की सत्ता मानना अथवा वस्तुवादियों की तरह केवल वस्तु में ही सौंदर्य का दर्शन करना वास्तविक सौंदर्य-दर्शन का एकांगी अथवा लूला प्रयत्न मात्र है। सौंदर्य-सम्बन्धी शुद्ध दार्शनिक (metaphysical) चिन्ता के क्षेत्र में इन एकांगी दृष्टियों का भले ही कोई महत्त्व हो, किन्तु काव्यचिन्ता के क्षेत्र में तो, भारतीय रस-सिद्धान्त के साथ उनकी उपयुक्त संगति बैठाने के लिए, हमें समन्वय का सिद्धान्त स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि उसके बिना साहित्यिक व्यवस्था के उपयुक्त राजमार्ग हमें नहीं मिल सकेगा। यों ठीक है कि शुद्ध सौंदर्य की अनुभूति एक पूर्णतः व्यक्तिगत अनुभूति है,[2] किन्तु

---

१. "व्यक्तित्व के एकान्त की स्थिति में कलात्मक सौंदर्य और आनन्द का उदय नहीं होता। व्यक्तित्वों की अनेकता मे समात्मभाव उत्पन्न होने पर ही सौंदर्य और आनन्द का स्फोट होता है।"

—डॉ० रामानन्द तिवारी : "कला और सौंदर्य" नामक लेख ('समालोचक', सौंदर्य शास्त्र अङ्क, पृ० ३६)

2. "Everyone chooses his love out of the objects of beauty according to his own."—Plato : *Symposium.* (quoted from A-Coomara Swamy's : "*Dance of Shiva,*" p. 60.

'I have no right to consider anything a work of art to which

जब वह अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आती है तो उसे अनिवार्यतः विभाव के माध्यम से ही व्यक्त होना पड़ता है। यह बात पूर्व व पश्चिम दोनों के विद्वानों को पूर्णतया मान्य है।[1] भारत में वेदान्त के 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' के अनुसार तो वस्तु की सत्ता ही (सिद्धान्त रूप में) स्वीकृत नहीं हुई किन्तु भक्तिमार्ग में जहाँ ईश्वर को मूर्त्त रूप

I cannot react emotionally; ···The critic can affect my aesthetic theories only by affecting my aesthetic experierce. All systems of aesthetics must be based on personal experience, that is to say, they must be subjective."—Clive Bell : '*Art*', p. 9.

"It must be replied that any system of aesthetics which pretends to be based on some objective truth is so palpably rediculous as not to be worth discussing." —वही, p. 8.

"It is in this act of universalising our experience that we transcend the subjective and phenomenal sphere. At first all is subjective and phenomenal." : —W. Knight; '*Philosophy of the Beautiful*', p. 59.

१. "···सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः..."—मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, कारिका २६ की अभिनवगुप्त द्वारा व्याख्या; तथा, पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि का 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' नामक लेख।

"In the pure disinterested pleasure which comes to us ab extra, without the element of desire, we say that this beauty which gives us a pure disinterested pleasure, ought to please others also, we bring both in a rational and an objective element. We could not universalise a pleasant thing merely because it was pleasant. Recognizing something in us, however, that is common to the race, and something in each member of the race that is not his own, but is universal property, we are freed from our former confinedness and limitation."

—W. Knight : '*Philosophy of the Beautiful*', p. 59.

"Yet, though all aesthetic theories must be based on aesthetic judgements, and ultimately all aesthetic judgements must be matters of personal taste, it would be rash to assert that no theory of aesthetics can have general validity." —Clive Bell : '*Art*', p. 9.

"Every work of art causes the receiver to enter into a certain kind of relationship both with him who produced or is producing the art and with all those who, simultaneously, previously, or subsequently, receive the same artistic impression."

—Tolstoy : '*What is Art*', p. 120.

प्रदान किया गया, वहीं रस की सम्भावना हुई। तात्पर्य यह कि हम दार्शनिक तत्व चिन्तन (metaphysics) की अवांछित अतियों (extremes) को छोड़ कर भाव और विभाव दोनों को ही समान महत्त्व देने के लिए बाध्य है।

वास्तव में सौदर्य की स्वच्छ व स्वस्थ दृष्टि को एकान्त व्यक्तिगत रुचि, अत्यधिक धूमिल व सूक्ष्म आदर्शवाद, तथा कठोर वस्तुवाद रुद्ध कर रहे हैं। व्यक्ति-वैचित्र्य से तो उस साधारणीकरण का कही पता नहीं चलता जो काव्यगत सौदर्य या आनन्द का आधार है। पश्चिम में टॉल्सटाय ने पाश्चात्य सौंदर्य-चिंता सम्बन्धी समस्त उपपत्तियों (theories) का विश्लेपण करके अंत में भाव व विभाव दोनो पक्षों के मेल के प्रयत्न मे मानो भारतीय साहित्यिक चिन्तन का ही समर्थन किया है। वास्तव में शुद्ध दर्शनजगत् के वस्तुवादी तथा आदर्शवादी दृष्टिकोणों का संगमस्थल वही है जहां ये अपनी अतियाँ (extremes) छोड़ कर काव्य के सनातन रस-सिद्धांत को आत्मसमर्पण कर देते है। पश्चिम में सौदर्य-चिंता सम्बन्धी जो इतना गड़बड़-झाला हुआ उसका कारण यह था कि वहाँ सौदर्य की बड़ी ही हलकी धारणा व्याप्त हो गई।[1] वहाँ केवल इन्द्रियों को सुख पहुँचाने वाले (Pleasant) पदार्थ ही सुन्दर माने जाने लगे। किन्तु जब विचारवान् लोगों ने सुन्दर को भावानुभूति के स्पर्श से रमणीय बना दिया और उसके साथ पवित्रता की भावना भी जोड़ दी तब जाकर सौंदर्य-दृष्टि में परिष्कार आया। सौदर्य केवल बाहरी रूप-मात्र ही तो नहीं। पश्चिम में सौदर्यानुभूति को जीवन-सुलभ भाव या अनुभूति से सर्वथा पृथक् रख कर केवल कल्पना के साथ जोड़ कर देखा गया।[2] उसका चरम विकास क्रोचे के सौदर्यचिन्तन में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया। टॉल्सटाय इस घपले को साफ करके, स्वच्छ दृष्टि से, सौदर्यानुभूति को रसानुभूति से जोड़कर—सौदर्य को भाव के अधीन प्रतिष्ठित करके, पर्याप्त निर्दोष व अनुकरणीय चिंतन पद्धति प्रस्तुत कर गए थे, पर वहां सुनने वाला कोई न था। वास्तव में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस गड़बड़ी का कारण यह था कि वहाँ कला-जगत् व व्यवहार में सौंदर्य की धारणा केवल प्रेय या इंद्रिय-सौख्य (Pleasureable) के

---

१. देखिए, पृ० १४८ पर पाद-टिप्पणी नं० ३; तथा, पं० रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'चिंतामणि', भाग २, पृ० १८६, १८७ व १९४।

२. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, खंड २, पृ० ४४७-४४९; पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग २, पृ० १८८ से १९३; तथा, डॉ० रामविलास का लेख "सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास" "समालोचक" (सौंदर्य-शास्त्र विशेषाङ्क)

के रूप में बड़ी हल्की हो कर रह गई[1] और दर्शन-जगत् में सौदर्य-चिता व्यक्तिगत रुचि या दार्शनिक अतिवाद की धूमिलता में जाकर खो गई। किन्तु भारत में सौदर्य की धारणा अपेक्षाकृत पूर्ण व व्यापक रही। यहाँ प्रेय को केवल श्रेय के साथ ही महत्त्व दिया गया। यहाँ की सौदर्य-चिंता की पूर्णता का स्वरूप भारतीय कलाकृतियों के अनुशीलन से प्राप्त होता है। भारत में किसी वस्तु को 'सुन्दर' कहना सांस्कृतिक, कलात्मक, व धार्मिक—सभी दृष्टियों से किसी वस्तु को 'सुन्दर' ठहराना है। केवल साहित्यिक दृष्टि से, या केवल धार्मिक दृष्टि से, या केवल सांस्कृतिक दृष्टि से कोई वस्तु यहां खंडशः 'सुन्दर' नहीं। यदि कोई वस्तु 'सुन्दर' है तो एक साथ इन सभी दृष्टियों से। इसका कारण मुख्यतः भारत की आध्यात्मिक दृष्टि है। इस दृष्टिकोण को लेकर तंत्रालोककार अभिनवगुप्त, डॉ० आनन्दकुमारस्वामी, डॉ० रामास्वामी, डॉ० सम्पूर्णानन्द, बा० गुलाबराय, आदि प्राचीन व नवीन पंडितों के किये गये मूर्धन्य प्रयत्न सर्वथा वंदनीय है। सब कुछ हमारी दृष्टि मे 'आत्मा' का ही प्रकाशन है। आत्मा 'सत्', 'चित्' व 'आनन्द', तीनों का सामूहिक स्वरूप है, अतः उसके समस्त बाह्य प्रकाशन (manifestations) एक साथ तीनों ही गुण लिए हुए है। इस प्रकार भारतीय सौंदर्य की धारणा सर्वथा पूर्ण व व्यापक है।[2] सौदर्यसम्बन्धी यह भारतीय धारणा वैष्णव भक्ति-मार्ग में भाव की चरम अवस्था को पहुँच गई। वैष्णव भावना में सौंदर्य ही सर्वस्व है। वह गोचर या भौतिक होते हुए भी पूर्णतः आध्यात्मिक है।[3] भौतिक और आध्यात्मिक वस्तु व भाव का ऐसा सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ है।

काव्यक्षेत्र में कवि इसी समन्वय का प्रयत्न करता है और इसी समन्वय में रस-सिद्धि निहित है। यह समन्वय भक्ति-क्षेत्र व काव्य क्षेत्र मे सम्भवतः सर्वाधिक

---

१. यहाँ कठोपनिषद् के यम-नचिकेता-संवाद में प्राप्त श्रेय-प्रेय सम्बन्धी भारतीय विचार-धारा दृष्टव्य है।

२. 'सौंदर्य' को जीवन से अलग काट कर देखने वाले पाश्चात्य दार्शनिकों (जिनमें प्रोफ़ेसर नाइट (Knight), विन्सेंट स्मिथ और प्रो० मैक्समूलर तक के नाम सम्मिलित है।) की इस धारणा पर कि भारत में सौंदर्य-चिन्तन (Aesthetics) की दृष्टि अनुपस्थित या अविकसित रही है, प्रो० रामास्वामी तथा डॉ० हर्ष आदि ने समुचित उत्तर दिया है।

३. "The senses are, so to speak, spiritualized; and in this acceptation the Vaishnavas synthetize the conception of beauty as transcendental with its sensuous expression in the soul...The Vaishnavas add that this sense is supra-sensuous sense and obtains in the realm of spiritual transcendence. Nature becomes denaturalized, it becomes the reflection of spirit."

—Mahendra Nath Sircar : '*Eastern Lights*', p. 127-128.

सुन्दर रूप में हुआ है जहाँ शील और भक्ति तथा आश्रय और आलम्बन की एकता के आधार पर रसानुभूति होती है। वास्तव में कोरे वैज्ञानिक और कोरे आदर्शवादी तत्वचितक—दोनों ही अधूरा देखते हैं। बाहर ही देखने वाले क्यों नहीं उस पदार्थ के सृष्टा की भावना में डूबते, और आत्म-दृष्टा क्यों नही पदार्थों का बाहरी सौंदर्य व महत्त्व स्वीकार करते हैं, जबकि बाहरी रूप और भीतरी आत्मा एक ही सत्य के दो रूप या अभिव्यक्तियाँ हैं। रसवादी कवि बाहर व भीतर, दोनों को ही देखता है—पूर्णतः देखता है : यः पश्यति स पश्यति (गीता ५,५)। उसे अंतर्बाह्य दोनों ही प्रिय हैं। वस्तु के बाहरी रूप को भी वह ईश्वरीय प्रकाश से आलोकित अनुभव करता है।[२] जो कुछ बाहर है उसमें वह महाभाव का ही दिव्य प्रसार देखता है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इस बाहर-भीतर के पचड़े में ही नहीं पड़ना चाहते। जो भीतर है सो बाहर है, और जो बाहर है सो भीतर है।[३] कवि वास्तव में अनुभूति के स्पर्श से बाह्य तथा आभ्यन्तर सबको सजीव एवं पुलकित कर देता है। उसके लिए बाह्य भी उतना ही सुन्दर है[४] और आंतरिक भी उतना ही यथार्थ अथवा सत्य।[५] वह बाह्य की निरर्थकता नहीं जताता। वह तो भक्त बनकर समस्त सृष्टि में भगवान् की मंगल कला का ही दर्शन करता है। उसका बाहरी सृष्टि को देखकर प्रफुल्लित होना भी कोरी भौतिकता की उपासना नही, बल्कि अव्यक्त ब्रह्म की पुनीत इच्छा-स्वरूप निर्मित व्यक्त जगत् के दर्शन का उल्लासपूर्ण आनन्दानुभव है। बाह्य संसार को भी वह आनन्द व सौंदर्यपूर्ण दृष्टि से ही देखता है, किन्तु उसका बाह्य को देखना वैज्ञानिक के देखने से बहुत कुछ भिन्न है, क्योंकि एक (वैज्ञानिक) तो बाह्य का आत्मसत्ता-निरपेक्ष विश्लेषण करके ही मौन हो जाता

---

१. ऐतरेय उपनिषद् : १।१।२, ४। ; १।३।११, १२।

२. "Apparalled in celestial light"—Wordsworth (*Immortality Ode*).

३. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग १, 'कविता क्या है' नामक लेख में "सौंदर्य" का निरूपण।

४. "A primrose by a river's brim,
A yellow primrose was to him,
And it was nothing more." —John Keats.

५. सौंदर्य को भाव-गत (मानसिक प्रक्रिया) मानने से ही हमारे यहाँ आचार्यों ने रस को आनन्द की पराकाष्ठा माना है और जहाँ आनन्द की पराकाष्ठा है वहीं सौंदर्य है। पण्डितराज जगन्नाथ ने लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने वाले ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण को रमणीयता से सम्बोधित किया है।
—विनयमोहन शर्मा : 'साहित्यावलोकन', मे 'कलाकार और सौंदर्य बोध' नामक लेख।

है और दूसरा (कवि) उस बाह्य के रूपाकार पर मुग्ध होकर, उसमें सृष्टा की कृतित्व-शक्ति की भावना को परिपूर्ण पाकर। इसीलिए कवि बाह्य सौंदर्य को भी एक अत्यन्त अपरिसीम रहस्य व कुतूहल की दृष्टि से देखता है।[1] फूल, तारे, किरण, रमणी का मुख, वीर का वक्षस्थल आदि देखकर वह भावमग्न हो जाता है। वह दार्शनिक या धार्मिक की तरह चाहे ब्रह्म का नाम न ले किन्तु उसके प्रत्येक दृष्टि-निक्षेप में शुद्ध वेदान्त की आनन्दमयी भावना का मधु लहराता रहता है। अतः कवि का प्रयास ही पूर्ण रूप से समन्वयात्मक है। ससार के समस्त सर्वश्रेष्ठ कवियों ने व्यक्त (वस्तु) मे ही अव्यक्त (भाव) को देखा है। केवल व्यक्त को ही देखने वालों में वह प्राण नहीं रहा, और रंग, रूप, रस रहित केवल अव्यक्त का बखान करने वाले रूखे उपदेशक ही बने रहे।

कवि बाह्यपक्ष (विभाव) की उपेक्षा नही कर सकता क्योंकि आलम्बन रस-निष्पत्ति का अनिवार्य साधन है। हाँ, है वह साधन ही, साध्य नही।[2] गीति-काव्य में विभावपक्ष हल्का अवश्य पड़ जाता है, किन्तु गीत की मुख्य भावना भी अंततः विभाव पर ही खड़ी रहती है। ऊपर कह ही चुके हैं कि कवि का विभाव-ग्रहण यथार्थवादी दार्शनिकों से, जो केवल आत्मा से अछूता पदार्थगत सौदर्य ही ग्रहण करते है, भिन्न हैं, क्योकि वह रस-निष्पत्ति के लिए उस परम सत्ता से प्रकाशित वस्तु-रूप को भी स्वीकार करने के लिए बाध्य है।

अतः इन प्रश्नों का कि "क्या सौदर्य केवल प्रमाता या दृष्टा के हृदय में ही हैं, वस्तु या प्रमेय में नही ? अथवा, क्या सौदर्य केवल वस्तु या प्रमेय में ही है, प्रमाता या दृष्टा में नही ? क्या प्रमाता व प्रमेय एक दूसरे से पूर्णतः निरपेक्ष रहकर भी 'सुन्दर' कहला सकते है ?"—गम्भीरता से विचार करने पर यही उत्तर मिलता है कि न तो किसी व्यक्ति या वस्तु के बाहरी गुण-धर्म मात्र दृष्टा की भावना से निर-पेक्ष रहकर अपना सौदर्यमय अस्तित्व रख सकने में समर्थ है और न हृदय की सूक्ष्म और निराकार सौदर्यवृत्ति मात्र किसी बाहरी वस्तु, व्यक्ति या अन्य सत्ता के आधार

---

१. "To me the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears.
—Wordsworth.

२. "काव्य दृश्य हो या श्रव्य, कवि को विभाव और स्थायी से काम लेना पड़ता है, अनुभाव और सात्विक को दिखाना पड़ता है परन्तु उसका लक्ष्य रस ही रहता है। यदि नायक नायिका या उद्दीपन-सामग्री या रति आदि भाव या पात्रों की चेष्टाएं अपने आगे न बढ़ने दें तो कवि की प्रतिभा का दोष है। यह सब तो रस के लिए बहाना मात्र होना चाहिए।"

—बाबू सम्पूर्णानन्द : चिद्विलास, पृ० २१२।

के बिना अपना अस्तित्व प्रमाणित कर सकने में सक्षम है। वस्तुतः दोनो अपने अस्तित्व की यथार्थता के लिए एक दूसरे पर आश्रित है। इस सत्य को भुलाकर दोनों पक्षों ने अतिवाद से काम लिया है और वे अपने-अपने पक्ष को बहुत दूर तक घसीट ले गये है। हृदय के रस या आत्मा के प्रकाश से अछूता सौंदर्य पूर्ण चाकचिक्य युक्त होकर भी निर्जीव व जड़ है और वस्तु के आधार से स्वतन्त्र और मनोजगत् में ही सूक्ष्म, अव्यक्त तथा अचिंत्य रूप से शयन करने वाली वायवी-सौदर्य-भावना भी निरर्थक व निष्फल। वास्तव में सौदर्य की सत्ता दोनों के समुचित सामंजस्य में है। ऐसा स्वीकार करने में ही वह मार्ग प्रशस्त होता दिखाई पड़ता है जिस पर चल कर मनोजगत् और बाह्यजगत् की पूर्ण संगति बैठ जाती है। यदि कोई सहृदय व्यक्ति दृष्टा के रूप में उपस्थित न हो तो सुरभियुक्त सुकुमार कुसुमावलि की, उज्ज्वल व आह्लादपूर्ण चन्द्रमा की, रमणी के प्रफुल्लित मुखमण्डल के सौंदर्य की क्या सार्थकता होगी ? फिर, यदि ये पदार्थ आत्मसत्ता का प्रकाश करने वाले माध्यम के रूप में हमें भासित न हुए तो इनका सौंदर्य भी कितना निष्प्राण होगा ![1] ये केवल स्थूल भोग के क्षणिक उपकरण मात्र ही रहकर आलोक-सत्ता से शून्य हो जायेंगे। इसी प्रकार यदि हमारी निराकार सौंदर्य-भावना को इन उपकरणों के सहारे स्फुरित, अंकुरित, पल्लवित व पुष्पित होने का अवसर न मिला तो क्या वह हृदय के अन्धेरे कोने में पड़ी पड़ी जीती रहेगी ? अतः यही सिद्ध होता है कि सौदर्य के अस्तित्व की सत्ता दृष्टा और दृश्य के पारस्परिक सम्बन्ध में ही है। दोनों अतिवादों से सर्वथा मुक्त यही आधार, अधिक व्यापक और ग्राह्य हो सकता है।

अतः स्पष्ट है कि दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय की भारी आवश्यकता है: कम से कम सौदर्य की धारणा को काव्योपयोगी बनाने के लिए तो अवश्य ही। इस समन्वय के अभाव में स्वयं दार्शनिक क्षेत्र में ही बड़ी खींचतान मची हुई है। यदि एक ओर कांट और क्रोचे पूर्ण आत्मपरकता की बात पेश करते हैं तो दूसरी ओर

---

१. वस्तु सुंदर न हो किन्तु देखने वाले की आँख सुंदर हो, तथा आँख सुंदर न हो किन्तु वस्तु में सहज सौदर्य हो तो सौंदर्य कैसे देखा जा सकता है ? रूप और नेत्र दोनों ही सुंदर हों—कविवर बिहारी यही कहते हैं :—

रूप रिझावन हारु वह, ये नैना रिझवार।

फिर, रूपवान् और कुरूप, यह सब कुछ नहीं। न जाने कब कोई वस्तु सुंदर लग जावे—

उस दिन तो हम जान सके थे सुंदर किसको है कहते।

(प्रसाद)

समै समै सुंदर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥

(बिहारी)

कॉडवेल व प्लेखानोव जैसे सामाजिक विचारक वस्तुपरकता की। कांट महोदय की धारणा अत्यन्त सूक्ष्म है।[1] उस धारणा का प्लेखानोव ने बड़ी मुस्तैदी के साथ खंडन किया है और अपनी उपयोगिता मलक नवीन वस्तुपरक स्थापना की है।[2] क्रोचे की सौंदर्यसम्बन्धी आत्यंतिक धारणा भी ध्यान देने योग्य है।[3] उनकी विचार-पद्धति में भावानुभूति को छोडकर कल्पना का इतना अधिक आग्रह है कि भारतीय पंडितों ने ही नहीं,[4] विदेशी पंडितों तक ने उनको नाकों चने चबवा दिये है।[5] बात

---

१. देखिए, कांट की सौदर्य की परिभाषा पृष्ठ १४६ पर। पाद-टिप्पणी सं० ३

२. देखिए, पृ० १४७ पर संख्या २ की पाद-टिप्पणी।

३. देखिए, क्रोचे की सौंदर्य-सम्बन्धी धारणा पृष्ठ १४६ पर। पाद-टिप्पणी सं० ६

४. "तात्पर्य यह है कि अभिव्यंजनावाद मे काव्य तथा कला के लिए न तो किसी नैतिक आधार का प्रयोजन मान्य है और न हृदय के भावों का समर्थ रूप से रमणीय अनुसंधान है। वह कोरा चमत्कारवाद ही सिद्ध होता है। वह पूर्णरूपेण अभारतीय है—भारतीय सिद्धान्तों के न मानने से नितांत उपेक्षणीय तथा एकदेशीय है।" —पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, खंड २, पृष्ठ ४४१।

"आगे चलकर क्रोचे उस रसवाद का भी खंडन करता है जिसमें रति, क्रोध, शोक आदि भिन्न-भिन्न भावों की रसरूप से अनुभूति ही काव्यानुभूति मानी गई है। वह कहता है कि रसवादी रसानुभूति की वास्तविक अनुभूति से इसी बात में विशेषता बतलाते है कि वह निःस्वार्थ और निर्लिप्त होती है। पर वह भेद व्यर्थ है।" —पं० रामचन्द्रशुक्ल : चिंतामणि, भाग २, पृ० १९०।

विशेष देखिए, बा० सम्पूर्णानन्द : 'सौंदर्य-विज्ञान' (श्री हरिवंशसिंह शास्त्री) की भूमिका, पृ० २–३।

5. "Here, I cannot but think, we are obliged to part company, with some regret, from Benedetto Croce. He is possessed, as so often is the case with him, by a fundamental truth, so intensely that he seems incapable of apprehending what more is absolutely necessary to its realization. Beauty, he sees, is for the mind and in the mind. A physical thing, supposed unperceived and unfelt, cannot be said in the full sense to possoss beauty. But he forgets throughout, I must think, that though feeling is necessary to its embodiment, yet also the embodiment is necessary to feeling. To say that because beauty implies a mind, therefore it is an internal state, and its physical embodiment is something secondary and incidental and merely brought into being for the sake of permanance and communication—this

यह है कि प्रकृति स्वयं किसी बात के अतिरेक को प्रोत्साहित नहीं करती। वह संतुलन द्वारा अपना कार्य करती है। उसे मानव-हृदय को औसत धरातल पर ही स्थित रखने में मानव-हित का संपादन जान पड़ता है। भगवान बुद्ध का विचार है: "छोड़ कर जीवन के अतिवाद, मध्यपथ से लो सुगति सुधार।" ('प्रसाद')। आधुनिक युग समन्वय का ही युग है। भारतीय दृष्टि सदा से समन्वय में ही जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान ढूँढती आई है। महाकवि तुलसी ने 'समन्वय' की विराट् चेष्टा की है। आधुनिक हिन्दी के मूर्धन्य चिंतकों—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, बाबू सम्पूर्णानन्द, प्रसाद, पंत, महादेवी आदि—ने समन्वय का ही प्रयत्न किया है। डॉ० गुलाबराय, डॉ० रामानन्द तिवारी, डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', डॉ० द्वारकाप्रसाद, डॉ० हरद्वारीलाल, श्री बारलिंगे, डॉ० रामविलास आदि विचारकों के निभ्रांत शब्दों में सौंदर्य-सम्बन्धी इस समन्वय को स्वीकृति दी है।[१]

(ख) समन्वय के दृष्टिकोण की पुष्टि

सौंदर्य-चिंता-सम्बन्धी अतिवादों (आदर्शवादी व यथार्थवादी) की समाप्ति भारत व यूरोप में समन्वय के सिद्धान्त की स्थापना में ही हुई है। समन्वयवादी

---

seems to me a profound error of principle, a false idealism."

—Bernard Bosanquet : *Three Lectures on Aesthetics*' (1915) : Quoted from M. Rader's *A Modern Book of Aesthetics*,' p. 196.

"But confusion arises because when he speakes about 'art', he means something different from what the rest of the world means... What others call a work of 'art' and a 'thing of beauty', is for him not art, and no beautiful—it is only a physical stimulant to induce a beautiful intuition in the beholder."

—R. A. Scott-James : '*The Making of Literature*' p. 326-327.

"Croce has almost forgotten communication, as he has almost forgotten beauty." वही, p. 329.

"......And have constantly belied themselves by their hankering after recognition." वही, p. 330.

"And I said that Croce had forgotten, or almost forgotten, beauty. It is axiomatic, is it not, that a work of art is beautiful. Not, let me repeat, the beauty is an embellishment, an added quality; it penetrates the vision of reality to the very core, and it belongs to whatever joy or satisfaction we derive from it." वही, p. 334-335.

१. देखिए—समालोचक के 'सौंदर्य-शास्त्र अङ्क' में क्रमशः पृ० ८, ४२, ५६, ७३, ८३ व १०३, १८३ पर कथित विद्वानों के स्पष्ट मत।

दृष्टिकोण वाले पाश्चात्य व भारतीय पंडितों ने अपना स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत करके इस समस्या को एकांगिता के दुराग्रह से उबार लिया है। पाश्चात्यों में प्लेटो[1], बोजांके[2], हिगेल[3], तथा विश्वकोषकारों[4] ने समन्वयकारों के दृष्टिकोण का प्रति-

---

१. "This beauty is first of all eternal; it neither comes into being nor passes away, neither waxes nor wanes; next, it is not beautiful in part and ugly in part, nor beautiful at one time and ugly at another, nor beautiful in this relation and ugly in that, nor beautiful here and ugly there, as varying according to its beholders; nor again this beauty appears to him like the beauty of a face or hands or anything else corporeal, or like the beaty of a thought, or a science, or like beauty which has its seat in something other than itself, be it a living thing or the earth or the sky or anything else whatever; he will see it as absolute, existing alone with itself, unique, eternal, and all to other beautiful things as partaking of it, yet in such a manner that while they come into being and pass away, it neither undergoes any increase or diminution nor suffers any change."—Plato : '*The Symposium*', p. 93-94.

२. "...Though feeling is necessary to its emdodiment, yet also the embodiment is necessary to feeling."

—Bosanquet : '*Three Lectures on Aesthetics.*' (1915)

—Quoted from M. Rader's, '*A Modern Book of Aesthetics*'. p. 196.

३. "According to Hegel, God manifests Himself in nature and in art in the form of the beauty. God expresses Himself in two ways: in the objects and in the subjects—in nature and in spirit. Beauty is the shining of the Idea through matter. Only the soul and what pertains to it is truly beautiful, and therefore the beauty of nature is only the reflection of the natural beauty of the spirit—the beautiful has only a spiritual content. But the spiritual must appear in sensuous form" —Tolstoy : '*What is Art*', p. 10.

४. "But is it sufficient to regard merely the impression produced? Are we in the study of the Beautiful to lose all interest in the Aesthetic factors springing from the object? Survey not. Contemporary philosophy is wrong in obstracising metaphysics and adorning metaphysics with its spoils. On the question whether the Beautiful possesses an objective reality we agree with the Greeks: Beauty is an attribute of things. But we complete the Greek point of view by adding the modern: Beauty is not an absolute but a

निधित्व किया है। भारतीय विद्वानों में डा० कुमारस्वामी[१], कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर[२], डॉ० आत्रेय[३], डॉ० सम्पूर्णानन्द[४], आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल[५], श्री हरिवंशसिंह शास्त्री[६], व शिलीमुख[७], आदि विद्वानों ने इसी दृष्टिकोण को स्वीकार

---

relative conception. It exists neither as a physical fact nor as a psychic fact ; it is the result of a close connection between an object and a subject, for the attributes of the one form the appropriate origin the perceptive enjoyment of other." —'*Encyclopeadia of Religion and Ethics*' (Article by Mourice De Wulf), p. 449.

"There would seem, on the whole, to be a tendency at present towards an amalgamation of what hitherto been considered irroconcilable doctrines—towards the belief that there is an essential beauty in the harmony of forms and in the combination of colours, and that the keen delight we experience in beholding them is incapable of being explained by any number of associations ; while it is admitted, on the other hand, that many things are made beautiful by association that all things have their beauty enriched by it, and that somethings even have their intrinsic beauty called forth by it operating in the form of suggestion."—*Chamber's Encyclopeadia*, Revised Edition, Vol. I, (London, 1976), p. 62.

1. "It will be seen in what sense we are justified in speaking of Absolute Beauty, and in identifying this beauty with God......but that every natural object is an immediate realization of His being... but there is always perfect identity of institution—expression, soul and body." A. Coomaraswamy : '*The Dance of Shiva*', p. 70.

2. Tagore : '*Sadhana*', (1947), p. 137—144.

3. "Beauty is a unique quality, *sui generis* in nature, which inherits neither in a pure object nor in a pure subject, but in a particular relation between a subject and an object."

—Dr. B. L. Atreya : '*Psychology Of Beauty*' (an article in B. H. U. Journal, Silver Jubilee number, (p. 44.), 1942.

४. दे० 'जीवन और दर्शन' में 'सौंदर्य' नामक प्रकरण व 'चिद्विलास' में 'सौंदर्याधिकरण'–'प्रकरण'।

५. 'कविता क्या है' नामक निबन्ध में आचार्य शुक्ल की सौंदर्य-सम्बन्धी धारणा।

६. "सूक्ष्म या स्थूल जगत् में आत्मा की अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है।"
श्री हरिवंशसिंह—'सौंदर्य विज्ञान', पृ० ५७।

७. दे० श्री 'शिलीमुख'-कृत 'कला और सौंदर्य' का प्रथम लेख।

किया है। भारतीय उपनिषद् व गीता आदि ग्रंथों[1] मे भी इसी समन्वय को मान्यता प्रदान की गई है। वस्तुतः सौदर्य के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण हमें सर्वथा उपयुक्त तथा प्रामाणिक जान पड़ता है। सौंदर्य-चिंता में इस मूल आधार को छोड़ कर हम नहीं बढ़ सकते। कोरी तत्त्वचिंता (metaphysics) की तो हम नहीं कहते, हाँ! काव्यानुशीलन के लिए तो यही दृष्टिकोण राजमार्ग है।

५. सौंदर्य का स्वरूप

(क) मनोवैज्ञानिक आधार

यहाँ तक तो यह निर्णय हुआ कि सौंदर्य न तो केवल वस्तुगत है, और न केवल आत्मगत; यह वस्तु तथा दृष्टा की भावना, इन दोनों के संयोग में ही है। अब सौंदर्य की एक व्यापक धारणा खड़ी करने के लिए हम उसकी कतिपय मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करेंगे। किन्तु इस के पहले संक्षेप में यदि यह भी जान लिया जाय कि सौदर्य-भावना के उत्पादन में कौन-कौन से कारण (Factors) सहायक होते हैं तथा उसका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, तो उससे स्वतः ही सौंदर्य का स्वरूप अथवा उसकी धारणा हमारे समक्ष उभरती सी दिखाई पड़ेगी।

वास्तव में हमारी सौंदर्य-भावना के निर्धारण में अनेक बातें सहायक होती है। प्रत्येक व्यक्ति का सौदर्य-निर्धारण का अपना-अपना व्यक्तिगत मानदण्ड होता हैं। फिर भी उसके कुछ सामान्य मनोवैज्ञानिक आधार स्थापित किये जा सकते हैं। किसी पदार्थ को देखकर हमारे मन में, सम्बन्ध-भावना के कारण अनेक मधुर भावनाएँ या सुखद कल्पनाएँ जग उठती हैं, या जग सकती है। वस्तु स्वयमेव चाहे सुंदर हो या न हो, वे नवोदित भावनायें व कल्पनाएँ ही उस वस्तु के सौदर्य को अभिवृद्ध

---

१. "तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि यो सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥
—ईशोपनिषद्—१६।

"ओ३म् ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥"
—ईशोपनिषद्—१।

"यद्यद्विभूति मत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥"
—श्रीमद्भगवद्गीता—१०।४१

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ।"
—पातंजल योगसूत्र—३।४६

"सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणामु जोरि जुगपानी ॥"
—रामचरितमानस (तुलसी)

करने में सहायक होती हैं। दूसरे, सौंदर्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण अनेक मनोवैज्ञानिकों ने हमारी यौन भावनाओं को ही ठहराया है।[1] उदाहरणार्थ, किसी युवती का सौदर्यानुभव करने में (उसके पहले वह सुन्दर न हो, वह बात नहीं) उसके प्रति दृष्टा के प्रेम की प्रगाढ़ता, उसका कामवेग, शारीरिक बल, उसको प्राप्त करने की उसकी आकांक्षा की गहनता व तीव्रता, तृप्ति तथा अतृप्ति आदि अनेक बातें सहायक होती हैं।[2] उनके अनुसार यौन भावना की क्षीणता या उसकी समाप्ति के साथ ही दृष्टा विशेष के लिए सौंदर्यानुभव की क्षमता भी क्षीण या समाप्त हो जाती है।[3] सजीव मानवों के अतिरिक्त उनसे सम्बन्धित अन्य जड़ पदार्थों का सौंदर्य भी अपने प्रेम-पात्र से प्राप्त प्रेम के अनुपात में ही घटता-बढ़ता रहता है। इसके अतिरिक्त आयु भी सौदर्य-निर्धारण में सहायक होती है। एक विशेप आयु, मानसिक अवस्था या विकास के दिनों में ही हम सौदर्य का सर्वाधिक अनुभव कर सकते है; बाल्यावस्था या वद्धावस्था में उतना नही। इससे भी सौन्दर्य का काम-सम्बन्धी आधार प्रमाणित होता है। फिर, सौदर्यानुभव की आयु विशेष में भी हम प्रत्येक क्षण अनेक शारीरिक या मानसिक कारणों से सौदर्यानुभव की एक सी क्षमता नहीं रखते। व्यक्ति या वस्तु का अत्यधिक साहचर्य या सामीप्य भी कभी-कभी सौदर्य-भावना को क्षीण या निर्जीव कर देता है या कर सकता है; यही नहीं वह उसके प्रति घृणा या विरक्ति तक उत्पन्न कर सकता है। किन्तु विरल, अप्राप्त, अप्राप्य, सुदूर, रहस्यपूर्ण, पुरुषार्थ-साक्षेप वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति हमारी मधुर ललक हमारे वांछित पदार्थ या व्यक्ति में अत्यधिक सौंदर्य संचित कर देती है। शिक्षा और संस्कार, समाज की परम्परायें व सौन्दर्य-सम्बन्धी पूर्वनिर्णय आदि भी हमारी सौदर्य-सम्बन्धी धारणाओं को स्थिर करने में सहायक होते है।

(ख) साहित्यिक आधार

उपरोक्त विवेचन सौदर्य की भावना के अस्तित्व का एक सामान्य मनोवैज्ञानिक आधार है और यह बताता है कि सौदर्य की भावना जन-साधारण में किस प्रकार उत्पन्न होती है। किन्तु साहित्यकार या कवि सौदर्योत्पत्ति की मनोवैज्ञानिक स्थितियों के उल्लेख या निरूपण मात्र से ही संतुष्ट नही होता। वह तो रसात्मक पद्धति से सौंदर्य-निरूपण के द्वारा जीवन के सर्वोच्च तत्व का दर्शन हमें कराने का आकांक्षी होता है। अतः कवियों ने सौदर्य को जिस ढंग से देखा है और वे जिस ढंग से उसकी

---

१. "*The Psychology of Beauty*" : an article by Dr. B.L. Atreya, in B. H. U. Journal (Golden Jubilee Number, 1942); and chapter on 'Beauty' in Will Durant's '*The Mansions of Philosophy*'.

२. Dr. Atreya's article.

३. वही

अनुभूति कराना चाहते हैं, यह सामान्य मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं या विश्लेषण-विवेचन से कुछ भिन्न है। काव्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के तथ्यों को कल्पना चित्रों के रूप में ग्रहण करके फिर उनका रसात्मक निरूपण करता है। अतः धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि सब क्षेत्रों का सारभूत ज्ञान लेकर[१] वह सौंदर्य के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार करने और कराने का प्रयत्न करता है। अभिप्राय यह है कि साहित्य केवल मनोवैज्ञानिक वास्तविकताओं के नीरस उल्लेखन तक ही नहीं टिकता। वह इससे ऊपर उठ कर प्रकृति व मानव जगत् के सौंदर्य को कला के जगत् में लाकर उसका जीवंत रसानुभाव कराता है। यही कवि की सौंदर्य-सम्बन्धी वास्तविक गतिविधि है। सौंदर्य की उच्च व वास्तविक अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक धरातल से ऊपर उठकर ही हो सकती है।[२]

(ग) सौंदर्य की सामान्य विशेषतायें

अब सौंदर्य के लक्षणों या उसकी विशेषताओं पर विचार किया जा सकता है। सौंदर्य का सर्वप्रथम गुण है आकर्षण। इतना ही नहीं, यदि सौंदर्य-दृष्टा में भी आकर्षणीयत्व न हो तो स्वयमेव वस्तु का आकर्षण का गुण मात्र ही पर्याप्त न होगा। प्रमाता (दृष्टा) तथा प्रमेय (दृश्य) के इस पारस्परिक सम्बन्ध में प्रमाता का इन्द्रिय-व्यापार भी निहित है। दृष्टा आंख, कान, व त्वचा आदि के माध्यम से (यदि सौंदर्य कला-गत अथवा काल्पनिक हो तो मन से) सौंदर्य की अनुभूति ग्रहण करता है। अतएव इन्द्रिय-व्यापार भी सौन्दर्यानुभूति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। इन्द्रिय-व्यापार की सहायता से दृष्टा अपने मन में सौंदर्य की परम अनुकूल भावना का अनुभव करता है। दृष्टा सौंदर्य को देखकर जब भावों से अभिभूत हो जाता है तो वे भाव उसके वस्तु-दर्शन, आलिंगन, चुम्बन आदि व्यापारों में अभिव्यक्त होते हैं। ये ही चेष्टाएं साहित्य में अनुभाव कहलाती है। सौंदर्य की अनुभूति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। सौंदर्य को देखकर उसके प्रति आदर, फिर व्याकुलता और अतृप्ति, और अन्त में प्राप्ति की भावना—सौंदर्य-दर्शन के साथ ही भावों का यह क्रम

---

१. **वर्ड्सवर्थ** (Wordsworth) **ने कविता को** '*The finer spirit of all knowledge*' **कहा है।**

२. "Emotions are feelings which have risen or been raised from the status of sensations to what we may call a higher level, higher not morally but in the sense that they presuppose the 'lower' and or not presupposed by them. We are often apt to think that they are only possible for beings rational as well as sensuous, and it may be observed that we also think only such beings capable of aesthetic expression."

—E. F. Carrit : '*An Introduction to Aesthetics*', p. 66.

रहता है।[1] प्रमेय के सौंदर्य से अभिभूत होकर प्रमाता के हृदय में उसे अपनाने की चाह भी होती है। किन्तु अपनाने की चाह मात्र भी सौंदर्य की अनुभूति को उच्च अनुभूति का रूप नहीं देती। आदर्शवादी दार्शनिकों की धारणा है कि सौंदर्य-पूर्ण पदार्थ को व्यक्तिगत स्थूल सुखोपभोग के लिए अपनाने की चाह जितनी ही न्यून होगी, सौदर्यानुभूति उतनी ही उज्जवल व उदात्त होगी। उनकी दृष्टि में सौंदर्य एक ईश्वरीय देन है। उपनिषद् में शारीरिक सौंदर्य का सम्बन्ध भी ईश्वर के साथ ठहराया गया है।[2] इसी प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य भी ब्रह्म के नाते ईश्वरीय है।[3] कवि और दार्शनिक तो सौंदर्य को वैज्ञानिकों की तरह बाह्य, तथा आत्मवादियों की तरह आत्मा तक ही सीमित रखने में संतोष नहीं मानते। वे उसे जन्म-जन्मांतर से सम्बन्धित करके उसकी अमरता-अनंतता की भी प्रतिष्ठा करते हैं। कालिदास ने सौंदर्य की अनुभूति के साथ जन्मांतर का सम्बन्ध माना है।[4] इसी प्रकार अन्य कवियों व लेखकों ने भी किया है। भारतीय सौंदर्य-भावना के साथ पवित्रता या

---

१. महाराष्ट्र के प्रमुख सौंदर्य-शास्त्री डॉ० हर्षे का मत है कि सौंदर्य की वृत्तियाँ 'प्रतिक्षण नवीनता' और 'अतृप्ति' विशेष रूप से उन्हें संस्कृत साहित्य में ही प्राप्त हुई है। वे लिखते हैं—'किन्तु इन दोनों लक्षणों की चर्चा मुझे पाश्चात्य पंडितों के सौंदर्य शास्त्र के इतिहास में नहीं मिली।' 'समालोचक', सौंदर्य-शास्त्र अङ्क, पृ० ६६; तथा,

'अति प्रेरित रूप आँखियाँ अत्रिपत
माइव जद्यपि त्रिपत मन !
वार वार तिम करै विलोकन
धन मुख जेही रंक धन !!' —'बेलि क्रिसन रुक्मणीरी"

अर्थात्—"सौंदर्यागार कृष्ण यद्यपि स्वयं तृप्त-मन है किन्तु अनन्त सौंदर्य शालिनी रुक्मिणी के रूप-सौंदर्य को पीकर भी उनके नैत्र अतृप्त ही रहते हैं। वे प्रिया-मुख छवि को इस प्रकार देख रहे है जैसे दरिद्र धन को तृषित नेत्रों से देखते है।"

२. "ताभ्य: पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतैति। पुरुषो वाव सुकृतम्"'।
ऐतरेय उपनिषद्, १।२।३

ऋषि पतंजलि चार गुणों (रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान संगठन) से युक्त शरीर को कायसंपत् मानते है—"रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानिकायसंपत्॥
—पातंजलयोगदर्शन, विभूतिपाद, ४६।

३. ऐतरेय उपनिषद्: १।१।२; १।२।४

४. "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोपि जन्तु: तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसोहृदानि"
—अभिज्ञानशाकुंतलम्, पंचम अङ्क, श्लोक २।

पापरहितता का नित्य सम्बन्ध है।[1] जो सौन्दर्य पवित्र नहीं वह अन्य को भी पवित्र नहीं कर सकता। सौंदर्य के साथ गर्व आदि दुर्गुण भी नहीं रह सकते। भगवान् कृष्ण ने रासलीला के समय अन्तर्धान होकर रूपगर्विता गोपियों को यही उपदेश दिया।[2] यों सौंदर्य की व्यावहारिक उपयोगिता भी होती है किन्तु अपने आदर्श रूप में वह प्रयोजनातीत है। कालिदास ने सौंदर्य की उपयोगिता मानी भी है तो केवल अपने प्रिय को रिझाने में ही।[3] कवियों की दृष्टि में सौंदर्य का उपभोग सौभाग्य का एक लक्षण है।[4] सूरदास की मान्यता है कि सौन्दर्य के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने वाले पूर्ण निर्भय हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य अनिर्वचनीय है। वह हमें मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त कर देता है। सौंदर्यानुभूति में नेत्र परमानन्द में लीन होने की एक हठ सी ठान लेते हैं।[5] रूप की शक्ति इतनी है कि बुद्धि उसकी दासी ही बनकर जी सकती है।[6] कालिदास की दृष्टि में सच्चे रूपवान् पर

---

१. प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥
—कालिदास : कुमारसंभवम्, १।२८

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥ —वही, ५।३३

सिय सुन्दरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई॥
आवत देखि बरातिन्ह सीता। रूपरासि सब भाँति पुनीता॥
—तुलसी : रामचरितमानस, बालकाण्ड।

हम अलि गोकुल-नाथ अराध्यौ।
मन, बच, क्रम, हरि सौं धरि पतिव्रत प्रेम जोग तप साध्यौ।
× × × ×
भरे सँपूरन कलस प्रेम-जल छुअन न काहू पाये।
—सूर

२. श्रीमद्भागवत: १०।२९।४८

३. निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।
—कुमारसंभव, ५।१

४. भर्तृहरि : शृंगार शतक, ३५।

५. 'सूर' स्याम के रूप महारस गोपी काहू तें न डरे। × × × —सूर
सोभा कहत कहै नहीं आवै। × ×
सखि यह विरह संजोग कि समरस दुख सुख लाभ कि हानि।
इत लोभि उत रूप परमनिधि कोउ न रहत मिति मानि। —सूर

६. 'घनानन्द का रूप-चमूप' से आरम्भ होने वाला सवैया।

न तो क्रोध ही हो सकता है और उसका निरादर ही।[१] वास्तविक सौंदर्य को कृत्रिम आवरण की कोई विशेष आवश्यकता नही क्योंकि उस पर सभी कुछ शोभा देने लगता है।[२] केवल रूप दिखाकर कोई स्थायी रूप से रिझाया भी नही जा सकता।[3] भागवतकार सौन्दर्य के द्वारा-काम-विकार-रूप मानसिक रोग का नष्ट हो जाना शक्य मानते है। रासलीला में गोपियों ने यही अनुभव किया।[४] 'प्रसाद' बाह्य सौदर्य को भी हृदय या आत्मा का ही प्रतिबिम्ब मानते है।[५] आत्मा का सौदर्य पूर्व जन्म के संस्कारों[६] का ही परिणाम होता है, इस नाते बाह्य सौदर्य भी आत्मा का ही प्रकाशक हुआ। तुलसी की सौदर्य-सम्बन्धी धारणा भी ऐसी ही उच्च है। सीता ने राम को जब देखा तो देखते ही ऐसा ज्ञान पड़ा मानो जन्म-जन्म की खोई हुई निधि मिल गई है।[७] महाकवि माघ, सूर, बिहारी आदि सौंदर्य उसी को मानते है जो प्रत्येक क्षण बढ़े, चकित करने वाला हो, और नित्य नवीन रहे।[८] कीट्स सौदर्य की कृति को शाश्वत आनन्द की वस्तु मानते है।[९] तुलसी की दृष्टि में भी सौदर्य नेत्रों व मन के माध्यम से आत्मा को वास्तविक सुख देने वाला होता

---

१. कुमारसम्भव, ५।४३ २. अभिज्ञानशाकुन्तल, प्रथम अङ्क।

३. कुमारसम्भव, ५।५३ ४. श्रीमद्भागवत, १०।३०।४०

५. हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया उन्मुक्त ;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
—कामायनी : श्रद्धा सर्ग।

६. श्रीमद्भगवद्गीता; ६।४५ पातंजलयोगदर्शन, ३।१८

७. 'देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।'
—तुलसी : मानस, बालकाण्ड

८. (क) क्षणे क्षणे यन्नवता मुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।" —माघ
(ख) स्याम सों काहे की पहिचानि।
निमिष निमिष वह रूप न वह छबि रति कीजै जेहि जानि। —सूर
(ग) लिखन बैठि बाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर। —बिहारी
(घ) न च परिचितो न चाप्यगम्यः चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः।"
(कालिदास के 'मालविकाग्नि मित्र' में नाट्याचार्य गणदास का महाराज अग्निमित्र के प्रति भाव।)

9. "A thing of beauty is a joy for ever
Its loveliness increases but
It will never pass into nothingness."
—Keats : *Endymion*.

है।[१] सौंदर्य का दर्शन करते ही सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती है।[२] दार्शनिकों की दृष्टि में सौदर्य की अनुभूति एक समाधि की ही दशा है जो योग की सविकल्प समाधि की सी होती है।[3] आश्चर्य व कुतूहल की भावना भी सौदर्य का एक वहुमूल्य उपकरण है। अर्जुन श्री कृष्ण के रूप का स्मरण करके बारम्बार विस्मय की भावना में निमग्न हो गए थे।[४] सौदर्य का सम्बन्ध स्वाभाविक व अकथनीय रहस्य भावना से भी अत्यन्त घनिष्ट है। इनना ही नहीं, दार्शनिकों की तो यहाँ तक धारणा है कि रहस्य के अभाव में सौदर्य सौदर्य ही नहीं रहता।[५] सच्चे सौंदर्य में कोई न्यूनता अथवा निम्नता नहीं होती, तथा उसके वर्णन में ब्रह्माण्ड की सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं का उपयोग होता है।

ये ही सौदर्य की कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं। भारतीय दृष्टि या आदर्शात्मक दृष्टि से जो सौदर्य इस कसौटी पर पूरा उतरता है, वही सच्चा सौंदर्य है। जो कला और काव्य जितने ही अनुपात में इस सौदर्य की अनुभूति कराता है, उतने ही अनुपात में वह सौदर्यपूर्ण है।

६. उदात्त और कु-रूप

'सौंदर्य' के प्रसंग में उदात्त या ऊर्जित[६] (Sublime) और कुरूप (ugly) की भी कुछ चर्चा आवश्यक है। उदात्त सौंदर्य में मानव व प्रकृति में व्याप्त आत्मा की अनन्तता, शक्ति, विशालता, उदात्तता तथा विराटता का दर्शन होता है। उदात्तता

---

१. "देखि राम छवि नयन जुड़ाने। सादर निज आस्रम पहं आने।"

—तुलसी : मानस

२. "सबहि मन हि मन किए प्रनामा। देखि राम मय पूरनकामा।"

—तुलसी : मानस।

3. 'Psychology of Beauty': Article by Dr. B. L. Atreya in B. H. U. Journal (Silver Jubilee Number, 1942).

४. "तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥" -गीता, १८।७७

5. "Beauty reveals itself to us in a series of steps, but at the last it remains a mystery, and without mystery there would be no beauty. There must be in every work of art, as in every material object that is beautiful, something that we feel but do not know, something apprehend but, do not comprehend."

W. Knight : 'The Philosophy of the Beautiful' (1891), p. 82.

६. आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव ने 'Sublime' के लिए गीता का 'ऊर्जित' शब्द चुना है।

ही वास्तव में आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है।[2] 'सौंदर्य' में कोमलता, नितनवीनता आह्लादकता, माधुर्य, समता, सुडौलता, रमणीयता आदि तत्वों का समावेश होता है। किन्तु 'उदात्त' में दृश्यमान् वस्तु या परिस्थिति को देखने पर अनुभूत होने वाला एक धार्मिक-भाव-मिश्रित भय या आतंक (awe) ही मुख्य तत्व होता है। 'उदात्त' के दर्शन के समय हम में एक आत्म-लघुता की भावना भी होती है। प्रचण्ड झंझावात, अभ्रंकष व महिमावान् विराट् हिमवान् का विस्तार, विशाल व विस्तृत नद्, तारों भरा अनन्त आकाश, आक्षितिज विस्तृत नील-बैंगनी तरंगायित रत्नाकर, दृढ़ व विशाल भवन, शिव-तांडव, शिव की जटा पर आकाश से कूदती गङ्गा आदि का सौंदर्य उदात्त सौंदर्य कहलाता है, क्योंकि इनका विस्तार, दृढता, व शक्ति मन पर एक ऐसा विचित्र और मधुर आतङ्क स्थापित कर लेती है कि मन चुपचाप अपनी लघुता स्वीकार करके मौन और विनत हो जाता है। हमारी वृत्तियाँ मानों उस सौंदर्य के प्रभाव से कुछ क्षणों के लिए स्थगित हो जाती है।[3] रामायण, महाभारत आदि काव्यों में विराट् जीवन की चित्रपटी पर अंकित असाधारण कृत्यों अथवा घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन पढ़ने पर भी हमें रोमाञ्चपूर्ण 'उदात्त' का अनुभव होता है। महान् त्याग, वीरता (जैसे पद्मिनी का अग्नि-स्नान) आदि चरित्र-सौंदर्य भी हममें 'उदात्त' की रमणीय तथा शक्तिशाली अनुभूति उत्पन्न करता है। जीवन की विषम पीड़ाओं या व्यथाओं को चुपचाप पी कर पचा जाने और इसके द्वारा मुसकानमयी आनन्द-साधना में लीन रहने में भी चरित्र का औदात्य प्रस्फुटित होता है।

'सुंदर' के साथ 'कुरूपता' का विचार भी संगत है। वास्तव में कुरूपता का सम्बन्ध किसी व्यक्ति वस्तु, दृश्य या स्थिति के बाह्य रूप से उनका नहीं है जितना हमारे मनोभावों से है। मजनू के लिए लैला, काली-कलूटी होते हुए भी बहिश्त की परी थी। 'दिल लगा जब मेंढकी से पद्मिनी क्या माल है!' वाली बात है। जिसका बाह्य रूप सुन्दर हो किन्तु जिसमें आंतरिक शील न हो तो वह कुरूप ही है। इसके विपरीत जब आत्मा आत्मा को ही देखती है तो वहाँ रूप-सौंदर्य उत्पन्न हो ही जाता है। भिखारिणी की गोद का बच्चा अपनी मां के लिए चांद है। जिस प्रकार

2. 'Sublimity is, so to say, the image of greatness of soul.' —Quoted from '*History of Aesthetics*' (1949) by Bernard Bosanquet, p. 105.

See also George Saintsbury's '*Loci Critici*' (1902), p. 49.

3. 'When a passage is pregnant in suggestion, when it is hard, nay impossible to distract the attention from it, and, when it takes a strong and lasting hold on the memory, then we may be sure tha we have lighted on the true Sublime.'—Longinus.

पदार्थों के या व्यक्तियों के सम्बन्ध में रूप-कुरूप की चर्चा होती है, उसी प्रकार भाव या आचरण के सम्बन्ध मे भी। कुरूप व्यक्ति अपने आंतरिक भावों के सौंदर्य से सुन्दर हो जाता है। नीति, आदर्श या किसी उदात्त भावना से प्रेरित क्रोध आदि विकार भी, उसके लक्ष्य को देखते हुए, सौंदर्य की मोहकता धारण कर लेता है। राम जब घमंडी रावण पर टूट पड़ते है तो उनका कृत्य भक्तों को कितना मनोहर लगता है। तीन दिन तक प्रार्थना करने पर भी मार्ग न देने वाले समुद्र पर जब राम क्रोध करते है तो वह क्रोध कितना सुन्दर दिखाई पड़ता है। इस प्रकार रूप-कुरूप का अन्तिम निर्णायक हमारे मनोभाव ही है।

७. सौंदर्य के विविध रूप

सौंदर्य को मूल स्वरूप समझने के बाद अब उसके विविध रूपों का ज्ञान भी आवश्यक है। सौंदर्य का विस्तार मुख्यतः इन चार रूपों में देखा जाता है— (१) मानवीय सौंदर्य, (२) प्राकृतिक सौंदर्य, (३) वस्तु-गत सौंदर्य, तथा (४) कला-गत सौंदर्य। इन चारों तथा इनके सूक्ष्म भेद-विभेदों में सौंदर्य की समस्त सत्ता समाविष्ट है।[१] इन चार रूपों में से प्रथम तीन रूप तो प्रकृति अथवा जीवन में ही प्राप्त होते हैं। किन्तु चौथे अर्थात् कला-गत सौंदर्य का आधार मन की भावना अथवा कल्पना है जो उक्त तीनों रूपों से से अपनी सामग्री का संग्रह करती है। अर्थात् जब प्रथम तीनों रूप कवि-कल्पना के माध्यम से काव्य अथवा कला में वर्णित होते हैं तो कला-गत सौंदर्य की सृष्टि होती है।

(क) मानवीय सौंदर्य

लोक-व्यवहार और कला, दोनों में ही मानवीय सौंदर्य अत्यधिक महत्व का है अतः सब से पहले उसका विवेचन न्यायोचित है। स्पष्टता के लिए इस सौंदर्य की विवेचना उसे तीन उपशीर्षकों में विभक्त करके की जा सकती है: — (i) सामान्य, (ii) मानवीय सौंदर्य की विशेषताएँ, तथा (iii) मानवीय सौंदर्य का क्षेत्र-विस्तार।

(i) **सामान्य :** विषय की दृष्टि से मुख्यतः दो प्रकार के काव्य देखने में आते हैं—१. मानव-प्रधान, व २. प्रकृति-प्रधान। काव्य जहाँ शुद्ध मानव क्षेत्र-संबंधी होता है वहाँ वह अपनी भाव-मार्मिकता से मनोहारी हो सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति के अभाव में वह नीरस भी हो जाता है। इसी प्रकार जहाँ काव्य मानव-निरपेक्ष शुद्ध प्रकृति-क्षेत्र तक ही परिमित रहता है वहाँ भी वह एकांगी हो सकता है। वास्तव में पूर्ण काव्य वह है जिसमें मानव व प्रकृति इन दोनों का मधुर सामंजस्य स्थापित हो गया हो। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, प्रसाद, पंत व वर्ड्सवर्थ आदि कवियों का काव्य ऐसा ही है। फिर भी काव्य साधारणतः मानव-

---

१. देखिए, ग्रंथ के अन्त में सौंदर्य-सम्बन्धी चार्ट।

क्षेत्र की ओर ही अधिक झुका हुआ रहता है। मानव-प्रधान काव्यों में प्रभावशालिता के लिए मानवीय सौदर्य का भी चित्रण किया जाता है।

(ii) **मानवीय सौंदर्य की विशेषताएँ :** मानवीय सौंदर्य काव्य की मूल प्रेरणाओं का अखण्ड स्रोत है। कवि मानवीय रूप-सौदर्य की माधुरी का आस्वादन करके ही चराचर जगत् में सौंदर्य का दर्शन करने लगता है। सौंदर्यानुभूति की दृष्टिसे हमारे लिए प्रकृति से मानव की ओर आना उतना स्वाभाविक नही जितना मानव से प्रकृति की ओर जाना। हमारे मूल संस्कार मानव जगत् में ही बनते है। मानव-सौदर्य कला-गत सौंदर्य के मुख्य आधारों में से एक है। किन्तु मानव-सौदर्य प्रकृति का ऋणी है। प्रकृति ही हमें वे रस प्रदान करती है जो शरीर को स्वस्थ, पुष्ट व सुदर रखते है।[1] प्रकृति मानो मानव को यह दान देकर ही सार्थक होती है, अन्यथा मानव के अभाव में उसके अस्तित्व की सार्थकता ही क्या है ! वह फले ही क्यों और किसके लिए ? मानव का सौदर्य परिवर्तनशील अथवा क्षर है; प्रकृति का सौदर्य अपेक्षाकृत स्थायी है। काल पाकर मानव का सौदर्य कुम्हलाने लगता है। उसका विकास एक सीमा तक ही सभव है। मानवीय रूप-सौंदर्य की कोई विश्वमान्य कसौटी या उसका कोई मानदंड या आदर्श निश्चित नहीं। उसकी भावना हमारे स्वास्थ्य, मनोवृत्ति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण आदि बातों से भी निर्धारित, नियंत्रित, तथा परिचालित होती है। वह व्यक्ति, जाति, देश व काल के अनुरूप ही परिवर्तित होती रहती है। किन्तु यह बात प्रकृति के लिए वैसी लागू नही होती।

इसके अतिरिक्त मानव का सौंदर्य बहुत कुछ उपयोगिता पर भी निर्भर रहता है। इस दृष्टि से सुंदर से सुदर भी कुरूप जँच सकता है और कुरूप से कुरूप भी सुंदर। अभिप्राय यह है कि मानवीय सौदर्य का निर्णय बहुत कुछ व्यावहारिक उपयोगिता के विचार से भी हो सकता है। जहाँ उपयोगिता पर न्यूनातिन्यून दृष्टि होती है वहां सौदर्य भी उसी अनुपात में उच्च कोटि का आनंद प्रदान करता है। जहाँ उपयोगिता और शुद्ध आनंद की दृष्टि का मेल हो जाय वहाँ व्यावहारिक दृष्टि से बात बहुत ठीक बन जाती है। मानव-सौंदर्य भावुकों की दृष्टि में ईश्वरीय सौंदर्य की छाया और पूर्व जन्म के पुण्य का परिणाम भी माना जाता है। वह आत्मिक उच्चता का भी प्रकाशक है। मानवीय सौंदर्य ईर्ष्या आदि दुर्वृत्तियाँ भी उपजा सकता है जबकि प्रकृति का सौदर्य आनंद मात्र ही। हाँ, असाधारण मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक स्थितियों में सुखद प्रकृति का अत्यन्त दु:खद रूप में अनुभूत होना स्पष्ट ही है। मानव का सौंदर्य तो संसार में महान् युद्धों का जनक रहा है। यूनानी कवि होमर ने अपनी एक काव्य-नायिका के सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

१. प्राचीन यूनानी जाति मे शारीरिक बलिष्ठता तथा कला-प्रेम पर अत्यधिक बल दिया जाता था।

"This is the face that launched a thousand ships." मानवीय सौंदर्य, प्रकृति-सौंदर्य की तरह ही, कवि या अन्य कल्पनाशील भावुकों को रहस्य की गंभीर भावना में निमग्न कर सकने में भी पूर्ण समर्थ है। जिस प्रकार सूर्य, चंद्र, समुद्र आदि के प्रति रहस्यमयी जिज्ञासा होती है उसी प्रकार मानव-सौदर्य के प्रति भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस सौदर्य की स्पष्ट व पूर्ण अभिव्यक्ति कला या काव्य में प्रयुक्त सौदर्य के अत्यन्त प्रसिद्ध प्रतीकों तथा उपमानों की सहायता से ही संभव है जो प्रकृति के क्षेत्र के हैं। इस नाते काव्य में मानव-सौदर्य का प्रकृति से घनिष्ट संबंध है। आकर्षणपूर्ण मानवीय सौदर्य हृदय में प्रेम-भावना का सचार करता है। यह प्रेम-भावना केवल सौदर्य तक ही सीमित न रहकर, उफन कर, समस्त प्रकृति-जगत् तक परिव्याप्त हो जाती है : चराचर जगत् मानव-सौदर्य की शक्तिशाली अनुभूति के परिणामस्वरूप ही हमें सुदर लगने लगता है, अन्यथा वह निष्प्राण या जड़ ही रहता है। अभिप्राय यह है कि मानवीय सौदर्य हमारे चतुर्दिक फैले वस्तुजगत् (मानव-कृत) को भी गहराई से प्रभावित करता है। सौदर्य केवल श्याम या केवल गौरवर्ण में ही नहीं, उसका निर्णय तो वास्तविक प्रेम भावना की तीव्रता ही करती है। वस्तुत: शील-सौंदर्य के विना बाहरी सौंदर्य निरर्थक ही है।[१] मानव के सौदर्य के प्रसंग में जब प्रकृति में हमें आनंद (मिलन में) या दुःख (विरह में) अनुभूत होता है, तब प्रकृति काव्य में उद्दीपन-गत रूप में गृहीत समझी जाती है। मानव-सौंदर्य की भावना से सर्वथा निरपेक्ष प्रकृति-सौदर्य का ग्रहण प्रकृति के आलंबनगत सौंदर्य-चित्रण में ही होता है। शारीरिक सौदर्य व मानसिक सौंदर्य का भी पारस्परिक संबंध है। व्यक्ति का शारीरिक सौंदर्य मन को भी सुंदर बनाये यह आवश्यक नहीं, किंतु हृदय का सौंदर्य (शील) बाहरी कुरूपता को भी सुंदर, और रूप को शतगुणा रमणीय कर देता है। मानव पहले प्रायः शारीरिक सौदर्य की ओर ही आकृष्ट होता है; शील-सौंदर्य, प्रकृति-सौदर्य या कला-गत सौदर्य की ओर उसके बाद। हम बाह्य शारीरिक सौदर्य को तो देखते ही है किंतु जब वह काव्य में वर्णित होकर (परिचित या अपरिचित किसी भी आलंबन का) आता है तो वह शतगुणा अभिवृद्ध हो जाता है। प्रकृति-सौदर्य के लिए मानव-सौदर्य की अपेक्षा नहीं। प्रकृति मानव के अभाव में भी फलती फूलती रह सकती है पर मानव सौंदर्य प्रकृति के सहयोग के बिना अपना अस्तित्व भले ही रख पाने की चेष्टा करे, वह सजीव या प्राणवान् नहीं हो सकता। इसीलिए कालिदास आदि कवियों ने प्रकृति को मानवीय रूप-सौंदर्य-चित्रण का एक अनिवार्य अंग बनाया है। बड़े बड़े प्रतापी पुरुषों के हाथों में भी चित्रकार एक फूल अंकित कर देते है। वस्तुतः प्रकृति-सौदर्य के बिना मानव-सौंदर्य अधूरा है। बिना नमक का व्यंजन है।

---

१ **कालिदास : अभिज्ञानशाकुंतल, ५।२; भवभूति : उत्तररामचरित्, ६।१२.**

ऊपर हमने मानव-सौदर्य की विशेषता पर कुछ संकेत किये हैं। इस पर थोड़ा और गहराई से विचार किया जाय। यह एक सामान्य तथ्य है कि जो वस्तु हमारी आँखों के सामने प्रायः आती रहती है, वह फिर उतना ध्यान आकर्षित नहीं करती, और करती भी है तो उसका प्रभाव हम इन्द्रिय-संवेदनाओं तक ही ग्रहण करके रह जाते हैं। मानव-सौदर्य को ही लीजिए। नारी या पुरुष के सौंदर्य में जो आकर्षण होता है उससे स्त्री-पुरुष परस्पर सभी परिचित रहते हैं। पर थोड़ा और गहराई में जाने पर विचारों की एक विस्तृत व उदात्त भूमि हमारे सामने खुली हुई दिखाई देने लगेगी। मानव-शरीर की रचना कितनी आश्चर्यमयी, रोमाञ्चक और रहस्य-पूर्ण है! जरा इस भावना में तो डूबिये! पंचतत्त्वों के आनन्दपूर्ण उपभोग का सार–शरीर का शुक्र, और उसके बिन्दु-रूप बीज से अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित रूप यह नारी और पुरुष का सुन्दर, बलिष्ठ, भव्य और आकर्षक शरीर! नारी और पुरुष दोनों की ही रचना कितनी कुशल और पूर्ण! शौर्य. प्रकाश और ओज के केन्द्र पुरुष के मुखमण्डल, नेत्र, वक्षस्थल और बाहु की शोभा क्या ही मोहक है। यह आकार, यह गठन, यह सुडौलता—उस महाकलाकार ने किस छैनी से, कितनी एकाग्रता के साथ, कितनी प्रसन्न मुद्रा में, वसन्त के किस भोर में बैठकर तराशी है! और नारी का यह रूप! उसकी यह तरंगायित सघन-श्याम कुंतल-राशि, सौभाग्य के गाढ़े लाल चिह्न की प्रतीक्षा में आकुल भाल-पटी, स्निग्ध सुढर सरस कपोल, इन्दु-रश्मि सी चितवन डालते, जग को डुलाने वाले नयन, और वसन्त के समस्त उल्लास और चाँदनी के समुद्र का सारा ज्वार लिये आते यौवन से परिपूर्ण, अमृत सी पवित्र दुग्ध-धार बहाते, मातृत्व-भारवाही पुष्ट-समुन्नत वक्षोज, और स्निग्ध अधरों से छलछलाती उतरती, आत्मा के संगीत से गुंजारित मीठी वाणी! सारी रचना कितनी कलापूर्ण, गम्भीर और अबूझ! और फिर इस अनुपम कलाकृति में लहराती भाव-राशि! शिराओं में दौड़ती उषा के रंग सी लाल रस-धारा! और रक्त में आकाश को छान डालने, पृथ्वी को विदीर्ण कर डालने, समुद्र को पाट डालने, अतीत और भविष्य को देख डालने, और मन की सारी गहराइयों को नाप डालने की उसकी बलिष्ठ और व्याकुल जिज्ञासा, और नर और नारी का यह पारस्परिक आकर्षण, प्रकृति की सनातन मांग को, महान् आनन्द के अनुभव के लिए, पूर्ण करने का यह त्याग, समर्पण, विश्वास से पूर्ण उद्योग और आयोजन! रस की किलकारियां मारते प्रकृति के अथाह, अकूल और अटूट ऐश्वर्य के बीच, त्रिकाल को मुट्ठी में बांधकर, मृत्यु को जीतकर और अन्धकार की छाती को चीरकर प्रकाश को निचोड़ने वाला यह जोड़ा—नारी और पुरुष, सचमुच अद्भुत है। इसकी सजधज मोहक है। इसकी रचना सिरजनहार का सबसे सुन्दर छन्द और शिल्प है।

(iii) **मानव-सौंदर्य का क्षेत्र-विस्तार :** मानव सौंदर्य दो भागों में विभा-

जित किया जा सकता है : (१) स्त्री-सौंदर्य तथा (२) पुरुष-सौंदर्य। ध्यान देने की बात है कि स्त्री-सौंदर्य व पुरुष-सौदर्य का विस्तृत वर्णन श्रृंगार रस की व्यंजना में ही होता है, और किसी रस की व्यंजना में उतना नहीं। दूसरे, कवियों ने नायिकाओं के रूप-सौदर्य-वर्णन में ही अधिक मनोयोग प्रदर्शित किया है, पुरुषों के सौंदर्य-वर्णन में उतना नहीं। तीसरे, नायिकाओं के सौंदर्य वर्णन में भी प्रायः बाह्य सौंदर्य (रूप) का ही बहुत वर्णन मिलता है, अतः सौदर्य या शील का उतना नहीं। प्राचीनों में बाह्य सौंदर्य-वर्णन भी कवि-कर्म का एक आवश्यक अंग रहा। उसके लिए अनेक रूढ़ियो (नखशिख वर्णन, षट्ऋतु वर्णन. बारहमासा आदि परम्पराओं, कवि-समयों या विश्वासों) का भी ग्रहण और पालन हुआ है।[1] रूप-सौंदर्य वर्णन के लिए प्रकृति से लिये गये उपमान भी रूढ़ रूप में ही ग्रहीत होते रहे हैं।[2]

यद्यपि वात्सल्यरसोपयोगी शिशु-सौदर्य उपरोक्त दोनों वर्गों में ही निहित है, पर साहित्य में वर्णन के लिए वह समय समय पर विशेषाधिकार पाता रहा है। सूर, तुलसी आदि कवियों ने बाल-सौदर्य के वर्णन में उज्ज्वल प्रतिभा का परिचय दिया है। निःसन्देह शिशु-सौदर्य, सौंदर्य के विस्तृत क्षेत्र में, अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(i) **स्त्री-सौंदर्य** : सब से पहले स्त्री-सौंदर्य को लें। स्पष्टता के लिए स्त्री-सौंदर्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) स्थूल, व (२) सूक्ष्म। स्थूल मे बाह्य सौदर्य व सूक्ष्म में अंतः सौंदर्य या शील समाविष्ट है। दोनों मिलकर ही पूर्ण सौंदर्य की भावना कराते हैं।

स्त्री के स्थूल सौंदर्य के अन्तर्गत काव्य में उसके अंगों, वेशभूषाओं, आभूषणों, अनुलेपनों व चेष्टाओं का वर्णन होता है। अंगों के वर्णन में उनकी गठन, स्निग्धता, सुढरता, सुडौलता, मृदुलता या सुकुमारता, पुष्टता, तथा आयु, वर्ण, कद, स्वास्थ्य आदि का वर्णन होता है।[3] साहित्याचार्यो ने नायिकाओं के शरीर के कुछ स्वाभाविक गुणों (शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य व धैर्य आदि) को 'अनुभाव' (अयत्नज अलंकार) के अन्तर्गत रखा है।[4] स्त्रियों के परिधानों का भी काव्य में विस्तृत वर्णन होता है। इसमें वस्त्रों के रंगों आदि पर भी विशेष ध्यान रखा जाता

---

१. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९५०), प्रकरण ७; 'कवि-प्रसिद्धियाँ' (परिशिष्ट भाग)।

२. वही, 'परिशिष्ट' का आठवाँ प्रकरण, 'स्त्री रूप'।

३. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, 'परिशिष्ट' में स्त्रीरूप'; तथा, Sushil Kumar De : '*Treatment of Love in Sanskrit Literature*', (1929), p. 39 में इस विषय की विशद विवेचना हुई है।

४. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, ३।९०.

है। आभूषणों के वर्णन में धातुओं व पुष्पों के आभूषणों का पर्याप्त वर्णन होता है। प्राचीन कवियों ने हार, मुद्रिका, करधनी, पायल, कर्णफूल तथा स्वर्णवलय आदि का पर्याप्त वर्णन किया है।[१] कालिदास ने अपने ऋतुसंहार, रघुवंश, कुमारसंभव तथा मेघदूत आदि काव्यों में अशोक, लोध्र, नीप, शिरीष, कर्णिकार, कदम्ब, चम्पक, बेला, जूही, पारिजात, कमल तथा पाटल आदि फूलों तथा उनके आभूषण-रूपों का भरपूर वर्णन किया है। कस्तूरी, चन्दन, केसर, इत्र, पुष्परज, अंजन, अलक्तक तथा सिंदूर आदि सुगन्धित द्रव्य और अनुलेपन आदि स्त्री-शृंगार के प्रमुख उपकरणों का स्त्री-सौंदर्य-वर्णन के प्रसंग में समावेश हुआ है। शरीर की चेष्टायें (वाणी, मुस्कान, भ्रू-निक्षेप, अंगसंचालन, पद-क्षेप आदि) सौंदर्यवर्धन में बहुत सहायक होती है। अंगज अलंकार (भाव, हाव, हेला)[२] तथा स्वभावज अलंकार[३] (जिनकी संख्या १८ है; लीला, विलास, विच्छिति आदि) के अन्तर्गत अन्य शारीरिक चेष्टाओं के वर्णन का विधान भी साहित्य-शास्त्र में स्त्री-सौन्दर्य वर्णन के अन्तर्गत रहा है। इस प्रकार स्त्री-सौंदर्य के बाह्य रूप का भरा पूरा विवरण काव्यों में प्राप्त होता है।

सूक्ष्म-सौंदर्य के अन्तर्गत स्त्रियों के शील आदि का निरूपण किया जाता है। भवभूति, कालिदास, रवीन्द्र, 'प्रसाद', 'हरिऔध', गुप्त जी आदि भारतीय कवियों ने शील को ही सबसे अधिक महत्व दिया है।[४] विदेशी सहित्य में भी इसके भव्य उदाहरण मिलते है (जैसे, शेक्सपीयर की डेस्डेमोना आदि)। शील के अन्तर्गत हम सच्चरित्रता, मर्यादा, लज्जा, सेवा, दया, त्याग, समर्पण, करुणा, उदारता व विनम्रता आदि गुणों को रख सकते है। इस सौंदर्य के अभाव में भारतीय नारी का सौंदर्य निस्सार समझा गया है। इसके अतिरिक्त उसकी आत्मा या मन के सौंदर्य का विस्तार, उसकी कल्पना व भावना का सौंदर्य (जो उसका कला-प्रेम व्यक्त करता है), कर्म-सौंदर्य आदि तक भी जा पहुँचता है। आपत्काल में देश को शत्रुओं से मुक्त करने के लिए अश्वारोहिणी रणचण्डी बनकर बिजली सी लपलपाती तलवार हाथ में लिए अरिदल को चीरती हुई वीर नारियों का सौंदर्य भी नारी सौंदर्य की सीमा के अन्तर्गत ही हैं। यह सौंदर्य उनको शोभा व महिमा से मंडित कर देता है।

स्थूल व सूक्ष्म सौदर्य मिल कर ही नारी सौन्दर्य की पूर्णता की भावना कराते हैं।

(ii) **पुरुष-सौंदर्य** : इसी प्रकार पुरुष-सौंदर्य का भी काव्य में महत्त्व है किंतु

---

१. S. K. De : '*Treatment of Love in Sanskrit Literature*', p. 38 to 41.

२. **विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, ३।८९.**

३. **वही, ३।९१—९२।**

४. **भवभूति : मालतीमाधव, ६।१८; उत्तररामचरित् ३।१३ आदि।**

उसका चित्रण अपेक्षाकृत कम ही होता है। स्त्रियों की तरह पुरुषों के बाह्य रूप सौंदर्य का उतना महत्त्व नही (पुरुष कवियों की दृष्टि में), जितना उनके कर्म-सौदर्य (लोक-कल्याण के लिए पुरुषार्थपूर्णकार्य, जैसे—दुष्ट-दमन, अनाथरक्षण, दीनहीन अबला रोगी या असहायों का त्राण) या शील-सौंदर्य का। पुरुष का कर्मसौदर्य विदेशी व भारतीय काव्यों में प्रायः रणक्षेत्र के बीच ही जाकर दिखाया गया है। उसके प्रताप, बल व ओज आदि के वर्णन का भी पर्याप्त महत्त्व है। किन्तु बाह्य वीरता से भी बढ कर जीवन में आन्तरिक वीरता के उदाहरण हमें देखने को मिलते है। रण-क्षेत्र के योद्धाओं से भी बढकर आत्म-जयी वीरों का सौंदर्य हमें मुग्ध करता है। इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, क्षमा, कष्ट-सहिष्णुता, कर्तव्यपरायणता, परदुःखकातरता, आदर्श के लिए जीवन का विसर्जन, सत्याग्रह, सेवापरायणता व त्याग आदि गुणों में पुरुष का वास्तविक सौंदर्य खिल उठता है। आधुनिक युग में जब कि विज्ञान के कारण पुरुष को रणक्षेत्र में जाकर अपने शौर्य का प्रदर्शन करने का बहुत कम अवसर शेष रह गया है, इस अंतः-सौदर्य का महत्त्व (गांधी, टॉल्सटाय आदि के प्रभाव से) बहुत बढ़ा हुआ दिखाई पड़ रहा है। आत्म-कल्याण या लोक-कल्याण की उच्चता में ही साधु पुरुषों के जीवन का सौंदर्य देखा जाने लगा है। पर यह सौदर्य वस्तुतः कोई नया नहीं है। सब युगों में और सब देशों में यह सौदर्य सदा प्रकट होता रहा है।

शिशु के रूप-सौदर्य को देखकर हृदय स्वर्गीय उल्लास से भर उठता है। अतः साहित्य में उसका एक सुनिश्चित स्थान है। साहित्य में प्रायः वयः-प्राप्त नायक नायिकाओं के ही सौदर्य का विशेष वर्णन हुआ है। पर सच्चे कवि अपने रागात्मक हृदय की पूर्णता का परिचय देने के लिए इस मानव-रूप के चित्रण में भी पूर्ण भावुकता का प्रदर्शन करते हैं। बाल-सौंदर्य में बालक का रूप-लावण्य व उसकी चेष्टाएं ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। बच्चे के आन्तरिक सौदर्य (निष्कपटता, भोलापन, सरलपन, निरालापन आदि) का वर्णन भी वर्ड्सवर्थ, सूर व पंत आदि कवियों ने किया है। वात्सल्य हृदय के व्यापक रतिभाव का एक परम महत्त्वपूर्ण अंग है। कवियों ने व आचार्यो ने इसे रसकोटि तक पहुँचाने का पूरा पूरा प्रयत्न किया है।

संक्षेप में यही मानव-सौदर्य की मुख्य विशेषताएं व उसका विस्तार है। सौदर्य के क्षेत्र में इस सौंदर्य के पूरक अन्य प्रकार के सौदर्य भी हैं जो काव्य में पूरा-पूरा महत्त्व रखते हैं।

(ख) प्राकृतिक सौंदर्य

प्रकृति हमारे लिए उपयोगी है। किन्तु इस स्थूल के परे भी उसका हमारे साथ सम्बन्ध है। वह शुद्ध या निष्काम आनन्द का भी अनुभव कराती है। इसीलिए जीवन तथा साहित्य दोनों में ही उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कला और साहित्य की मूल प्रेरणाओं में से एक अत्यन्त बलवती प्रेरणा है। प्रकृति का सौंदर्य कवि के

भाव-स्फोट का प्रबल प्रेरक होता है। हमारे हृदय के राग-क्षेत्र की परिधि बहुत विशाल है। अन्य प्रकार के प्रेम की तरह प्रकृति के प्रति मानव का प्रेम भी इस विस्तृत राग-क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण अंश है। प्रकृति के प्रति प्रेम का किसी न किसी रूप में प्रकाशन किए बिना मानव जड़ ही है। इस प्रेम-प्रकाशन का मूल प्रेरक प्रकृति का सौंदर्य ही है।

प्राकृतिक सौंदर्य का स्पष्ट विवेचन उसे तीन उप-शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित करके किया जा सकता है। वे हैं: (१) प्राकृतिक सौंदर्य की विशेषताएँ, (२) काव्य में, सौंदर्य-वृद्धि के उद्देश्य से, सौंदर्यपूर्ण प्रकृति के विविध उपयोग, तथा (३) प्रकृति-सौंदर्य-निरूपण की विधाएँ।

(i) प्राकृतिक सौंदर्य की विशेषताएं :

प्रकृति के सौंदर्य की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह सब देशों के लोगों के द्वारा गम्भीर प्रशंसा के स्वर में 'सुन्दर' ही कही जायगी, कुरूप नहीं। पहले कहा जा चुका है कि मानवीय सौंदर्य के सम्बन्ध में व्यक्ति-व्यक्ति तथा राष्ट्र-राष्ट्र की विविध रुचियाँ तथा विविध आदर्श हो सकते हैं, किन्तु प्राकृतिक सौंदर्य इन सब विवादों, धारणाओं तथा रुचियों से परे है। प्रकृति में हम अपने भावों की छाया भी देखते हैं—क्रोध, प्रसन्नता, उमंग, उल्लास आदि। प्रकृति के मुख पर इन भावनाओं को देखना सहृदयता के परिणाम स्वरूप ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का सौंदर्य कोमल या मधुर भी होता है, और भीषण या परुष भी। कुछ लोगों को उसके केवल मधुर पक्ष में ही सौंदर्य का अनुभव होता है, और कुछ को उसके कठोर पक्ष में। किन्तु जो दोनों रूपों से प्रेम करते हैं वे ही प्रकृति के सच्चे प्रेमी कहे जा सकते हैं। मरणधर्मा मनुष्य और प्राकृतिक पदार्थ दोनों ही नाशोन्मुख हैं। किन्तु उनमें रहने वाला सौंदर्य ही अजर अमर है। प्रकृति अनादिकाल से फल-फूल रही है और वह मानव को भी सदा प्रफुल्लित रखती है। प्रत्येक क्षण नवीन बना रहना सौंदर्य का एक प्रमुख लक्षण है। यह लक्षण प्रकृति में भी हमें मिलता है। चिर-परिचय के कारण मानव-सौंदर्य में तो एक प्रकार के बासीपन (Monotony) का आ जाना सम्भव है, किन्तु प्रकृति में ऐसा नहीं होता। प्रकृति का सौंदर्य उपयोगिता आदि के विचारों से बहुत कुछ परे है। उषा, इन्द्रधनुष, नक्षत्र आदि का सौंदर्य केवल शुद्ध आनन्द प्रदान करने के ही लिए है। हाँ, वह हमें उच्च कोटि का सात्विक या आत्मिक आनन्द प्रदान करता है, इस सूक्ष्म अर्थ में उसकी उपयोगिता भी स्वीकार की जा सकती है। प्रकृति का सौंदर्य हमारे मन पर पावनकारी प्रभाव डालता है जिस के परिणामस्वरूप हमारी अंतःप्रकृति परिष्कृत एवं उदार बनती है। प्रकृति विश्व के मूल में प्रतिष्ठित एक नैतिक सत्ता में हमारा विश्वास दृढ़ करती है और हमें सदाचार और शुद्ध मानव-धर्म का नैतिक पाठ पढ़ाती है। अनेक कवियों ने

प्रकृति से यह नैतिक प्रेरणा प्राप्त की है।[1] इसके अतिरिक्त प्रकृति के सौंदर्य पर मानवीय जगत् की विभीषिकाओं का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। दुख की ज्वालाओं में जलते संसार के बीच वह अपने ही आनन्दोल्लास मे थिरकती रहती है।[2] हाँ, हम अपने मन के रंग में रँग कर देखें, यह दूसरी बात है। प्रकृति हम में आत्म-स्वातंत्र्य की बलवती व दिव्य भावना का भी संचार करती है। पवन का प्रवाह, नदी की लहरें, उमड़ते-घुमड़ते बादल तथा मुक्त आकाश में चहचहाते पक्षी हमें विश्व-जीवन के लोह-पिंजर को तोड़-फोड़ कर अनन्त मुक्ति-लोक का पक्षी बन कर उड़ जाने का संदेश देते है।[3] यही प्रकृति का मानव पर उद्धारक प्रभाव (Uplifting effect) है। प्रकृति का सौंदर्य ही अनादि तत्त्व की रहस्यमयी सत्ता को जानने का

---

१. "One impulse from a vernal wood,
May teach you more of men,
Of moral evil and of good,
Than all the sages can."
—*'The Tables Turned'* (Wordsworth)

बरषा बिगत सरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई॥
उदित अगस्ति पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोषइ संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥
रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥
—तुलसी : 'रामचरितमानस', किष्किन्धाकाण्ड

२. "For men may come and men may go,
But I go on for ever."
—*The Brook* (Lord Tennyson)

३. 'उठ उठ लहरें कहतीं यह, हम कूल विलोक न पावें।
पर इस उमंग में बह बह नित आगे बढ़ती जावें। —पंत (गुंजन)।

तथा,

"Be thou, Spirit fierce,
My Spirit ! Be thou me, impetuous one !
Drive my dead thoughts over the universe
Like withered leaves to quicken a new birth !
And, by the incantation of this verse,
Scatter, as from an unextinguished hearth,
Ashes and sparks, my words among mankind !"
—*Ode to the West Wind* (Shelley)।

राजद्वार है। सौंदर्यपूर्ण प्रकृति को देखकर ही हमारे मन में अनेक स्वाभाविक जिज्ञासाएँ व रहस्य-कुतूहल आदि उत्पन्न होते है—यह सृष्टि किसने रची है ? क्यों रची है ? आदि। इस प्रकार प्रकृति की अंतश्चेतना में अवगाहन कर, उसमें घुस कर, उसके साथ एकाकार हो जाने वाला दृष्टा जीवन के अमर तत्त्व का जिज्ञासु हो जाता है। अनेक दार्शनिकों ने प्रकृति को ईश्वर की छाया कहा है। उपनिषद् का प्रति-बिम्बवाद इसी भावना का उद्घोष करता है। ब्रह्म प्रकृति के रूप में ही निर्गुण से सगुण हुआ है।

प्रकृति का सौंदर्य, व्यक्ति विशेष की दृष्टि से, मानवीय प्रेम-व्यापारों पर भी बहुत कुछ निर्भर है। यों, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह अपने आनन्द में किलोलें कर रही है। प्रणय की संयोगानुभूति मे प्रकृति परम सुन्दरी व आनन्दमयी दृष्टिगोचर होती है किन्तु विरह मे वही क्लान्त, नीरस व आनन्द-रहित। इतना ही नहीं, प्रकृति ऐसे क्षणों में दुःखद भी हो जाती है और सुन्दर के स्थान पर विकृत भी जान पड़ने लगती है। इस अर्थ में प्रकृति मानवीय प्रेम-व्यापारों पर निर्भर नहीं रहती, वरन् प्रेम-व्यापार की वातावरण-जन्य अनुभूति (सुख-दुःख आदि) प्रकृति पर ही निर्भर है। पर, यह प्रकृति सौंदर्य का मानव-सापेक्ष रूप है और इसका विचार काव्य के उद्दीपन के अन्तर्गत किया जाता है।

प्रकृति को मानव इतनी सुखद तथा आनन्दमयी मानता है कि उसके माध्यम से वह पृथ्वी पर बैठा हुआ ही अपने मानसिक स्वर्ग की कल्पना कर लेता है। वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय में गोलोक आदि की कल्पना भी प्रकृति के सुन्दर रूप-व्यापारों के ही सहारे की गई है। गोलोक में नित्य यमुना, नित्य वृन्दावन, गो, गोपाल व गोवर्धन आदि स्थित है। यह सब प्रकृति के दिव्य सौंदर्य के कारण ही हो सका है। ऋषियों ने भी प्रभु की महिमा का गान करने के लिए प्रकृति को ही आश्रय बनाया। ऋषि यह कह कह कर स्तवन करते है कि हे प्रभु ! यह सूर्य, चांद, तारे, समुद्र, पर्वत आदि सब तेरी ही लीला का विस्तार है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रकृति की ये विशेषताएं उसके मुख्य गुण—सौंदर्य—पर ही आश्रित है। इस सौदर्य का बहुत बड़ा अंश तो उसका बाह्य रूप—छाया, प्रकाश, रंगों की चमक-दमक, शीतलता, उज्ज्वलता, पवित्रता, माधुर्य आदि—हैं और शेष (प्राणभूत) उसमें से प्रकाशित होने वाली अनादि आत्मा। चिरकाल से प्रकृति हमें अन्न, जल, पवन, प्रकाश आदि स्वास्थ्यप्रद तथा जीवनोपयोगी प्रभूत सामग्रियाँ प्रदान करती आई है। इस उपयोगिता के कारण भी, जान या अनजान में, वह हमारे लिए सुन्दर तथा रमणीय हो गई है। वस्तुतः मानव जगत् व वस्तुओं का सौंदर्य भी प्रकृति पर ही आश्रित है।

(ii) काव्य में प्रकृति के विविध उपयोग

प्रकृति के सौंदर्य से ही आकृष्ट होकर कवि अपने वर्णनों (मानव-रूप-सौदर्य-तथा संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन) को सजीव और काव्य की शैली को सुन्दर तथा परिपुष्ट बनाने के लिए प्रकृति से भरपूर सामग्री ग्रहण करता है। काव्य में प्रकृति का यह ग्रहण अनेक रूपों में होता है—(१) आलंबन रूप में, (२) उद्दीपन रूप में, (३) मानवीकरण में, (४) अलंकार-विधान में, (५) प्रतीक-विधान में, (६) रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए, (७) नैतिक उपदेश-प्रकाशन के लिए, तथा (८) पृष्ठभूमि और वातावरण की सृष्टि के लिए।

(१) **आलंबन :** यह रूप प्रकृति-निरूपण के रूपों में सबसे अधिक महत्त्व का है। जब प्रकृति के सभी प्रकार के पदार्थ कवि के प्रति भाव के स्वतंत्र आलंबन हो जाते है और वे उसकी अंत.सत्ता पर व्यापक और गम्भीर प्रभाव स्थापित कर लेते हैं तभी यह रूप पूर्णतया प्रतिष्ठित होता है। यहीं कवि की प्रकृति सम्बन्धी चेतना की सप्राणता परखी जाती है। यदि कवि ने प्रकृति का आँख खोल कर मौलिक दर्शन न किया तो प्रकृति के अन्य प्रयोगों मे भी उसका दौर्बल्य झलक जायेगा। प्रकृति को आलबन रूप मे ग्रहण करने पर दो ही स्थितिया हो सकती है: (१) या तो कवि प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम-भाव की व्यंजना करे, (२) या वह चित्रकार की सी आँख से प्रकृति का शब्द-चित्रण करे। प्रकृति का दृश्य-चित्रण भी प्रकृति के प्रति हृदय में संचित प्रेम द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि उसके बिना वह वस्तु-व्यापारों का सूक्ष्म तथा मनोयोगपूर्ण निरीक्षण कर ही नही सकेगा, जो कि दृश्य-चित्रण के लिए सर्वथा अनिवार्य है। इस दृश्य-चित्रण में निम्नलिखित रूपों में कवि की सूक्ष्मदर्शिता प्रकट होती है :—

(क) **प्रकृति का रूप-विस्तार:**—कवि के लिए प्रकृति के रूप-विस्तार का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। रूप-विस्तार में वह सारा दृश्य-प्रसार समाविष्ट है जो पृथ्वी, आकाश व समुद्र में दिखाई पड़ता है। पर्वत, मैदान, मरुभूमि, कुंज, पेड़, पौधे, लता-पत्र, छाया, घास पात, फल-फूल, पशु-पक्षी, समुद्र, झील, नदियां, आकाश, मेघ, बिजली, नक्षत्र, सूर्य-चन्द्रमा, पाला, धुआं, कोहरा, वर्षा, पवन, चन्द्रमण्डल. आकाश गङ्गा, नीहारिका, उषा-संध्या, इन्द्र धनुष, आँधियाँ, धूप, चाँदनी, किरण आदि इस दृश्य प्रसार में सम्मिलित है। इनके चित्रण में इनका उल्लेख ही पर्याप्त नहीं होता, किन्तु तूलिका-कौशल के द्वारा इनका सूक्ष्म चित्रण अभीष्ट होता है।

---

१. इस विषय में अधिक विस्तार के लिए देखिए लेखक का आलोचनात्मक गद्य-प्रबन्ध 'कविता में प्रकृति-चित्रण' (१९५४), पृ० ५२ से ६९ तथा १२१ से १८० तक। यहां अत्यन्त संक्षेप में परिचय मात्र ही दिया जायगा।

(ख) **गति-विधि का निरीक्षण**:—इसमें कवि वस्तु व्यापारों की सूक्ष्म गति-विधि का ऐसा अंकन करता है कि उससे उसकी (कवि की) दृष्टि की निकटदर्शिता सूचित हो। जब तक प्रकृति के प्रति राग नहीं होगा, तब तक यह कार्य संभव नहीं।

(ग) **वर्ण या रंगों की पहचान**:—जिस प्रकार प्रकृति के वस्तु-व्यापारों की गति-विधि का निरीक्षण किया जाता है उसी प्रकार काव्य-चित्र में पूरी सजीवता लाने के लिए कवि शब्दों के द्वारा रंगों की संवेदना भी उत्पन्न करता है। पाठक के मन पर वस्तुओं का पूर्ण प्रतिबिम्ब डालने के लिए उनके आकार-प्रकार और स्थिति का कथन मात्र ही पर्याप्त नहीं होता। कवि प्रकृति का प्रेमी है, इसका अनुमान हमें इस बात से भी मिलता है कि उसकी वर्ण-भावना कितनी विस्तृत सूक्ष्म और गहरी है। जो कवि सरसरी दृष्टि से ही प्राकृतिक रूपों को देखकर काम चलता करते हैं वे वेचारे काला, पीला, हरा, लाल, नीला या सफेद—इन मौलिक या स्थूल रंगों का उल्लेख मात्र ही करके रह जाते हैं। पर जिनकी सूक्ष्म दृष्टि रंगो के विभिन्न भेद-प्रभेदों, छायाओं व मिश्रणों को टटोल कर ढूँढ निकालती है,[1] वे अधिक सच्चे कवि कहे जा सकते हैं। रंगो के प्रति रुचि भी आयु, लिग, जाति, मनोदशा आदि के अनुसार सदा बदलती रहती है। अतः उसके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बन सकता। हाँ, कुछ सामान्य तथ्य स्थिर किए जा सकते हैं। लाल तथा नीला रंग प्रायः सर्वाधिक प्रिय होते हैं, और नारंगियाँ व पीला सबसे कम। पुरुषों को नीला रंग सबसे अधिक भाता है और स्त्रियों को लाल। हमारी रुचि का क्रम सामान्यतः यह रहता है—नीला, लाल, बैगनी, हरा, नारंगिया और पीला।[2]

(घ) **नाद-व्यंजना**:—हमे अपने चारों ओर नाना प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं—पक्षियों का कलकूजन भ्रमरों का गुंजार, लहरों की कोमल कल्-कल्-ध्वनि, वायु-विकम्पित वृक्षों का मंजुल मर्मर स्वर, झींगरों की झंकार, मेघ-गर्जन, संगीत की तान आदि। निपुण कवि नादानुयायी शब्दों के प्रयोग द्वारा दृश्यांर्गत अनुभूत ध्वनियों का चित्रण करते हैं।[3]

(ङ) गन्ध की संवेदना:—दृश्य को सजीव बनाने के लिए कविजन गन्ध

---

१. विशेष देखिए—'कल्पना' (हिन्दी-मासिक), अप्रैल १९५३ के अंक में श्री जगदीश मित्तल का लेख—'हिन्दी मे रंगों की नामावली।'

२. 'Encyclopaedia Brittanica' (1947), p. 272.

३. उदाहरणार्थ :

'बांसो का झुरमुट—सन्ध्या का झुटपुट—
हैं चहक रही चिड़ियाँ—टी—वी—टी टुट्-टुट् !'—पंत (युगान्त)

(शेष अगले पृष्ठ पर)

की संवेदना भी बड़ी मार्मिकता से कराते है। अधिकांश कवि आँखों के विषयों का तो वर्णन करते हैं किन्तु इस ओर बहुत कम ध्यान देते है। वे मीठी या तीव्र गन्ध की ओर तो खिच जाते हैं पर हल्की कड़वी, खारी या ऐसी ही अन्य प्रकार की गन्ध की ओर ध्यान नहीं देते। समुद्र के तट पर, प्रथम वर्षा के समय हल-जुती धरती से सावन-भादों की कड़ी धूप में जलते जंगली लता-पत्रों से, स्टेशनों या फैक्टरियों में विशेष प्रकार की गन्ध का अनुभव होता है। पुष्पहार, इत्र, सुवासित वस्त्र, प्रभात पवन, अनुलेपन आदि द्रव्यों से तो गन्ध आती ही है। यद्यपि स्पर्श व गन्ध की संवेदनाओं से सौंदर्य का पर्याप्त सम्बन्ध है, किन्तु सौंदर्य-सम्बन्धी चिन्ता में इनका बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान नहीं समझा जाता। वे पदार्थ जो आँख और कान से सम्बन्ध रखते है और दृष्टि से अधिकाधिक दूर है उनके प्रति ही हमारी सौंदर्य-भावना सबसे अधिक प्रबल होती है। जो अत्यधिक निकट होते है उनके प्रति जिज्ञासा तथा कौतूहल भी न्यूनतम होता है। स्वाद, स्पर्श तथा गन्ध के प्रति भी यही बात मनोवैज्ञानिकों ने ठीक ठहराई है।[1]

(च) **स्पर्श की संवेदना**:—त्वचा के माध्यम से प्राप्त मृदुल-तरल अनुभूतियाँ वाणी पाने के लिए संवेदनशील कवि के हृदय को गुदगुदा कर मचल उठती है। शरद-शशि की रेशमी रश्मियाँ, शीतकाल की दोपहरी की सुखद धूप, प्रातः पवन, श्याम-सलोनी छाया व कनक किरण आदि के स्पर्श पुलकाकुल कर देने वाले होते है। कवि इन संवेदनों की भी अनुभूति कराता है।

यद्यपि दृश्य-चित्रण भी कवि की सौंदर्य-भावना का प्रकाशक है, किन्तु उस की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व कौशलपूर्ण विवृत्ति से ही कवि की पूरी तुष्टि नही हो सकती। वह इससे आगे बढ़कर भाव-व्यंजना में भी लीन होता है।

जलपूर्ण गोदावरी का यह ध्वन्यात्मक वर्णन कितना सुन्दर है:—

'एते ते कुहरेषु गद्गदनदगोदावरीवारयो
मेघालम्बिनमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहले।'—भवभूति (उत्तररामचरित)

'Than thou shall hear the *surly sullen bell*.'—Shakespeare
'*The murmurous haunt of flies on summer eves*.'—Keats
'And *drowsy tinklings lull the distant folds*.'—Gray

तिरछे छपे स्थलों के द्वारा नाद-व्यंजना बहुत सफलतापूर्वक हुई है।

१. '*Treatment of love in Sanskrit Literature*' (p. 40) by S. K. De; Chap. on '*Beauty*' in Will. Durant's '*Mansions of Philosophy*.' and '*The Psychology of Beauty*', an article by Dr. B. L. Atreya in B. H. U. Journal, Golden Jubilee Number, 1942.

पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा बा० संपूर्णानन्द जैसे विद्वान् प्रकृति के चित्रण को (जिसे शुक्ल जी संश्लिप्ट चित्रण कहते हैं) काव्य क्षेत्र की वस्तु ही नहीं मानते। उनकी धारणा में प्रकृति की खण्डश: अभिव्यक्ति पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं। अर्थात् उनकी दृष्टि मे वास्तविक कवि किसी प्राकृतिक वस्तु या दृश्य के एक-एक अंग या अवयव को अलग-अलग न देखकर उसके सामूहिक सौंदर्य-प्रभाव (Total affect) को तपाक् से देखता है और इस प्रकार देखने में जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसी की व्यंजना ही उसका वास्तविक क्षेत्र है। रवीन्द्र प्रकृति की समग्र सत्ता को भाव रूप में अंकित करना ही श्रेयस्कर समझते है।[1] बा० सम्पूर्णानन्द भी इसी मत को प्रश्रय देते हैं।[2] किंतु, अबरक्रॉम्बे जैसे समीक्षक दृश्य-चित्रण और भाव-व्यंजना दोनों के मिश्रित स्वरूप में ही काव्य की सिद्धि मान कर समन्वय का प्रयत्न करते हैं। वस्तुत: दोनों अतिवादों के बीच का यह मार्ग ही उत्तम जान पड़ता है।[3]

(ग) वस्तुगत सौंदर्य

मानव-सौदर्य तथा प्रकृति-सौदर्य के अतिरिक्त एक प्रकार का सौदर्य और भी होता है जो आविष्कार बुद्धि से उत्पन्न मानव-कृत (Manufactured) वस्तुओं में पाया जाता है। उस सौदर्य को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) मानव-कृत उपयोगी वस्तुओं का सौदर्य, और (२) मानव-कृत कलाकृतियों का

"Observation and Description—the ability to observe with accuracy things as they are in themselves, and with fidelity to describe them, unmodified by any passion or feeling existing in the mind of the describer : whether the things depicted be actually present to the senses, or have a place only in the memory."

—From *'Preface to the Lyrical Ballads'* (1815).

१. "If you ask me to draw some particular tree, and I am no artist, I try to copy every detail, lest I should otherwise lose the peculiarity of the tree, forgetting that the peculiarity is not the personality. But when the true artist comes, he overlooks all details and gets into the essential characterization."

—Togore : *'Personality'*, p. 23.

२. "कलाकार फोटो नहीं खींचता। वह प्रकृति की अनुकृति नहीं करता।··· शब्दों का प्रयोग भी ऐसा होता है कि बुद्धि ब्यौरे की बातों में न उलझ कर उसी तत्व पर टिके जहाँ कवि उसे जमाना चाहता है।"

—बा० सम्पूर्णानन्द : चिद्विलास, पृ २१२।

३. "The experience...must be whole and entire, both what I saw and what I felt." —L. Abercrombie—*'Principles of Criticism.'*

सौदर्य । पलग, मेज, कुरसी, संदूक, पुस्तक, रूमाल व अंगूठी आदि में पहले प्रकार का, और किसी सुन्दर नगर, प्रासाद (ताजमहल आदि), मंदिर, कपड़े पर कढे बेलबूटे या डिज़ाइन आदि में दूसरे प्रकार का सौदर्य होता है । बम्बई के हैंगिग गार्डन मे बने हाथी-घोड़ों की आकृति वाले कटावदार पेड़-पौधों को हम मानव तथा प्रकृति की मिश्रित कृति भी मान सकते है । यों साधारणतः दोनों प्रकार के सौदर्यो के बीच एक सीमा-रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है क्योकि उपयोगी पदार्थ विशेष कला-चातुरी से निर्मित किये जाने पर उच्च कोटि की कलाकृतियों का सा सौदर्य धारण कर लेते है, और कलाकृतियाँ मानी जाने वाली बहुत सी वस्तुएँ न्यूनाधिक रूप मे दैनिक उपयोग की होती ही है : जैसे, सुन्दर भवन आदि । बहुत सी वस्तुएँ शुद्ध कला-क्षेत्र की ही होती है, उनकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नही; जैसे, ताजमहल, सुन्दर चित्र या मूर्ति आदि । उपयोगिता का क्षेत्र प्रायः वस्तुओं के टिकाऊपन, इंद्रियों की तृप्ति तथा अन्य उपादेयता तक ही रहता है । जो पदार्थ इस व्यावहारिक उपयोगिता के जितने ही परे होते हैं वे उतने ही कला-पूर्ण समझे जाते हैं ।[1] संगीत और काव्य आदि भी मानवकृत कलाएं हैं कितु वे नेत्रों का विषय न होकर अनुभूति का विषय ही अधिक है, इसलिए उनका विवेचन आगे कला-गत सौदर्य के अन्तर्गत होगा ।[2] प्राचीन यूनान में शास्त्रीय संगीत ने गणित की सी स्पष्टता ग्रहण कर ली थी । भारतीय शास्त्रीय संगीत भी वैसा ही दिखाई पड़ता है । कविता के लिए भी नियम-उपनियम खूब बने हैं । इस प्रकार संगीत और काव्य आदि में बाह्य सौदर्य का भी अंश होता है । संगीत में स्वर, लय, मूर्च्छना, और कविता में अलंकार आदि उनके बाह्य सौदर्य ही हैं । जहाँ दोनों में सँजोई हुई भाव-राशि हृदय को आनन्दित करती है, वहाँ बाह्य उपकरण कानों को मुग्ध करते है । ऐसी स्थिति में मानव-कृत पदार्थो के सौंदर्य के दोनों भेदों को ध्यान में रखकर सामान्य लक्षण निर्धारित करना कठिन है । अतः पृथक्-पृथक् ही कुछ विशेषताएँ बताई जा सकती हैं ।

1. "But when our heart is fully awakened in love, or in other great emotions, our personality is in its flood tide. Then it feels the longing to express itself for the very sake of expression. Then comes art, and we forget the claims of necessity, the thrift of usefulness,—the spires of our temples try to kiss the stars and the notes of our music to fathom the depth of the ineffable."

—Tagore : '*Personality*' (1948), p. 17.

2. "Works of Art, therefore, from a cathedral to a sonnet, are symbolic : that is to say they have a quality which is addressed to, and perceived by, the mind, over and above the quality, or qualities which are perceived by the senses."

—W. Basil Worsfold : '*Judgment in Literature*', (1937) p. 5.

साधारणत: उपयोगी वस्तुओं के प्रति हमारे हृदय में सौदर्य की सूक्ष्म भावना अधिक नही रहती; उनके आकार-प्रकार, रूप-रंग आदि की प्रशंसा मात्र ही होती हैं। उनकी कोई चर्चा करना भी आवश्यक नही समझा जाता। हाँ, कुछ स्थितियां ऐसी अवश्य होती है जिनमें इन उपयोगी पदार्थों में भी कभी-कभी गहरा सौदर्य समाहित हो जाता है। जिससे हमारा प्रेम होता है, उससे सम्बन्धित सभी (उपयोगी) वस्तुएँ हमारे लिए प्रिय या सुन्दर हो जाती है। विशेष परिस्थिति या मनोदशा (mood) में हमारी सौदर्य-भावना जब अपने प्रेम-पात्र से छलक कर समस्त प्रकृति जगत् या वस्तुजगत् तक व्याप्त हो जाती है तो सम्बन्ध-भावना के कारण उपयोगी-अनुपयोगी सुन्दर-असुन्दर सभी पदार्थ हमारे लिए अत्यन्त सुन्दर हो उठते है। दूसरे, पुरस्कार आदि के रूप मे प्राप्त साधारण वस्तुएँ भी आकर्षण से पूर्ण हो जाती हैं। अपने किसी प्रिय स्नेही या आत्मीय की मृत्यु के पश्चात् उसकी प्रत्येक वस्तु—पुराना पत्र, वस्त्र, फोटो, पुस्तक आदि—हमारे लिए एक अभिनव सौंदर्य धारण कर लेती है। तात्पर्य यह है कि उपयोगी वस्तुओं के प्रति सौदर्य की भावना किसी विशेष कारणवश ही होती है। यों उपयोगी वस्तुओं में कला-तत्व या सौदर्य-तत्व का अभाव सा रहता है। इसलिए शुद्ध कला-साहित्य चिन्तन मे सूक्ष्म भावनाओं का ही सरस निरूपण होता है। जिन पदार्थों (मानव-कृत या प्राकृतिक) में सौदर्य तत्व अधिकाधिक होता है उनकी आनन्द-दायिनी शक्ति भी उसी अनुपात में बढ़ी हुई रहती है। मानव-कृत कला-कृतियों में—स्थापत्य कला से लेकर काव्य तक—क्रमश: निर्माण के उपकरणों (पत्थर, रंग, स्वर, शब्द आदि) की सूक्ष्मता के साथ-साथ आनन्द प्रदान करने की क्षमता भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है।[1]

---

1 & 2. "Poetry, then, of all the arts has the least material basis...But the mental aspect of the facts of the life and the scenes of external nature, which are thus presented by the ideas, or combination of ideas, of which these words are the symbols, is all important. Poetry speaks directly to the mind : for ideas, or mental pictures, are the rough material of the poet, and no medium is so powerful to affect the imagination as language."

—W. Basil Worsfold : '*Judgment in Literature*', p. 10.

"It is the characteristic quality which Poetry shares with its sister Arts, the quality of giving pleasure—aesthetic pleasure; that is pleasure which arises neither from a consciousness of right conduct, nor from an expectation of material profit, but which consists in a sense of enjoyment that is purely self-sufficing and disinterested."

—W. Basil Worsfold : '*Judgment in Literature*', p. 18.

(घ) कलागत सौन्दर्य

कला-गत सौंदर्य मनोजगत् का सौदर्य है जिसकी सामग्री (raw maerial) बाह्य जगत् (मानव जगत् तथा प्रकृति जगत्) से प्राप्त होती है। बाह्य जगत् की सामग्री जब अन्तःकरण (बुद्धि, भावना, कल्पना, अनुभूति आदि का केन्द्र) में जाकर, और वहाँ की विशिष्ट प्रक्रियाओं में से निकल कर, बाहरी जगत् में चित्र, संगीत, काव्य आदि रूपों में पुनः लौट कर आती है तब वह कला-गत सौंदर्य से सम्पन्न कही जाती है। इस प्रकार कला अपनी मूल सामग्री से पर्याप्त परिवर्तित रूप में आकर उपस्थित होती है। इस परिवर्तन में ही वह सौदर्य उत्पन्न होता है जिसकी सृष्टि, उच्च कोटि के आनन्द के लिए, कलाएँ करती है।[1]

आकर्षण और रमणीयता सौदर्य के मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण उपादान है। आकर्षण होता है सुन्दर वस्तु के बाहरी रूप के प्रति, और रमणीयता का अनुभव होता है उस वस्तु की भीतरी भावना के तल में पैठने पर। प्रकृति-सौदर्य और वस्तु-सौदर्य में ये दोनो ही उपादान उपस्थित रहते हैं या रह सकते है। अन्य सौदर्य की ही तरह कला या काव्य का भी सौदर्य होता है। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि से सम्बन्धित कलाएँ मुख्यतः नेत्रों का ही विषय होती है, उनमें उक्त दोनों उपादान होते है, किन्तु सगीत तथा काव्य चाक्षुष माध्यम से नहीं किन्तु श्रवण व भावन से ही आस्वाद्य होते हैं। अतः वे कलाओ में अपेक्षाकृत सूक्ष्म माने गये हैं। काव्य का साधन या माध्यम शब्द-प्रतीक मात्र होने से वह सब ललित कलाओं मे सबसे अधिक सूक्ष्म व श्रेष्ठ माना जाता है। कोई-कोई विद्वान् (जैसे, डॉ० सम्पूर्णानन्द) संगीत को ही सर्वोच्च कला मानने के पक्षपाती जान पड़ते हैं। हम केवल काव्य से ही मुख्यतः सम्बन्धित हैं, अतः उसके ही सौंदर्य पर विचार करेंगे।

काव्य-गत सौंदर्य अन्य पदार्थों की तरह बाह्य चर्म-चक्षुओं से तो दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु उसकी मानसिक अनुभूति ही सम्भव है। शब्दों में जो चित्र या बिम्ब होते हैं वे पाठक या श्रोता के भावना-पटल पर प्रतिबिम्बित होकर उसको भाव-मग्न करने की क्षमता रखते है। काव्य की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि जो वस्तु-व्यापार प्रत्यक्ष जगत् में हमें प्रायः प्रभावित या द्रवित नही करते वे उसमें (काव्य में) चित्रित या वर्णित होकर हमें तुरन्त रसमग्न कर देते हैं या कर सकते

---

1. There is a beauty which is never found in Nature but which requires a working of human thought to elicit it from Nature, a beauty not of parts and single persons, but of complex totalities, a beauty not of flesh and blood, but of mind, imagination, feeling. It is this synthetic, intellectual, spirit penetrated beauty to which the arts aspire".—K. S. Ramaswami : "*Indian Aesthetics*", p. 20-21.

है। कला का यह स्वर्ण-स्पर्श समस्त स्थूल, रूप-हीन व उपेक्षित को भी सूक्ष्म, सरस व रमणीय बना देता है। कारण क्या है ? कारण यह है कि काव्य तथ्य या सिद्धांतों का परिगणन या निर्देश मात्र नहीं करता,[1] अपितु पाठक के हृदय पर प्रभाव डालने के लिए अपनी चित्र-विधायिनी कल्पना के बल से ऐसे ढंग से चित्र अंकित करता है कि पाठक भी सक्रिय होकर, अथवा ग्राहक-कल्पना के बल से, भावना-पटल पर अंकित उन मूर्तियों या प्रतिबिम्बों को दृढ़ता के साथ ग्रहण कर उनमें तन्मय हो जाता है। दूसरी बात यह है कि कवि यदि चित्र के कुछ ब्यौरे छोड़ देता है तो पाठक अपनी कल्पना से उनको पूरा कर लेता है। यह कार्य उसे सक्रिय मानसिक सहयोगी बन कर प्रदान करना पड़ता है। इस समस्त मानसिक प्रक्रिया में उसे (पाठक को) एक अभिनव व अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। यह प्रक्रिया समस्त अन्तः-करण (भावना, बुद्धि व कल्पना आदि) को सजग, सक्रिय व स्फूर्तिवान् बना देती है। यही मानसिक आनन्द, रस या कला-गत् सौदर्य का अनुभव है। यह सौदर्यानुभव अन्य पदार्थों के सौंदर्यानुभव से विशिष्ठ है।

काव्य में जो बिम्ब-विधान (Image-making) होता है उसका वास्तविक आधार बाहरी जगत् के रूप-व्यापार ही है। इन्हीं रूप-व्यापारों का जब काव्य में वर्णन किया जाता है, और उन वर्णनों को पढने पर उनकी मानस-मूर्तियाँ हृदय में अंकित होती हैं, तब उनका सौदर्य, अनेक विशिष्ठ मनोवैज्ञानिक मसालों के मिश्रण से, प्रत्यक्ष जगत् के पदार्थों के सौंदर्य से कई गुना बढ़ जाता है। यही उन रूप-व्यापारों का कला-गत-सौंदर्य कहलाता है। बाहरी जगत् के जो पदार्थ (साधारण-असाधारण) हमें साधारणतः आकृष्ट नही करते, वे ही, कवि कल्पना के माध्यम से जब हमारे भावना-पटल पर पहुँचते है तो उनमें एक विचित्र मोहिनी उत्पन्न हो जाती है। यही मोहिनी उस कलागत-सौदर्य का प्राण है। इस सूक्ष्म व मानसिक सौदर्यानुभूति को ही हमारे यहाँ 'रस' (Aesthetic Experience) की संज्ञा प्रदान की गई है। यह रस या सौंदर्यानुभूति क्या है ? दोनों एक ही हैं या इनमें कुछ भेद है ? किस विशिष्ठ मानसिक प्रक्रिया से बाहरी पदार्थ इतनी आन्तरिक रमणीयता धारण कर लेते है ? —यह सब तो मनोविज्ञान का अपना विषय है।

यह कला-गत-सौदर्य भारतीय साहित्य-शास्त्र के सभी सम्प्रदायों (रस, अलंकार, रीति या गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य सम्प्रदाय) में समान भाव से स्वीकृत

---

1. "But what an artist has to say, he cannot express by merely informing and explaining ... In poetry we have to use words which have got the properties, —which do not merely talk, but conjure up pictures and sing." —Tagore : '*Personality*', p. 16.

है। रसवादी इसे काव्य की आत्मा ही मानते है।[१] अलकारवादी इस सूक्ष्म सौदर्य को केवल अलंकार में ही मानते हैं।[२] गुण या रीति सम्प्रदाय के आचार्य इस सौंदर्य की सत्ता काव्यगुणों या रीतियों में मानते है। वामन का स्पष्ट मत यही है।[३] वक्रोक्ति-जीवितकार कुंतक इस काव्य-सौदर्य को वक्रोक्ति में मानते है।[४] आनंदवर्धन, मम्मट तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य उसे ध्वनि में मानते है। आनन्दवर्धन की धारणा है कि जिस प्रकार रमणी का वास्तविक सौदर्य या लावण्य उसके अंगों के सौदर्य के परे रहता है, उसी प्रकार काव्य का सौदर्य वाच्यार्थ के परे प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि में निहित रहता है।[५] काव्य की आत्मा ध्वनि ही है।[६] लोचन टीकाकार अभिनव गुप्त ने भी गुण, अलंकार और औचित्य से समन्वित सुन्दर ध्वनिपूर्ण शब्दार्थ में ही इस सौदर्य का अनुभव किया है।[७] औचित्यविचारचर्चाकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने उस सौदर्य का अनुभव समस्त काव्य-गुणों के उचित सामजस्य में ढूंढ

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (१९४८) पृ० ३६८; 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं', विश्वनाथ : 'साहित्यदर्पण', १।३

२. 'सौंदर्यमलंकारः।'—वामन : काव्यालंकार, १।१।२. (पं० बलदेव उपाध्याय कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ३४१ से उद्धृत।

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।'—दंडी : काव्यादर्श, २।१.
—पं० बलदेव उपाध्याय-कृत 'भारतीय साहित्यशास्त्र', भाग १ (२००७), पृ० ७ से उद्धृत।

३. "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशय हेतवोलंकाराः।"—वामन; पं० बलदेव उपाध्याय-कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ३६३ से उद्धृत।

४. "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।
वक्रोक्तिःप्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रेवाभिधा
वैदग्ध्य कविकौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः।"—वही, पृ० ३६४ से उद्धृत।

५. "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवाति रिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
—ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत, कारिका, ४;
आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी ध्वन्यालोक (१९५२), पृ० २३ से उद्धृत।

६. "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति..." —ध्वन्यालोक, १.

७. "गुणालंकारौचित्यसुंदरशब्दार्थशरीरस्य सतिध्वननात्मनि आत्मनि काव्यरूपताव्यवहारः।" लोचन —पं० बलदेव उपाध्याय कृत 'भारतीय साहित्य शास्त्र', भाग १, पृ० ८ की पाद-टिप्पणी से उद्धृत।

निकाला है।[1] अभिप्राय: यह है कि सौदर्य की इस सूक्ष्म सत्ता का अस्तित्व तो सभी आचार्य एक स्वर से स्वीकार करते है, किन्तु उसे एक ही काव्य-धर्म में न मान कर विभिन्न काव्य-धर्मों में मानते है।

यद्यपि कला-गत सौदर्य विभिन्न रूपो (ध्वनि, अलंकार, गुण आदि) में माना गया है किन्तु रस ही उन सब का प्राणतत्त्व है। उधर पश्चिम में, 'अभिव्यंजनावाद' में कल्पना, जो काव्य का सर्वस्व न हो कर वस्तुतः एक उपादन मात्र है, में ही काव्य-कला का सारा सौदर्य केन्द्रित कर दिया गया है। किन्तु, भारतीय पण्डित तो अनुभूति को ही निर्भ्रान्त रूप से प्रथम स्थान देते हैं और कल्पना को द्वितीय। कला-गत सौदर्य को केवल कल्पना के आनन्द तक ही सीमित रखना वास्तव में अधूरा सौंदर्य-दर्शन है।

७. प्रेम और सौंदर्य का पारस्परिक सम्बन्ध

प्रेम और सौंदर्य का इतना स्वतन्त्र विवेचन हो जाने के पश्चात् अब यह देखना आवश्यक है कि इन दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। प्रेम और सौदर्य ये दोनों शब्द प्राय: सहगामी रहते है। जहाँ प्रेम है वहाँ सौदर्य रहता है (कविजन या कलाकार विशिष्ठ रुचि के अनुकूल भी सौदर्य की कल्पना कर लेते है या कोयले पर सोने की डली का आरोप भी कर ही लिया करते है) और जहाँ सौदर्य है वहाँ प्रेम। किन्तु कभी-कभी इसके विपरीत भी देखने में आता है; जहाँ सौंदर्य हो (बाह्य सौदर्य ही) वहाँ प्रेम नहीं भी होता, या प्रेम ईर्ष्या आदि का रूप धारण कर लेता है।[2] जहाँ हार्दिक प्रेम हो वहाँ कुरूपता में भी सौदर्य उपज आता है (जैसे, लैला-मजनू के प्रेम में)। प्रेम और सौंदर्य का सम्बन्ध व्यापय-व्यापक सम्बन्ध है; अर्थात्, 'सौंदर्य' प्रेम में ही निहित रहता है। सौंदर्य 'आलम्बन' (वस्तु, व्यक्ति आदि) का धर्म है और प्रेम 'आश्रय' की भावना। वास्तव में दोनों अपनी सार्थकता के लिए एक दूसरे पर

---

१. "औचित्यस्य चमत्कारकरिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेधुना॥" (औचित्यविचारचर्चा, कारिका ३)
"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥" (कारिका, ७)
—हरिदास-संस्कृत-ग्रंथमाला (२४—२५—२६), बनारस, १६३३।

२. जैसे, 'कामायनी' में बाह्य परिस्थितियों के कारण (श्रद्धा का पशु-प्रेम) प्रेम में विक्षेप पड़ गया है—
"कह, ज्वलन-शील अंतर लेकर, मनु चले गये, था शून्य प्रांत;
'रुक जा सुन ले ओ निर्मोही।' वह कहती रहती अधीर श्रांत।"
—'प्रसाद' : कामायनी।

पूर्णतया आश्रित हैं। सौंदर्य 'आश्रय' की भावना के बिना कैसे उत्पन्न होगा? साधारणतः यह कहना ठीक है कि 'आश्रय' के हृदय मे प्रेम की भावना आलम्बन के रूप-सौदर्य से ही स्फुरित होती है किन्तु इस बात को शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार करना केवल स्थूल वासना की ही स्वीकृति होगी। मूल है—'आलम्बन' का अच्छा या प्रिय लगना। पर चूँकि हम सुसंस्कृत हैं, हमें बाह्य को भेदकर आंतरिक की ओर जाना ही इष्ट है। तभी सौदर्य का सम्बन्ध हमारी आत्मा से जुड़ सकता है। इस दृष्टि से प्रेम की ही प्रधानता ठहरती है। सौदर्य चाहे बाहरी ही हो, उसे देखकर रीझने की भावना भी आत्म-सत्ता का ही परिचय देती है। आगे चलकर जो प्रेम आत्मिक होगा वह भी तो रूप के आकर्षण से ही आरम्भ होगा। हाँ कोरा रीझना या जगह-जगह रीझ-रीझ कर रह जाना तो क्षणिक वासना का उफान-मात्र होगा। तात्पर्य यह है कि सौदर्य से प्रेम उत्पन्न होता है तो प्रेम से सौदर्य भी। दोनों ही बातें ठीक ठहरती है। प्रधानता का प्रश्न असंगत-सा ही है। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। यदि एक ओर प्रेम-दृष्टि व्यक्ति या वस्तु में कुछ नवीनता और सौंदर्य भर देती है, तो दूसरी ओर सौदर्य ही प्रेम का मूल और समग्र जीवन-स्पन्दन है। प्रेम, सौदर्य से ही जीवन-रस ग्रहण कर सौदर्य में ही पर्यवसित होता है, क्योंकि प्रेम स्वयं भी आंतरिक सौदर्य का चरम निदर्शक है। पर, अधिकांश विद्वान् प्रेम से ही सौदर्य की उत्पत्ति मानने के पक्ष में जान पड़ते है।

आदर्श अथवा सच्चे सौंदर्य की अनुभूति में प्रेम ही सहायक होता है।[१] हम सच्चे प्रेम के ही कारण किसी वस्तु को पूर्ण सुन्दर रूप में देख पाने में समर्थ होते है।[२] वस्तुतः प्रेम ही सौदर्य का जनक है।[३] प्रेम से ही सर्वत्र सौदर्य का पूर्ण विकास

१. "In the acquisition of this blessing (Ideal Beauty) human nature can find no better helper than love."

—Plato : *Symposium*, p. 95.

२. "A thing is beautiful, first of all, because it is desired...So we desire nothing originally because it is beautiful but we consider it beautiful because we desire it."

—Will Durant : *Mansions of Philosophy*, p. 286.

"The lovely is primary that which is loved"

वही, p. 292.

३. "Beauty, therefore, whether of persons, of things, of nature of art is the child of love which originates in sexual impulse."

—Dr. B. L. Atreya : B. H. U. Silver Jubilee Number, p. 51.

"Love then, is the mother of beauty, and not its child; it is the soul origin of that primary beauty which is of persons and not of things."

—Will Durant : '*The Mansions of Philosophy*', p. 289.

दिखाई पड़ता है।[१] प्रेम सौंदर्य पर आश्रित न रह कर, सौंदर्य का निर्माता भी है। सब उच्च भावनाएँ प्रेम की ही अमर ज्वाल को ज्वलन्त बनाये हुए है।[२] प्रेम से हम जहाँ चाहें वहीं सौंदर्य का पूर्ण विकास देख सकते है।[३] सौंदर्य-चेतना अमर प्रेम की छाया है। दिव्य प्रेम ही सौंदर्य की काया में निवास करने वाली आत्मा है।[४]

इसी प्रकार सौंदर्य से भी प्रेम उत्पन्न होता है। सन्तानोत्पत्ति से पूर्व किसी बच्चे को न चाहने वाली युवती जब पुत्रवती हो जाती है तब वह अपने पुत्र के मुख के सौंदर्य को देखकर प्रेममयी हो जाती है। शील और सौंदर्य रूप गुणों से युक्त सीता के प्रति राम की प्रीति और भी अधिक गाढी हो गई।[५] मन मे सुषमा की भावना ही प्रेम

---

१. "प्रेम की प्राप्ति से दृष्टि आनन्दमयी और निर्मल हो जाती है। जो बातें पहले नहीं सूझतीं थीं वे सूझने लगती है, चारों ओर सौंदर्य का विकास दिखाई पड़ने लगता है।"

—पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'जायसी ग्रंथावली' (सन् १९३५) की भूमिका, पृ० ८७।

"(प्रेम) एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है।"

—पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'चिंतामणि', भाग १, पृ० ८९–९०।

२. इश्क तो खुद है अपना भरोसा,
हुस्न भला क्या देगा सहारे।
हुस्नो इश्क में फ़र्क ही क्या है,
दोनों है एक प्यास से मारे। ('आकाशवाणी' से प्रसारित)

—सागर निज़ामी।

All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs this mortal frame.
All are but ministers of love,
And feed his sacred flame. (Coleridge)

३. "इश्क है हुस्न का खालिक तुम्हें मालूम नहीं।
मैं जहाँ चाहूँ वहीं हुस्न नुमायां हो जाये।"

—पं० विनयमोहन शर्मा कृत 'साहित्यावलोकन', पृ० १२३ से उद्धृत।

४. "यह सौंदर्य चेतना उसके अमर प्रेम की छाया,
दिव्य प्रेम देही, सुन्दरता उसकी सतरंग काया।"

—सुमित्रानन्दन पंत : 'स्वर्ण किरण' (सं० २००४), पृ० ३३।

५. "प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।
गुणै रूपगुणैश्चापि प्रीतिर्भूयोप्यवर्धत॥"

—भवभूति। उत्तररामचरितम्, ६।३१

का संचार करती है।[१] 'सूर' की दृष्टि भी सौंदर्य से ही प्रेम की उत्पत्ति का समर्थन करती दिखाई पड़ती है।[२] सौंदर्य ही शनैः शनैः विकसित होकर प्रेम बन जाता है।[३] पर प्रमेय या वस्तु में वह सौंदर्य भी तो अततः हमारी आत्मा ही उत्पन्न करती है।[४]

गहराई से देखने पर दोनों ही दृष्टिकोणों में गम्भीर आत्म-भावना ही प्रधान है। किसी में भी आत्म-सम्पर्क-शून्य क्षुद्र भौतिक दृष्टि नहीं। वस्तुतः सभी स्वच्छ चिंतक जीवन में प्रेम की ही महिमा का गान करते हैं। संयत विचारक प्रेम और सौंदर्य, इन दोनों को अन्योन्याश्रित समझकर उनमें आदर्श सामंजस्य स्थापित कर देते हैं।[५]

प्रम और सौंदर्य का यही सम्बन्ध है।

८. कविता का प्रेम और सौंदर्य की भावना से सम्बन्ध

प्रेम और सौंदर्य के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण हो चुका। अब देखना यह और रह जाता है कि इन दोनो का कविता से क्या सम्बन्ध है। ग्रंथ की 'भूमिका' के आरम्भ में इस सम्बन्ध में पर्याप्त कह दिया गया है। संसार के सब देशों और सब कालों के साहित्य का मंथन करके यदि उसमें से कोई शाश्वत तत्व निकाला जाय तो वह

---

१. "मेरे अन्तर में छिप कर भी प्रकटे सुख सुषमा का।
प्रबल प्रभंजन मलय मरुत हो, फहरे प्रेम पताका।"
—प्रसाद : 'झरना', सं० (१९९१), पृ० ८१।

२. मोहन वदन विलोकत अंखियन उपजत है अनुराग।
—सूरसागर।

३. "सौंदर्य पलक प्याले का, अब प्रेम बना जीवन में।"
—प्रसाद : 'आँसू' (सं० २००६), पृ० ३२।

४. "O man! you yourself make all objects attractive by your looks. Looking at it with those eyes, you yourself shed your lustre upon the subject and then you fall in love with it."
—Swami Ram Tirtha : *Heart of Rama*, p. 136.

५. "सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस यह ही दो पक्ष हैं...शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी ; न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौंदर्य पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है।...वह उधर देखता है जिधर सौंदर्य दिखाई पड़ता है।...कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूपरंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में।"
—पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग १, (सन् १९३९), पृ० २२८–२२९।

तत्व होगा—प्रेम और सौंदर्य की भावनाएँ। साहित्य में यही विषय सनातन होते हुए भी चिरनवीन है। आदि कवि से लेकर आधुनिक कवि तक के काव्य में यही स्थायी तत्व है। वास्तव में प्रेम और सौंदर्य का विषय छोटा नहीं। इसमें मानव-हृदय की समस्त वृत्तियाँ और जगत् के सारे रूप समाविष्ट हो जाते हैं। साहित्य-शास्त्र में निर्धारित स्थायी भाव व संचारी भाव आदि सभी का निरूपण शृंगार रस के संयोग व वियोग—इन दोनों पक्षों में पूरी तरह खप जाता है। शृङ्गार रस के स्थायी भाव 'रति' पर आधारित अन्य प्रकार के प्रेम तो सब इससे घनिष्टतम रूप में सम्बद्ध है ही, किन्तु अन्य रस भी इस के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सम्बद्ध हैं। तात्पर्य यह है कि यह विषय जिस प्रकार जीवन से घनिष्ट रूप में सम्बन्ध है उसी प्रकार साहित्य या काव्य से भी। प्रेम और सौंदर्य—ये ही कविता के आदि विषय है। हजार-हजार पुनरावृत्तियों के बावजूद भी यही विषय कविता का शाश्वत उपजीव्य रहा है। 'ऊषा' पर लाखों कविताएं आजतक लिखी जा चुकी होंगी और आगे भी लिखी जाती रहेंगी, पर वे कभी भी बासी नहीं लगेंगी। ब्रह्म की तीन विभूतियों—शक्ति, शील व सौंदर्य—में से कवि सौंदर्य से ही मुख्यतया सम्बन्धित है। पर यह सौंदर्य बहुत व्यापक है। यह ब्रह्म के आनन्द रूप से सम्बद्ध है। अतः साहित्य मनीषी विषय और व्यंजना दोनों ही दृष्टियों से प्रेम और सौंदर्य ही को काव्य का मुख्य विषय ठहराते है। सौंदर्यानुभव के द्वारा ही प्रेम की आत्मा 'रस' या 'आनन्द' का उद्घाटन होता है।

प्रकरण २

भारतेन्दु-काल

(सन् १८६८-१८९३)

(रति' की परिधि का विस्तार तथा सौंदर्य की नवीन चेतना का स्फुरण)

प्रेम-सौंदर्य-सम्बन्धी सिद्धान्त-चर्चा विस्तार में की जा चुकी है। अब उसके प्रकाश में आधुनिक हिन्दी कविता में निरूपित प्रेम-सौदर्य की प्रवृत्तियों का विवेचन किया जायगा।

रीति-काल की समाप्ति उसके अंतिम महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त लोकप्रिय कवि पद्माकर (सं० १८१०-१८९०) के साथ ही मानी जाती है। उनके बाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (सं० १९०७-१९४१) का आविर्भाव हुआ जो अपने कृतित्व और साहित्यिक नेतृत्व के कारण पूरे एक युग (सं० १९०० से १९७५) के प्रवर्त्तक सिद्ध हुए। भारतेन्दु प्राचीन और नवीन के संधिस्थल हैं उनके समय से ही हिन्दी-कविता अचानक एक ऐसा गहरा मोड़ लेती है कि, शृंगार-काव्य को छोड़कर, अन्य विषयों से सम्बन्धित कविता प्राचीन हिन्दी कविता से रूप और रंग दोनों में सर्वथा बदली हुई दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु ने जिस नव-युग के द्वार खोले उसमें अनेक प्रसिद्ध कवि हुए। कुछ कवि, जिनमें ऐवक, महाराज रघुराजसिंह, रीवाँ नरेश, सरदार, बाबा रघुनाथदास रामसनेही, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह, लछिराम (ब्रह्मभट्ट), गोविन्द गिल्लाभाई, नवनीत चौबे, पं० प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहनसिंह, पंडित अम्बिकादत्त व्यास, बाबू रामकृष्ण वर्मा, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पं० श्रीधर पाठक तथा बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', रामदेवीप्रसाद 'पूर्ण' तथा वियोगी हरि आदि मुख्य हैं (इनमें से अनेक कवि आगे चलकर द्विवेदी-काल में बहुत प्रसिद्ध हुए), ब्रजभाषा में पुराने ढंग की कविता करते थे। किन्तु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बदरीनारायण, चौधरी 'प्रेमधन', ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास आदि इस युग में ऐसे कवि भी हुए जिनके काव्य में देश की नवीन राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना को वाणी मिली। इन कवियों ने ब्रजभाषा के साथ ही खड़ी बोली में भी कविता की जो अब परम्परागत काव्य भाषा (ब्रजभाषा) का स्थान लेती जा रही थी। अन्य सब कवियों का अपना अपना महत्त्व है किन्तु युग के प्रतिनिधि कवि, नवीन चेतना-सम्पन्न ये ही कवि कहलाए। इनका काव्य प्रेम-सौदर्य की भावना की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है, अतः मुख्यतः इन्हीं कवियों को ध्यान में रखकर विषय की विवेचना की जायगी।

१. सामान्य

यह एक स्थूल सत्य है कि प्रत्येक युग का काव्य अपनी विशेष परिस्थितियों का ही परिणाम होता है। भारतेन्दु युग का काव्य भी इसका अपवाद नहीं। यद्यपि प्रेम-वृत्ति व उसका आदर्श रूप मानव-मन में नित्य व अविचल है, तथापि व्यक्ति, समाज तथा काल-भेद से, वातावरण तथा बाह्य परिस्थितियों के कारण, न्यूनाधिक रूप में परिवर्तित होती ही रहती है। भारतेन्दु-काल में प्रेम-सौदर्य की भावना में रीतिकाल की अपेक्षा कुछ विस्तार आ गया है,[1] निखार चाहे उतना न आया हो।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्राचीन व नवीन हिंदी साहित्य के सन्धिस्थल पर अवस्थित है। उन्ही से हिंदी-काव्य वह स्वरूप ग्रहण करता है जो प्राचीन काव्य से, बहुत अंशों में सर्वथा भिन्न, विशिष्ठ एवं स्वतंत्र है। मानव-हृदय की प्रमुख वृत्तियाँ (प्रेम, भक्ति, उत्साह, करुणा आदि) तो साहित्य के सभी कालों में समान रूप से रहती आई है किन्तु, परिस्थिति विशेष से, उनमें से किसी किसी का महत्व न्यूनाधिक हो जाता है। साथ ही युग-रुचि के अनुसार उन वृत्तियो से सम्बन्धित कलात्मक विन्यास (शैली-शिल्प) में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। जिस प्रकार प्रेम, मानव की मूल वृत्ति होने के नाते, भक्ति-काल या रीतिकाल का मुख्य विषय था, उसी प्रकार भारतेन्दुकाल से लेकर वर्तमान काल तक की कविता का भी मुख्य विषय वही बना हुआ है। इसीलिए कुछ विद्वान आधुनिक काल को भी, वृत्ति की प्रमुखता की दृष्टि से, प्रेम-काल ही कहना उपयुक्त समझते है।[2] यद्यपि प्राचीन साहित्यिक युगों व आधुनिक युग इन सभी का विषय प्रेम है, तथापि इन दोनों युगों के प्रेम-निरूपण में आकाश पाताल का अंतर है। इस अंतर की मूलभूत प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं को समझकर भारतेन्दु काल के प्रेम-काव्य पर विचार करना ही इस प्रकरण का प्रतिपाद्य है।

---

१. "भारतेन्दु-युग में प्रेमवृत्ति दाम्पत्य रति से आगे बढ़ कर प्रकृति-प्रेम व देश-प्रेम तक आ गई थी। कुछ रचनाएं भागवत प्रेम की भी हुई।"

—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'वाङ्मय विमर्श' (भारतेन्दु-युग)।

२. "शैली के विचार से कहा जाय तो बाहुल्य की दृष्टि से गद्यकाल ठीक है किंतु वर्ण्य-विषय या मनोवृत्ति का विचार करके इसे 'प्रेम-काल' कहना सुभीते का जान पड़ता है। इस काल मे क्या गद्य, क्या पद्य, शुद्ध साहित्य की सभी शाखाओं में प्रेम की ही प्रधानता दिखाई देती है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता, सभी प्रेम-वृत्ति की ही मुख्यता से व्यंजना करते है। प्रेम ऐसा व्यापक नाम लेने से इस के अंतर्गत दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त देश प्रेम, प्रकृति प्रेम, संतति प्रेम, मित्र प्रेम, ईश्वर प्रेम आदि सभी का ग्रहण हो सकता है। ससीम व असीम दोनों के प्रेम अन्तर्भूत हो जाते है।" —वही, (आधुनिक काल नामक प्रकरण)

भारतेन्दु-काल की प्रेम-दृष्टि जिन कारणों से प्रभावित हुई है उनको समझने के लिए तत्कालीन विश्व तथा देश की व्यापक चेतना का परिचय अत्यन्त आवश्यक है।

२. युग की व्यापक चेतना और उसका साहित्य पर प्रभाव :

(क) युग चेतना

(i) भारतेन्दुकाल अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक संघर्षों और विचार-क्रांति का काल है। इस परिवर्तन या क्रांति को स्पष्टता से समझने के लिए उसे दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखना उपयुक्त होगा—

(१) व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय क्राति, और (२) देश की आन्तरिक क्राति। पहले अन्तर्राष्ट्रीय क्रांति पर विचार किया जाय।

१९वीं शताब्दी मानव-जाति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण शताब्दी है। इस युग में यूरोप में धर्म और विज्ञान की वह भिड़ंत हुई जिससे शताब्दियों से धार्मिकता की अफीम की नींद के नशे में सोया संसार हड़बड़ाकर उठ बैठा। भारत, चीन, और यूरोप में उत्पन्न हुआ प्राचीन विज्ञान केवल चमत्कार उत्पन्न करने में ही लीन रहा करता था। यूरोप में ईसाई धर्म और विज्ञान चुपचाप अपने अपने पथ में चले जा रहे थे। किन्तु शासन चर्च या धर्म का ही था। ईश्वर, धर्म, नैतिकता और सदाचार के सम्वन्ध में चर्च का मत ब्रह्म-वाक्य था। जो इसकी अवज्ञा करता उसे मौत की सजा थी। कालान्तर में आधुनिक विज्ञान ने जन्म लिया जिसकी 'स्पिरिट' थी—प्रयोग, परीक्षण, विश्लेषण, अनासक्त बुद्धि से परिणामों की स्वीकृति। न्यूटन, डार्विन तथा ऐसे ही अन्य वैज्ञानिकों और अन्वेषकों की शोधों ने प्रकृति का गंभीर अध्ययन करके कुछ ऐसे तथ्य ढूँढ निकाले जो रूढ़िवादी धर्म की मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध और विपरीत थे। अन्ध विश्वासों की काइयाँ फटने लगी। साधारण मानव को विज्ञान की प्रक्रिया से भावी सुख और मुक्ति की आशा का रंगीन स्वप्न दिखाई पड़ा। धर्म ने दरिद्रता और कष्ट को भाग्य का खेल बना रखा था और परजन्म में सुख-प्राप्ति की आशा बँधा रखी थी। समता और स्वतन्त्रता से मानव का मानो कोई सम्बन्ध ही नहीं था। धर्म वास्तव में मानव के मुक्ति-पंथ में पाँव की बेड़ी बना हुआ था। विज्ञान ने सारा तख्ता पलट दिया। रेल, जहाज, तार, डाक, टेलीफोन, बिजली आदि का आविष्कार हुआ। अब सब काम यंत्रों द्वारा होने लगा। जहाँ लोहा, जल, ईंधन बहुतायत से मिल सकता था, वहाँ बड़े बड़े नगर बस गये। आर्थिक समस्याएँ विकट होने लगीं। इस क्रम में गाँव उजड़ गये। कारखानों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता हुई। पूंजीपति सेठ और सरकारें कच्चे माल तथा उससे बने पक्के माल की बिक्री के लिए देश-उपनिवेश ढूँढने

निकलीं। स्वातन्त्र्य-हरण और शोषण का चक्र चल पड़ा। उपनिवेश बसने लगे। साम्राज्य बढ़ाने की लिप्सा जाग पड़ी। इंग्लैंड, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रास, हालैंड आदि देश इस दौड में एक दूसरे से आगे बढ़कर पराया धन हड़पने को लपके। १६वीं शताब्दी से ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत पर अपना अधिकार जमाती बढ़ती चली आ रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक उसने भारत को गहराई से अपने चंगुल में फाँस लिया।

अच्छा या बुरा जैसा भी हो, यह सब भौतिक विज्ञान की देन था। किन्तु विज्ञान तो वास्तव में अन्धविश्वास रहित हो कर जीवन में प्रयोग और परीक्षण करके सत्य तक पहुँचने की एक पद्धति है। इस रूप में यूरोप के विज्ञान ने मानव-जाति का महान् उपकार किया है। अन्ध विश्वास नष्ट हुए। मुद्रण की कला का आविष्कार हुआ और साक्षरता तथा शिक्षा का प्रसार हुआ। जीवन में प्रगति की एक अदम्य आकांक्षा जागृत हुई। सृष्टि के (मन, आकाश, समुद्र, दिशा-काल आदि) सब रहस्यों को उधेड़ उधेड़ कर देखकर सत्य के दर्शन की प्यास भड़क उठी। यंत्रों के कारण व्यर्थ का शारीरिक परिश्रम कम हुआ, और मनुष्य को थोडा विश्राम मिला। चिन्तन मे वैज्ञानिक पद्धति के समावेश के कारण यूरोप के अत्यन्त प्रसिद्ध विचारकों—डार्विन, रूसो, वाल्टेयर, ऑडम स्मिथ. जॉन स्टुअर्ट मिल—ने विचार-जगत् में सरपट आँधियाँ दौड़ा दीं। लोकतन्त्रात्मक विचार-धारा का तेजी से प्रचार हुआ। स्वेच्छाचारी दमनशील और निरंकुश राजाओं के तख्त-ताज लुढ़कने लगे। अमेरिका में स्वाधीनता का सफल संग्राम हुआ। १८वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस में बड़ी भीषण राज्य-क्रांति हुई जिसमें सड़क का अदना आदमी जीत गया। स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुता के सिद्धान्त आविर्भूत हुए। साम्प्रदायिक रुढ धर्म के स्थान पर शुद्ध मानव-धर्म की स्थापना से प्रसन्न हुए। जनता का राज्य कायम हुआ और वयस्क स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त हुए। इस प्रकार बड़ी आँधी-पानी के बाद वैज्ञानिक प्रक्रिया और तर्क-सम्मत विचार-पद्धति से मनुष्य प्राचीनता के अंधकार को चीर कर एक नया प्रभात पृथ्वी पर लाया। हाँ, अभी आकाश में घटाएँ धहरा रही हैं, किन्तु प्रभात तो अवश्य हो ही गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में हुई इस धार्मिक, वैज्ञानिक और सामाजिक उत्क्रांति का आलोच्यकाल की कविता से गहरा सम्बन्ध है।

अब देश की आन्तरिक स्थिति पर भी विचार किया जाय।

(ii) सन् १८५७ में स्वातन्त्र्य-संग्राम के प्रथम युद्ध के रूप में भारत ने शताब्दियों की नीद के बाद करवट बदली। भारतीय रंगमंच पर युगान्तरकारी परिवर्तन उप-स्थित हुए। नवीन और प्राचीन की विश्व-व्यापी टक्कर से भारत का अस्थि-कंकाल ही नहीं, अपितु सारा स्नायु-जाल ही हिल उठा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन

समाप्त हो गया और भारत के शासन-सूत्र सीधे इगलैंड की पार्लियामेंट के हाथ में आ गये। सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने राजकीय घोषणा की कि भारत में जाति, वर्ण व लिंग के भेद को भुलाकर भविष्य मे सबके साथ पूरा न्याय होगा। नौकरियो में समानता बरती जायगी। भारतीयों के धर्म-कर्म में कोई आन्तरिक हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। देशी नरेशों के अधिकारों का पूरा ध्यान रखा जायगा। भारत में राज्य-विस्तार की कामना अब आगे नहीं रखी जायगी। प्रजा के प्रति राजकीय कर्त्तव्यों का पालन होगा। कानून के द्वारा सबका निष्पक्ष भाव से संरक्षण होगा। स्वातन्त्र्य सग्राम के सब सेनानियों को मुक्त कर दिया जायगा। भारतवासियों की पूरी-पूरी कल्याण-कामना की जायगी।

इस घोषणा से जनता संतुष्ट हो गई और वातावरण में एक स्निग्धता और प्रफुल्लता आ गई। रेल-तार, डाक, शिक्षा आदि की नवीन व्यवस्था ने भी भारतीयों के हृदय को विदेशी सरकार के प्रति कृतज्ञता के भावों से भी भर दिया। इस प्रकार भारत में एक नव-चेतना-सम्पन्न युग के द्वार खुले-से जान पड़े।

किन्तु शनैः शनैः भारतीयों पर यह प्रकट होने लगा कि यह सब बहुत अंशों तक एक अभिनयमात्र ही था। इन सुधारों व आश्वासनों के मूल मे हार्दिक सहानुभूति तथा सदाशयता का लेशमात्र भी नहीं है। अंग्रेज देश में रेलों का जाल बिछा रहे थे। बस, भारतीयों की समझ में आ गया कि देश में रेलों का बिछाया जाल भारत के हित के लिए उतना नहीं जितना उनकी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये। रेलों तथा यन्त्रों के द्वारा काम होने तथा पक्का माल बाहर से आने का वही परिणाम हुआ जो अवश्यम्भावी था। इंगलैंड की लोभमयी व्यावसायिक वृत्ति तीव्र हो गई। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु उसने भारत में अधिकाधिक पूंजी लगाई। दमन और शोषण का चक्र चल पड़ा और भारत की आर्थिक दशा शोचनीय हो चली। इधर सन् १८५७ के विप्लव के बाद कई बार (सन् १८६१, १८६६, ६८-६६, ७३-७४, ७६-७८ में) देश में भयंकर अकाल पड़े। हैज़ा, महामारी आदि से भी लाखों करोड़ों मर गये। किसानों के भी विद्रोह हुए। जनता करों के बोझ से पहले से ही पिसी जा रही थी। इन सब क्रूर वास्तविकताओं ने भारतीयों की आंख खोल दी और उनके मन में विदेशी सत्ता के प्रति पूर्ण अविश्वास, घृणा व विद्रोह के भाव भर गये। राज्य की ओर से वैधानिक और अन्य सुधार भी करने का थोड़ा बहुत प्रयत्न होता किन्तु वह नगण्य था। अंग्रेजों की नेकनीयती में विश्वास पूर्णत: उठ गया और इसका चरमोत्कर्ष सन् १८८५ में दिखाई पड़ा जब भारतीय जनता ने पहली बार राष्ट्रीय झण्डे के नीचे संगठित हो, विदेशियों को भारत से खदेड़ देने के लिये 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना करके भारतीय स्वाधीनता का लोमहर्षक बिगुल बजाया।

उधर एक बहुत महत्वपूर्ण घटना घटी। जिसका प्रभाव हिन्दी-काव्य पर विशेष रूप से पड़ा। सन् ५७ की आँधी में अनेक छोटे-मोटे प्राचीन देशी राज्य लुप्त हो गये। जो बचे रह गये वे अपना प्रभावहीन अस्तित्व ढोते रहे। रीतिकाल में जो कवि-समाज, राजदरबारों में रहकर, जनता की ओर से पूर्णतः आँख मूदे, अपने आश्रयदाताओं के मनोविनोद के लिये राधाकृष्ण के बहाने उद्दाम भौतिक प्रेम की वाग्धारा बहाता आ रहा था, उसे अब राज्याश्रय-रहित होकर आजीविका के लिये वहाँ से उठकर जनता के बीच आने के लिये विवश होना पड़ा। अब उसका अस्तित्व केवल जनता पर ही आश्रित था। दैवी सहायता से छापाखानों के माध्यम से, जो अब देश भर में खुलने जा रहे थे, उन्हें जनता के सम्पर्क मे आने का सुअवसर भी सौभाग्य-वश प्राप्त हो गया। इसके अतिरिक्त जनता के सम्पर्क मे आने की चेतना उनमे अन्य प्रेरणाओं से भी प्राप्त हुई। अंग्रेजी शिक्षा व अंग्रेजों के सम्पर्क से देश मे पाश्चात्य विचार व नवीन चेतना का झोका भी आने लग गया था। विजयी अंग्रेजों ने हिन्दुओं के धर्म को उपेक्षा की दृष्टि से देखा। चिन्तन के जगत में वैज्ञानिक प्रक्रिया पश्चिम में अपनाई जा चुकी थी। हिन्दु-धर्म को दी हुई चुनौती के परिणामस्वरूप राजा राम मोहन राय ने हिन्दू-धर्म की नवीन, स्वच्छ व वैज्ञानिक व्याख्या के लिये बंगाल में 'ब्रह्मोसमाज' (सन् १८२८) की स्थापना की। सन् १८७५ में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्य समाज' की भी स्थापना की। सामाजिक जाग्रति भी चारों ओर होने लगी। जाति-पाँति, खान-पान, छुआ-छूत के अन्तर कम होने लगे, पर बहुत धीरे-धीरे। समुद्र-यात्रा आरम्भ होने से सामाजिक सुधारों के क्रम में तेजी आने लगी।

इस राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना से युग का सच्चा कवि बच कर रह ही नहीं सकता था। देश-विदेश की इस व्यापक चेतना का प्रभाव हिन्दी-काव्य पर स्पष्ट दिखाई पड़ा।

पहले कहा जा चुका है कि मानव मन की मूल भावना 'रति' है। वह रति सहज रूप में अथवा शांतिकाल में तो 'कान्ता विषयक रति' का रूप धारण किये रहती है। किन्तु, चारों ओर की परिस्थितियों में क्षोभ उत्पन्न होने पर वह अन्य क्षेत्रों की ओर भी दौड़ पड़ती है। जीवन की आदि तरंग होने के कारण कान्ता-विषयक प्रेम की धारा कठोर परिस्थितियों के बीच भी बहती ही चलती है। भारतेन्दु युग में भी यही हुआ। शृंगार प्रेम (भक्ति और रीति युग के ढाँचे का) पूर्ववत् जारी रहा। उसके साथ अब राष्ट्र-प्रेम या देश-प्रेम भी, उपरोक्त परिस्थितियों की प्रेरणा से, बड़े वेग के साथ आविर्भूत हुआ। यह देश-प्रेम अपने नवीन रूप में हिन्दी-काव्य में प्रथम बार पूरा हुआ और इतना महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि वह भारतेन्दु-युग के काव्य की मौलिक प्रेरणा और शक्ति ही बन गया। इस प्रेम ने काव्य की शैली के स्वरूप को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया।

नवीन हिन्दी कविता के प्रसंग में इस प्रेम पर कुछ और विचार किया जाय।

(ख) साहित्य पर प्रभाव

(१) राष्ट्रीय भावना का आविर्भाव :—दो सौ वर्षों तक रीतिकाल में हिन्दी-कवि का हृदय सम्पूर्ण मानव हृदय के एक अंश मात्र का—प्रणय या दाम्पत्य भाव का—प्रतिनिधित्व कर रहा था, और वह भी मुख्यतः परकीया के प्रति उद्दाम और वासनात्मक प्रेम का। यह स्थिति समाज-हित की दृष्टि से (व्यक्ति, साहित्य या कला की दृष्टि से जो कुछ भी हो) अधोगामिनी थी; उसमें जीवन की स्वस्थ व उज्ज्वल चेतना का बहुत अभाव था। उपरोक्त नवागत परिस्थितियों ने एक लम्बी अन्धकारपूर्ण रात्रि के अवसान की सूचना देते हुये नव-जीवन के स्वर्ण-विहान का शंखनाद किया। काव्य-क्षेत्र में नई-नई भाव-भूमियाँ खुलती दिखाई पड़ी, और अभिव्यक्ति की नई-नई कुल्याएँ फूट पड़ीं। हृदय के 'रति-भाव' का वृत्त प्रणय या दाम्पत्य की सीमा को तोड़कर देश-प्रेम तथा मानव-प्रेम (जो वर्तमान परिस्थितियो में विश्व-प्रेम का पर्याय न होकर देश-प्रेम का अंग-भूत ही था) आदि के क्षितिज पर क्षितिज खोलता चला गया, जिससे युग-कवि के मन के विस्तार, नवीन कल्पना, व जागृति तथा ओज का परिचय मिला।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रीतिकाल की तरह प्रेम अब भी कविता का विषय बना रहा पर बहुत कुछ परिष्कृत विस्तृत और परिवर्तित रूप में। व्यापक 'रति' का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग—देश-प्रेम—युग के आग्रह से, कविता का अब एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय हो चला। यह देश-प्रेम या देश-भक्ति हमारे रागात्मक हृदय का ही स्वाभाविक विकास है। इस प्रेम के मूल में हृदय का वही रागतत्व है जो अन्य प्रकार के विविध प्रेम-रूपों का उपजीव्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि भारतेन्दु काल में हिन्दी कविता के स्वतन्त्र संचरण के लिये नवीन भाव-भूमियाँ खुलीं। यदि विचार करके देखा जाय तो विदित होगा कि देश-भक्ति अपने मूल रूप में अपने देशवासियों के प्रति हार्दिक-प्रेम है।

भारतेन्दु कालीन काव्य में इस देश-प्रेम की कई रंगतें दिखाई पड़ीं। उनमें से मुख्य रूप ये है :—

१. राज-प्रशस्तियों के रूप में;

२. तत्कालीन देश-दशा के वर्णन के रूप में, जिसमें देश की सामाजिक व आर्थिक दुर्दशा पर मार्मिक क्षोभ प्रकट हुआ;

३. अतीत के उज्ज्वल वैभव व गौरव-गान के रूप में, जिससे नवीन आशा व उमंग के साथ ही देशोद्धार का संकल्प भी व्यक्त हुआ;

४. भविष्य की मधुर कल्पना करके तन-मन-धन से देश को पूर्ण स्वतन्त्र देखने की मधुर अभिलाषा के रूप में;

५. भारत की माता के रूप में कल्पना करते हुए देश की सौंदर्य-माधुरी (भौगौलिक एवं चारित्रिक) में निमग्न हो जाने के रूप में;

६. हिंदू-विधवा के उद्धार, बाल-विवाह की रोक, मद्य-निषेध, अनमेल विवाह की रोकथाम, जाति-पाँति की भावना का निर्मूलन, समाज-सुधार-मलक भावनाओं की वाहक उद्‌बोधन-सम्बन्धी कविताओं के लेखन के रूप में;

७. नागरी के उद्धार, परिष्कार, उसकी प्रगति, तथा उसके स्वतन्त्र देश-भाषा के रूप में स्वीकृत कराये जाने के प्रयत्न के रूप मे, तथा स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण और प्रयोग की भावना के रूप में;

८. देशोद्धार के लिए अन्य सामाजिक आन्दोलनों, योजनाओं व प्रयत्नों आदि के रूप है।

भारतेन्दु-युग के काव्य में ये रूप दिखाई पड़े किन्तु निःसंदेह इनका पूर्ण विकास आगे चलकर द्विवेदी-काल में ही हुआ जबकि राष्ट्रीयता की भावना का पूर्ण विकास हो चुका था। भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीयता हिन्दुत्व की सीमा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी थी। फिर भी राष्ट्रीयता अपने बाल-रूप में भी उस युग में एक नवीन क्रांति का रूप थी।

(ii) **मानव-प्रेम और नारी के रूप में परिवर्तित दृष्टिकोण**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह देश-प्रेम अपने मूल रूप में मानव-प्रेम ही है। जिन प्राणियों के बीच हम रहते है, उनके योग-क्षेम और आनन्द-मंगल की कामना हमारी विकसित सामाजिकता और मनुष्यता का लक्षण है। यह भावना हमें भक्तिकाल में पूर्ण उत्कर्ष के साथ मिलती है किन्तु इसका प्रकाशन उस समय देश-भक्ति के माध्यम से न होकर ईश्वर-भक्ति के माध्यम से ही हुआ था। जग-जागरण की विश्वव्यापी चेतना के प्रभाव से राष्ट्र-भावना-युक्त यही मानव-प्रेम हिंदी-साहित्य में सबसे पहले भारतेन्दु-काल में दिखाई पड़ा। यों कहना शायद और भी ठीक है कि भारतीय साहित्य में पहली बार यह मानव-प्रेम इस युग में दिखाई पड़ा।[1] अतीत काल में देवता, सम्राट, ऋषि-मुनि आदि ही काव्य के विषय होते थे। साधारण मानव या प्राकृत जन (कीन्हे प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥—तुलसी) काव्य जैसी वस्तु के लिए ओछा व क्षुद्र ही समझा जाता था। पश्चिम में राजनीतिक तथा दर्शन के क्षेत्र में मानव-जीवन, मानव-गौरव व भौतिकता का नये सिरे से महत्त्व प्रतिपादित हुआ और विश्व-विधान अथवा जीवन-विधान में सड़क पर चलते

१. **दे० भूमिका के ११वे पृष्ठ की पाद-टिप्पणी।**

साधारण मानव का पहली बार महत्त्व समझा गया। प्रजातन्त्रवाद इसी नवीन मानव-गौरव का द्योतक है। पश्चिम में टॉमस पेन, ऑगस्ट कॉम्टे तथा जॉन स्टुअर्ट मिल ने मानव-अधिकार, ज्ञान-धर्म तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिये बड़े अनमोल प्रयत्न किये।

युग की व्यापक चेतना का प्रभाव नारी के प्रति कवियों के परिवर्तित व परिष्कृत दृष्टिकोण में भी लक्षित हुआ। अमेरिकन स्वाधीनता-संग्राम, फ्रांस की राज्य-क्रांति, जर्मनी, इटली तथा नीदरलैंड्ज की सामाजिक क्रातियों ने मानव का मूल्य निर्धारित किया और इसी क्रम में सामाजिक ढाँचे में नारी का स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण स्थान स्वीकृत हुआ। स्त्रियों को पुरुषों के साथ मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ। इस प्रकार पश्चिम में नारी का स्वतन्त्र अस्वित्व उभरने लगा। भारत मे अंग्रेज़ी-शिक्षा तथा नवीन विचार-धारा के माध्यम से नारी-स्वातन्त्रय की यह भावना आई। उधर कवियों ने जाति को जीर्णोद्धार के लिए अतीत पर दृष्टि डाली तो सीता, पार्वती, सावित्री, पद्मिनी के शील, पावित्र्य, त्याग और बलिदान ने उन्हें नारी का वास्तविक रूप समझने को विवश कर दिया। इस प्रकार परिस्थितियों की प्रेरणा से नारी कवियों की आँखों में विलास-पुतली या भोग्यामात्र ही नहीं रह गई। द्विवेदी-काल में नारी के प्रति यह सम्मान-भावना और भी अधिक विकसित हो गई। भारतेन्दु व प्रेमघन ने इस विषय पर मर्मोद्गार व्यक्त किए हैं। आधुनिक साहित्य में नारी के प्रति परिष्कृत दृष्टिकोण यहीं से आरम्भ होता है जिसका विकास आगे चलकर 'हरिऔध', गुप्त जी तथा प्रसाद व पंत की रचनाओं में विशेष रूप से मिलता है।

अब हम नवीन युग चेतना और उसी साहित्य पर पड़े प्रभावों की सामान्य चर्चा के बाद हरिश्चन्द्र-काल की प्रेम-भावना व सौंदर्य-भावना का संक्षेप में निरूपण करेंगे।

३. प्रेम-निरूपण :

(क) प्रेम-कवि व उनकी रचनाएँ

नवीन कवियों के शुद्ध प्रेम-काव्य के सम्बन्ध में कुछ तथ्य ध्यान देने योग्य हैं। सबसे पहली बात यह है कि इन कवियों के प्रेम-काव्य (कान्ताविषयक) का ढाँचा अधिकांशतः रीतिकालीन था। भाषा वही वर्षों पहले की घिसी-घिसाई, प्रांजल व सुचिक्कण ब्रजभाषा, छंद वे ही कवित्त-सवैये, विषय वे ही नायक-नायिका, राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग, रूप-सौंदर्य, मान-मनुहार, यमुना और कुंजों का विहार, माखन-चोरी, रासलीला, चीर-हरण, नख-शिख, षट् ऋतु, प्रकृति के शृंगार-रसोपयोगी उद्दीपक उपकरण, जैसे—चन्द्र, चांदनी, समीर, वसंत, मेघ, लता, पुष्प आदि। अनुभवों तथा संचारी भावों की व्यंजना में भी कोई विशेष नवीनता नहीं। यों कहा

जा सकता है, एक प्रकार से वही पुरानी काव्य-परम्परा कवियों के न्यूनाधिक रुचि-वैचित्र्य के साथ जारी थी। काव्य-विकास को सूचित करने वाला उसमें कोई नवीन उल्लास, चहक-थिरक तथा शैली की कोई विशिष्ठ चमक-दमक नहीं थी। मौलिकता का अभाव-सा हो चला था। नवीन उद्भावना के दर्शन दुर्लभ थे। नि:संदेह इनमें से अनेक कवि प्रेम-रस से छके हुए जीव थे (भारतेन्दु सब में अग्रगण्य हैं) किन्तु प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति में उनकी प्रतिभा की कोई विशिष्ठ किरण या उनकी तूलिका-चित्रण का नया चमत्कार सामने नहीं आया।

तात्पर्य यह है कि कांताविषयक प्रेम (ईश्वरभक्ति सम्बन्धी कविताओं की भी यही स्थिति थी) प्राय: उसी ढाँचे का बना रहा जो रीतिकाल में वर्षों से चला आ रहा था। विपयगत व शैलीगत नवीनता या मौलिकता राष्ट्र-प्रेम के क्षेत्र में ही दिखाई पड़ी। हाँ, प्रकृति के स्वतन्त्र रूपों की ओर अवश्य कवियों की दृष्टि जाने लगी। भारतेन्दु ने भक्ति-क्षेत्र में कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी कविता ही अधिक लिखी है। भागवत की प्रेमलक्षणा भक्ति, जिसे सूर, मीरा, रसखान, आदि प्राचीन कवियों ने अपनाया था, के ढाचे ही इनकी भक्ति-भावना ढलकर तरंगित होती रही।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने प्रेम की जो अभिव्यक्ति की, उसका अधिकांश राधाकृष्ण की प्रेम-लीला से सम्बन्धित है। उनके 'प्रेम-मालिका' 'प्रेमाश्रु वर्षण', 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेम तरंग', 'प्रेम प्रलाप', 'फूलों का गुच्छा', 'प्रेम फुलवारी' नामक संग्रहों में प्रेम का शृंगार-भक्ति-मिश्रित विशद वर्णन है, पर प्राय: उसी पुराने ढर्रे का। उसे देख कर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे प्रेम-रस से सराबोर हृदय वाले थे। शायद वे इतने से ही संतुष्ट थे। 'भक्त सर्वस्व' की भूमिका में भारतेन्दु उक्त रचना के सम्बन्ध में लिखते हैं—"यद्यपि इसकी कविता काव्य के सब गुणों से सत्य ही हीन है, तथापि इसका मुझे शोच नहीं है, क्योंकि यह ग्रंथ मैंने अपनी कविता प्रकट करने और कवियों को प्रसन्न करन को नहीं लिखा है, केवल अपनी वाणी पवित्र करने और प्रेम रंग में रंगे हुए वैष्णवों के आनन्द के हेतु लिखा है।"

उपरोक्त कथन से उनके प्रेम-काव्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि चाहे काव्य-ढाँचा वही प्राचीन हो किन्तु उसकी प्रेमाभिव्यक्ति में कुछ ऐसी चुहल, मरोर, भंगिमा, बाँकपन व कुछ ऐसा स्निग्ध प्रवाह रहता है कि सहृदयों को उनके ये गुण वस्तु की नवीनता के अभाव में भी मुग्ध किये बिना नहीं रहते। इस कोटि के प्रेम में नव-युग का स्पर्श भी कहीं कहीं दिखाई पड़ जाता है। भारतेन्दु के कृष्ण और सब गोपिकाएँ रीतिकालीन कृष्ण और गोपियों से अधिक प्रगत हैं। एक नये युग के नये दृष्टिकोण से भारतेन्दु ने उसके चरित्र का अंकन किया है। अब केवल देवबिहारी की "पीत पटवारी वो ही मूरत पै वारी हो।" कहने वाली या "कुंज बिहारी सों बिहरि, गिरधारि उरधारि।" वाला शब्द-प्रपंच

बिछाने वाली गोपी नही है, अब कुछ कदम आगे बढ़ कर "संभारहु अपने को गिरधारी" कह कर चुनौती देने वाली गोपी है, जो कहती है—"हरीचद निधरक बिहरौंगी अधर सुधारस भीनी"।[१] कहने का आश्रय यह है कि मौलिकता की दृष्टि से भारतेन्दु का वास्तविक क्षेत्र सामाजिक कविता ही है।[२]

(ख) प्रेम के विविध रूप

भारतेन्दु काल में प्रेम मुख्यत: तीन रूपों मे प्रकट हुआ है :—

१. प्रणय अथवा दाम्पत्य भावना तथा भक्ति-भावना के रूप में,

२. देश-प्रेम अथवा देश-भक्ति के रूप में, और

३. प्रकृति-प्रेम के रूप में।

उपरोक्त तीन रूपों में से पहले में २ रूपों को एक में ही मिला कर रखने का कुछ कारण है। भक्ति काल में तो लौकिक प्रेम व अलौकिक प्रेम दोनों स्पष्टतः भिन्न कोटि के प्रेम थे। काव्य में जो बाहरी दृष्टि से लौकिक प्रेम सा दिखलाई पड़ता था वह वस्तुत: अलौकिक प्रेम का ही प्रतीक होता था, उसकी स्वतन्त्र महत्ता कुछ भी न थी। कोरी सासारिकता एक घृणित व निद्य वस्तु समझी जाती थी। रीतिकाल में परिस्थिति में परिवर्तन आ गया। अब दृष्टि मुख्यत: सांसारिक व लौकिक थी। कवियों में अपनी लौकिक या हीन उद्दाम वासनाओं का ज्ञापन बिना किसी अलौकिक आलम्बन की आड़ लिए ही करने का साहस आ गया था। राधा-कृष्ण का तो नाम-मात्र था। वस्तुत: कवि भक्ति-काल के कवियों की तरह, भक्ति-रसमाधुरी में आकंठ रसमग्न होकर अपनी प्रेम की गहनता की व्यंजना नहीं करता था। बल्कि अपनी वासनाओं को खुलमखुल्ला नहीं बल्कि राधाकृष्ण के झीने मलमली आवरण में व्यक्त करता था जिससे कि लोक में वे गर्हित न समझी जाँय। भारतेन्दु काल में भी बहुत कुछ यही परम्परा चली आई जान पड़ती है। राधाकृष्ण पर कविता लिखने का अर्थ कवि का ईश्वरपरायण होना नहीं दर्शाता। हाँ, फिर भी इस काल में राधाकृष्ण से सम्बन्धित भारतेन्दु आदि की कुछ कविताओं

---

१. "भारतेन्दु-मुकुर" (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० १९।

२. "वस्तुतः उनकी निजस्वता तो उनकी समाज-स्पर्शी रचनाओं में ही प्रस्फुटित हुई थी।···भारतेन्दु के राशि-राशि पद भले ही, रूढ़ि के अनुसार, केवल रंग (विषय-विन्यास) और रूप (भाषा और छन्द विन्यास) के आधार पर, भक्ति की कोटि में रख दिए जायं, परन्तु इस भक्ति का जैसे जीवन क्रम से कोई सम्बन्ध ही नहीं हो। वह भक्ति मध्ययुग के कवि के साथ ही तिरोहित हो गई थी। अब तो यह मानसिक ईश्वर-रति ही रह गई।"

—डा० सुधीन्द्र : 'हिन्दी कविता में युगान्तर', पृ० ३२३।

में सच्ची श्रद्धा व भक्ति के दर्शन अवश्य हो सकते हैं। आगे चल कर छायावाद-काल में जो लौकिक व अलौकिक प्रेम की विभाजन-रेखा पूर्णतया लुप्त होती दिखाई पड़ी यह उसका पूर्वाभास था। सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-काल में लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति, स्वतन्त्र रूप में तथा राधा कृष्ण के बहाने—इन दोनों ही रूपों में हुई। पर इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण प्रणय और भक्ति, इन दोनों को एक ही वर्ग में रखा है। विनय के पदों में, जिनमें कवि अपने सब आवरणों को त्याग कर शुद्ध भक्त रूप में प्रकट होता है, ईश्वर प्रेम की व्यंजना हुई है। जो सूर व तुलसी के अनुकरण पर है।

(१) **प्रणय अथवा दाम्पत्य भावना :**—संयोग और वियोग की अवस्थाओं में हृदय में जो नाना भाव-तरंगें उठती हैं उनका जितना मार्मिक चित्रण तत्कालीन कवियों में भारतेन्दु ने किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। उनको निर्वेद, ग्लानि, शंका, मद, श्रम, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, व्रीड़ा, विषाद, औत्सुक्य, अमर्प, उन्माद, वितर्क आदि संचारी भावों की व्यंजना, भापा की पूर्ण शक्ति के साथ बहुत ही स्वाभाविक रूप में हुई है। सहजता व स्वाभाविकता से, उमड़ते-घुमड़ते हुए भाव को पूर्ण मार्मिकता तथा प्रभविष्णुता के साथ संक्षेप में अभिव्यक्त कर पाठक के हृदय को झनझनाते छोड़ जाने की कला में भारतेन्दु निष्णात है। कुछ उदाहरण देखिए :—

कुबजा जग के कहा बाहर है नंदलाल ने जा उर हाथ धर्‌यौ।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय के प्यारे निवास कर्‌यौ।
'हरिचन्द' न काहू को दोप कछु मिली है सोई भाग में जो उतर्‌यौ।
सब कों जहां भोग मिल्यौ वहां हाय वियोग हमारे ही बांटे पर्‌यौ॥[1]

'अमर्प' 'दैन्य' और 'मोहन' की कैसी सुन्दर व्यंजना है। 'वियोग हमारे ही बांटे परयो।' में मुहाविरे तथा अभिव्यक्ति की सहजता का सौदर्य प्रशंसनीय है।

इसी प्रकार, रूप-सौंदर्य-जीवी आँखों की यह विवशता देखिए—

यह संग में लगियै डोलें सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो वियोग परै 'हरिचन्द' तो चाल प्रलै की सु ठानती हैं।
बरूनी में थिरें न झपें उझपैं पल में न समाइबो जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अखियाँ दुखियाँ नहीं मानती हैं॥[2]

चतुर्थ पंक्ति में अभिव्यक्ति का सौदर्य दर्शनीय है।

कृष्ण के प्रति विरहिणी गोपी का यह उपालंभ कैसा मधुर है—

---

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (प्रेममाधुरी), पृ० १४६।
२. वही, पृ० १५५।

जानि सुजान मैं प्रीति करी सहि कै जग की बहु भांति हंसाई ।
त्यों 'हरिचंद' जू जो जो कह्यो सो कर्‌यो चुपह्वै करि कोटि उपाई ।
सोऊ नहीं निबही उन सौं उन तोरत बार कछु न लगाई ।
साँची भई कहनावति वा अरी ऊँची दूकान की फीकी मिठाई ॥ [१]

यहाँ भी चतुर्थ पंक्ति में मुहाविरा कैसा फिट बैठा है ।

दर्शनपिपासाकुल नेत्रों की यह कातर दशा कितनी मर्मभेदनी है—

इन दुखियान को न चैन सपनेहूँ मिल्यो
तासों सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी ।
प्यारे 'हरिचन्द' जू की बीती जानि औध प्राण
चाहत चले पै ये तो संग ना समायँगी ।
देख्यौ एक बारहू न नैन भरि तोहि यातें
जौन जौन लोकर जहँ तहाँ पछतायँगी ।
बिना प्राण प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय
मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥ [२]

रूप-दर्शन की प्यासी आँखों के प्रति यह उक्ति अपनी सादगी, प्रवाह और भाव-सत्यता के कारण अनुपम है ।

मरणोन्मुख विरहिणी की यह दीन-दशा देखिए—

आजु लौं जो न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावें ।
मेरो उराहिनो है कछु नाहिं सबै फल आपुनो भाग को पावें ।
जा 'हरिचंद' भई सो भई अब प्राण चले चहै तासो सुनावें ।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावे ॥ [३]

प्रेम-पथ के समर्पण, दैन्य, विवशता, अनुनय और विश्वास की भावना से पूर्ण यह छंद, रस से गद्दर फलों से झुकी डाल-सा जान पड़ता है ।

निश्चय ही प्रेम की सरल और स्वाभाविक अभिव्यक्ति में भारतेन्दु की ये अथवा इस कोटि की रचनायें बहुत उच्च कोटि की हैं ।

'प्रेमघन' जी की नायिका की विरह-व्यथा रीतिकालीन नायिका से कितनी मिलती-जुलती है, देखिए—

---

१. वही, पृ० १७१ ।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० १७५ ।
३. भारतेन्दु ग्रंथावली (प्रेममाधुरी), पृ० १५८ ।

कूकैं कोकिलान हिय हूकैं देत आन,
विरहीन अबलान सोर सुनि मुरवान की।
दादुर दलन की रटान चातकीन की,
चिलात छन छन चमकान चपलान की॥
पैठी मान तान भौन भौहन कमान,
मूलि प्रेमघन बान बीर पीतम सुजानकी।
कैसे के बचै है प्रान बीर बरखान लखि,
घुमड़ि घुमड़ि घन घेरन घटान की॥[1]

प्रकृति के सब सुन्दर उपकरण नायिका के दुःख में रंगे हुए है। प्रकृति के उद्दीपनगत स्वरूप के ग्रहण के कारण लोक-सुखदायक पावस कवि के द्वारा नायिका के लिए पापी रूप में चित्रित किया गया है। देखिए—

नाच रहे मन मोद भरे, कल कुज करै किलकार कलापी।
गाय रहे मधुरै स्वर चातक, मारन मन्त्र मनोज के जायी॥
झिल्लियां यों झनकारि कहैं, मन में घन प्रेम पसारि प्रतापी।
आय गयी विरही जन के बध काज अरे यह पावस पापी॥[2]

कविवर रत्नाकर प्राचीन परम्परा के कवि है। 'हिडोला' (सं० १९५१) में उन्होंने सयोग-शृंगार का बड़ा ही आनन्दोल्लास पूर्ण और छलकता हुवा वर्णन किया है। शृंगार रस के समस्त अवयवों का बहुत ही सूक्ष्म, भरा पूरा व कौशलपूर्ण वर्णन उसमें है। पर, है वही पुराने ढंग का। हाँ, प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा अनुभावों की व्यंजना मनोहारी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की पुरानी रूढ़ि का मोह अभी बना हुआ है। असाधारण सौदर्य ही उन्हें अभी प्रिय है।

अनुभावों की सफल व सुंदर व्यंजना के लिए रत्नाकर जी विख्यात हैं। संयोग शृंगार की इस कृति में अनेक स्थलों पर बड़ी ही सुदर अनुभाव-व्यंजना हुई है। देखिए—

नैन सैन सौं लेति कोऊ हरि सैन नैन कौ,
सीस फिराइ फिराइ देति कोउ सीस मैन कौ।
अति अद्भुत उत्तर ताकौ तब दियौ रसीली,
औठ हलाइ ग्रीव मटकाइ रही गरबीली॥
अधर दबाइ हलाइ, ग्रीव मुसक्याइ मंद अति,
भलौ भलौ कहि कान्ह ठानि मन अचगरि की मति।

---

१. 'प्रेमघन सर्वस्व', भाग १, पृ० २०४।
२. वही, पृ० २०६।

पुनि घूमनि चुनि चारु घांघरे की उमंग सौं,
नासा अधर मरोरि हँसी रंगि अनख रंग सौं।[1]

भारतेन्दु ने भी कहीं कहीं ललित शारीरिक चेष्टाओं का अच्छा चित्र अंकित किया है—

सुनतहि अति चकृत सी ह्वै रही मात पितहि लखि बहुत लजाई।
नैन नचाई भौंह टेढ़ी करि बोली तासौ बुद्धि उपाई॥[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृंगार प्रेम के क्षेत्र में किसी युगान्तरकारी नवीनता या मौलिकता का प्रायः अभाव सा है। परम्परागत ढाँचे के भीतर ही कविजन अपने प्रणयोद्गार व्यक्त करते हैं। हाँ, एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। 'प्रेमघन' ने अपने 'संगीत-काव्य' के अन्तर्गत ग्राम-जीवन अथवा लोक-जीवन से सम्बन्धित काव्य भी प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किया है जो भैरव, भैरवी, गौरी, बरसानी, इमन, कान्हरा, कलङ्गरा, काफी आदि लोकप्रिय राग-रागिनियों तथा गजल, रेखता, लावनी, कजली, झूलना छन्द रूपों में है। ये रचनाएँ उर्दू, ब्रजभाषा आदि में लिखी गई हैं। इनमें जीवन की थिरक, उमंग और उल्लास आदि फूट पड़े हैं। इनकी प्रेरक भावना मुख्यतः प्रणय अथवा दाम्पत्य प्रेम है। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की रचनायें रीतिकाल वाला ही प्रेम, दरबारी अंचलों से उतर कर जन-जीवन के अंचल में आ गया है जिसमें कवियों की व्यक्तिगत रुचि और भावना का भी युगानुरूप तथा न्युनाधिक वैचित्र्य है। रीतिकालीन वासना का विस्फोट उसी रूप में तो अब न रहा। वह प्रेम बहुत कुछ घिस-घिसा कर आया है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें निर्बन्ध लोक-हृदय का जो चित्रण हुआ है वह रीतिकाल की दरबारी कविता में चित्रित कृत्रिम जीवन से सर्वथा भिन्न कोटि का है; यदि लोक-काव्य शुद्ध साहित्य में ही माना (विषय विवादास्पद है), जाय तो यह रचना-समष्टि इस बात को प्रमाणित करती है कि अब हिन्दी-कवि का हृदय-लोक हृदय के साथ एकाकार हो गया। इस कोटि की रचना में जो राग-रागनियाँ और छन्दों का वैविध्य-वैचित्र्य है वह कवियों के मन की गहरी और उल्लासमयी जीवन-तरंग का परिचायक है।

(ii) **देश-प्रेम व मानव-प्रेमः**—भारतेन्दु-काल की कविता की सारी प्राणवत्ता देश-प्रेम की कविता में प्रकट हुई। यही कविता नवयुग का द्वार खोलती है, तत्कालीन कवियों की मौलिक प्रतिभा का परिचय देती है, और युग-हृदय के विस्तार का संकेत करती है।

---

१. 'रत्नाकर' (बाबू श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित) संग्रह के 'हिंडोला' से उद्धृत।

२. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग १, पृ० ७४।

देश-प्रेम की मार्मिक व्यंजना करने वाले कवियों में भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र, पं० बदरी नारायण, चौधरी 'प्रेमघन' व प० प्रतापनारण मिश्र आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उस समय राज-भक्ति भी देश-भक्ति का एक महत्त्वपूर्ण अथवा आवश्यक अंग थी। विदेशो-सत्ता के गौरव का गान और सम्राट-सम्राज्ञी का गुणानुवाद देश-भक्ति की परिधि के अन्तर्गत स्वीकृत था। इसीलिए भारतेन्दु तथा प्रेमघन दोनों ने ही पर्याप्त राज-प्रशस्तियाँ लिखी है। उदाहरणार्थ, सन् १८७५ में युवराज प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत-शुभागमन पर लिखी एक प्रशस्ति में भारतेन्दु के उद्गार देखिए—

जब लौं बानी वेद की जब लौं जग को जाल।
जब लौं नभ ससि सूर अरु तारागन की माल॥
जब लौ गंगा जमुन जल, जब लौ भर्यौ नदीस।
जब लौ कवि कविता सुथित, जब लौ भुव अहि सीस॥
जव लौं सुमन सुवास पर मत्त भंवर संचार।
जब लौं कामिनी नयन पर हौंहि रसिक बलिहार॥
जिऔ अचल लहि राज सुख नीरुज बिना विवाद।
उदयअस्त लौ मेदिनी मालहु लहि सुख स्वाद॥[1]

ऐसे ही राजभक्ति का प्रदर्शन 'हार्दिक हर्षादर्श' नामक कविता में 'प्रेमघन' महारानी विक्टोरिया के भारत आगमन के अवसर पर करते हैं:

संकित सत्रु उलूक लुके लखि जासु प्रताप दिनेसहि जानी।
फूली रहै प्रजा कंज मुखी सर देश में न्याय के नीर अघानी॥
कीरति, वय परिवार और राज दराज में है घन प्रेम को सानी।
देख्यौं निहारि विचारि मलै जग तौ सम जाई तुही महारानी॥[2]

बात यह है कि उस समय नई चेतना ब्रिटिश सत्ता तथा अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से देश में आई थी। अतः ये प्रशस्तियाँ एक प्रकार से इस दान का कृतज्ञता-ज्ञापन है। फिर, सत्ता का आतंक, विज्ञान तथा संस्कृति के क्षेत्र में पश्चिम का नेतृत्व, हमारी दीर्घकालीन पराधीनता और ऐसे ही अन्य कारणों ने राज-भक्ति की भावना सब के मन में बद्धमूल कर रखी थी। 'राजा ईश्वर का अंश है'—यह भावना भी भारतीयों के रक्त में संस्कार रूप में अभी तैर रही थी। ऐसी स्थिति में ये प्रशस्तियाँ इस समय भले ही दासता की वाणी समझी जाय, पर उस युग में इस प्रकार की भावना से प्रायः मुक्त थी। अन्यथा भारतेन्दु जैसे 'फक्कड़' जीव अपनी

---

१. **भारतेन्दु ग्रंथावली, भा० २, पृ० ७००।**

२. **"प्रेमघन' सर्वस्व", भा० १, पृ० २६५।**

लेखनी का कभी भी ऐसा दुरुपयोग न करते !

तत्कालीन देश-दुर्दशा के वर्णन में कवियों के, देश-जाति की असहाय दशा के प्रति हार्दिक क्लेश का पता चलता है जिसमें कही भी बनावट की गंध नहीं। देखिए, खिन्नता के ये उद्‌गार कितने हृदय-द्रावक है—

सोई भारत भूमि भई सब भांति दुखारी।
रह्यौ न एकहु वीर सहस्रन कोस झंझारी ॥
होत सिंह कौ नाद जौन भारत बन माँहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाही ॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहै वर।
तहँ अब रोग्रत सिवा चहूँ लखियत खंडहर ॥
धन, विद्या बल मान वीरता कीरति छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई ॥[1]

कवि एक ओर देश के प्राचीन वैभव और गौरव को याद करके फूल फूल उठते है तो दूसरी ओर विपन्न, दीन और असहाय भारतीय जनता का प्रस्तुत जीवन देख कर खिन्न भी हो जाते हैं। पत्थर को भी पिघला देने वाला भू-लुठित भारतीय जनता का यह चित्र कितना गीला और रोम-हर्षक है—

नहिं इनके तन रुधिर, मास नहि, बसन समुज्ज्वल।
नहिं इनकी नारिन तन भूषण हाय आज कल ॥
सूखे वे मुख कमल, केश रूखे जिन केरे।
वेश मलीन, छीन तन, छबि हत जात न हेरे ॥
दुर्बल, रोगी, नंगधिडंगे जिनके शिशु गन।
दीन दृश्य दिखराय हृदय पिघलावत पाहन ॥
नहिं कोउ सिर टेढ़ी पाग लखात सुहाई।
बध्यों फांड नहि काहू को अब परत लखाई ॥
नहिं मिरजई कसी धोती दिखरात कोऊ तत।
नहिं ऐड़ानी चाल गर्व गरुवानी चितवन ॥
नहिं परतले परी असि चलत कोऊ के खटकत।
कमर कटार तमंचे नहि बरछी कर चमकत ॥[2]

आधुनिक युग में ऐसे वर्णनों का अभाव नहीं। किन्तु जो दर्द, जो सचाई और जो मार्मिकता इन वर्णनों में है वह एकदम प्रामाणिक है। इस देश-प्रेम या देश-

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भा० २, पृ० ८०५।

२. 'प्रेमघन सर्वस्व', भाग १, पृ० ५६।

भक्ति के भीतर ही करुणरस की कैसी धारा बह रही है। जिस मानव-प्रेम का हम ऊपर उल्लेख करते आये है, वह भी यही है। यह देश-प्रेम सच्चा है क्योंकि मानवों की व्यथा से लबालब रहा है। गाधी जी के 'अहिंसावाद' को उस समय कौन जानता था। अपनी विपन्नावस्था में भारतवासी साधनहीन से थे अतः ऐंठ और जीवट वाले पुराने वीरों की याद कर करके ही वे जलन पर मरहम मल कर रह जाते थे।

'हार्दिक हर्षादर्श' में 'प्रेमघन' का भारत की तात्कालिक अधोगति का यह चित्र भी कितना क्षोभपूर्ण और मार्मिक है—

> अजहूँ लौ आसृत जग या कौ रह्यौ बराबर।
> काहू की या पैं कृतज्ञता रहीं न तिल भर॥
> सो दुर्दैव प्रभाय हाय! बनि गयौ भिखारी॥
> जग सौ भिच्छा लियौ खौय भरमाला भारी।
> पाय और सौ दान प्रान राख्यो यह अब के।
> खोय मान अभिमान कान करि सनमुख सब के॥
> चहत नसौं भारत रहि कोऊ संग आँख मिलावन।
> ढाढ भारि भू फारि चहत पाताल सिधावन॥
> किधौं चहत हिय चीरि देवि तुम कहँ दिखरावन।
> उर अन्तर की राजभक्ति यह सहज सुभायन॥[1]

कितनी गज़ब की हार्दिकता है, व्यथा में कैसी सचाई है। प्राचीन राजपूती ऐंठ और आनबान की पृष्ठभूमि में देखने पर यह विवशता और करुणा हृदय को गला डालने वाली है। 'ढाढ मारि भू फारि चहत पाताल सिधावन' की सी सचाई पर सैंकड़ों गीत तुल सकते हैं। ऐसी व्यथा "हाय, कहाँ हरि पाऊँ तुम्हें, धरनी में धँसौं कि अकासहि चीरौं" (घनानंद) जैसी पंक्तियों में ही कही मिलती है।

देश-दुर्दशा के ये उद्गार केवल बौद्धिक सहानुभूति या फैशन के रूप में चलते प्रगतिवाद के उद्गार नहीं हैं; इनमें हृदय की सात्विक व गहरी मर्मवेदना उमड़ पड़ी है।

ये मर्मोद्गार अवश्य ही देश की दारुण दशा को मन में बुद्धि से जँचाने पर निसृत हुए है; किन्तु ये हृदय में राग का समुद्र उमड़ाने में भी समर्थ है। अतः यह बौद्धिकता रूखी नहीं है। इसके नीचे करुणा और मानव-सहानुभूति के नाद उमड़ रहे हैं। यहाँ हमें सच्ची जीवन-प्रगति के दर्शन होते हैं। मानव-प्रेम के रस से हरी यह प्रगति वास्तविक प्रगतिवाद (साम्प्रदायिक या लेबल वाला नहीं) की उद्गम है।

---

१. **'प्रेमघन सर्वस्व', भाग १, पृ० २९०।**

पं० प्रतापनारायण मिश्र भी थोड़े से शब्दों में देश-दशा का यथार्थ व मार्मिक चित्र कैसी कुशलता से अंकित कर देते है, देखिए—

तब लखि हो जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्पसेवा सब माहीं।
देशिन को हित कछु तत्व कहुँ कैसहूँ नाहीं॥[1]

'विजयिनीविजय पताका या वैजयंती'[2] में भारतेन्दु ने देश-प्रेम के निरूपण में अनेक संचारी भावों की यत्र-तत्र बहुत ही गंभीर, मार्मिक तथा सशक्त व्यंजना की है जिसमें उनके हृदय की सात्विक व्यथा, क्षोभ, खिन्नता, हर्ष आदि का पूरा पूरा परिचय मिलता है। कुछ उद्‌गार देखिये—

फरकि उठीं सब की भुजा खरकि उठीं तलवार।
क्यों आपुहि ऊँचे भये आर्य मौंछ के बार॥
सहसन बरसन सौं सुन्यौ जौ सपनेहु नहि कान।
सो जय भारत शब्द क्यों पर्‌यौ आजु जहान॥
तड़ित तार के द्वार मिल्यौ सुभ समाचार यह।
भारत सेना कियो घोर संग्राम मिश्र महँ॥
आरजगन को नाम आजु सब ही रखि लीनो।
पुनि भारत को सीस जगत महँ उन्नत कीनो॥

भारत के समस्त प्राचीन वीरों (पांचों पांडव, पुरु, रघु, अज, परशुराम, रावण, सुग्रीव, हनुमान, पृथ्वीराज, हम्मीर, रणजीतसिंह, आदि) को कवि आज यह बताने के लिए कि उनकी संतान अयोग्य व कुलघातिनी नहीं है, यह सन्देश उन्हें किसी के द्वारा पहुंचाकर कैसे सात्विक संतोष व दर्प का अनुभव करता है—

कहहु लखहिं सब आइ निज संतति को उत्साह।
सजे साज रन को खरे मरन हेत करि चाह॥
मेटहु जिय के सल्य सब सफल करहु निज नैन।
लखहु न अरबी सो लरन ठाढी आरज सैन॥

इतने ही में कवि के हृदय में भारत की वर्तमान दशा को देखकर विषाद की एक गहरी रेखा खिंच जाती है और प्रस्तुत विजय को एक मधुर भुलावा-सा समझ

---

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी कृत 'हिंदी काव्य-धारा में प्रेम प्रवाह' के के पृ० १६६ से उद्‌धृत।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ७६६ से ८०६।

कर खिन्न हो दीनता के भाव प्रकट कर उठता है—

क्यों बहरावत झूठ मोहि और बढावत सोग।
अब भारत पै नाहिं वे रहे वीर जे लोग॥
जो भारत जग मे रह्यो सब सों उत्तम देस।
ताही भारत में रह्यौ अब नहि सुख को लेस॥

किंतु तत्क्षण भारत के उज्ज्वल अतीत गौरव की दामिनी कवि की पथराई आँखों के आगे पूरी तेजी से कौंध जाती है और निराशा का सघनान्धकार फट जाता है—

या ही भुव में होत है हीरक, आम, कपास।
तनहीं हिम गिरि, गगजल, काव्य गीत परकास॥
या ही भारत देश मे रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारत गान सौ भारत बदन प्रकास॥
जासु काव्य सों जगत मधि ऊंचौ भारत सीस।
जासु राज बल धर्म की तृषा करहि अवनीस॥
सोई व्यास अरु राम के बंस सबै संतान।
अब लौं ये भारत भरे नहिं गुन रूप समान॥
कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन, कोटि कोटि नृप सूर।
कोटि कोटि वुध, मधुर, कवि मिले यहां की धूर॥

'प्रेमघन' भी अतीत-गौरव का इसी स्वर में गान करते है—

जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी॥
जो श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी।
धर्म सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी॥
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सो सवहि सुझानी।
भये असख्य जहां तापस ऋषिवर मुनि ज्ञानी॥[1]

पर, हाय, अतीत का यह सम्मोहक स्वर्ण-चित्र भी कवि की आँखों से शरद काल के झीने धवल घन-खंड की तरह देखते ही देखते अन्तर्धान हो जाता है और एक बार वह फिर वर्तमान की कंटीली व कंकरीली भूमि पर धड़ाम से आ पड़ता है—

हाय वहै भारत भुव भारी। सब ही विधि तें भई दुखारी॥
रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो। सब बिधि भारत दुखित बतायो॥
अति निरबली स्याम जापाना। हाय न भारत तिनहुँ समाना॥

---

१. कविता कौमुदी, दूसरा भाग, पृ० ४९।

पर, इस रोने-धोने का अन्त कोरी निराशा में नहीं है। इस क्षोभ, व्यथा व दैन्य की रात्रि का मुख नवनिश्चय व शिव संकल्प के प्रभात की ओर है। कविजन भारत के समूलोद्धार के लिए कटिबद्ध है। अपने प्यारे देश को उन्नत, गौरवशाली व सुख-समृद्धि से पूर्ण देखना उनका एक मात्र लक्ष्य है। वे समस्त सामाजिक कुरीतियों को जड़ से उखाड़ कर फैंकने के लिए प्रयत्नशील हैं और सर्वत्र आनंद-कला का प्रसार देखने के लिए उत्कंठित। भारत की उन्नति की कैसी रोमांचकारी व सात्विक कामना है, देखिए—

सब देसन की कला सिमिटि कै इत ही आवै।
कर राजा नहिं लेइ प्रजन पैं हेत बढ़ावै॥
गाय दूध बहु देहि तिनहि कोऊ न नसावै।
द्विज गन आस्तिक होइ मेघ सुभ जल बरसावै॥
तजि छुद्र वासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्णराधिका नाथ जय हम हूँ जिय आनंद भरहिं॥[1]

पर यह सब कुछ तो तब हो न, जब भारत की जनता जाग पड़े। अभी सब सोये पड़े हैं। परम्पराभुक्त और अज्ञान-ग्रस्त, लकीर के फकीर भारतीयों के प्रति इस फटकार में कितना माधुर्य है और इसके मूल में कितना गहरा देश-प्रेम—

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात, पीअत गंगा जल॥
धन बिदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकिल-हत रचि न सकल कल॥
जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिनु कछु नहि कर सकत।
जागो जागो अब सांवरे सब कोऊ रुख तुमरो तकत॥[2]

यह है सच्चा देश-प्रेम और यह है प्रगतिशील दृष्टिकोण! फटकार, मंगलाशा, महत्त्वाकांक्षा, गुण-ग्राहकता, उद्बोधन, प्रार्थना—देश-प्रेम की घनी वट-छाँह में सब की मानो सभा जुड़ी है।

देश स्वर्ग हो तो सकता है, पर है संगठन की आवश्यकता। यह संगठन तभी पूर्ण हो जब सब भारतीयों की भाषा एक हो। देश की संर्वागीण उन्नति के साधनों में भाषा का स्थान सर्वोपरि है। भाषा से ऐक्य-भावना व संगठन बढ़ेगा। और तभी सच्ची उन्नति होगी। अपनी भाषा से प्रेम हुए बिना देश-प्रेम कैसा! भारतेन्दु का

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ६८५।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ६८४।

भाषा-प्रेम उनकी व्यापक देश-प्रेम की भावना के ही अन्तर्भूत है—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥
करहु विलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सबको मूल॥[1]
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन॥
निज भाषा उन्नति बिना कबहुँ न ह्वै है सोय।
लाख अनेक उपाय यों भले करो किन कोय॥

'हिन्दी की उन्नति' नामक पद्यात्मक भाषण मे भारतेन्दु ने अपना हिन्दी भाषा-सम्बन्धी जो प्रेम दर्शाया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस समय भाषा का प्रश्न प्रान्तीय अथवा साम्प्रदायिक नही था जैसा कि दुर्भाग्य से आगे चल कर हो गया। हिन्दी भाषा, भारतेन्दु की दृष्टि में, भारत को एक सूत्र मे संगठित करने के लिए आवश्यक जान पड़ी, इसलिए यह सारा भाषण शुद्ध देश-प्रेम की पवित्र भावना से गूँज रहा है।

और अन्त में मंद—गम्भीर स्वर में कवि हित की बात कहता है। कोई माने तो कैसी अच्छी सीख है—

परदेसी बुद्धि अरु, वस्तुन की करि आस।
परबस ह्वै कब लौं कहौ रहि हौ तुम ह्वै दास॥

अत:, लहहु आर्य भ्राता सबै विद्या बल बुधि ज्ञान।
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन खान॥[2]

देश-प्रेम की सूक्ष्म भावना का आधार देश के बाह्य रूप—समुद्र, पर्वत, नदियां, जंगल, खेत आदि हैं। बाहरी सौंदर्य को देख कर देश के प्रति प्रेम-भाव व्यक्त करने की चाल भारतेन्दुकाल मे कुछ नई-नई ही थी। वस्तुतः यह प्रवृत्ति कुछ समय बाद द्विवेदीकाल में ही अधिक स्पष्टता से लक्षित हुई। फिर भी मातृ-भूमि की रूप-छटा व्यक्त करने के लिए कवियों की जीभ तुतलाने लग गयी थी। श्री राधा चरण गोस्वामी ने देश के रूप को देख कर यह शुभकामना प्रकट की—

हमारो उत्तम भारत देश।
जाके तीन ओर सागर है उत हिमगिरि अति वेष॥

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, 'हिन्दी की उन्नति'।
[२.] भा[र]तेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७३८।

पर, इस रोने-धोने का अन्त कोरी निराशा में नहीं है। इस क्षोभ, व्यथा व दैन्य की रात्रि का मुख नवनिश्चय व शिव संकल्प के प्रभात की ओर है। कविजन भारत के समूलोद्धार के लिए कटिबद्ध है। अपने प्यारे देश को उन्नत, गौरवशाली व सुख-समृद्धि से पूर्ण देखना उनका एक मात्र लक्ष्य है। वे समस्त सामाजिक कुरीतियों को जड़ से उखाड़ कर फैंकने के लिए प्रयत्नशील हैं और सर्वत्र आनद-कला का प्रसार देखने के लिए उत्कंठित। भारत की उन्नति की कैसी रोमांचकारी व सात्विक कामना है, देखिए—

सब देसन की कला सिमिटि कै इत ही आवै।
कर राजा नहिं लेइ प्रजन पैं हेत बढ़ावै ।।
गाय दूध बहु देहि तिनहि कोऊ न नसावै।
द्विज गन आस्तिक होइ मेघ सुभ जल बरसावै ।।
तजि छुद्र वासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्णराधिका नाथ जय हम हूँ जिय आनंद भरहिं ।।[1]

पर यह सब कुछ तो तब हो न, जब भारत की जनता जाग पड़े। अभी सब सोये पड़े है। परम्पराभुक्त और अज्ञान-ग्रस्त, लकीर के फकीर भारतीयों के प्रति इस फटकार मे कितना माधुर्य है और इसके मूल मे कितना गहरा देश-प्रेम—

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात, पीअत गंगा जल ।।
धन बिदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकिल-हत रचि न सकल कल ।।
जीवत विदेस की वस्तु लै ता बिनु कछु नहि कर सकत।
जागो जागो अब सांवरे सब कोऊ रुख तुमरो तकत ।।[2]

यह है सच्चा देश-प्रेम और यह है प्रगतिशील दृष्टिकोण ! फटकार, मंगलाशा, महत्त्वाकांक्षा, गुण-ग्राहकता, उद्बोधन, प्रार्थना—देश-प्रेम की घनी वट-छाँह में सब की मानो सभा जुड़ी है।

देश स्वर्ग हो तो सकता है, पर है संगठन की आवश्यकता। यह संगठन तभी पूर्ण हो जब सब भारतीयों की भाषा एक हो। देश की सर्वांगीण उन्नति के साधनों में भाषा का स्थान सर्वोपरि है। भाषा से ऐक्य-भावना व संगठन बढ़ेगा। और तभी सच्ची उन्नति होगी। अपनी भाषा से प्रेम हुए बिना देश-प्रेम कैसा ! भारतेन्दु का

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ६८५।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ६८४।

भाषा-प्रेम उनकी व्यापक देश-प्रेम की भावना के ही अन्तर्भूत है—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥
करहु विलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सबको मूल॥[1]
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन॥
निज भाषा उन्नति बिना कबहुँ न ह्वै है सोय।
लाख अनेक उपाय यों भले करो किन कोय॥

'हिन्दी की उन्नति' नामक पद्यात्मक भाषण मे भारतेन्दु ने अपना हिन्दी भाषा-सम्बन्धी जो प्रेम दर्शाया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस समय भाषा का प्रश्न प्रान्तीय अथवा साम्प्रदायिक नहीं था जैसा कि दुर्भाग्य से आगे चल कर हो गया। हिन्दी भाषा, भारतेन्दु की दृष्टि में, भारत को एक सूत्र में संगठित करने के लिए आवश्यक जान पड़ी, इसलिए यह सारा भाषण शुद्ध देश-प्रेम की पवित्र भावना से गूँज रहा है।

और अन्त में मंद–गम्भीर स्वर में कवि हित की बात कहता है। कोई माने तो कैसी अच्छी सीख है—

परदेसी बुद्धि अरु, वस्तुन की करि आस।
परबस ह्वै कब लौं कहौ रहि हौ तुम ह्वै दास॥
अतः, लहहु आर्य भ्राता सबै विद्या बल बुधि ज्ञान।
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन खान॥[2]

देश-प्रेम की सूक्ष्म भावना का आधार देश के बाह्य रूप—समुद्र, पर्वत, नदियां, जंगल, खेत आदि हैं। बाहरी सौंदर्य को देख कर देश के प्रति प्रेम-भाव व्यक्त करने की चाल भारतेन्दुकाल मे कुछ नई-नई ही थी। वस्तुतः यह प्रवृत्ति कुछ समय बाद द्विवेदीकाल में ही अधिक स्पष्टता से लक्षित हुई। फिर भी मातृ-भूमि की रूप-छटा व्यक्त करने के लिए कवियों की जीभ तुतलाने लग गयी थी। श्री राधा चरण गोस्वामी ने देश के रूप को देख कर यह शुभकामना प्रकट की—

हमारो उत्तम भारत देश।
जाके तीन ओर सागर है उत हिमगिरि अति वेष॥

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, 'हिन्दी की उन्नति'।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७३८।

श्री गगा जमुनादि नदी है विध्यादिक, परवेश ।
राधाचरण नित्य प्रति बाढो जब लो रवि राकेश ।।[1]

इसी प्रकार अनेक स्थलो पर कवियों ने देश-प्रेम के अनेक रंगतों के मर्मोद्गार व्यक्त किये है । आज जबकि देशभक्ति का स्वर साहित्य का चिर-परिचित स्वर हो गया है, हम नई धूप में फूटे इन तरुण स्वरो का महत्त्व भले ही ठीक-ठीक न आँक पायें, किंतु अन्धकार और प्रकाश की टक्कर के उस युग की परिस्थितियों को समझने का हार्दिक प्रयत्न करें तो उसे भली-भाँति समझ सकेंगे । देश-भक्ति का यह आदि स्वर कितना गम्भीर, मार्मिक, प्राणवान् और अनमोल है । देश-प्रेम की इस कविता में ही भारतेन्दुकाल की आत्मा अमर है ।

देश-भक्ति की इस भावना के साथ कवियों का प्रगतिशील दृष्टिकोण भी विचारणीय है । वास्तव में वही इस भावना को पुष्ट व दृढ़ कर रहा था । 'हिन्दी की उन्नति' नामक भारतेन्दु के भाषण में यह प्रगतिशील दृष्टिकोण भली-भाँति प्रकट हुआ है । कवि दकियानूसी और कट्टरपंथी नहीं है । उसका दृष्टिकोण विकासोन्मुख है । वह स्त्री-शिक्षा की प्रेरणा देता है । अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य का अध्ययन करने को प्रोत्साहित करता है । वह देश-प्रेम के वशीभूत हो अपने देश-वासियों की भर्त्सना करता है कि हम यह भी नही जानते कि तार से खबर कैसे आती है, रेल कैसे चलती है, यन्त्र या मशीनें कैसे चलती है, तोपे कैसे दागी जाती है, वस्त्र और कागज कैसे बनते हैं, बाँध कैसे बँधते है, कवायद कैसे करते है, और फोटो किस प्रकार खिंचता है । हमारे वस्त्र, काँच, कागज, कलम, चित्र सब कुछ विदेश से जहाज में लद कर आ रहे है । वे विदेशी यहाँ से रूई, सींग, चमड़ा आदि ले जाते है और वहाँ से चीजे बना बनाकर भेजते हैं । हमें चाहिए कि हम अंग्रेजी पढे और जहाज द्वारा विदेश की यात्रा करें । प्रकृति-प्रेम का विवेचन आगे प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में किया जायगा क्योंकि इस युग में प्रकृति के सम्बन्ध में इतनी विस्तृत रचना नहीं हुई कि प्रकृति-प्रेम और प्रकृति-सौंदर्य का निरूपण पृथक्-पृथक् किया जाय ।

इसके अतिरिक्त वात्सल्य, गृहस्थ-प्रेम, वस्तु-प्रेम आदि का विवेचन विचारणीय परिमाण में उपलब्ध नहीं होता । यत्र-तत्र इनकी झलकें देखने को मिल सकती है । कवि कहता है कि यह सब अंग्रेजी भाषा तथा विज्ञान से ही सम्भव है । यदि हमें संसार में उन्नत बनना है तो यह सब कुछ सीखना पड़ेगा । इसके लिए सगठित होकर पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है । और यह संगठन विचार, वेश-भूषा, भाषा आदि की एकता से ही सम्भव है ।

---

१. डा० केसरीनारायण शुक्ल कृत 'आधुनिक काव्यधारा' के पृ० ६७ से उद्धृत ।

भारतेन्दु-काल की सौदर्य-भावना पर विचार—(१) मानवीय सौंदर्य, तथा (२) प्राकृतिक सौदर्य—इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत हो सकता है। पहले मानवीय सौंदर्य को लें—

(क) मानवीय सौंदर्य

भारतेन्दु-काल में स्त्री-सौदर्य-वर्णन के चित्र तो अधिकांश में वे ही पुराने शृङ्गारोपयोगी साँचे में ढले हुए है। उनमें कोई विशिष्ट प्रवृत्ति लक्षित नही होती। दो चार उदाहरण लीजिए—

१. ठाढ़े हरि तरनि तनैया तीर।
संग श्री कीरति कुमारी पहिनि झीने चीर ॥
उरनि फूलन माल जा पै भँवर गन की भीर ॥
हाथ कमल लिए फिरावत राधिका बलबीर ॥
साँझ समय सुहावनो तहँ बहत त्रिबिध समीर ॥[1]

२. राधिका पौढी ऊंची अटारी।
पूरन चन्द उग्यो नभ मंडल फैली बदन उजारी ॥
दोऊ जोति मिलि एक भई है भूमि गगन लौ भारी।
सो छबि देखि सखा तृन तोरत हरिचंद बलिहारी ॥[2]

३. चलो सखी मिल देखन जैये दुलहिन राधा गोरी जू।
कोटि रमा मुख छबि पै वारौ मेरी नवल किसोरी जू ॥
घंघरी लाल जरकसी सारी सोंधे भीनी चोली जू।
मरवट मुख मैं सिर पै मौरी दुलहिया भोली जू ॥
कनबेसर कनफूल बन्यौ है छबि का पै कहि आवै जू।
अनवट बिछिया मुंदरी पहुँची दूलह के मन भावै जू ॥[3]

हिन्दी-काव्य के पाठक के लिए इन सौदर्य-चित्रों में कोई नवीनता नहीं है।

प्रेमघन जी की सौदर्य-दृष्टि भी पुरानी है। वही उपमा-उत्प्रेक्षा, वही चमत्कार-प्रवृत्ति, और वही नख-शिख, मुख, अधर, नेत्र, कुच, केश आदि का पुराने ढंग का आलंकारिक सौदर्य-वर्णन ! हाँ, कहीं-कहीं उत्प्रेक्षा आदि का सौंदर्य अच्छा बन पड़ता है। जैसे—

मुख मंडल पै कल कुन्तल को, कहि रेसम के सम दूसत हैं।
अलि चौर सिवार औ राहु वृथा, यमपास मिसाल मसूसत है ॥

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ५६।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ६६।
३. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ७२।

कवि भूले सबै घन प्रेम सुनो, सुधा सम्पति को मिलि मूसत हैं।
जनु सारद पूनव के निसि में, जुरि व्याल सबै ससि चूसत हैं॥[1]

शृङ्गार-रसमयी रचना 'हिंडौला' मे कविवर 'रत्नाकर' ने सौदर्य के जो चित्र अकित किए है वे भी रीतिकालीन साँचे से ही निकले है। हाँ, अलबत रगों की ओर कवि का अच्छा ध्यान है; पर रंग वे ही—पीत, नील, सेत, लाल आदि। इन रंगों से आगे बढ़ कर अन्य प्रकार के रगो व उनके सूक्ष्म मिश्रणो की ओर इन की कोई दृष्टि नहीं जाती।

यह तो हुआ परम्परागत सौदर्य-वर्णन। पर, इस युग मे सौदर्य-दृष्टि इससे कुछ आगे भी बढ़ी। एक देश-भक्त वीर मे भी अब भारतेन्दु ने सौदर्य देखा। स्त्री-सौदर्य से आगे बढ़कर इस सौदर्य को देखना सौदर्य-दृष्टि के विचार का सूचक है। कवि कितनी तन्मयता से अपना चित्र अंकित करता है—

सुनत बीर इक वृद्ध नरन के सम्मुख आयो।
श्वेतसिंह जिमि गुहा छाँडि बाहर दरसायो॥
सुभ्र मोछ फहरात सुजस की मनहुँ पताका।
सेत केस सिर लसत मनहुँ थिर भई बलाका॥
अरुन वदन ढिग सेत केश सुन्दर दरसायो।
वीर रसा है मनु घेरि रह्यौ रस सांत सुहायो॥
रवि ससि मिलि इक ठौर उदित सी काति पसारे।
पीन हृदय आजानु बाहु स्वेताम्बर धारे।
कटि पै माथा कंध धनुष कर में करवाला।
परी पीठ पे ढाल गुलाबी नैन बिसाला॥
सिंह ठवनि निरमय चितवनी चितवत समुहाई।
तनदुति फैली छूटि परत धरनी पर आई॥[2]

इस ढंग का पुरुष-सौंदर्य का रुचिपूर्वक वर्णन करना सौंदर्य-वर्णन के क्षेत्र में युग की नई विशेषता है। इस प्रवृत्ति का विकास आगे चलकर हमें द्विवेदी-काल में मिलता है जब कवियो ने अपने प्रबन्ध काव्यों के नायकों के सौदर्य-वर्णन में और भी बढ़-चढ़ कर अपनी कुशलता दिखाई।

(ख) प्राकृतिक सौंदर्य

कवियों की सौदर्य-दृष्टि जब मानव-जगत् के घेरे को पार कर प्रकृति जगत् की ओर भी बढ़ चली थी। प्रकृति के प्रति दृष्टि तो रीतिकाल में भी थी, पर उस

१. प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, 'सौंदर्य वर्णन' पृ० २१०–२११।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, पृ० ८०२।

समय वह नायक-नायिकाओं के सुख-दुःख में ही रंजित दिखलाई जाती थी; नायक-नायिका के मिलन मे आनन्दोल्लासपूर्ण तथा विरह में खिन्न और शोकाकुल। भारतेन्दु-काल के कवियों में प्रकृति-प्रेम की सामान्य प्रवृत्ति नही थी। द्विवेदी-काल के उत्तरार्द्ध तथा छायावाद काल में वह पर्याप्त रूप मे दिखाई पडी। आलोच्य-युग में इस नवीन परिवर्तन का सूत्र-पात अवश्य हो गया था। तथ्य तो यह है कि सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलनों की सरगर्मी में कवियों को इतना अवकाश ही नही था कि वे मानव-जगत् से कुछ छुट्टी पाकर शांत व एकांत क्षणों में प्रकृति के नाना रूपों को सूक्ष्मता व तल्लीनता के साथ पाते। जो हो, इस क्षेत्र में भी भारतेन्दु, प्रेमघन, रत्नाकर आदि कवि ही अग्रगण्य हैं। उनकी कुछ कविताएँ मानवीय-सौंदर्य से आगे उनके स्वतन्त्र प्रकृति-प्रेम का न्यूनाधिक परिचय देती है। इस दृष्टि से 'भारतेन्दु' की 'यमुना-वर्णन' तथा 'गंगा-वर्णन' नामक कविताए ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। उदाहरणार्थ—

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमदिनी लगि रही पाँतिन॥
तिन पै जेहि छिन चन्द जाति राका निसि आवति।
जल में मिलि कै नभ अवनी लौ तान तनावति॥
होत मुकुर मय सबै तबै उज्ज्वल इस ओभा।
तन मन नैन जुड़ावत देखि सुन्दर सो सोभा॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै ता छन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छवि इसकी नभ तीर की॥
परत चन्द प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहार लहि नचत कबहुं सोई मन भायो॥[1]

इसी प्रकार 'गंगा-वर्णन' की ये पंक्तियाँ देखिये—

नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरित बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जनु जन गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥[2]

---

१. भारतेन्दु, 'चन्द्रावली नाटिका', चौथा अंक।

२. भारतेन्दु ग्रंथावली (गंगा वर्णन)।

उपरोक्त वर्णनों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये वर्णन सर्वथा मानव-निरपेक्ष है और प्रकृति के प्रति कवि के स्वतन्त्र रति-भाव की सूचना देने वाले हैं। यद्यपि इनमे अभी, रीतिकालीन संस्कारों के प्राबल्य से, अलंकारों की ही प्रधानता है किंतु सूक्ष्म ब्यौरों पर भी कवि की दृष्टि जाने लगी है।

कवि ने प्रात समीरन का भी कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

आप देत थपकी गुलाव चुटकार, बालक खिलावै देखें प्रात की बयार।
जगावत जीव जग करत चैतन्य, प्रान तत्व सम प्रात आवे धन्य धन्य।
गुटकत पक्षी धुनि उड़े सुख होत, प्रात पौन आवै बन्यौ सुन्दर कपोत।
नव मुकुलित पद्‌म पराग के बोझ, भार वाही पौन चलि सकत न सोझ।
छुअत सीतल सबै होत गात आत, स्नेही के परस सम पवन प्रभात॥[1]

'स्नेही के परस सम पवन प्रभात' में उपमा की नवीनता और मौलिकता ध्यान देने योग्य है।

'बकरी-विलाप' नामक कविता में कवि ने अपनी भूतमात्रव्यापिनी सहानुभूति का अच्छा परिचय दिया है। चेतना की उच्च श्रेणी के जीव मनुष्य से आगे बढकर बकरी आदि के प्रति यह प्रेम-भावना महत्वपूर्ण है। अंग्रेजी-काव्य के स्वाभाविक-स्वच्छंदतावाद (Romanticism) के आरम्भ में काउपर (Cowper) और ब्लैक (William Blake) ने पशु-पक्षियों के प्रेम का चित्रण आरंभ करके इसी व्यापक व गंभीर सहानुभूति का परिचय दिया था और काव्य-क्षेत्र में एक नवीन प्रवृत्ति का प्रवर्त्तन किया था।[2] भारतेन्दु की 'बकरी विलाप' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

मुख गद्‌गद्‌ तन स्वेद कन कंठहु रूंध्यौ जात।
उलट्यौ परत करेजवा जिय अतिही अकुलात॥
मानुष जन सों कठिन कोउ जन्तु नाहि जग बीच।
बिकल छोड़ि मोहि पुत्र ले हनत हाय सब नीच॥[3]

प्राचीन संस्कृत-कवियों तथा अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के प्रकृति-वर्णन के अनुशीलन से हमने जो एक परिष्कृत सौंदर्य-दृष्टि बना ली है उससे भले ही ये पंक्तियाँ उतनी रमणीय न जान पड़ें, पर यदि हम इस बात पर विचार करें कि कैसी विषम परिस्थितयों में इन कवियों ने प्रकृति-निरीक्षण की आरम्भिक ललक दिखाई थी तो इनके वर्णन की तुतलाहट भी रीझने की वस्तु होगी। माना कि इस

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भा० २, 'प्रात समीरन' पृ० ६८७।

२. S. A. Brooke & George Sampson; 'English Literature, p. 149.

३. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, 'बकरी विलाप', पृ ६९१।

में वह सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण नहीं, वे अलौकिक रहस्य-स्पर्श नहीं, वह आश्चर्य-मिश्रित आनन्द की भावना व अज्ञात के प्रति रसात्मक जिज्ञासा व लपक-झपक नहीं, फिर भी इन पंक्तियों में निहित भावना तथा कल्पना सर्वथा नवीन दिशा की ओर उड़ने के लिए पाँखें फड़फड़ा रही हैं।

'प्रेमघन' ने 'जीर्ण जनपद अथवा दुर्दशा दत्तापुर' नामक कविता में तो प्रकृति-प्रेम का बहुत ही सुन्दर परिचय दिया है। इसमें कवि की रागात्मकता अधिक तीव्रता व स्पष्टता के साथ प्रकट हुई है। एक रमणीय चित्र देखिए—

रम्यस्थल बहु मुक्त लदे फल फूलन सों वन।
ताल नदी नारे जित सोहत, अति मोहत मन॥
शैल अनेक शृंग कन्दरा दरी खोहन मय।
सजित सुडौल परे पाहन चट्टान समुच्चय॥
बहत नदी हहरात जहाँ, नारे कलरव करि।
निदरत जिनहि नीर झर शीतल स्वच्छ नीर झरि॥
सघन लता द्रुम सों अधित्यका जिनकी सोहत।
किलकारत बानर लंगूर जित, नित मन मोहत॥
हरी भरी घासन सों अधित्यका छबि छाई।
बहु गुणदायक औषधीन संकुल उपजाई॥[1]

चित्रकार के तूलिका-कौशल को प्रकट करने वाला 'प्रेमघन' का एक रमणीय चित्र देखिए—

कंटवासी बसवारिन को रकबा जहँ मरकत।
बीच बीच कंटकित वृक्ष जाके बढ़ि लरकत॥
छाई जिन पैं कुटिल कटीली बेलि अनेकन।
गोलहु गोली भेदि न जाहि जाहि बाहर सन॥
जाके बाहर अति चौड़ी गहिरी लहराती।
खदक तीन ओर निर्मल जल भरी सुहाती॥[2]

ताल, नदी-नालों तक का प्रेम तो प्रायः सभी में थोड़ा-बहुत रहता है। पर उससे आगे बढ़कर शैल, शृंग, कन्दरा, खंदक, कँटीले वृक्ष, कुटिल कँटीली लता, दरी, खोह, पत्थर, चट्टान, अधित्यका, बानर, लंगूर, औषधि आदि के प्रति प्रेम कवि की वास्तविक 'रोमांटिक' प्रकृति का सूचक है। भारतेन्दु में भी ऐसा प्रकृति प्रेम नहीं पाया जाता। वे मुख्यतः मानव और मानव-जगत् के ही कवि थे, मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के नहीं। हिन्दी-काव्य में ऐसा प्रेम सबसे पहले 'प्रेमघन' में ही दिखाई पड़ रहा

१. प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृ० २। २. वही, पृ० ६।

है। इस युग में ठाकुर जगमोहन सिंह भी प्रकृति के एक ऐसे ही कवि और है।[१]
प्रकृति के प्रति इन दोनों की जैसी दृष्टि थी वह आगे हिन्दीकाल में पं० श्रीधर पाठक,
पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा 'हरिऔध' आदि कवियों में ही दिखाई पड़ी।

कवि साधारण से साधारण वस्तुओं को भी पूरे ब्यौरों के साथ पाठक की कल्पना में प्रस्तुत किये विना सन्तुप्ट नही होता। यथा—

जामैं राजत कुटी एक फूसहि सों छाई।
आलङ्-वाल विहीन तऊ अतिसय सुखदाई ।।
जामैं चौकी एक खाटहू इक साधारन।
बिछि रहति इक ओर सहित सामान्य अस्तरन ।।
कम्मल गुनरी और चटाई हू द्वै इक जित।
रहति जहाँ आगन्तुक जन के बैठन के हित ।।
द्वै ही इक जल-पात्र और सामान्य उपकरन।
प्रस्तुत वा मै रहत सहित द्वै इक सेवक जन ।।[२]

समय के निष्ठुर परिवर्तन कितनी मार्मिकता से अनुभव करता है—

अब नहिं वरपागमन में वैसी आँधी आवें।
नहिं घन अठवारन लौ वैसी झरी लगावैं ।।
नहिं वैसो जाड़ा वसन्त नहि ग्रीपम हूँ तस।
आवत मनहि लुभावत हरखावत आगे कस ।।
नहिं वैसे लखि परत शस्य लहरत खेतन में।
नहि वन में वह शोभा, नहिं विनोद जन जन में ।।

ऊपर के चित्रों में मानव और प्रकृति के बीच सुन्दर सामंजस्य लक्षित हुआ है। अभाव और दरिद्रता के चित्रण में कवि की गहरी मानवीय सहानुभूति के दर्शन होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब वास्तविक और गम्भीर देश-प्रेम की ही उपज है।

रत्नाकर रस-सिद्ध कवि हैं, पर हैं वे पूर्णतया पुरानी परिपाटी के ही। प्रकृति का उन्होंने मुख्यतः उद्दीपन-गत प्रयोग ही किया है। कई स्थलों पर उनकी प्रकृति-दृष्टि का भी अच्छा परिचय मिलता है। देखिए—

दूबनि पै झलमलत बिमल जल सुहाए,
मनु बन पै घन वारि मंजु मुकुता बगराए।
चंपा गुंज लवंग मालती लता सुहाई।
कुसुम कलित अति ललित तमालनि सौं लपटाई।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ७१६।
२. प्रेमधन सर्वस्व, 'दुर्दशा दत्तापुर'।

साजे हरित दुकूल फूल छाजे बनिता वहु,
निज निज नाहैं अंक सिसंक रही भरि मानहुं ।।[1]

प्रकृति के कठोर रूपों का भी इन्होंने अपेक्षाकृत अधिक रसात्मकता व तल्लीनता से वर्णन किया है। 'गंगावतरण' नामक प्रसिद्ध कविता में कवि ने आकाश से उतरती विशाल गंगा की प्राकृतिक शोभा के वर्णन में जो तल्लीनता व सूक्ष्मदर्शिता दिखाई हैं, वह पूर्ण प्रशंसनीय है। अन्ततः असीम आकाश से उतरती गंगा की विशाल व भीम जलराशि का यह रोमांचकारी भव्य दृश्य देखिए—

निज दरेर सौं पौन पटल फारिति, फहरावति,
सुर पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति ।
चली धार धुधकार धरा दिसि काटति कावा,
सगर सुरनि के पाप ताप पर बोलति धावा ।।
रुचिर रजतमय कै वितान तान्यौ अति विस्तर,
झिरति बूँद सों झिलमिलाति मोतिन की झालर ।
ताके नीचैं राग रंग के ढंग जमाए,
सुर बनितन के बृन्द करत आनन्द बधाए ।।
कबहुँ वायु बल फूटि छूटि बहु बपु धरि धावै,
चहुँ दिसि तैं पुनि डटति, सटति सिमटति चलि आवै ।
मिलि मिलि द्वै द्वै चार चार सब धार सुहाई,
फिर एकै ह्वै चलति कलित बल बेग बढाई ।।[2]

'रत्नाकर' जी के इन वर्णनों में निरीक्षण की सूक्ष्मता, अतिप्राकृतिक (Supernatural) तत्त्वों का समावेश, भव्य (Sublime) सौंदर्य के प्रति आकर्षण और कल्पना का उत्कर्ष ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार इस काल में प्रकृति यद्यपि उद्दीपन के रूप में ही प्रयुक्त हुई थी, तथापि वह कवियों के स्वतन्त्र रति-भाव का आलंबन भी हो चली। कवियों ने असाधारण ही नही प्रकृति के चिरपरिचित, सामान्य, रूखे या बेडौल रूपों पर भी दृष्टि डाली। वर्तमान युग में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में जो अनगढ, रूखे और भदेस के प्रति प्रेम है उसका मूल हमें यहाँ देखने को मिल सकता है। कवियों ने इस काल में यथातथ्य-वर्णन अथवा दृश्य-चित्रण की रुचि तो प्रदर्शित की ही पर, प्रकृति के कोमल व कठोर दोनों ही रूपों को देखने की भी सहृदयता दिखाई। अपनी ही आँखों से वस्तु-व्यापारों के सूक्ष्म व्यौरों पर ध्यान देकर उन्होंने चित्रण किया, केवल परम्परा-प्राप्त ऋतु-ज्ञान के आधार पर ही नहीं।

---

१. 'रत्नाकर' (बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित) से उद्धृत।
२. 'रत्नाकर' (गंगावतरण)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकालीन कविता में कवियों का 'रतिभाव' जहाँ तक सीमित था, भारतेन्दुकाल में वह वहाँ से और आगे बढ़कर मुख्यतः देश-प्रेम व प्रकृति-प्रेम की दिशाओं में विस्तृत हुआ।

४. युग की देन व काव्य-शैली

उपरोक्त विवेचन से हम पाते हैं कि भारतेन्दु-काल में देश-प्रेम अथवा राष्ट्र-भक्ति का स्वर ही सबसे मुख्य स्वर था और वह पर्याप्त प्रौढ़, स्पष्ट तथा सशक्त था। यद्यपि मानव के प्रति सहज प्रेम तथा व्यापक सहानुभूति ही काव्य की प्रकृत प्रेरणा है, अतएव इसका सात्विक माधुर्य तथा सरलता मनोहारिणी है तथापि यह भी स्पष्ट है कि यह काव्य कला-चारुता का उतना उच्च स्तर प्रस्तुत नहीं करता जितना बौद्धिक जागरण जन्य युग-चेतना को आत्मसात् तथा सहज रूप में प्रकाशित करने का। युग की गद्यमयी विचारात्मकता इस काव्य के माध्यम से व्यक्त हुई। अवश्य अभी विचारात्मकता शांत क्षणों के चिन्तन से मंथित होकर रसात्मक नहीं हो पाई है। अभिव्यक्ति में खरापन, सीधापन या पैनापन है, जो गहरी अपील की दृष्टि से अपनी विशेष शक्ति रखता है। युग की प्रणय-भावना तथा भक्ति-भावना भक्ति-काल के पदों तथा रीतिकाल के सवैया तथा छन्दों में व्यक्त हुई है किन्तु राष्ट्र-भावना ने अनेक नवीन छन्दों की नई नई पगडंडियाँ खोज ली हैं। देश-प्रेम की अभिव्यक्ति में सत्य-हृदयता (Sincerity) आश्चर्यजनक रूप में विद्यमान है पर, अभी उसमें काव्य-लालित्य के आवश्यक उपकरणों का अभाव है। कवि अभी अपने हृदयोच्छ्वास को व्यक्त-भर करके ही सन्तोष का अनुभव कर लेना चाहता है। उसके पास अभी मसृण तूलिका का सूक्ष्म कौशल नहीं जिससे कि वह अपने पिघलते हुए अनुभूति द्रव से अनुपम सतरंगी कल्पना चित्र प्रस्तुत कर सके। केवल यथार्थ किन्तु मार्मिक कथन की ही आकुलता है। अभी भाषा में भी वह प्रौढ़ता,चपलता और गठन नहीं। अभी इस काल की रचना का अधिकांश पुराने साँचे में ही ढला हुआ है, अभिव्यक्ति में पर्याप्त इतिवृत्तात्मकता या गद्यात्मकता है, किन्तु फिर भी जो कुछ इसमें प्राप्त है वह अपने आप में बड़ा बहुमूल्य है। देश-प्रेम की कविता अनपढ़ शिला-खंडों में प्रवाहित होने वाली निर्मल जल की कल्लोलिनी है। इसमें नवीनता है, ताजगी है, प्रफुल्लता है और स्फूर्ति। यह ओज-स्फीति ऊर्ध्व-रेतस शुद्ध मन का सहज-उच्छ्वसित व प्राणवान् भावस्फोट है। यह काव्य मानव की जीवन्त और सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक और अपने युग का सच्चा प्रतिनिधि है। इसे हम सही अर्थों में जन-काव्य कह सकते हैं। 'कला कला के लिए' का रीति-युग बीत चुका था। अब कला जीवन और समाज के लिए अपने को उत्सर्ग करने के लिए मानो मचल उठी थी।

प्रकरण ३

द्विवेदी काल

(सन् १८९३ से १९१८)

(राष्ट्रीय प्रेम-भावना की व्यापकता तथा उत्कर्ष : प्रणय की शुभ्रता और सौंदर्य की अपेक्षाकृत सूक्ष्मता तथा गम्भीरता ।)

द्विवेदी-काल आलोच्य विषय की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-काव्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इसमें रचित प्रेम-काव्य का अनुशीलन करने के लिए एक बार फिर हमें तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात करना होगा क्योंकि ये ही परिस्थितियाँ उस परिवर्तित मनस्थिति की स्वरूप-विधायिनी हैं जिसकी प्रेरणा से नवीन काव्य का, युग के नवीन आदर्शों के अनुकूल, सृजन हुआ ।

१. युग-परिस्थिति तथा उसका साहित्य पर प्रभाव:

(क) परिस्थिति

(i) **राजनीतिक**—भारतेन्दु-काल में देश की जो राजनीतिक स्थिति थी वह अब अपेक्षाकृत और भी गंभीर हो चली । पहले के वातावरण में विदेशी सत्ता के प्रति थोड़ा बहुत विश्वास, सौमनस्य तथा आदर-भावना बराबर दिखाई दे रही थी, किन्तु अब परिस्थितियों की प्रेरणा से, उनका स्थान तीव्र सन्देह, वैमनस्य, स्पष्ट अविश्वास और कटुता ने ले लिया । सन् १८८५ (सं० १९४२) में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी । आरम्भ में तो सरकार का रुख उसके प्रति समशीतोष्ण रहा किन्तु शीघ्र ही वह उस संस्था की गति-विधि को बड़ी सतर्कता व कड़ी नजर से देखने लगी । यह बात दिनों दिन विकसित होती गई और वातावरण में अधिकाधिक क्षोभ और तनाव बढता गया । संयोगवशात्, भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर एक ऐसी प्रचण्ड और युगान्तरकारी घटना घट गई जिसने आग में घी का काम करके देश के स्नायु-जाल में क्रांति और विद्रोह की एक विद्युत-धारा दौड़ा दी । सन् १९०४ ई० में तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन ने अपनी निरंकुशता और स्वेच्छाचार की नीति के फलस्वरूप बंगाल के दो टुकड़े कर दिये जिससे सारा बंगाल तथा भारत ब्रिटिश सत्ता के प्रति विद्रोही हो उठे । नवीन राष्ट्रीयता के जन्म-काल में बंगाल के प्रति यह अन्याय समस्त भारतीयों की प्रतिष्ठा का प्रश्न हो गया । भारतीय एकता

का प्रतीक तथा नव प्रस्फुटित 'वन्देमातरम्' गान प्रत्येक अधर पर गूँज उठा और चिनगारी ने फैलकर व्यापक स्वदेशी-आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया। सन् १९०४ ई० में रूस-जापान-युद्ध हो ही चुका था जिसमें एक विशाल किन्तु दुर्व्यवस्थित देश रूस को पूर्वी संसार के एक छोटे से किन्तु सुसंगठित राष्ट्रीयतावादी देश जापान ने बुरी तरह पछाड़ दिया। इस घटना ने विश्व के पराधीन देशों और विशेषतः भारत पर एक बहुत गहरी किन्तु अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न की। अब तक सांस्कृतिक श्रेष्ठता का ठेका मानो यूरोप ने ही ले रखा था। जापान की इस विजय ने पराधीन एशियाई देशों में आत्म-गौरव, आत्म-निर्भरता व आत्य-स्वातन्त्र्य की अदम्य भावना भर दी। संगठन व राष्ट्रीयता का महत्त्व भारत की समझ में आ गया। अब तक भारत की सामान्य जनता में ऐक्य-भावना का आधार प्रायः जाति, धर्म या कुल तक ही सीमित था, किन्तु अब राष्ट्रीयता ही मानो युग-धर्म हो गया। जाति, धर्म और कुल-सम्बन्धी क्षुद्र परिधियाँ व्यापक राष्ट्रीयता की भावना के क्षितिज में लीन होने लगीं। राष्ट्रीयता की भावना के देश-व्यापी विकास ने एक देश-भाषा की आवश्यकता का भी अनुभव कराया और हिन्दी उसकी पूर्ति के लिए आगे बढ चली। कांग्रेस की गति-विधि अब विनय और राज-भक्ति-भाव से हटकर उग्रता, विरोध तथा ध्वंस की ओर भी सक्रमित हो चली। तत्कालीन भारतीय राजनीति की इस गति-विधि का सम्बन्ध द्विवेदी युगीन काव्य के साथ बहुत गहरा सिद्ध हुआ।

युग की समग्र राजनीतिक चेतना को आत्मसात् करने के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का भी ज्ञान आवश्यक है जिससे राजनीति और काव्य का कारण-कार्य सम्बन्ध स्पष्ट हो सके।

लार्ड लैन्सडाउन (सन् १८८८-९४) ने परराष्ट्र नीति में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उसने देश की आन्तरिक स्थिति में भी पर्याप्त सुधार किये। किन्तु वह अनुदार, उग्र, कठोर और शुष्क प्रकृति वाला शासक था। उसके पश्चात् लार्ड एल्गिन द्वितीय (१८९४-९९) भारत का शासक हुआ जिसके राज्य-काल में, सन् १८९६ में दुर्भिक्ष, महामारी और अकाल का प्रकोप हुआ। सन् १८९९ से १९०५ तक लॉर्ड कर्जन ने भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया। वह भयंकर चारित्रिक विरोधाभासों वाला व्यक्ति था। यद्यपि उसने रेल-यात्रा, कृषि, रक्षा, तथा आर्थिक-व्यवस्था में अनेक अच्छे सुधार किये किन्तु अपनी स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता, अनुचित आत्मविश्वास, घमंड, लोकमत की पूर्ण उपेक्षा, दुराग्रह, पक्षपातपूर्ण जातीयता की भावना आदि के कारण वह (लॉर्ड डलहौजी की तरह) भारतीयों के कोप तथा घृणा का पात्र हो गया। भारतीयों में उसका अविश्वास था तथा वह उनसे घृणा करता था। वह भारतीयों को स्वायत्त शासन देने का पक्षपाती नहीं था। ऊँची नौकरियाँ वह प्रतियोगिता द्वारा न देकर अपनी रुचि के अनुसार देता था। शिक्षा-सम्बन्धी

उसकी नीति अत्यन्त ही प्रतिक्रियावादी थी—इतनी कि शिक्षित वर्ग के साथ उसके सम्बन्ध अत्यन्त घृणास्पद हो गये। उसके शासन-काल में दुर्भिक्ष और महामारी का भी प्रकोप हुआ। सन् १९०३ मे उसने दिल्ली दरबार में तथा तिब्बत आदि देशों में अपनी राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओं की पूर्ति के लिए अपार धन का अपव्यय किया। बंग-भंग उसी की कुटिल योजना थी जिसने भारत मे विद्वेष की धाँय-धाँय करती अग्नि भड़काई। यह योजना हिन्दुओं और मुसलमानों को विभक्त करने वाली थी और उसी का सुदूरवर्ती फल वर्षों बाद सारे भारत को देश के दो टुकड़ों के रूप में भोगना पड़ा। उसने नए राष्ट्र की जागृति को कुचलने का पूरा प्रयत्न किया। उसने भारत का शुभचिंतक बनने का आडम्बर किया किन्तु वह यहाँ से अत्यन्त अ-लोकप्रिय होकर लौटा। लार्ड मिन्टो (सन् १९०५–१०) के समय तक विद्रोहाग्नि भड़कती रही। वंग-भंग सम्बन्धित आन्दोलन चलता रहा। ब्रिटिश-सत्ता की निरंकुशता ने कांग्रेस में अब ऐसा वर्ग उत्पन्न कर दिया जिसने विनय, प्रार्थना, नरमी और शान्तिपूर्ण वैधानिक तरीकों से देश की स्वाधीनता-प्राप्ति मे अपना विश्वास खो दिया। परिणाम-स्वरूप सन् १९०६ मे कलकत्ता कांग्रेस मे मतभेद हो गया और सन् १९०७ में सूरत कांग्रेस में संस्था गरम दल और नरम दल में विभक्त हो गई। गरम दल के नेता हुए तिलक और नरम दल के हुए गोखले। क्रांतिकारियों के गरम दल ने देश में रेलें गिरा देना, गोली मारना, बम गिराना, हत्या करना, गुप्त समितियाँ चलाना—आदि कार्यवाइयाँ शुरू कर दीं। पंजाब के लाला लाजपतराय (गरमदली) निर्वासित कर दिये गए और तिलक ६ वर्ष की सजा भोगने वर्मा भेज दिये गए। सरकार ने समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता भी छीन ली। इस प्रकार दमन-चक्र चल पड़ा। सन् १९०६ में, बंग-भंग के परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग की स्थापना हो गई। सन् १९०९ में सरकार ने 'मिटो-मार्ले सुधार' प्रस्तुत किये जो सर्वथा अपर्याप्त थे। लॉर्ड हार्डिञ्ज द्वितीय (सन् १९१०–१६) भारतीयों का सच्चा और शुभचिंतक मित्र था। इसका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था इसलिए वह सर्वाधिक लोकप्रिय, प्रेमपात्र व सफल शासक सिद्ध हुआ। उसके समय में बंगाल फिर से एक स्वतन्त्र प्रांत बना दिया गया और इस प्रकार बंग-भंग-जन्य रोष शात हुआ। सन् १९१२ में दिल्ली में लॉर्ड हार्डिञ्ज पर, जब कि वह कलकत्ता से स्थानान्तरित नई राजधानी (दिल्ली) का उद्घाटन कर रहा था, किसी एक भारतीय ने बम डाल दिया। सन् १९१६ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। हार्डिञ्ज के समय में कांग्रेस तथा सरकार के बीच की कटुता भी कम हो गई। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस भी बहुत निकट आ गई। सन् १९१६ में लखनऊ में दोनों का सम्मिलित अधिवेशन हुआ। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के प्रति भी सरकार का रुख सहानुभूतिपूर्ण रहा। इस प्रकार सन् १९११ से १९१९ तक भारत में शांति रही। पर, इतना सब कुछ होते हुए भी क्रांति की एक क्षीण किन्तु चेतन अन्तर्धारा

देश की रगों में प्रवाहित अवश्य होती चल रही थी। सन् १९१४–१८ में यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध, आरम्भ हो गया। भारत ने इस युद्ध में अंग्रेज सरकार की मदद तन, मन, धन से की। गांधी जी ने भी अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति रखी। युद्ध के बीच ही लॉर्ड चेम्सफोर्ड भारत के नये वायसराय (सन् १९१६–२१) नियुक्त हुए। सन् १९१९ में महायुद्ध में अंग्रेज सरकार मित्र-राष्ट्रों के साथ विजयी हुई। युद्ध की अनुकूल समाप्ति पर भारत, अपनी हार्दिक सेवाओं के परिणाम में, स्वाधीनता के लक्ष्य की पूर्ति की ओर महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाने वाली, कुछ वास्तविक या ठोस वैधानिक उपलब्धि की आस लगाये बैठा था पर उसकी सब आशाओं पर तुषारपात हो गया। उसे उसकी सेवाओं का समुचित पुरस्कार न मिला। इसी समय देशी राजाओं का एक संगठन 'नरेन्द्र मंडल' बनाया गया जिसके स्वरूप व कार्य-प्रणाली से कई राजा असंतुष्ट थे। भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिए इस समय सरकार की ओर से मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार-पत्र भी प्रस्तुत किया गया जिसमें निहित योजना पर बड़ा भारी असंतोष उठ खड़ा हुआ। फिर गरम दल और नरम दल सक्रिय हो उठे। सन् १९१६ में तिलक ६ वर्ष के कारावास के बाद मुक्त कर दिये गए किन्तु आग सुलग रही थी। इस समय वातावरण में फिर एकसाथ सरगर्मी आ गई। संयोगवश इन्हीं दिनों रूस की रूसी क्रांति (सन् १९१९) सफल हो गई। मर्दित व भूलुंठित देश को इस तरह खड़ा होते देखकर भारतीयों के रग-पट्ठों में नई चेतना आ गई। दुर्भाग्य से ऐसे वातावरण से 'रोलेट एक्ट' पास हो गया जिसमें अपराधी राजद्रोहियों और क्रान्तिकारियों का दमन करने के अधिकार निहित थे। गाँधी जी ने इसका घोर विरोध किया और ३० मार्च १९१९ को दिल्ली में, तथा ६ अप्रैल को देश भर में हड़ताल रही। गोलियाँ चलीं। इसी समय मुसलमानों ने, टर्की की सहानुभूति में, अंग्रेजों के विरुद्ध 'खिलाफत आन्दोलन' चलाया। हिन्दू-मुसलमानों में प्रीति गाढ़ी हो गई। रोलट एक्ट के परिणामों की परम्परा में १३ अप्रैल, १९१९ को पंजाब के जलियान वाला बाग में एक अंग्रेज अधिकारी जनरल डायर ने शांतिपूर्ण नागरिकों की एक विशाल सभा पर अप्रत्याशित रूप से, गोलीकांड करवा दिया जिसमें कई सौ आदमी हताहत हुए इस प्रकार दमन और शोषण का चक्र चल पड़ा। परिणामस्वरूप, सितम्बर सन् २० में गाँधी जी की सहायता से कलकत्ता कांग्रेस में असहयोग-आन्दोलन की योजना बनी और दिसम्बर सन् २० के नागपुर अधिवेशन में शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक उपायों द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति के लक्ष्य के लिए आन्दोलन का कार्यक्रम पक्का हो गया। सरकारी उपाधियों का त्याग, सरकारी उत्सवों, न्यायालयों और सरकारी स्कूलों का बहिष्कार तथा कौंसिल के निर्वाचन आदि कार्यों से सम्बन्ध-विच्छेद इस असहयोग आन्दोलन के मुख्य सूत्र थे। चर्खे का प्रचार तथा खद्दर का उपयोग खूब बढ़ाया गया। हिन्दू-मुसलिम संगठन के कारण

यह आन्दोलन बहुत सफलतापूर्वक और द्रुतगति से चला।

द्विवेदी काल के काव्य की राजनीतिक पृष्ठभूमि यही थी।

(ii) **सामाजिक-सांस्कृतिक** :—उपरोक्त राजनीतिक स्थिति ने सामाजिकता की भावना में भी अन्तर उपस्थित कर दिया। राष्ट्रीय भावना के विकास से पूर्व 'समाज' से अभिप्राय प्रायः वैश्य-समाज या हिन्दू-समाज ही अधिक रहा करता था, किंतु स्वराज्य के लक्ष्यैक्य के नाते अब प्रायः समस्त भारतवासी अपनी कल्पना भारतीय समाज के रूप में ही करने लगे। भारतीय समाज सामाजिकता की सबसे व्यापक भावना का सूचक हो गया। अपने को किसी सीमित वर्ग या सम्प्रदाय से सम्बद्ध करके अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन करना नव जागृति और विकास की भावना से अपरिचित होने का द्योतक हो गया।

समाज के साधारण तथा निम्न स्तरों की स्थिति पूर्ववत् ही शोचनीय थी। धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता, जाति-पाँति-विचार, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह तथा दहेज आदि कुरीतियाँ हिन्दू-समाज की जड़ों को खोखला किये जा रही थी। अछूतों और निराश्रित विधवाओं की ओर जनता का बहुत कम ध्यान था।

इस सबका एक-मात्र कारण था—निरक्षरता अथवा अशिक्षा, प्राचीन रूढ़ियों तथा परम्पराओं का मोह। स्त्री-शिक्षा का नितांन्त अभाव था। उस समय अंग्रेजी-शिक्षा देश में पूर्णतया फैल चुकी थी जिसका व्यापक प्रभाव समाज पर भी पड़ा। शिक्षा के प्रभाव की दृष्टि से समाज में अब तीन स्पष्ट वर्ग दिखाई पड़े—(१) अंधानुकरणशील वर्ग—जो अपनी निजी बुद्धि व विवेक को तिलांजलि देकर रहन-सहन, खान-पान, शिष्टाचार आदि में विदेशियों का ही अनुकरण करता था, (२) लकीर का फकीर कट्टरपंथी वर्ग—जो केवल अपने देश की प्राचीन रीति-नीति, आहार-विहार, पद्धति, भाषा, वेश-भूषा आदि को ही सर्वश्रेष्ठ समझता था, व अन्य देशों का अनुकरण घृणास्पद समझता था, और (३) समन्वयवादी वर्ग—जो देश-विदेश की जीवन-प्रणालियों के श्रेष्ठ प्रगतिशील तत्वों को मिलाकर समीकरण की पद्धति का आविष्कार कर रहा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि समय की गति के अनुकूल तीसरा ही वर्ग पड़ता था, और समय के पारखी उस वर्ग के उदारचेता व्यक्तियों ने भारतीय संस्कृति से अनुमोदित जीवन-प्रणाली में व्यापक मात्रा में पुष्टिकारी विदेशी तत्व मिलाकर सर्वांगीण देशोन्नति का मार्ग ढूँढ निकाला था।

राजनीतिक कारणों से मातृ-भाषा हिन्दी के प्रति भी जनता का अनुराग बढ़ा। देश के संगठन के लिए वह मानो 'सीमेण्ट' थी। ब्रजभाषा की गति धीरे-धीरे मंद पड़ती जा रही थी। खड़ी बोली, गद्य और पद्य दोनों की साहित्यिक भाषा हो गयी। इस युग के साहित्यिक कर्णधार पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से इस कार्य को सर्वाधिक आगे बढ़ाया।

अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन भी भारत में बढ चला था। पाश्चात्य जगत् के विचार अब देश मे फैल चले थे। स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की नई भावना तथा अनेक युगानुरूप सामाजिक सुधारों की प्रेरणा हमें विदेशी साहित्य से प्राप्त हुई। अंग्रेजी-साहित्य का, विशेषकर उसके काव्य-क्षेत्र के स्वाभाविक स्वच्छंदतावाद (Romanticism) का, हिन्दी-साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। पं० श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ (Oliver Gold-Smith) से प्रकृति-प्रेम की प्रेरणा प्राप्त करके उसके काव्यों का हिन्दी में अनुवाद किया। आचार्य द्विवेदी जी के कारण हिन्दी मे संस्कृत के प्राचीन संस्कार फिर जगे। कालिदास उनके अत्यन्त प्रिय कवि थे। हिन्दी मे उन्होंने कालिदास के काव्य का सौंदर्य उद्घाटित किया। इस प्रकार संस्कृत की पदावली, छद-विधान, अलंकार, शैली, प्रकृति-प्रेम तथा प्रकृति-चित्रण आदि साहित्यिक उपकरणों का उनके द्वारा हिन्दी में समावेश हुआ।

पाश्चात्य नवीन बुद्धिवाद (Rationalism), विचार और कार्य की वैज्ञानिक प्रक्रिया, तथा नवीन शिक्षा और साहित्यानुशीलन ने लोगों को उदार हृदय व खुले मस्तिष्क से वस्तु-स्थिति पर अनासक्त ढग से विचार करने, उन पर अपनी स्वतन्त्र धारणा स्थिर करने, तथा नवीन परिस्थितियों के आग्रह से समन्वय की व्यापक भावना के साथ प्रत्येक वस्तु के प्रति एक सजग तटस्थ विवेक-पूर्ण दृष्टि को ग्रहण करने का अवसर और उत्तेजना प्रदान की। शिक्षा का सबसे बड़ा गुण यही होता है। सुशिक्षित व्यक्ति आँख बन्द कर, अन्ध-परम्परा की लीक पीटते हुये, वस्तु-सत्यों को अपनी विवेक-कसौटी पर कसे बिना ग्रहण नहीं कर सकता। पाश्चात्य वैज्ञानिक-चेतना के परिणाम-स्वरूप शिक्षित व्यक्तियों में बौद्धिक जागृति का उन्मेष व विकास दिखाई पड़ा और प्रत्येक वस्तु या विचार के प्रति एक सत्यान्वेषणमूलक बौद्धिक जिज्ञासा जागृत हो गई। यह शिक्षा के आलोक का वरदान था। इस बौद्धिकता ने अपने ढंग से काव्य-वस्तु व काव्य-शैली को भी बहुत दूर तक जा कर प्रभावित किया। कवियो ने प्रबन्ध काव्यों तथा खंड काव्यों में अपने पात्रों का निर्माण प्राचीन कोटि की भावुकता की न्यूनाधिक रक्षा करते हुए, इसी तर्क-बुद्धि के अनुरूप किया जिससे कि वे पात्र युग-चेतना से संयुक्त हो कर, युग-सत्य का वहन कर यथार्थ, युगानुकूल तथा युग-बुद्धि को प्रामाणिक तथा ग्राह्य जान पड़ें।

समाज के निम्न स्तरों में मजदूरों व किसानों की दशा दयनीय थी। सरकार कर बढ़ाती थी। उसकी घातक अर्थ-नीति ने कृषि-वाणिज्य की दुर्दशा कर दी। इस सब आर्थिक विभीषिका का करुण चित्र इस काल की अधिकांश कविताओं में चित्रित हुआ है। देश की इस व्यापक दुर्दशा ने कवियों में मानव-प्रेम विकसित किया जो पूर्ववर्ती काल में भारतेन्दु व प्रेमघन में पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ चुका था।

इस युग में देश की सांस्कृतिक नौका के कर्णधार स्वामी दयानन्द, स्वामी

विवेकानन्द व गाँधी (जिनका प्रभाव सन् १९२० मे तिलक के निधन के पश्चात् से ही उत्तरोत्तर बढ़ने लगा) आदि महापुरुष थे, जिनका एकमात्र लक्ष्य राजनीतिक दासता की शृंखलाओं को विच्छिन्न कर अन्ततः पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना था। इस मुक्ति के लिए पारम्परिक सहयोग, राष्ट्रीय भावना का विकास, चरित्र-बल का उत्कर्ष तथा सेवा-भावना की सर्वाधिक आवश्यकता थी। अतः नैतिकता पर इस युग में सबसे अधिक जोर रहा। इस नैतिकता ने जहाँ साहित्य को नवीन जीवन-स्फूर्ति, प्राण-प्रवाह तथा भाव और विचार की निधि प्रदान की वहाँ इसके अतिरेक ने काव्य मे गद्यात्मकता, इतिवृत्तात्मकता, तथा उपदेशात्मकता आदि बातें भी उत्पन्न कर दीं। उपरोक्त नेताओं ने अपने देश की परमोज्ज्वल संस्कृति के पवित्र आलोक को जनता के सामने प्रकट किया जिससे श्रद्धावान् भावुक कवियों ने प्रेरित होकर स्वर्णिम अतीत की गौरव गाथाएँ गाई और उसी अतीत को पुनः साकार करने के लिए, वर्तमान के सुधार के द्वारा, भविष्य की मधुर कल्पनाएँ जनता के सामने रखीं। स्वामी दयानन्द की खडन-मंडन की प्रवृत्ति से भी हिंदी-साहित्य अछूता नही रहा। बुद्धि-बल से उद्घाटित तथ्यो का मूल्य बढ़ गया तथा अनुचित भावावेष को प्रश्रय कम मिला। पुराण और इतिहास भारतीय सांस्कृतिक गौरव के अमर प्रकाशक हैं। भारत की मेधा, उसके हृदय तथा उसकी आत्मा को भली-भाँति समझने के लिए इन मूल स्रोतों तक दृष्टि का जाना अत्यन्त आवश्यक है। भारत की संस्कृति आदि से ही मानव-प्रेम तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना के प्रसार की ओर उन्मुख रही है। इस युग में देशोद्धार की दृष्टि से विभिन्न जातियों, धर्मो तथा सम्प्रदायों का सगठन अनिवार्य था। लोक-हृदय तक सांस्कृतिक प्रकाश को पहुंचाने के लिए काव्य एक बड़ा शक्तिशाली साधन है। कवियों ने अपने काव्य में इतिहास और पुराण के प्रसंगों की भी अवतारणा की। प्रबन्ध-काव्य-क्षेत्र में इतिहास-पुराण के वृत्तों का सर्वाधिक उपयोग हुआ। पौराणिक आख्यानों की युगानुरूप बौद्धिक व्याख्या इस युग की एक बहुत बड़ी विशेषता है। कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में इस दृष्टि से विशेष मौलिकता दिखाई पड़ी है।

(iii) **धार्मिक-आध्यात्मिक**—ऊपर कहा ही जा चुका है कि द्विवेदी-युग में भारत के समक्ष प्रस्तुत अथवा सामयिक प्रश्न केवल स्वराज्य-प्राप्ति था। जनता की समस्त विचार-धाराएं और क्रियाकलाप एक मात्र उसी लक्ष्य की ओर प्रधावित हो रहे थे। उदारचेता चिंतकों ने धर्म के साम्प्रदायिक छिलके साफ कर उसके वास्तविक मर्म का सही-सही विश्लेषण किया और धर्म केवल मंदिरों में जाना, तिलक-छापे लगाना, तथा घंटी बजा कर चरणामृत लेकर लौट आने तक ही सीमित नहीं रह गया। धार्मिकता अब साम्प्रदायिकता से मुक्त होकर शोभनीय और मोहक दैनिक आचरणों और सौहार्द्रपूर्ण मानवीय व्यवहारों के बीच ही देखी जाने

लगी। इस नवीन प्रवृत्ति के अनुसार वास्तविक धर्म हवाई या पारलौकिक न रह कर दैनिक जीवन के सहज प्रवाह में ही घुल-मिल गया। सच्चा धर्म युग-धर्म या मानव-धर्म ही हो गया। उसकी संकीर्णता जाती रही। इसका परिणाम यह हुआ कि राम और कृष्ण के जो गान भक्ति-काल में अलौकिक आत्मोल्लास के साथ गाये जाते थे और रीतिकाल में लौकिक वासनात्मक उद्‌गारों के पर्याय हो गये थे, वे अब उस रूप में बन्द-से हो गये। राम और कृष्ण अब पौराणिक या ऐतिहासिक महा-पुरुष मात्र ही अधिक रह गये और उनका चित्रण भी युग-चिन्तन के साँचे में ढाल कर किया गया। वास्तव में यह प्राचीन धार्मिकता का व्यावहारिक, लोकोपयोगी तथा धर्मानुकूल रूपान्तर था। इसलिए इस काल की धार्मिकता भी राष्ट्रीयता से छानकर ग्रहण की गई। कविता का मुख्य कलेवर राष्ट्रीय-सामाजिक हो गया। इस परिष्कृत तथा व्यापक धर्म-भावना का तत्कालीन हिंदी-काव्य पर बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ा। इस प्रकार की भावना का मेरु-दण्ड है—धार्मिक-सहिष्णुता, क्षुद्र साम्प्रदायिकता से मुक्ति तथा अन्य धर्मों के प्रति आदर व श्रद्धा के भाव। युग की एक-लक्ष्यता के लिए यह बात सर्वथा उपयुक्त थी। श्रद्धातत्व का विकास हुआ और कवियों ने सर्वधर्मसमन्वय की भावना से मानव-प्रेम व मानव-एकता का प्रतिपादन किया। इस दिशा में कविवर मैथिलीशरण गुप्त अग्रणी रहे। उन्होंने अपने काव्य में सभी जातियों तथा धर्मों के प्रति विनम्र श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

इस युग में अध्यात्म की भी नये सिरे से और नये ढंग से व्याख्या की गई। अध्यात्म, शताब्दियों से, जीवन से सर्वथा कटी हुई सी कोई साधना समझी जाती रही थी। पर इस समझ में अब परिवर्तन उपस्थित हो गया। संसार और समाज से कट कर दूर जा बैठने में ही अब कोई आध्यात्मिकता नहीं रही। कोरी व्यक्तिगत साधना निर्मूल घोषित कर दी गई। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के सौंदर्य में ही वास्तविक आध्यात्मिकता का दर्शन किया जाने लगा। 'पथिक', 'यशोधरा' 'प्रिय-प्रवास' आदि काव्यों के द्वारा नवीन आध्यात्मिकता की काव्यात्मक व्याख्या हुई। राष्ट्र की सेवा में जीवन अर्पित कर देने में ही व्यक्तिगत आत्मा का परमात्मा में लय होना समझा गया। एकांत व्यक्तिगत साधना में विश्वास उठ गया और लोक जीवन के सुर में अपने व्यक्तिगत जीवन के सुर को मिला देना ही आध्यात्मिक जीवन का सार हो गया। इस प्रकार दर्शन और अध्यात्म की सामाजिक मानवतावादी व्याख्या पहली बार हुई और उससे हिन्दी कविता गहराई से प्रभावित हुई।

द्विवेदी-काल के प्रेम-काव्य के स्वरूप-बोध के लिए इन सामान्य परिस्थितियों का परिचय आवश्यक है। युग-चेतना की इस व्यापक भूमि पर लाकर जब हम प्रेम के विविध रूपों को लेकर चलने वाली कविता का विश्लेषण-परीक्षण करते

हैं तभी युग-कवि की अर्जना या उपलब्धि का हम यथार्थ मूल्यांकन कर सकते हैं।

(ख) साहित्य पर प्रभाव

इन सब व्यापक परिस्थितियों का साहित्य पर जिन रूपों में प्रभाव पड़ा, वे रूप, संक्षेप में, निम्नलिखित है :—

(i) हिन्दी की राष्ट्रीय कविता, जो भारतेन्दु-युग में अंकुरित व पल्लवित हुई थी, अब पूर्ण विकसित होकर लहलहा उठी। युग-कवि की 'रति' का विस्तार मुख्यत: राष्ट्रीय कविता के माध्यम से ही व्यक्त हुआ।

(ii) भारतेन्दु-काल में प्रणय अथवा दाम्पत्य प्रेम प्राय: रीतिकालीन ढाँचे का ही अनुकरण था। किंतु, अब इस प्रेम में एक नवीन क्रांति, दीप्ति, तथा निर्मलता आ गई। इसका मुख्य कारण था सुदूर अतीत के पुराण-इतिहास के अनुशीलन से नारी के प्रति परिवर्तित तथा पाश्चात्य नारी-जागरण से उत्पन्न परिष्कृत दृष्टिकोण। नारी के प्रति यह दृष्टिकोण युग के नैतिक आदर्शों का परिणाम था। ऐसी स्थिति में दाम्पत्य प्रेम के स्वरूप का प्रक्षालन स्वाभाविक था।

(iii) समाज में नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ी। शताब्दियों से सोये पराधीन देश को जगाने के लिए शाश्वत आदर्शों का शंखनाद किया गया क्योंकि आदर्शात्मक दृष्टिकोण के अभाव में अस्तित्व गतिहीन, फीका और श्रीहीन होता है। और जाति के नयनोन्मीलन के युग में तो महान् आदर्श ही हमें महान् कर्तव्यों के प्रति जागरूक करते हैं।

(iv) साहित्य में मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ। भक्ति-काल में निर्गुण ब्रह्म या उसके सगुण रूप राम-कृष्ण तथा रीतिकाल में रसिक या विलासी राजा तथा नायक-नायिका ही काव्य के विषय थे। किंतु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अब कविता भारतेन्दु-काल से ही जनता की सामान्य मनोभूमि पर आ चुकी थी। भाव-सत्यता इस बात में थी कि कवि अब अलौकिक या विरल को छोड़ कर साधारण मानव के प्रत्यक्ष सुख-दु:ख से परिचालित हों, उसकी आशा-आकांक्षाओं-स्पृहा-स्वप्नों को समझें, उसके अभाव तथा रुदन को सुनें, तथा उसके महत्त्व और गौरव से परिचित हों। पश्चिम में सामान्य मानव का महत्त्व हिगेल, पेन, कॉम्टे, मिल आदि विचारकों द्वारा प्रवर्त्तित तथा पोषित मानववाद के प्रभाव से बढ चुका था। पाश्चात्य साहित्य के माध्यम से साधारण मानव का महत्त्व हमारे साहित्य में भी बढ़ने लगा। इस प्रकार हिन्दी-कविता में मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास हुआ। जीवन के अभाव, रुदन-दारिद्रय तथा दु:ख के प्रति सहज मानवीय करुणा तथा सहानुभूति इस मानवीयता के मूल तत्व हैं।

(v) सौंदर्य-भावना में भी पर्याप्त परिष्कार आया। भारतेन्दुकाल की सौंदर्य-दृष्टि मानव-जगत् से हट कर प्रकृति-जगत् तक भी बढ़ने लगी थी, यह यथास्थान बताया जा चुका है। इस युग में उसका और भी विकास हुआ। अब जीवन के उच्च आदर्शों, भावनाओं तथा चरित्र-सौदर्य से लेकर प्रकृति के सूक्ष्म क्रिया-कलापों तक यह सौंदर्य-दृष्टि फैलने लगी। आगे चलकर छायावाद में जो अतिमूक्ष्म तथा अत्यधिक काल्पनिक सौदर्य की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, उसकी भूमिका द्विवेदीकाल में बन रही थी। यह तथ्य कदाचित् इस स्थापना के विरोध में जान पड़े कि छायावाद द्विवेदी-काल के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी; यदि ऐसा है तो द्विवेदी-काल को छायावाद की भूमिका ही कहना चाहिए। पर बात सोलहों आने ऐसी नहीं है। छायावाद द्विवेदी काल की प्रतिक्रिया इस अर्थ में था कि द्विवेदी कालीन काव्य इतिवृत्तात्मक अधिक हो गया था, अतः उसके विरुद्ध सूक्ष्म की प्रतिक्रिया आगे चल कर हुई। इस व्यापक क्रिया-प्रतिक्रिया के भीतर प्राकृतिक नियमों के अनुसार अन्य तत्त्वों का विकास भी चल रहा था जिनमें सौंदर्य-भावना एक है। वस्तुतः साहित्य की क्रिया-प्रतिक्रिया विज्ञान की क्रिया-प्रतिक्रिया से भिन्न है। साहित्य का प्रत्येक चरण भावी युग के लिए एक आवश्यक भूमिका भी तैयार करता है और साथ ही सम्भावित भावी प्रतिक्रियाओं के लिए (जो विकास की सूचक हैं) क्रियाएँ भी उपस्थित करता रहता है।

(vi) परिस्थितियों का प्रभाव काव्य-वस्तु के अतिरिक्त काव्य-शैली पर भी पड़ा। गभीर विचारों तथा वेगवान भावों का तूफान पहले किसी न किसी तरह प्रकट हो जाय, यह उसकी पहली आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में कला की सजावट या बनाव सिंगार बहुत पीछे रह जाता है। उसी कारण द्विवेदी-युग की काव्य-शैली में इतिवृत्तात्मकता व गद्यात्मकता की अधिकता है, किन्तु भारतेन्दु-युग की काव्य-शैली से निश्चित ही यह शैली अधिक प्रौढ़ तथा परिष्कृत है, यह सहज ही देखा जा सकता है।

२. राष्ट्र-प्रेम अथवा राष्ट्र-भक्ति-भावना

भारतेन्दु-काल में राष्ट्र-प्रेम अथवा देश-भक्ति के जितने रूप काव्य में अवतरित हुए थे, प्रायः उतने ही रूप इस काल के काव्य में भी देखने को मिले। एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलनों के स्वर की तीव्रता तथा मृदुता (गरम दल और नरम दल के कारण) के अनुसार ही राष्ट्र-प्रेम-विषयक कविता में भी तीव्रता और मृदुता इन दो छोरों के बीच के विविध उतार-चढ़ाव और तत्सम्बन्धी भावों की विविध रंगतों की अभिव्यक्तियाँ दिखाई पड़ीं। भारतेन्दु-काल में राष्ट्रीय भावना बहुत कुछ हिन्दुत्व अथवा प्रांतीयता की भावना तक सीमित थी। पर, अब वह हिन्दुत्व अथवा प्रांतीयता से भारतीयत्व तक फैल चली। अतः काव्य में भी

भावना की इस व्यापकता के अनुरूप स्वर में दीप्ति, मधुरता और औदार्य आया। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० श्रीधर पाठक, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री सुभद्राकुमारी चौहान, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथू राम शंकर शर्मा, 'सनेही', 'नवीन', 'त्रिशूल' आदि कवियों के कंठ से राष्ट्र-प्रेम की गंभीर, सरस, सरल, स्पष्ट व वेगवती वाग्धारा प्रवाहित हुई। कवियों का उत्कट देश-प्रेम या समाज-प्रेम राष्ट्रीय कविता की जितनी भी प्रवृत्तियाँ आविष्कृत कर सकता था, उन सब को उन्होंने सत्य-हृदयता के साथ वाणी दी। आत्म के सत्व गुण के उद्रेक से अभिव्यक्ति में शुभ्रता, लोच, तथा औज्वल्य आया। भारतेन्दु-काल में कवि जनता के संपर्क में आने लग गये थे किन्तु यह संपर्क अब और भी घनिष्ठ हो चला। वस्तुतः कवियों को अब जनता के सास्कृतिक प्रतिनिधि की हैसियत मिल चली थी। ऐसी स्थिति में समाज की आशा व निराशा, संतोष-क्षोभ, हर्ष-विषाद—इन सब को वाणी देना इनका साहित्यिक-सांस्कृतिक दायित्व हो गया।

विदेशी सत्ता के प्रति श्रद्धापूर्ण प्रशस्ति-गान भारतेन्दु-युग की एक प्रमुख विशेषता थी। इस युग में यह राजभक्ति, शासन की दमन-शोषण की नीति के कारण, यद्यपि अब बहुत कुछ क्षीण पड़ चुकी थी, फिर भी उसका स्वर पूर्णतः बन्द नहीं हुआ था। पं० श्रीधर पाठक की यह प्रशस्ति देखिए—

नाता दोनों का दृढ़ा अटल प्रेम का आज,
जग में जिएं जुगानजुग महारानी महाराज।[1]

इतना ही नहीं 'पूर्ण' जी तो यहाँ तक भी कहते है—

वह कई तरह तैयार है, भारत के उद्धार को,
फिर करते हैं बदनाम हम किस मुँह से सरकार को।[2]

× × ×

परमेश्वर की भक्ति है, मुख्य मनुज का धर्म,
राजभक्ति भी चाहिए सच्ची सहित सुकर्म।[3]

किंतु, यह स्वर आगे चलकर धीरे-धीरे क्षीण होकर समाप्त हो गया। करुण देश-दशा के क्षोभपूर्ण चित्र इस काल में बहुतायत से अंकित हुए। प्रायः सभी कवि देश की दुर्दशा से सुपरिचित है। एक चित्र देखिए—

तब लखिहौ जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत॥

---

१. पं० श्रीधर पाठक : भारत गीत (१६८५ वि०), पृ० १६७।
२. पूर्ण संग्रह (सं० १६८२), पृ० २३५।
३. वही, स्वदेशी कुंडल, पृष्ठ २०६।

जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालें।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालें ॥
नौन तेल लकरी घासहु पर टिकस लगे जहँ।
चना चिरौंजी मोल मिलै जहँ दीन प्रजा कहँ ॥[१]

युग-कवि युग की विषमता तथा मानवीय विवशता की करुणा का कितनी गहराई से अनुभव करता है, देखिए—

किन्तु उसी क्षण वह गरीबिनी, अति विषादमय जिसके मुँह पर,
घुने हुए छप्पर की भीषण चिन्ता के हैं घिरे वारिधर।
जिसका नहीं सहारा कोई आ जाती है दृग के भीतर,
मेरा हर्ष चला जाता है एक आह के साथ निकल कर।[२]

इस विवशता की पकड़ ने राजमहलों को भी न छोड़ा। रानियों के रुदन तथा बेगम के ग़म की कथा श्री सुभद्रा कुमारी चौहान के शब्दों में देखिए—

रानी रोयी रनवासों में बेगम ग़म से थीं बेजार,
उनके गहने-कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार,
सरे-आम नीलाम छापते थे अंग्रेजों के अखबार,
'नागपूर के ज़ेवर ले लो' 'लखनऊ के लो नौलख हार',
यों परदे की इज्जत परदेशी के हाथ बिकानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ॥[३]

'हिमकिरीटिनी' और 'हिमतरंगिणी' आदि के यशस्वी रचयिता पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' के देशभक्तिपूर्ण काव्योद्गारों से एक लम्बा युग गूँजता रहा है। ओज, शृंगार और करुणा की एक सरस और वेगवान त्रिधारा उनके काव्य में प्रवाहित हुई है। पराधीनता के युग में जैसे धीर-गम्भीर और दृढ़-मृदुल स्वरों में इन्होंने सात्विक ओज से परिपूर्ण काव्य-गान किया वैसा इस युग में बिरले कवि कर सके। 'कैदी और कोकिला' नामक कविता की इन पंक्तियों में, मौलिक काव्य-शैली से, कैसी जीवंतता, ओज, माधुर्य और तन्मयता है—

क्या ? देख न सकती जंजीरों का गहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश-राज का गहना,
कोल्हू का चर्रक चूँ ? — जीवन की तान,
गिट्टी पर लिखे अँगुलियों ने क्या गान ?

---

१. पं. प्रतापनारायण मिश्र : 'कविता कौमुदी', दूसरा भाग, (चौथा संस्करण), पृष्ठ ६५।
२. पं. रामनरेश त्रिपाठी : 'स्वप्न', पृष्ठ ६।
३. 'मुकुल' में 'झाँसी की रानी'।

हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जुआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ।
दिन में करुणा क्यों जगे, रुलाने वाली,
इसलिए रात में गजब ढा रही आली?
इस शांत समय में,
अंधकार को बेध, रो रही क्यों?
कोकिल बोलो तो!
चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज इस भांति बो रही क्यों?
कोकिल बोलो तो!

अतीत के सांस्कृतिक गौरव की भावना में पूर्ण निमग्न होकर अपने देश की महिमा का विह्वल कंठ से निर्बन्ध गान देश-प्रेम से सराबोर हृदय का प्रमुख लक्षण है। अतीत से प्रेम हुए बिना वर्तमान से उतना गहरा प्रेम नहीं होता। जब अपने देश के प्राचीन वीरों के शौर्य-पराक्रम, महापुरुषों के आत्म-त्याग तथा धर्मपरायणा सतवंतियों के अमर बलिदानों तथा आत्म-विसर्जन की गाथा से हृदय पूर्ण भावान्दोलित हो उठता है तभी हम अपने वर्तमान को सँवारने तथा भविष्य को पुनः स्वप्नानुरूप ढालने के लिए कटिबद्ध हो सकते हैं। किंतु अतीत का केवल निष्क्रिय गुण-गान मात्र ही व्यावहारिक समस्या का हल प्रस्तुत नहीं करता। आलोच्यकाल में कवियों का ध्यान भारत के अतीत सांस्कृतिक शिखरों तथा उन पर दिखाई देती गाढ़ लालिमा की ओर पूर्ण भाव-प्रवणता से आकर्षित हुआ। गुप्तजी ने उसका गौरवगान यों किया—

भू लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषि-भूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।
हां, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है!
भगवान की भव-भूतियों का यह प्रथम भण्डार है,
विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।[1]

अतीत गौरव के स्मरण से भावुक हृदयों को अपने देश का बाह्य स्वरूप भी बड़ा सलोना लगने लग जाता है—उसका आकाश, उसके पर्वत, उसकी नदियाँ, उसके मैदान, खेत-कुंज, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि सभी कुछ। जब अपने देश के इन रूपों को हम प्रेम से देखने लग जाते हैं तो देश की माता रूप में कल्पना करना भावना

---

१. भारत भारती, पृष्ठ ४।

का सहज अभ्यास हो जाता है[1]। देश की सौंदर्य-माधुरी का पान कर कवि मुक्त-कंठ से मा की अलौकिक तथा दिव्य शोभा का गान करते नहीं अघाता। तब देश से हमारा सच्चा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और इस सम्बन्ध में एक अपूर्व पावनता समाविष्ट हो जाती है। भारत माता के ऐसे ही दो एक चित्र देखिए। गुप्त जी लिखते हैं—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन है॥
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
है मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।[2]

पं० श्रीधर पाठक ने भी भारत माता का कल्पना-कलित श्रृंगार यों किया है:—

भारत हमारा कैसा सुंदर सुहा रहा है!
शुचि भाल पै हिमाचल, चरणों पे सिन्धु अचल,
उर पर विशाल सरिता सित हीर हार चंचल,
मणिबद्ध नील नभ का विस्तीर्ण पट अचंचल,
सारा सुदृश्य वैभव मन को लुभा रहा है।[3]

पं० माखन लाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' अपने आराध्य भारत के प्रति अपना पावन और रसीला प्रेम यों प्रदर्शित कर रहे हैं—

अरे अशेष, शेष की गोदी तेरा बने बिछौना सा।
आ, मेरे आराध्य, खिला लूँ मैं भी तुझे खिलौना सा॥[4]

---

१. भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से देश की माता-रूप में कल्पना की जाती रही है : अथर्ववेद के ऋषि गाते हैं—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। —अथर्व वेद, १२।१।१०,

अर्थात्, धरती माता मुझ पुत्र पर अपनी दुग्ध धार उंडेले।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। —अथर्व वेद, १२।१।१२,

अर्थात्, पृथ्वी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।

(विशेष देखिए, पृ० १३० पर पाद-टिप्पणी)

२. कविता कौमुदी, भाग २, पृ० ४५७।

३. भारत गीत, पृ० ६५।

४. हिमकिरीटिनी।

इसके अतिरिक्त भी इस काल की कविता में मातृ-भूमि के प्रति पुष्कल अनुराग व्यंजित हुआ है ।[1]

सच्चा देश-प्रेमी देश के भविष्य के प्रति सदा आशंकित रहता है । वह अपने देश का अतीत वर्तमान और भविष्य, सब कुछ सुसम्पन्न देखना चाहता है । गुप्त जी ने भारत का भविष्य सब प्रकार से सुन्दर देखना चाहा है । भविष्य के प्रति उनकी यह चिन्तामयी आशंका देखिए—

बस टिमटिमाता दीख पडता आज जीवन दीप है,
हा दैव, क्या रक्षा न होगी, सर्वनाश समीप है ।
निज पूर्वजों का वह अलौकिक सत्य, शील निहार लो,
फिर ध्यान से अपनी दशा भी एक बार विचार लो ।।[2]

मातृ-भाषा का प्रेम देश-प्रेम का अभिन्न अंग है । उसके बिना देश-प्रेम की चर्चा बनावटी-सी लगती है । इस काल के प्रायः सभी कवियों के हृदय में मातृ-भाषा के उद्धार तथा उसकी उन्नति के प्रति एक गहरी चिंता है । इन कवियों का मातृ-भाषा-प्रेम तो सचमुच अनन्य ही है । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० सत्यानारायण कविरत्न, बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' आदि कवियों के मातृ-भाषा सम्बन्धी उद्गार बड़े मार्मिक हैं । कुछ उदाहरण लीजिए—

कोसो जी भर हमें द्वेष से वा ईर्षा से ।
कोई मरता नहीं किसी के कोसे कासे ।।
हाँ, मेरा आतंक नोट चाहो तो कर लो,
होगा व्यर्थ कलंक चोट चाहो तो कर लो ।

हूँ दिव्य देववाणी सुता, नाश नहीं मेरा कहीं,
मै अमरों की संतान हूँ, मैं मरने वाली नहीं ![3]

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तो यहाँ तक कहते हैं—

अन्य देश भाषा का ज्ञान, कालकूट के घूँट समान ।

और 'कविरत्न' जी की निराशा हिन्दी के प्रति कितनी गहरी है, जरा देखिए—

ना कोउ व्याप्त सब ठौर स्वदेश भाषा ।
यों सोचि होत जिय में अति ही निराशा ।।

---

१. पं० सत्यनारायण कविरत्न : हृदय तरंग (सन् १६४०), पृ० २५–३४; पं० श्रीधर पाठक का 'भारत गीत'; तथा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'सुमन' में पृष्ठ ७५, ८५, व १०२ की कविताएं आदि ।

२. 'भारतभारती', पृ० १५४ ।

३. 'पूर्ण संग्रह', पृष्ठ २६६ ।

मो नाम राशिनि प्रकाशिनि शुद्ध भावै।
हिन्दी प्रचारि अब ये त्रुटि को मिटावै॥

भारत का समूलोद्धार इस समय के हिन्दी कवियों का एक व्यापक तथा विशाल कार्य-क्रम था। इसके लिए जनता को जगाने के लिए इन्होंने उद्बोधन के ओज-प्रधान गीत मुक्त-कंठ से गाये। पं० मैथिलीशरण गुप्त, पं० मन्नन द्विवेदी, 'पूर्ण', सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि कवियों ने बड़े लाडले स्वर में जनता को जगाया।[२] पं० मन्नन द्विवेदी की देश को यह पुकार है—

हमारे भारत के नवनिहालो, प्रभुत्व वैभव विकाश धारे।
सुहृद हमारे हमारे प्रियवर, हमारी माता के चख के तारे॥
न अब भी आलस में पड़ के बैठो, दशो दिशा में प्रभा है छाई।
उठो अंधेरा मिटा है प्यारे, बहुत दिनों पर दिवाली आई॥[३]

और 'कविरत्न' जी यह शंखनाद कर रहे हैं—

उठो उठो हो भारत सोइए ना, सोइए ना मुख जोइए ना।
बीत गई जो ताहि बिसारौ, व्यर्थ समै निज खोइए ना।
देखहु उठि परदेशनि उन्नति, आलस बीजनि बोइए ना।
कटि कसि करौ देश उद्धारहि, मौज मनोजन भोइए ना॥[४]

नारी मानव-जाति का उतमांश है। उसके कुशल-क्षेम के बिना समाज की भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति किसी प्रकार सम्भव नहीं। कवियों ने नारी का भी युगोचित गौरव समझा और उसके प्रति अपने कर्तव्यों और दायित्वों को पहचाना। 'कविरत्न' जी ने नारी के प्रति कितनी श्रद्धा के उद्गार प्रकट किये हैं, देखिए—

अहो पूज्य भारत महिलागण, अहो आर्यकुल प्यारी,
अहो आर्य गृहलक्ष्मि सरस्वती ! आर्य लोक उजियारी,
अहो आर्य मर्याद-स्रोतिनी, आर्य हृदय की स्वामिनी,
आर्य ज्योति, आर्यत्व द्योतिनी, आर्य वीर्य घन दामिनी।[५]

और गुप्त जी अपने उसी गम्भीर कम्बु कंठ से धीर-ललित स्वर में आर्य-लक्ष्मी का गुणगान करते हुए उसकी वर्तमान सामाजिक स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करते हैं—

---

१. हृदय तरंग, पृष्ठ १८०।

२. पूर्ण संग्रह, पृष्ठ २०२, २०३, २०४ व २१९; 'भारतभारती' भविष्यत् खंड; 'कविता कौमुदी', भाग २, पृष्ठ ५६६।

३. कविता कौमुदी, भाग २, पृष्ठ ४५५।

४. हृदय तरंग, पृष्ठ १९६।

५. भारत गीत (आर्य महिमा), पृष्ठ १६०।

अनुकूल आद्याशक्ति की सुखदायिनी जो स्फूर्ति है,
सद्धर्म्म की जो मूर्ति और पवित्रता की पूर्ति है।
नर जाति की जननी तथा शुभ शान्ति की स्रोतस्वती,
हा देव, नारी जाति की कैसी यहाँ है दुर्गती ॥[1]

कवि स्त्रियों के प्रति पुरुषों का यह कर्तव्य निर्धारित करता है:

छोड़ो वे बेजोड़ विवाह, होता है जिन से गृह दाह।
दो अबलाओं को अवकाश कि वे करें निज जड़ता नाश।
भूमि वही है, करो प्रयत्न, हुए जहाँ रमणी रत्न।[2]

कवियों का ध्यान देश की विधवाओं को भी नहीं भुला सका है। कवि का दृष्टिकोण कितना प्रगतिशील है, देखिए—

विधवाओं का पुनर्विवाह, नहीं उच्च आदर्श निवाह।
पर उससे अच्छा सौ बार, जो है, दुराचार, व्यभिचार।
पुष्ट करो तुम अपना पक्ष, किन्तु न भूलो अन्तिम लक्ष।[3]

इस प्रकार कविगण नारी-समाज के आमूल सुधार के प्रति सजग है क्यों कि यह कार्य देशोत्थान के लिए अनिवार्य है।

भारतीय, विशेपतः, हिन्दू-समाज की कुरीतियाँ देश की उन्नति में बाधक हैं। बाल-विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा-प्रथा, रूढ़ि और परम्परा का मोह, जाति-पाँति व ऊँच-नीच के विचार, दहेज तथा अविद्या देश की उन्नति के मार्ग में भयंकर रोड़े हैं। इन कुरीतियों और विकारों का समूलोच्छेदन ही कवियों को इष्ट है। अछूतोद्धार के लिये गुप्त जी कहते हैं—

रहो न हे हिन्दू, संकीर्ण, न ही स्वयं ही जर्जर जीर्ण।
बढ़ो, बढ़ाओ अपनी बाँह, करो अछूतजनों पर छाँह ॥
है समाज के वही सपूत, रखते है जो सबको पूत।
क्यों अछूत जन हुए अछूत, उनको लगी हमारी छूत ॥[4]

बेजोड़ विवाह तथा वर-कन्या-विक्रय आदि निंदनीय कुरीतियों पर भी उद्गार व्यक्त किये गये हैं। गुप्त जी लिखते हैं :—

प्रतिवर्ष विधवा वृन्द की संख्या निरन्तर बढ़ रही,
रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिल कर मही।

---

१. 'भारतभारती', वर्तमान खंड।
२. हिन्दू (सम्वत् १९८५), पृष्ठ १२१–१२२।
३. वही, पृष्ठ १२०। ४. वही, पृष्ठ १९५–१९६।

हा, देख सकता कौन ऐसे दग्धकारी दाह को,
फिर भी नहीं हम छोड़ते हैं बाल्य वृद्ध विवाह को।
बिकता कहीं वर है यहाँ बिकती तथा कन्या कहीं,
क्या अर्थ के आगे हमें अब इष्ट आत्मा भी नहीं।
हा, अर्थ! तेरे अर्थ हम करते अनेक अनर्थ हैं,
धिक्कार, फिर भी तो नही सम्पन्न और समर्थ हैं।[1]

इसी प्रकार स्त्रियों का आभूषण-प्रेम,[2] स्त्रियों का अपमान,[3] लीक या रूढ़ि-पालन,[4] अविद्या[5] आदि बुराइयों पर भी मार्मिक उद्‌गार यत्र-तत्र मिलते हैं। मन्दिरों का उद्धार तथा तिलक-चन्दन इत्यादि की निःसारता पर भी गुप्त जी ने अपने विचार प्रकट किये हैं।[6]

तत्कालीन भारतीय राष्ट्र के उत्थान के लिए समाज का संगठन एवं हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-भावना की भी बड़ी आवश्यकता थी। प्रायः सभी कवियों का ध्यान इस ओर था।[7] राजनीतिक क्षेत्र में उस समय स्वदेशी आन्दोलन जोरों पर था। कवियों ने भी पूर्ण शक्ति से इसमें सहयोग दिया। 'पूर्ण' जी ने अपने 'स्वदेशी कुंडल' में इस का सब से अधिक उत्साह से वर्णन किया। कुछ उदाहरण देखिए—

पानी पीना देश का, खाना देशी अन्न,
निर्मल देशी रूधिर से नस नस हो संपन्न।
नस-नस हो संपन्न तुम्हारी उसी रूधिर से,
हृदय यकृत सर्वांग नखों तक लेकर शिरसे।
यदि न देश हित किया, कहेंगे सब अभिमानी,
शुद्ध नहीं तब रक्त नहीं तुझमें कुछ पानी॥

× × ×

गाढ़ा, झीना जो मिलै उसकी ही पोशाक,
कीजै अंगीकार तो रहे देश की नाक।
रहै देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहने,
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने।

---

१. भारतभारती, पृ० १४०। २. भारतभारती, पृ० १३६।
३. वही, पृ० १३६। ४. हिन्दू, पृ० ३०१।
५. पूर्ण संग्रह, पृ० २१६ व भारतभारती, पृ० ११५
६. हिन्दू, पृ० २४४। ७. हिन्दू, पृ० ३४६।
८. पूर्ण संग्रह, 'स्वदेशी कुंडल' पृ० २१२, २१४ व २१५।

खारा अपना जल पियो मधुर पराया त्याग,
सीठे को मीठा करै पूर्ण देश-अनुराग ।
पूर्ण देश अनुराग, सकल सज्जनों निबाहो,
है जो द्यों पर प्राप्त अधिक उससे मतचाहो ।

'कविरत्न' जी को तो स्वदेशी की इतनी धुन है कि लोगों को देशी खांड की जगह विदेशी सफेद चीनी खाते देखकर बड़ा अफसोस होता है क्योंकि इससे धर्म जाता है —

मीठी बनी, चसकदार, बड़ी रसीली, स्वादिष्ट, ना तनक हू करुई कसीली,
सों खांड त्यागि, नित खांड बनी विदेशी, लीलै, स्वधर्म हिं तिलांजलि दै विशेषी ।[1]

मीठी चीनी को कड़वी-कसैली कहलाने का जोश देश-प्रेम में ही तो हो सकता है !

'पूर्ण' जी ने भी अपने 'स्वदेशी कुंडल' में चीनी के त्याग की नेक सलाह दी है । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी भी स्वदेशी वस्त्र के अपनाने की अपील करते हैं । उनको इस बात के कारण बड़ा दुख है कि —

चमकते रंग हैं हम को भुलाते, अनोखे बेल बूटे भी लुभाते ।
नहीं हम देखते हैं पायदारी, हमारी है बड़ी यह भूल भारी ।
विदेशी धोबियों तक ने हमारी, समझ पर है कलप की ईट मारी ।
पहनते धोतियाँ, सबको दिखाते, न इनकी चाल भी हम चित्त लाते ।[2]

अपने समय के महापुरुषों अथवा नेताओं की प्रशस्ति अथवा उनके प्रति श्रद्धांजलि भी व्यापक देश-प्रेम का ही एक अंग है । यह श्रद्धा-प्रेम भी देश-प्रेम के ही अन्तर्गत है । पं० सत्यनारायण 'कविरत्न', 'पूर्ण' व गुप्त जी आदि कवियों ने अपने समय के प्रसिद्ध नेताओं का गुणगान किया है ।[3] गुप्त जी ने तो संसार के सभी प्रसिद्ध धर्मों और महापुरुषों के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं । विद्यार्थी, मजदूर तथा किसानों को उनकी जीवनी-शक्ति तथा कृतित्व के कारण, संबोधन करके भी कविताएँ लिखी गई हैं ।[4]

---

१. हृदय-तरंग, पृ० १७६ । २. 'सुमन' (सं० १६८०), पृ० ७६ ।

३. हृदय-तरंग, पृ० १०७ से ११८ तक, (रामतीर्थ, गांधी, रवीन्द्र, तिलक, गोखले, सरोजनी नायडू, तथा लाजपत राय आदि महापुरुषों के प्रति की प्रशस्तियाँ), 'पूर्ण संग्रह', पृ०३११, तथा गुप्त जी की अनेक कृतियाँ ।

४. 'एक भारतीय आत्मा' की 'भारतीय विद्यार्थी' नामक कविता; भारत-भारती, पृ० १७२; और, भारतभारती पृ० ६१ आदि ।

द्विवेदी-काल की देश-भक्ति का लक्ष्य है—जनसत्तात्मक (Democratic) राज्य की स्थापना। अंग्रेजों के प्रति राज्य-भक्ति की भावना क्षीण पड़ने पर भारत के देशी राज्यों में भी राज-भक्ति धीरे-धीरे समाप्त होती गई क्योंकि देशी राजा भी शोषण व उत्पीड़न के विशाल लौह मन्त्र थे। ऐसे राजाओं के अत्याचारपूर्ण शासन से मुक्त होना भी उस समय देश की स्वाधीनता-प्राप्ति का एक अंग था। गाँधीवादी उपायों द्वारा आततायी तथा उत्पीड़क राजाओं के शासन से मुक्त होने की प्रेरणा पं० रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' काव्य से उस समय खूब मिली होगी, इसमें संदेह नहीं।

संक्षेप में, द्विवेदी-काल की राष्ट्रीय कविता का यही स्वरूप है। यह सब विस्तार 'रतिभाव' मूलक मानव-प्रेम या राष्ट्र-प्रेम का है। रत्यात्मक प्रेम-संबंध के बिना हृदय में देश के प्रति न तो ऐसी पीर ही होती है और न उसकी सर्वांगीण उन्नति की कामना तथा उत्साह। उक्त काव्य में भाव-सत्यता आश्चर्यजनक रूप में विद्यमान है।

३. प्रणय अथवा दाम्पत्य भावना

(क) सामान्य : दृष्टिकोण, काव्य का स्वरूप व अन्य विशेषताएं

भक्ति-काल में राधाकृष्ण तथा सीता-राम अलौकिक व्यक्ति थे और उनके प्रति प्रदर्शित प्रेम भी अलौकिक था। रीतिकाल में कवियों ने उनको पूर्णतः स्थूल तथा लौकिक बना दिया। ये दोनों ही सीमाएं वर्तमान काल के कवियों को समयानुकूल नहीं जान पड़ीं अतः उन्होंने लौकिक और अलौकिक, दोनों का समन्वय करके मध्यमार्ग को ग्रहण किया। उन्होंने राम-कृष्ण आदि में सर्वोच्च मानव-आदर्शों की स्थापना करके उन्हें परिष्कृत मानवता की भूमि पर ला खड़ा किया। स्वाभाविकता अथवा यथार्थता की दृष्टि से उनमें कुछ मानवीय दुर्बलताओं का भी समावेश किया गया, किन्तु महापुरुषों के परम्परागत सामान्य चारित्रिक ढाँचे को किसी प्रकार विकृत नहीं किया गया। उनका चरित्र-चित्रण भी अधिकांशतः मानवीय दृष्टिकोण से ही किया। जब काव्य में अलौकिक व्यक्तियों का लौकिकतापरक प्रेम व्यंजित किया जाने लगा। चिन्तन और व्यवहार के जगत् में मानव का महत्व और गौरव उभर आया, इसलिए साधारण मानवों में प्रेम-सम्बन्धों का चित्रण भी अब काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग हो चला। यह नवीन प्रवृत्ति, छायावाद की मुख्य प्रवृत्ति—अर्थात्, व्यक्तिगत प्रणय-भावना के निरूपण की प्रवृत्ति—का पूर्वाभास थी। वस्तुतः वह भारतेन्दु-काल से ही आरम्भ हो चली थी।[१] तात्पर्य

---

१. अव्यवस्था वाले युग में देव व्याज से माननीय भाव का वर्णन करने की जो परम्परा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का

यह है कि इस नवयुग के प्रेम-चित्रण का दृष्टिकोण परिष्कृत मानवीय दृष्टिकोण हुआ जिसे हम भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन—इन दोनों दृष्टिकोण का मध्यवर्ती दृष्टिकोण कह सकते हैं। छायावाद को मुख्यत: इसी दृष्टिकोण की विकसित परम्परा प्राप्त हुई। यद्यपि द्विवेदी-काल में, नैतिकता के आग्रह से, मादन-भाव के प्रेम की धारा क्षीण पड़ गई थी, किन्तु आगे चल कर 'छायावाद' में वह फिर एक विशाल नदी के रूप में उमड़ पड़ी।

परिष्कृत मानवीय दृष्टिकोण ने काव्य में वर्णित प्रेम का स्वरूप स्थिर कर दिया। प्राय: सभी प्रमुख कवियों ने प्रेम को एक पवित्र व उदात्तवृत्ति के रूप में ग्रहण किया। इस काल का प्रेम मुख्यत: वासना से ही आरम्भ होता है किन्तु उसकी परिसमाप्ति विश्व-प्रेम अथवा व्यापक मानव-प्रेम में ही होती है। सभी जगह प्रेम अपने उत्कर्ष में वासना-जनित आकर्षण से ऊपर उठता हुआ मिलता है। प्रेम के आरम्भ और अन्त के दो कूलों के बीच त्याग और भोग तथा आशा और निराशा की लहरें उठती-गिरती दिखाई देती है, किन्तु अन्त में प्रेम, विरहाग्नि, आह, तथा उच्छ्वास से शुद्ध हो कर, खरा कंचन बन जाता है। साकेत, यशोधरा, पंचवटी, प्रियप्रवास, मिलन, स्वप्न, पथिक, प्रेमपथिक, ग्रंथि आदि युग की सभी प्रसिद्ध रचनाओं में यही दिखाई पड़ता है। एक बात और है। एक ओर जहाँ पात्र-पात्रियाँ त्याग, सेवा और विश्व-प्रेम की ऊँची भूमिका पर पहुँचे दिखाई पड़ते है, वहाँ दूसरी ओर उनके रुदन-विलाप को देखकर ऐसा भी जान पड़ता है कि प्रेम-पथ का त्याग, संयम आदि मानों उनकी विवशता थी। यदि उन्हें भोग का अवसर मिलता तो शायद वे विश्व-प्रेम के पथ का वरण न करते।[1] वास्तव में कवियों ने भोग से प्रेम की ओर अग्रसर होने के लिए अनुकूल और स्वाभाविक परिस्थितियाँ तैयार भी की हैं (जैसे, 'साकेत', 'प्रिय प्रवास' आदि में)। इसलिए त्याग, उत्सर्ग और सात्विक प्रेम के रजत-शिखरों पर समासीन पात्रों का विकास विलास की भूमि में जाता हुआ दिखाया गया है, यह स्वाभाविक ही है। अतएव ऐसे स्थलों पर प्रेम की उच्च भूमि के उदित होते हुए भी आकाश में अवसाद की करुण खिन्नता का वातावरण हृदय में मसोस-सी उत्पन्न

चित्रण भी हिन्दी मे उसी समय आरम्भ हुआ।.........

इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचन्द्र का चित्रण वर्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिन्दी मे पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिये उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरम्भ किया, किन्तु श्री हरिश्चन्द्र का आरम्भ किया हुआ यथार्थवाद भी पल्लवित होता रहा। —'प्रसाद' : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' पृ० १३७–१३८।

१. श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' : 'महाकवि हरिऔध', पृष्ठ २१२–२१३

करता है।

प्रेम के स्वरूप के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने-योग्य और है। यह प्रेम इस काल के काव्यों मे दो रूपों मे प्रकट होता है। (१) पूर्वराग के रूप मे, और (२) विवाहोत्तर दाम्पत्य प्रेम के रूप में। पूर्वराग के रूप मे यह प्रेम किन्ही दो प्रेमियों के हृदय में, किसी रमणीय प्राकृतिक दृश्यावलि के बीच, प्रथम दर्शन से अथवा बाल-साहचर्य से विकसित होकर अपनी हरियाली फैलाता है, किन्तु क्रूर समाज के बन्धनों से वह वैवाहिक प्रेम में परिणत नही हो पाता; नियति अथवा समाज के द्वारा निर्दयतापूर्वक कुचल दिया जाता है। हाँ, विरह की ज्वाला में जल कर यह प्रेम, प्रेमी-प्रेमिका के बिछुड़ने पर, अत्यन्त निर्मल और खरा हो जाता है और आदर्श-भूमि पर पहुँच कर ईश्वरीय कोटि को प्राप्त हो जाता है। इस प्रेम को हम स्वच्छंदतावादी प्रेम (Romantic Love) कह सकते हैं। वह प्रेम 'प्रसाद' के 'प्रेम पथिक' और पंत की 'ग्रंथि' में निरुपित हुआ है। दूसरे रूप का प्रेम ० रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' तथा 'पथिक' आदि काव्यों में विशदतापूर्वक निरूपित हुआ है। यह स्वकीया नायिका के प्रति मर्यादित दाम्पत्य प्रेम है जो भोग से आरम्भ होकर, किसी लोक-हित की महत् प्रेरणा से, कर्म-क्षेत्र की विविध भूमियों को पार करता हुआ अन्त में विश्व-प्रेम या मानव-प्रेम के सुदूर और धूमिल क्षितिज मे लीन हो जाता है।

(ख) युग की प्रेम-सम्बन्धी विचारधारा

इस युग में मानव-प्रेम एक नवीन महिमा से मंडित हुआ और वह जीवन की एक पवित्र निधि अथवा तत्व के रूप में स्वीकार किया गया।[१] भक्ति-जगत् में तो प्रेम एक पावन-कारी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित था ही किन्तु अब उसकी क्रांति-किरण से मानवीय मादन-प्रेम सम्बन्ध भी दमक उठे। लौकिक प्रेम की पवित्रता तथा महत्ता हिन्दी-काव्य मे पहली बार दिखाई पड़ी। कवियों ने उज्जवल मानवीय प्रेम का अनेक प्रकार से गुण-गान करके उस में लोकोत्तर पावनता की प्रतिष्ठा की।

कविवर 'प्रसाद' ने प्रेम को मानव-जीवन की सर्वोच्च साधना के रूप में देखा:—

पथिक, प्रेम की राह अनोखी भूल भूल कर चलना है,
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुये।
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम, प्रियतम स्वर्ग बिहारी होने का फल पाओगे।
प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इस का परिमित रूप नही जो व्यक्ति-मात्र में बना रहे।
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सब को समता है,

---

१. डा० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० ६४

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।[1]

पं० श्रीधर पाठक भी रूखे ज्ञानियों की तरह प्रेम को असार नहीं कहते। वे संसार को पूर्ण प्रेममय समझते हैं:—

प्रेममय है सारा संसार।
प्रेमहि का सारा प्रसार है, मत कह इसे असार॥[2]

प्रेम-रस में सराबोर कविवर सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रेम की महिमा का यों बखान करते हैं—

मंजु मनोरम मधुर रस सरस सुठि रस कुसुमाकर।
प्रेम सबद अति अद्भुत अमल अलौकिक आखर॥
अति करकस अति कठिन लोह मन के सोउ दरसै।
सहजहि सुबरन होत प्रेम पारस के परसे॥
होत न सोभा कतहुं नेह सौं सूनै उर की।
स्वीकृत हीइन सनद कबहुं जो बिना मुहर की॥
निरत विचारन जोग रूचिर उपदेस यही उर।
परमेसुर मय प्रेम प्रेममय नित परमेसुर॥[3]

इसी प्रकार कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने प्रेम को काम से सर्वथा भिन्न बता कर उसकी शुभ्रता तथा प्रणय-पथ की उच्चता प्रदर्शित की है—

चुप, चुप कामी, चुप, नाम न लो प्रेम का,
अबला रहूँ, मैं, किन्तु धर्म बलवन्त है।
तुम हो कृपाण पंथी, प्रणय पंथी नहीं,
प्रेमी तो पराजय भी भोगता है जय सी।
सच्चा योग उसका वियोग में ही होता है।
मर के जिलाता वह, जीता नहीं मार के॥[4]

कवि प्रेम को मुक्ति से भी बड़ा मानता है। प्रेम से ही संसार-सागर पार होता है। उनकी 'यशोधरा' कहती है—

आओ, प्रिय, मन में भाव विभाव भरें हम,
डूबेंगे नहीं कदापि तरें न तरें हम।
कैवल्य काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार हेतु शत वार सहर्ष मरें हम।

---

१. प्रेम पथिक, पृष्ठ १६। २. भारत-गीत, पृष्ठ ६८।
३. हृदय-तरंग, प्रेम कली। ४. सिद्धराज, पृष्ठ ७२–७३।

तुम सुनो क्षेम से, प्रेम गीत मैं गाऊँ,
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ।[1]

गुप्त जी, प्रेम और मोह, आत्मा का विश्वास और मन का विद्रोह, वासना और सुधापूर्ण प्रीति में स्पष्ट अन्तर करते हैं।[2]

श्री सियारामशरण गुप्त प्रेम-तीर्थ में पवित्र होने के लिये मानव को सप्रेम निमंत्रित कर रहे हैं—

कलह प्रेम की मूर्ति, अरे ओ मानव भोले,
धरती के इस प्रेम-तीर्थ में पावन हो ले।[3]

और, कविकर पं० रामनरेश त्रिपाठी तो फेफड़े की सारी शक्ति लगाकर और पूरा कण्ठ खोल कर प्रेम का गौरव-गान करते नहीं अघाते। वे प्रेम-राज्य की सुन्दरता पर मुग्ध हैं—

कैसी मधुर मनोहर उज्ज्वल है यह प्रेम कहानी।
जी में है अक्षर बन इसके बनूँ विश्व की बानी।
स्थिर, पवित्र, आनन्द प्रवाहित, सदा शात सुखकर है।
अहा, प्रेम का राज्य परम सुन्दर, अतिशय सुन्दर है।[4]

कवि वासनात्मक प्रेम न चाह कर जीवनोत्सर्ग की अमर प्रेरणा देने वाले प्रेम के स्वर्गीय रूप पर मुग्ध है—

सच्चा प्रेम वही है जिस की तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर,
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है, करो प्रेम पर प्राण निछावर।[5]

सच्चा प्रेमी भस्मीभूत होकर भी नई शक्ति के साथ जीवित रहता है। यही प्रेम की अमरता तथा उसकी अक्षय विभूति है। 'प्रसाद' के उद्‌गार देखिये—

किन्तु न परिमित करो प्रेम सौहार्द, विश्व-व्यापी कर दो।[6]

पर, यह सब तो तभी सम्भव है जब प्रेमी प्रेम को अखण्ड व अविनाशी जीवनतत्व के रूप में स्वीकार करके उसे अपने प्राणों में आत्मसात् कर ले। उसके बिना उसका जीवन व्यर्थ है। वस्तुतः प्रेम से ही सृष्टि का कण-कण गतिशील हो रहा है—

प्रेम जगत् का चालक है, इसके आकर्षण में खिंच के,
मिट्टी वा जल पिंड सभी दिन रात किया करते फेरा।

---

१. 'यशोधरा', (१९९५), पृ० १५१। २. 'पंचवटी', ६१।
३. 'मृण्मयी', पृ० ७६। ४. 'पथिक', प्रथम सर्ग।
५. 'स्वप्न', पांचवां सर्ग। ६. 'प्रेम पथिक', पृ० २४।

इसकी गरमी मरु, धरणी, गिरि, सिंधु, सभी निज अन्तर में,
रखते हैं आनन्द सहित, है इसका अमित प्रभाव महा।[1]

इसीलिए, पं० रामनरेश त्रिपाठी भी निःस्वार्थ प्रेम की जोत जगाने का ही परामर्श करते हैं—

सुखी रहो, निःस्वार्थ प्रेम की जग में ज्योति जगाओ।
भ्रम में भूले भटके भव को सुख की राह लगाओ॥[2]

जब ऐसी ही बात है, तब क्या विरह और क्या मिलन ! दोनों ही स्थितियों में, प्रियतम सर्वत्र दिखाई देगा, यही प्रेम की उच्चतम भूमि है। यहीं आकर प्रेम का अर्थ ईश्वर हो जाता है देखिये—

प्रियतममय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ,
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत, जग भर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है,
हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है,
यह संज्ञाएँ उड़ जाती हैं, सत्य तत्व रह जाता है।[3]

प्रेम एक दिव्य रसायन है और इसका मूल मंत्र है निःशेष आत्म विसर्जन। यही प्रेम की मुक्ति है—

इस के बल से तरुवर पतझड़ कर वसन्त को पाते हैं,
इस का है सिद्धान्त : मिटा देना अस्तित्व सभी अपना।[4]

प्रेम-पथ की विरति भी कवि पंत की दृष्टि में प्रेमी को अमित शक्ति प्रदान करती है—

प्रेम-वंचित को तथा कंगाल को, है कहाँ आश्रय विरह की वह्नि में,
भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा, हो गई परिणत विरति सी शक्ति में।[5]

आदर्श प्रेम के उन्नायक कवि गुप्त जी ने भी 'साकेत' में मादन-प्रेम को कांतिवान् बनाया है। प्रणय-भावना ही, पृथ्वी के कण-कण में हमारे लिये स्वर्ग का प्रकाश और संगीत भर देती है। लक्ष्मण उर्मिला को कहते हैं—

बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर, मर रही है, जी रही है सृष्टि भर।
भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी, शून्यता नभ की, सलिल आवर्त्त भी।
प्रेयसी, किस के सहज संसर्ग से, दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से।[6]

---

१. 'प्रेम पथिक', पृ० १७। २. 'पथिक', दूसरा सर्ग।
३. 'प्रेम पथिक', पृ० १७। ४. 'प्रेम पथिक', पृ० १७।
५. सुमित्रानन्दन पन्त : ग्रन्थि (१९२९), पृ० ३९।
६. 'साकेत', प्रथम सर्ग।

और ठाकुर गोपाल शरण सिंह प्रेम का माहात्म्य किन सरल-सुडौल शब्दों में अंकित करते हैं :—

अखिल विश्व के प्राणाधार, अहे प्रेम जग जीवन सार।
यथा समय यौवन मदिरा से, मदोन्मत्त संसार हुआ,
और साथ ही यहाँ तुम्हारा उर-उर में संचार हुआ,
विश्व सुन्दरी के शृंगार, अहे प्रेम जग जीवन सार। *

इन उद्धरणों में युग-कवि की परवर्तित व परिष्कृत मानवीय प्रेम-सम्बन्धी विचारधारा का हमें पूरा-पूरा परिचय मिलता है। प्रेम-निरूपण में प्रायः यही दृष्टि सर्वत्र परिव्याप्त है।

जिस व्यापक सन्दर्भ (लौकिक दृश्य, घटनाएँ, परिस्थितियाँ आदि) में प्रेम की यह दृष्टि निर्मित होती हुई दिखाई पड़ी है उस पर विचार करते हुए हम इस तथ्य तक पहुँचते हैं कि यह प्रेम कोरा अलौकिक नहीं है; वह लौकिक में अलौकिक के दर्शन की उपज है, और यही प्राचीन और नवीन प्रेम की विभाजन रेखा कही जा सकती है। इस दृष्टि-परिवर्तन के मूल में जीवन की यथार्थता, स्थूल का नवोदित महत्व तथा विज्ञान की पदार्थ मूलक प्रेरणा बहुत सूक्ष्मता से काम करती हुई दिखाई पड़ रही है। प्रेम-सम्बन्धी यह जीवन-दर्शन ही युग के प्रेम-काव्य का स्नायु-जाल है।

(ग) प्रेम निरूपण

द्विवेदी-युग में कई ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध काव्य लिखे गए जिनमें पात्रों के चरित्र-चित्रण के बीच प्रणय-भावना के निरूपण का भी सुन्दर अवसर निकल आया। शृंगार की संयोग और वियोग इन दोनों अवस्थाओं में हृदय की कैसी-कैसी दशाएँ होती हैं, क्षण-क्षण परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप कैसी-कैसी शारीरिक चेष्टाएं होती हैं और भाव-प्रेरित वक्र मर्मोद्‌गार मुख से निकलते हैं, उन सब का पर्याप्त सशक्त तथा कलात्मक चित्रण हुआ है। समर्थ कवियों ने, परम्परागत घिसे-पिटे राज-मार्ग से हट कर, अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा, विस्मयकारिणी मौलिकता, रमणीय कल्पना तथा नूतन उद्‌भावना-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। नये खेवे के कवियों द्वारा, भावनाओं तथा चेष्टाओं का चित्रण तभी सार्थक व सफल माना जा सकता है जब एक ओर तो वह कवियों के निरीक्षण की व्यापकता और अनुभूति की गम्भीरता का परिचय दे और दूसरी ओर परम्परागत वर्णनशैली से अभ्यस्त अतः निष्क्रिय या जड़ीभूत हृदयों में नवीन संवेदनाएँ ग्रहण करने का सामर्थ्य उत्पन्न कर दे। इसके लिए विषय के नवीन ढंग के विन्यास की अपेक्षा होती है। इस दृष्टि से

* **ठाकुर गोपालशरण सिंह : 'आधुनिक कवि' (हि० सा० सम्मेलन संग्रह), पृ० २६।**

देखने पर हमें प्रणय-भावना के चित्रण में अवश्य ही इस युग में पर्याप्त नवीनता तथा मौलिकता के दर्शन होते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त, 'हरिऔध', पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० रामनरेश त्रिपाठी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, श्री जयशंकर 'प्रसाद', श्री सुभद्राकुमारी चौहान आदि प्रणय-भावना के चित्रण की दृष्टि से इस युग की कतिपय विशिष्ट प्रतिभाएँ हैं।

जीवन के कँकरीले-कँटीले पथों पर भी प्रणय की अनादि भावना मन को तरंगित करती रहती है। आँधी-पानी के इस युग में भी प्रणय की धारा प्रवाहित होती रही। संयोग और वियोग दोनों का वर्णन हुआ। पहले संयोग वर्णन को लें।

(क) **संयोग वर्णन**—रस-निरूपण में दो पक्ष होते हैं—(१) विभाव पक्ष और भाव पक्ष। आलम्बन का बाह्य रूप सौदर्य-वर्णन, जो विभाव पक्ष के अन्तर्गत होता है, आगे किया जायगा। यहाँ भाव-पक्ष पर विचार किया जाय। भाव अगणित होते है। सुविधा के लिए साहित्य-शास्त्रियों ने उन्हें अनेक स्थायी-संचारी भावों के रूप में वर्गीकृत कर दिया है।

संयोग-वर्णन में व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, गर्व, मद आदि संचारियों का विशेप स्थान है। कवियों ने संयोग का भी सुन्दर वर्णन किया है। व्रीड़ा की यह व्यंजना देखिए—

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये, और बोले—"एक परिरम्भण, प्रिये।"
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया, एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।[१]

अनुराग-जन्य चपलता का यह एक स्वाभाविक और मनोहर चित्र और देखिए—

ललित ग्रीवा भंग दिखला कर अहा, उर्मिला ने लक्ष कर प्रिय को कहा—
"और भी तुमने किया कुछ है कभी, या कि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी"।[२]

मध्ययुगीन कठोर नैतिकता तथा मर्यादा की 'लक्ष्मण-रेखा' को पार कर कवि ने, युगानुरूप स्वच्छन्दता बरतते हुए, पात्रों के प्रणय-सम्बन्ध में जो एक नवीन चांचल्य तथा स्फूर्ति उत्पन्न की है, यह ध्यान देने योग्य है।

'हर्ष' की व्यंजना इन पंक्तियों में कितने संयत व मार्मिक रूप से हुई है—

पुलक पक्ष्म परिगीत हुए ये, पद-रज पौंछ पुनीत हुए ये,
रोम-रोम शुचि शीत हुये ये, पाकर पर्वस्नान।
पधारो, भव भव के भगवान।[३]

---

१. **साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० २४।**
२. **साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० १७।**
३. **यशोधरा, पृ० २१०।**

पं० रामनरेश त्रिपाठी-रचित 'स्वप्न' की रूप गर्विता नायिका 'सुमन' के इस आचरण में रूप के 'गर्व' की कैसी कौशलपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है—

एक दिवस मैंने उपवन में पुष्पित एक गुलाब देख कर,
बड़े प्रेम से कहा—"हे प्रिये, कैसा है प्रसून यह सुन्दर"।
वह अचरज से लगी देखने, निज कपोल मेरे समक्ष कर,
मैं लज्जित हो गया, भूलता नहीं हाय, वह दृश्य मनोहर।[1]

और, 'मद' की सुन्दर व्यंजना इन पंक्तियों में देखिए—

जब उसके सौंदर्य और गुण का मैं करता था संकीर्तन,
मेरे दृग से लग जाते थे उस के अर्ध-निमीलित लोचन,
मेरा कंठहार बनती थीं उसकी गोल भुजाएँ उठ कर,
हो जाती थी प्रेम-प्रभा से उस के मुख की कांति मनोहर।[2]

भाव और अनुभाव का घनिष्टतम सम्बन्ध है। अनुभाव हृदय के स्थायी अथवा संचारी भावों का अनुभव कराते है। ये अनुभाव आलम्बन के सौदर्य से सम्बन्धित हैं, अतः इनका स्थान सौदर्य-निरूपण के अन्तर्गत है।

पर संयोग का सौंदर्य इस प्रकार के संचारी भावों के निरूपण में नहीं मिलता। वह तो वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ दो आत्माएँ परस्पर आकर्षित होकर एक दूसरे में लीन हो जाती हैं और सारी प्रकृति उनके इस मिलन पर्व पर श्रृंगार करके गीत गाने लगती है। वास्तविक मिलन में आत्मा अजस्र रस-वर्षा में स्नान करती हुई मुक्त होकर कूक उठती है। ध्यान देने की बात यह है कि मिलन का यह सुख केवल प्रेम की एकनिष्ठता, विश्वास और समर्पण में ही प्राप्त हो सकता है। 'साकेत' का 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' गीत 'मिलन' सुख की अत्यन्त ही रसमयी अभिव्यक्ति है। गुप्त जी की 'पंचवटी' में भी मिलन की सात्त्विक रस-धारा कल्-कल् करती हुई बह रही है।

श्री सुभद्राकुमारी चौहान की गणना द्विवेदी कालीन प्रेम-कवियों में की जा सकती है। इन्होंने वीरता, भक्ति और श्रृंगार के बड़े ही मार्मिक उद्गार व्यक्त किए है। इनकी रचना में सरलता, स्वाभाविकता, ओज और माधुर्य कूट-कूट कर भरे हुए हैं। 'मुकुल' में 'स्मृतियाँ' 'प्रियतम से' जैसी कविताएँ बड़ी मार्मिक हैं। इनमें प्रणय-भावना अपने सहज—अकृत्रिम रूप में प्रकट हुई है। 'प्रियतम से' कविता में समर्पण की भावना देखिए—

---

१. स्वप्न, पृ० ६०।
२. वही, पृ० ६२।

"जरा-जरा सी बातों पर
मत रूठो मेरे अभिमानी।
लो प्रसन्न हो जाओ
गल्ती मैंने अपनी मानी॥

(ii) **वियोग-वर्णन**—विरह-वर्णन कवि-हृदय की सरसता तथा कवि-प्रतिभा की कसौटी है। विरहावस्था में ही हृदय में वे भाव-तरंगें उठती हैं जिनका कोमल चित्रण, अत्यन्त मुक्त कल्पना, व्यापक जीवनानुभूति, भूतमात्र-व्यापी सहानुभूति, तथा संयत-मृदुल तूलिका-कौशल वाले भाव-चित्रकार कवि ही कर सकते हैं। वास्तव में विरह ही प्रेम का सच्चा जीवन और उसकी गति है। पं० रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।[1]

विरह की नाना अंतर्दशाओं का चित्रण इस काल के मूर्धन्य प्रबन्धकार कवियों ने पर्याप्त मनोयोग के साथ किया है। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, औत्सुक्य, अमर्ष, विबोध, मति, उन्माद, मरण, वितर्क आदि हृदय की अत्यन्त गहरी भावनाएँ हैं। विरह-दशा में ही इन भावनाओं का हृदय में संचार रहता है। जो कवि घटना तथा परिस्थिति को, उस की समग्रता में, मूल से पकड़ कर हृदयंगम करता है वही इन दशाओं का मार्मिक निरूपण कर सकता है। भारतेन्दु-काल के कवियों ने इस दृष्टि से कोई विशिष्ट प्रतिभा का परिचय नहीं दिया था। किन्तु इस काल में अवश्य हमें नवीनता के दर्शन होते हैं।

गुप्त जी ने विरह-वर्णन में पर्याप्त नवीनता का समावेश किया है। 'निर्वेद' संचारी की ये उक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—

दीपक संग शलभ भी जला न सखि, जीत सत्व से तम को,
क्या देखना दिखाना, क्या करना है प्रकाश का हमको![2] × × ×

अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई, हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई![3] × ×
जाओ मेरे सिर के बाल!
आलि, कर्त्तरी ला, मैंने क्या पाले व्याल![4] × × ×

अब क्या रक्खा है रोने में!
इन्दु कले, दिन काट शून्य किसी एक कोने में![5]

---

१. 'पथिक', पृ० १९। २. 'साकेत', नवम सर्ग। ३. वही।
४. 'यशोधरा', पृ० ३८। ५. वही, पृ० ६१।

'उर्मिला' और 'यशोधरा' की इन उक्तियों में कवि हृदय की भावुकता, उसकी उद्‌भावना-शक्ति तथा नाटकीय कल्पना के दर्शन होते हैं।

'ग्लानि' की दशा शुद्ध व सात्विक अन्तःकरण की विशेषता है। 'साकेत' की उर्मिला 'आत्मग्लानि' की दशा में कह रही है—

> अधम उर्मिले, हाय निर्दया, पतित नाथ है, तू सदाशया !
> नियम पालती एक मात्र तू, सब अपात्र हैं, और पात्र तू !
> मुँह दिखायगी क्या उन्हें अरि, मर ससंशया, क्यों न तू मरी। [1]

उर्मिला ने 'उन्माद' की स्थिति में लक्ष्मण के चरित्र के प्रति मनमाने ढंग से शंका कर ली थी। उस शंका का संतोषजनक निवारण होने पर वह 'आत्म-ग्लानि' से गड़ी जा रही है, भाव खूब अच्छा खिला है।

'हरिऔध' जी द्वारा 'शंका' की एक व्यंजना देखिये—

> मधुपुरपति ने है प्यार ही से बुलाया।
> पर कुशल हमें तो है न होती दिखाती।
> प्रिय विरह घटाएँ घेरती आ रही हैं।
> घहर घहर देखो है कलेजा कँपाती॥ [2]

विरह-विह्वल मातृ-हृदय की कोमल व्यंजना है।

उद्धव के प्रति गोपियों की इस उक्ति में 'रत्नाकर' द्वारा 'असूया' की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना हुई है—

> सुधि बुधि जाति उड़ी जिनकी उसांसनि सौं
> तिनकौं पठायौ कहा धीर धरि पाती पर।
> कहै रत्नाकर त्यौं विरह बलाय ढाइ
> मुहर लगाई गए सुख थिर थाती पर॥
> और जो कियौ सो कियौ ऊधौ पै न कोऊ बियौ
> ऐसी घात घूनी करै जनम संघाती पर
> कूबरी की पीठ तैं उतारि भार भारी तुम्हें
> भेज्यौ ताहि थापन हमारी छीन छाती पर। [3]

गोपियों की इस जली-कटी में कितनी स्वाभाविकता है।

"दैन्य" की कोमल भावना का चित्र इन शब्दों में कितना साफ उतरा है।

> [illegible] व्यथित बन के बावला हो रहा है।
> [illegible] सारे हृदय तल में वेदनाएँ सहस्रों।

---

१. साकेत, नवम सर्ग। २. 'प्रियप्रवास', चतुर्थ सर्ग। ३. 'उद्धवशतक', छंद ७३।

मैं पाती हूँ न कल दिन में, रात में ऊबती हूँ।
भीगा जाता जब सदन है वारि द्वारा दृगों के ॥ [1]

और, 'चिन्ता' की भी एक सुन्दर उक्ति देखिए—

अयि सखि, अवलोके खिन्नता तू कहेगी।
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं।
पर हृदय न जानें दग्ध क्यों हो रहा है।
सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता ॥ [2]

'स्मृति' की मादकता विरही-हृदय को न जाने कितनी भाव-तरंगों में डुबाती-उतारती है। अतीत के आनंदोल्लास व सुखोपभोग के दृश्यों को याद कर-कर के प्रेमी-हृदय एकान्त में न जाने कितनी सर्दायी और टकराती आहें भरते हैं। 'स्मृति' का एक करुण चित्र देखिए—

यह सिर से पद तक अति उज्ज्वल, हिम से आच्छादित है गिरिवर।
इस की चोटी से हम दोनों, भुज बन्धन कस आलिंगन कर।
चुम्बन करते हुए परस्पर, लुढ़का करते थे उतार पर।
उसे स्मरण कर हो जाता है, हृदय विरह-ज्वर से अति कातर। [3]

कैसी 'रोमाण्टिक' कल्पना है।

'रत्नाकर' जी का 'उद्धवशतक' 'स्मृति' संचारी के व्यंजक एक अत्यन्त ही नाटकीय प्रसंग के निरूपण से आरम्भ होता है। गोकुल की ओर से यमुना में बहते आते कमल को देखकर कृष्ण को मथुरा की कैसी स्मृति आती है, देखिए—

न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रत्नाकर उमहि गहि स्याम ताहि
बास बासना सों नैकु नासिका लगायौ है ॥
त्यौंहि कछु घूमि भूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा नाम कीर जब औचक सुनायौ है ॥ [4]

परिस्थिति की नाटकीयता के बीच 'स्मृति' का यह चित्रण वास्तव में मनोहर है।

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १५। २. वही, सर्ग ४
३. स्वप्न, सर्ग ४। ४. उद्धवशतक, १

गुप्त जी ने 'औत्सुक्य' की कितनी सुन्दर व्यंजना की है—

क्यों फड़क उठे ये वाम अंग, ज्यों उड़ने के पहले विहंग।
किस शुभ घटना की रटना सी, लगा रहा है अन्तरंग।
क्यों यह प्रकृति प्रसन्न हो उठी, नहीं कही कछु राग रंग।
उठती है अन्तर में कैसी, एक मिलन जैसी उमंग।
लहराती है रोम रोम में, अहा, अमृत की सी तरंग ॥[1]

वाम अंगों के फड़कने की बात कह कर कवि ने लोक-विश्वास का अच्छा ज्ञान बताया है। रोम-रोम में अमृत की तरंग लहराने के कथन के द्वारा प्रणय की अत्यन्त सात्विकता व पवित्रता प्रकट हुई है।

'अमर्ष' संचारी की सुंदर व्यंजनाएँ 'यशोधरा' में बहुत ही मार्मिकता से हुई हैं। दो एक उक्तियाँ देखिए—

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात ॥
सखि, वे मुझ से कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझ को वे अपनी पथ बाधा ही पाते।[2]

तथा,

यदि वे चल आये है इतना, तो दो पद उनको है कितना,
क्या भारी वह, मुझ को जितना, पीठ उन्होंने फेरी।
रे मन, आज परीक्षा तेरी।[3]

प्रणयिनी यशोधरा की पत्नी-सुलभ अधिकार-भावना को आघात लगने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई, क्रोध के कोमल रूप 'अमर्ष' की ये भावनाएँ वस्तुतः सुंदर हैं।

अविद्या के नाश होने पर चैतन्य-लाभ होने की इस व्यंजना में 'विबोध' संचारी की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है—

लगा सोचने वह सुमना के गुण का बार बार कर चिंतन,
धिक् है, मैं पुरुषार्थ छोड़कर बन में बैठा हूँ विरही बन।
अबला एक युद्ध में जाकर निज कुल, जाति, देश का गौरव,
रखने में तत्पर है, पर मैं हाय, हो रहा हूँ जीवित शव।[4]

'साकेत' की 'उर्मिला' व्यथा से थक चुकी है। सुमति के उदय होने पर उसका मन, विचार तथा तर्क से संशय-रहित हो संतोष-लाभ कर लेता है। विरही

१. यशोधरा, पृ० १५६। २. यशोधरा, पृ० २१।
३. वही, पृ० २०२। ४. स्वप्न (१९९०), पृ० ६९।

इस वृत्ति से किसी प्रकार जीवन धारण किये रहता है। 'मति' का यह उदाहरण लीजिए—

दिन जो मुझको देंगे आलि, उसे मैं अवश्य ही लूँगी,
सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यों न भोगूंगी।[1]

'उन्माद' की दशा संभवतः विरह की सब से गंभीर तथा मर्मस्पर्शी दशा है। उसके वश में विरही संज्ञा-शून्य-सा हो कर प्रमादपूर्ण आचरण करने लगता है। 'साकेत' की उर्मिला तथा 'प्रियप्रवास' की व राधा की दशा देखिए—

'विवश लक्—'नहीं, उर्मिला हहा!'
किधर उर्मिला? आलि, क्या कहा?'[2] × × ×

अब भी समक्ष वह नाथ खड़े, बढ़ किन्तु रिक्त यह हाथ पड़े।
न वियोग है न यह योग सखी, कह, कौन भाग्य भय भोग, सखी।[3] × × ×

आके जही निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली।
मेरी बातें तनिक न सुनी पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारी हृदय-तल की नारि ही जानती है।
जूही तू है विकच बदना, शांति तू ही मुझे दे।[4]

इस प्रकार के पचासों उदाहरण दिये जा सकते हैं। कवियों ने प्रणय-भावना के क्षेत्र में विरह के समय हृदय में उठने वाली नाना भाव-तरंगों का पर्याप्त सुदर तथा मार्मिक चित्रण किया है।

उद्दीपन विभाव

मानव और प्रकृति का घनिष्टतम संबंध है। सुख में प्रकृति हमारे आनंद में वृद्धि करती है और दुःख में वह हमारे दुःख को और भी तीव्र करती है। यह प्रकृति के आलम्बन-गत रूप से सर्वथा स्वतंत्र उसका उद्दीपन-गत रूप है। आलम्बनगत रूप का वर्णन आगे यथास्थान होगा। यहाँ प्रकृति के शृंगाररसोपयोगी उद्दीपनगत रूप के कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

प्रियतम श्रीकृष्ण के विरह में राधिका को सारी दिशाओं में आग सी लगी दिखाई दे रही है—

क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
बह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का।
विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं।
सखि, सकल दिशा में आग सी क्यों लगी है।

---

१. साकेत, सर्ग ९। २. वही, सर्ग ९। ३. वही, सर्ग ९।
४. प्रियप्रवास, सर्ग १५।

सब समझ गई मैं काल की क्रूरता को। पल पल वह मेरा है कलेजा कँपाता।
अब नभ उगलेगा आग का एक गोला, सकल ब्रज धरा को फूँक देता जलाता।[१]

विरही को प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में अपने ही ज्वलित हृदय की प्रतिच्छाया दिखलाई पड़ती है। कवि 'पंत' की वेदना कितनी गंभीर है—

वेदना कैसा करुण उद्गार है, वेदना ही है अखिल ब्रह्मांड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में, तारकों में, व्योम में है वेदना।[२]

'प्रसाद' के 'प्रेम-पथिक' को अपने हृदय की शून्यता के क्षणों में समस्त विश्व सुनसान लगता है—

गिरि, कानन, जनपद, सरिताएँ, कितनी पड़ीं मार्ग के बीच,
हृदयोपम सूना आकाश दिखाई पड़ता था सर्वत्र।[३]

मानव व प्रकृति में बिम्बप्रतिबिम्बभाव इन पंक्तियों में अच्छी प्रकार झलक उठा है—

मेरी छाती दलक रही है, मानस शफरी ललक रही है,
लोचन सीमा छलक रही है, आग नहीं सहारा।
सखि, निरख नदी की धारा।[४]

विरह में प्रकृति सदा दुःखदायी ही नहीं होती। उदार और उच्चाशय व्यक्ति उसमें अपने प्रिय की स्मृति भी पाते है, और मूर्ति भी। उर्मिला प्रकृति को देखकर कहती है—

प्रकृति, तू प्रिय की स्मृति-मूर्ति है, जड़ित चेतन की त्रुटि पूर्ति है।[५]

अतः विरही, प्रिय के नाते, प्रकृति को हरी-भरी तथा आनंदमय देखना चाहता है। यह कामना साधारण कामीजनों की न होकर गंभीर तथा एकनिष्ठ प्रेमियों की वृत्ति है। उर्मिला का हृदय विरह-ज्वाला में जल कर इतना उदात्त तथा निर्मल हो गया है कि वह जड़ प्रकृति को भी सुखी देखना चाहती है। यथा—

रह चिर दिन तू हरी-भरी, बढ़, सुख से बढ़ सृष्टि सुंदरी।[६]

प्रकृति के प्रति विरही प्रेमी की यह ममता बहुत दूर तक बढ़ जाती है। उर्मिला की यह आज्ञा जारी हो गई है—

सींचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फले यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी।[७]

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ४। २. ग्रंथि, प्रथम संस्करण, पृ० ३७।
३. प्रेम पथिक, पृ० १४। ४. साकेत, नवम सर्ग।
५. साकेत, नवम सर्ग। ६. वही, नवम सर्ग।
७. वही, नवम सर्ग।

विरह में यशोधरा इतनी उदार हो जाती है कि वह अपने से पहले चातकी को सनाथ हुआ देखना चाहती है—

भटकी हाय कहाँ घन की सुध, तू आशा पर अटकी,
मुझ से पहले तू सनाथ हो, यही विनय इस घट की।[1]

यशोधरा कण-कण के प्रति ममतामयी हो उठी है। उसे अब तो इस बात का भी भय होने लगा है कि कहीं उसकी गरम साँसें प्रभात के शीतल, मंद व सुगंधित पवन के स्वच्छंद प्रवाह में विक्षेप तो नहीं डाल रही है—

पवन, तू शीतल मन्द सुगन्ध।
इधर-किधर आ भटक रहा है उधर-उधर ओ अन्ध।
तेरा भार सहें न सहें ये मेरे अबल स्कन्ध,
किन्तु बिगाड़ न दें ये साँसें तेरा बना प्रबन्ध।[2]

विरह में प्रेमी का प्रकृति को जलता हुआ अनुभव करना तो साहित्य की रूढ़ि है, किन्तु प्रकृति के प्रति विरह में ऐसी उदारता का प्रदर्शन हिंदी में एक नई वस्तु नहीं तो (जायसी ऐसा वर्णन कर चुके हैं) कम से कम विरल अवश्य है। गुप्त जी के विरह-वर्णन की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है।

जिस प्रकार विरह में प्रकृति जलती हुई-सी दिखाई पड़ती है; उसी प्रकार मिलन के क्षणों में भी वह आनन्दोल्लासपूर्ण भी अनुभूत होती है। राम के सहवास से वन में भी सीता कितनी आनन्दित है, देखिए—

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े, नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े।
गाओ दिवि, चातक, चटक, भृंग भय छोड़े, वैदेही के बनवास वर्ष है थोड़े,
तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया। मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया।[3]

'मिलन' का क्या रंग फूटा है! सीता को वन में इतना आनंद कि १४ वर्ष भी थोड़े जान पड़ रहे हैं! इस मिलन में आत्मा का सारा रस मानो उफन आया है। स्वयं प्रकृति भी मानव-हृदयों के संयोग से प्रफुल्लित एवं आनन्दित हो उठती है। यह प्रकृति का मानवीकरण है जो उसमें चेतनता के आरोप से संपादित होता है। सीता को देखकर वन के फूल भी उल्लसित हो उठते हैं—

हँसने लगे कुसुम कानन के, देख चित्र सा एक महान,
विकस उठीं कलियाँ डालों में, निरख मैथिली की मुसकान।[4]

इस प्रकार हम द्विवेदी-युग के प्रणय अथवा दाम्पत्य भाव के वर्णन में पर्याप्त

---

१. यशोधरा, पृ० ५६। २. वही, पृ० ८९।
३. साकेत, आठवाँ सर्ग। ४. पंचवटी, छन्द, ६७

मौलिकता तथा रसात्मकता पाते हैं। भारतेन्दु-युग से तुलना करने पर इस युग की अभिव्यक्ति निश्चय ही अधिक रमणीय जान पड़ती है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्री सुभद्रा कुमारी चौहान तथा बाबू जयशंकर 'प्रसाद' आदि कवियों ने जो कुछ द्विवेदी-काल में इस क्षेत्र में हमें प्रदान किया है, वह इस युग की अनूठी देन समझी जायगी। प्रणय को जो दीप्ति, स्फूर्ति, सुषमा तथा शुभ्रता प्राप्त हुई, वह मुख्यतः इन्हीं कवियों के प्रयत्न से।

द्विवेदी-कालीन प्रेम (प्रणय) भावना का सच्चा मर्म इस युग में रचे विशिष्ठ प्रबन्ध काव्यों के जगमगाते प्रेमी पात्रों की बाह्य जीवन-स्थितियों तथा मानसिक भावों के घात-प्रतिघात में प्राप्त होता है। 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'यशोधरा', आदि काव्यों की प्रमुख पात्रियाँ इस युग की प्रतिनिधि तथा सर्वश्रेष्ठ चरित्र-सृष्टियाँ हैं जिनके प्रणय-पथ की विरह-व्यथा के माध्यम से प्रेम के उदात्त तथा निर्मल स्वरूप का उद्घाटन किया गया है। 'प्रियप्रवास' में कृष्ण की अनुरागिनी राधा अपने प्रियतम के विरह में मौन विकलता लिये छटपटा रही है। 'साकेत' की उर्मिला भ्रातृ-प्रेम के आदर्श अपने प्यारे लक्ष्मण के विरह में पहाड़ों-से दिन काट रही है। उधर 'यशोधरा'—उपेक्षिता, मनस्विनी, क्षत्राणी, किन्तु ममतामयी माता और कुलवधू यशोधरा—आँचल में दूध और आँखों में पानी लिये जेठ की धूप में खड़ी चढ़ाई चढ़ रही है। जीवन की विचित्र परिस्थितियों के कारण इनका एकनिष्ठ प्रेम घनीभूत, तीव्र और गंभीर हो उठा है, और उसमें उनके हृदय की गूढ़ अन्तर्दशाओं का परिचय मिलता है। अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मूर्च्छा—विप्रलंभ की इन काम-दशाओं से उस प्रेम की उष्ण-तरलता प्रकट होती है। ऐसी स्थिति में इनके जीवित रहने का एकमात्र मार्ग आशा, प्रतीक्षा, धैर्य, सन्तोष तथा भाग्य से सन्धि आदि ही रह गया है। राधा की आशा तो मानो सदा के लिए बुझ चुकी है, उर्मिला प्रतीक्षाकुल तथा आशावान् होकर अपने रूप-यौवन की आरती सजाये हार-गूँथती, भीतर द्वार के सहारे बैठी है, और यशोधरा की स्थिति भी राधा और उर्मिला की स्थिति के बीच लहरें ले रही है। इस प्रकार इनकी बाह्य स्थितियों में व्यक्तिगत अन्तर है। किन्तु एक साम्य भी है, और वह है संयम, साधना, विवेक और मर्यादा से अथाह सिन्धु का जल काटने चलना। और उनके इस उद्योग में ही उनके चरित्र की दीप्ति फूटती दिखाई पड़ती है। रीतिकालीन विरहिणियों में यह दीप्ति नहीं क्योंकि अपनी 'रति' को स्थानान्तरित या पथान्तरित कर अपने दिव्य गुणों का परिचय देने के लिए समाज-कल्याण या लोक-कल्याण का कोई क्षेत्र (क्योंकि उस समय ऐसी सामाजिक चेतना जगी ही नहीं थी) उनके सामने खुला हुआ नहीं है। किन्तु द्विवेदीकालीन नायिकाओं

मे कवियों ने नवीन जीवनादर्शो या सामाजिक आदर्शो (लोक-सेवा, आत्म-त्याग, समाज-सुधार, समाज-कल्याण आदि) की स्थापना कर दी है। नायिकाएँ अपने रुँधे पथों को छोड़कर स्वेच्छा से या विवशता से मगल कामना और विश्व-कल्याण के खुले खेतों में आ गई है। अपने इस प्रयत्न में उन्होने अपनी व्यष्टि को समष्टि में मिला दिया है। इस प्रकार के आदर्शो के शुभ्र आलोक से मण्डित होकर वे महिमावान् हो गई हैं। प्रेमानुभूति के पथ पर नैराश्य-जन्य नीरव आत्म-विसर्जन से उनकी कीर्ति मे शारदीय शुभ्रता भी समा गई है; उनके चारित्र्य में एक अद्भुत ज्योति जग उठी है। युग की बौद्धिक विचारधारा तथा पात्रियों की व्यक्तिगत भावुकता के मेल से इनमें एक युगानुरूप समन्वय भी उपस्थित हो गया है। उनके चरित्र के इस उत्कर्ष और शुभ्रता का सम्बन्ध उनकी प्रणय-भावना से ही है।

ऊपर हमने संयम की बात कही है। राष्ट्रीय जागरण और स्वातन्त्र्य संग्राम की उस दोपहरी में चारों ओर ब्रह्मचर्य, संयम, आत्म-निग्रह, आत्म-निषेध (self-denial) इन्द्रिय-दमन, साधना और विवेक का ही पाठ पढाया जा रहा था। प्रणय-भावना पर भी इसका प्रभाव पड़ा। इस दम-संयम का परिचय स्त्री पात्रों ने ही नहीं दिया, पुरुष पात्रों ने भी दिया। 'पथिक' का नायक प्रकृति-प्रेम की 'रोमाटिक भावना' में अपनी गृहस्थी छोड़ देता है और अन्त में देशोद्धार के प्रयत्न में ही अपना जीवन-विसर्जन करता है। इस विसर्जन में काम-वासना पर उसका संयम-निग्रह निहित है।

इस प्रकार त्याग, संयम व्रत, नैतिकता आदि युगादर्शो ने भी प्रेम (प्रणय)-कविता को बहुत दूर तक प्रभावित किया है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और ध्यान देने योग्य है। 'प्रिय प्रवास' में कवि ने कृष्ण-भक्ति-काव्य-क्षेत्र में मर्यादा का पुल बाँधा है, यथा—

> ले के माता चरण रज को श्याम औ राम दोनों।
> आये विप्रों निकट उनके पाँव की वन्दना की। (प्रियप्रवास, ६।५।४६)
> बैठे होंगे निकट जितने शान्त औ शिष्ट होंगे।
> मर्य्यादा का प्रति पुरुष को ध्यान होगा बड़ा ही ॥ (प्रियप्रवास, ६।६२)

और उधर, गुप्त जी ने लक्ष्मण-उर्मिला के चरित्र में प्रणय-संलाप के प्रसंग में एक युगानुरूप या जीवन-सुलभ स्वच्छन्दता बरती है। ये दोनों उदाहरण इस बात के साक्षी है कि युग अतिवादों को छोड़ कर मध्य मार्ग पर आने की चेष्टा कर रहा था।

४. प्रेम के अन्य रूप

(क) भक्ति अथवा ईश्वर-प्रेम

भारतीय ब्रह्मवाद की कल्पना एक अत्यन्त सूक्ष्म तथा उदात्त कल्पना है।

ब्रह्म ही पूर्ण सत्ता है। उपनिषदों में कहा गया है—

> ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥—ईषोपनिषद्

किन्तु ऐसा ब्रह्म शुद्ध तत्व-चिन्तन तथा ज्ञान का ही विषय है। उस अचिंत्य और अविकार सत्ता को हृदय के राग का विषय बनाने के लिए इन्द्रिय-ग्राह्य रूप और आकार देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके लिए अवतार की कल्पना की गई और ब्रह्म के दो रूप प्रतिष्ठित हुए—(१) निर्गुण, एवं (२) सगुण। हिन्दी के भक्ति-काल में ब्रह्म के दोनों रूपों का निरूपण हुआ। कबीर ने ज्ञान-क्षेत्र के शुद्ध ब्रह्म को अपने काव्य का विषय बनाया और अपनी उपासना-पद्धति को निर्गुण भक्ति कहा। जायसी ने उसी अचिंत्य तथा प्रकाशवान् सत्ता को सृष्टि के अणु-अणु में परिव्याप्त पाया और उसे अपने रागात्मक हृदय का विषय बना कर उसके साथ आत्मानुभूतिमूलक तादात्म्य स्थापित किया। यह प्रेमाश्रयी निर्गुण उपासना का स्वरूप था। किन्तु कुछ भक्तों को इतने से ही सन्तोष न हुआ। वे ईश्वर को प्रत्यक्ष नर-रूप में पृथ्वी पर ही उतार कर लाना चाहते थे। अतः उन्होंने ब्रह्म को पूर्णतः लोक के बीच अधिष्ठित कर, सगुण रूप में लाकर, उसके साथ रागमूलक निकटतम आत्मीय संबंध स्थापित करके ही चैन लिया। तुलसी और सूर ने क्रमशः राम और कृष्ण को अलौकिक ईश्वर मान कर सेव्य-सेवक भाव से तथा सखाभाव से उनकी उपासना की। रीतिकाल में हिन्दी के दरबारी कवियों ने राधाकृष्ण की प्रीति के व्याज से अपनी ही काम-वृत्ति का चित्रण किया। आगे हरिश्चन्द्र-काल में भी प्रायः वही सूर की काव्य-वस्तु तथा रीतिकालीन शैली-शिल्प ग्रहीत हुआ, किन्तु अंतर यह आ गया कि राधाकृष्ण के शृंगार-चित्रण में भक्ति-काल जैसी मौलिक भाव-विह्वलता तथा रीतिकाल की उद्दामता—ये दोनों बातें नहीं रहीं। ईश्वर-भक्ति का स्वरूप कुछ-कुछ देश-काल की परिस्थितियों से भी प्रभावित हो चला, पर मुख्यतः रहा वह रूढ़ ही।

किन्तु द्विवेदी-काल में सहसा ही ईश्वर-भक्ति के स्वरूप में, हिन्दी साहित्य के पूर्ववर्ती कालों से, एक युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित हो गया। जिस रूढ़ अर्थ में भक्ति-भावना आदि का प्रयोग होता चला आ रहा था, उसका अब लोप सा हो चला। यह अन्तर प्राचीनतावादी 'रत्नाकर' के 'उद्धव शतक' के उद्धव (जिनमें योग का वही रूढ़ रूप प्रकट हुआ है) के स्वरूप तथा 'हरिऔध' द्वारा 'प्रियप्रवास' में निरूपित ईश्वर-सम्बन्धी तथा नवधा-भक्ति संबंधी भावना के अध्ययन के द्वारा पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है। इस उत्क्रांति के मूल में राजनीतिक-सामाजिक चेतना थी। साहित्य-क्षेत्र में यह परिवर्तन कविवर रवीन्द्र के काव्य में सर्वाधिक स्पष्ट रूप में

दिखाई पड़ा ।[1] इस परिवर्तन के कारणों पर थोड़ा विचार किया जाना आवश्यक है क्योंकि ये ही इस युग की भक्ति-भावना के स्वरूप-निर्धारण के उत्तरदायी हैं ।

पाश्चात्य मानवतावाद तथा व्यक्तिवाद

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अमेरिकन-स्वाधीनता-संग्राम तथा फ्रांस की राज्यक्रांति जैसी पाश्चात्य जगत् की महान् घटनाओं ने पहली बार समाज-विधान में मनुष्य का स्वतन्त्र महत्व उद्‌घोषित करके उसके व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया । फ्रास की राज्यक्राति की समाप्ति मानव-मानव की समानता, बन्धुता तथा स्वतन्त्रता की घोषणा के साथ हुई । अब तक वहाँ मनुष्य ईश्वर, धर्म, राज्य, क़ानून, गिरजा तथा पोप के शासन के बाह्याडम्बरपूर्ण शिकंजे में कसा हुआ था । अन्धविश्वास, अन्धश्रद्धा, रूढ़ि तथा परम्परा ने मनुष्य के व्यक्तित्व को कुचल रखा था । अब मनुष्य ने पहली बार मानों मुक्ति का अनुभव किया और उसे अलौकिक देवता, मनुष्य कल्पित ईश्वर, तथा पृथ्वी पर नियुक्त उसके 'एजेन्ट' के आतंकपूर्ण-शासन से छुट्टी मिली। शुद्ध वैज्ञानिक बुद्धि की प्रेरणा से मानव के इस उभरे हुए नवीन महत्त्व के कारण प्राचीन ईश्वरता की रूढ़िवादी भावना बहुत कुछ दब चली । साहित्य तथा दर्शन-जगत् पर भी इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई ।

भौतिक विज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति ने भी सच्चे धर्म के स्वरूप-बोध में सहायता प्रदान की । शुद्ध बुद्धि की प्रक्रिया से वस्तु का पूर्वापर क्रमयुक्त तर्क-सम्मत विश्लेषण, वर्गीकरण, प्रयोग-परीक्षण आदि करके किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचना ही वैज्ञानिक पद्धति है । वह प्रस्तुत के परे अप्रस्तुत, अलौकिक आदि के प्रति अन्धश्रद्धा में किंचिन्मात्र भी आस्था नहीं रखती । यह पद्धति शुद्ध तत्वानुशीलन के लिए बड़ी ही उपादेय सिद्ध हुई और मानव-जीवन के प्रायः सभी व्यावहारिक क्षेत्रों में क्रांति करती हुई अन्त में ईश्वर-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना की भी कतरब्यौंत करने के लिए मानव के मन में जा घुसी । फलतः काव्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा । 'प्रिय-प्रवास' के कृष्ण अलौकिक ईश्वर न रह कर एक ऐतिहासिक महा-पुरुष या युग-पुरुष मात्र रह गए । आज के वैज्ञानिक व्यक्ति को गोवर्धन पर्वत के उंगली पर उठा लिए जाने की बात में विश्वास नही आ सकता । इसलिए पर्वत उठाने की घटना कवि को, विश्वसनीयता की दृष्टि से, रूपान्तरित कर देनी पड़ी है ।[2]

---

१. डॉ० सुधीन्द्र : 'हिन्दी कविता मे युगान्तर', पृ० ३३७ से ३५२ तक ।

२. लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में, ब्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का ।
सकल लोग लगे कहने उसे, रख दिया उंगली पर श्याम ने ।।

—प्रियप्रवास, १२।६७

पर, फिर भी 'प्रियप्रवास' में अतिप्राकृतिक तत्व (Supernatural element) पर्याप्त मात्रा में शेष है ।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर-भावना में बौद्धिकता ने अपना पूर्ण युगानुरूप हस्तक्षेप आरम्भ कर दिया। इसने बाह्य कर्मकाण्ड, विधि-निषेध, आचार-विचार, मंदिर-मसजिद, मठ-गिरजा आदि झगड़े की जड़ों में ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन न कर केवल मानव-मानव के बीच के दैनिक व्यवहार में ईश्वर के व्यावहारिक रूप का और प्रकृति के मूल में निहित एक अखण्ड, अविच्छिन्न तथा देश-कालातीत सत्ता, चेतना या शक्ति का समर्थन किया। इस प्रकार युग का ईश्वर बुद्धि-परक ही रहा। इस प्रवृत्ति ने भक्ति-काव्य के स्वरूप को भी पूर्णता प्रभावित किया। कोरी अन्ध-भक्ति के स्थान पर वही भक्ति युग को स्वीकृत हुई जो शुद्ध विवेक से अनुमोदित हो। अर्थात्, भक्ति भी नवीन साँचे में ढल गई। किन्तु नवीन विचारों के आवेश से काव्य में भक्ति के उद्गार, लीन-कारिणी रस-धारा अथवा मर्मस्पर्शी कल्पना-चित्र न हो कर प्राय: तथ्य-कथन या उपदेश मात्र ही रह गए। काव्य इस नवीन विचार-धारा का वाहक अधिक हुआ; काव्य की पद्धति से उसकी रागात्मक अभिव्यंजना उतनी न हो पायी।

स्वामी विवेकानन्द ने नवीन चेतना से अनुप्राणित होकर धर्म तथा मनुष्य के सम्बन्ध में नवीन विचार-धारा का निर्भीकतापूर्वक प्रचार किया।[1] उनकी धर्म तथा ईश्वर सम्बन्धी समस्त व्याख्या नवीन विचारों से प्रेरित तथा झंकृत है। युग-पुरुष श्री बाल गंगाधर तिलक ने भी गीता की कर्मयोगपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए केवल निष्काम कर्म में ही ईश्वरता की प्रतिष्ठा की।

युग की ईश्वर-सम्बन्धी भावना पर युग-पुरुष गांधी का भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। स्वामी रामतीर्थ ने बड़ी नवीनता व मौलिकता के साथ नवीन ईश्वरता का प्रचार किया।[2] पर, उत्तरकालीन द्विवेदी-युग तथा आरम्भिक छायावाद-युग

---

1. "Man is higher than all animals, than all angels, none is greater than man." × × ×

"Look upon every man, woman, and every one as God." × × ×

"The only God to worship is the human soul in the human body." × × ×

"If you want any good to come, you must throw your ceremonials over-board and worship the living God, the Man-God—every being that wears a human form—God in His Universal as well as individual aspects."

—Quoted from 'Thus Spake Vivekanand' (Madras).

2. "No sect or religion has the least right to prey upon its foolish votaries that has not come to an understanding with the healthy humanising results of present day scientific research."
—'*Heart of Rama*' p. 34.

पर सब से प्रबल प्रभाव रवीन्द्रनाथ का पड़ा। उन्होंने पाश्चात्य नवीन विचार-धारा को परम्परागत भारतीय भक्ति-भावना से मिला कर एक नवीन ईश्वरत्व की बड़ी ही रमणीय व आकर्षक कल्पना की।* उन्होंने अपनी 'गीतांजलि' के भक्ति और रहस्यपरक गीतों में निर्गुण सत्ता के प्रति अलंकृत भाषा में प्रणय-भावमयी रमणीय अभिव्यक्ति की और नवीन मानवता का स्वरूप भी स्थल-स्थल पर स्पष्ट किया। निश्चय ही इस रचना में भक्ति का वह रूढ़ रूप नहीं है जो मध्यकालीन भक्तों तथा संतों के द्वारा ग्रहीत हुआ था। उसमें कुछ नये तत्त्व मिल गये हैं। मानव, धर्म तथा ईश्वर-भक्ति के प्रति पाश्चात्य जगत् की नई तथा पूर्व की पुरानी विचार-धारा ने ज्ञान-विज्ञान-सम्मत हो कर जो नवीन व प्रगत रूप ग्रहण किया, वही काव्य तथा अध्यात्म का लावण्य व मिठास लिए, व्यक्तिगत अनुभूति से अनुप्राणित तथा झंकृत हो, नई रंगत की अभिव्यंजना-शैली का परिधान धारण कर उसमें आ उपस्थित हुई।

संक्षेप में, द्विवेदी-युग की ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति की यही पृष्ठभूमि है। इस काल का ईश्वर वृन्दावन या अवध में कृष्ण और राम बन कर ही नहीं रह गया है। वह सर्वत्र व्यापक होकर नाना रूप-व्यापारों में दिखाई पड़ रहा है। अब वह

"Rama brings you a religion which is found in the streets, which is written upon the leaves, which is murmured by the brooks, which is whispered in the winds, which is throbbing in your own veins and arteries; a religion which concerns your business and bosom; a religion which you have not to practise by going into a particular church only, a religion which you have to practise and live in your everyday life, about your hearth, in your dining room; everywhere you have to live that religion.' —वही, p. 38-39.

* Leave this chanting and singing and telling of beads. Whom dost thou worship in this lonely dark corner of a temple which doors all shut? Open thine eyes and see thy God is there before thee!"

"He is there where the tiller is tilling the hard ground and where the path-maker is breaking stones. He is with them in sun and in shower, and his garment is covered with dust. Put off thy holy mantle and even like him come down on the dusty soil."

"Come out of thy meditations and leave aside thy flowers and incense; What harm is there if thy clothes become tattered and stained? Meet him and stand by him in toil and in sweat of thy brow." —Rabindranath Tagore : '*Gitanjali*' p. 8-9.

दीन के वतन में, आह, आँसू, पतन, बेबसी, हाय, और रटन में भी व्याप्त हो गया है। पं० रामनरेश त्रिपाठी उसको कहाँ-कहाँ पाते है, देखिए—

हे मेरे प्रभु, व्याप्त हो रही है तेरी छवि त्रिभुवन में,
तेरी ही छवि का विकास है कवि की वानी में, मन में।
बालक के कोमल अधरों पर मधुर हास्य की छाया में,
माता के निःस्वार्थ नेह में, प्रेममयी की माया में,
ऊषा के चंचल समीर में, खेतों में, खलियानों में,
गाते हुए गीत सुख–दुःख के सरल स्वभाव किसानों में,
श्रमी किन्तु निर्धन मजूर की अति छोटी अभिलाषा में,
पति की बाट जोहती बैठी गरीबिनी की आशा में,
भूख प्यास से दलित दीन की मर्म भेदिनी आहों में,
दुखिया के निराश आँसू में, प्रेमीजन की राहों में...[1]

ईश्वर केवल सुन्दर स्थानों में ही नहीं है। वह कुरूपता व निःसहायता जैसी मानसिक स्थितियों में भी है, देखिए—

पर हरि के पद–पद्म कहां है, क्या सरिता के सुन्दर तट पर ?
नहीं, निराशा नाच रही है जहाँ भयानक भूरि भेस धर।
निस्सहाय निरुपाय जहाँ है बैठे चिन्ता मग्न दीन जन,
उनके मध्य खड़े हरि के पद-पंकज के मिलते है दर्शन।[2]

कवि अब तो जन्मभूमि को भी अपना ईश्वर मान कर प्रणाम करता है—

फिर उसने विस्तृत स्वदेश की ओर दृष्टि निज फेरी।
कहा "अहा, कैसी सुन्दर है जन्मभूमि यह मेरी"।
भक्ति, प्रेम, श्रद्धा से उसका तन पुलकित हो आया।
रोम-रोम में सेवा-व्रत का परमानन्द समाया॥
फिर बोला—"हे जन्मभूमि, हे देश, प्रेम घन मेरे।
मैं यह जीवन-पुष्प चढ़ाता हूँ चरणों पर तेरे"।[3]

ध्यान देने की बात यह है कि ईश्वर का इस रूप में अन्वेषण हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में एक नई भावना है, एक नई घटना है। नई राजनीतिक, सामाजिक और साँस्कृतिक चेतना इसके मूल में है।

इस प्रकार की कविताओं के अतिरिक्त युग-चेतना के प्रतिनिधि कवियों ने, प्राचीन भक्तों की तरह रागात्मक अभिव्यंजना करने वाले गीत या पद न लिख कर, अनेक महिमा-गान भी लिखे हैं जिनमें ईश्वर की व्यापकता, अजरअमरता,

---

१. 'तेरी छवि' नामक कविता। २. स्वप्न, पृ० १२। ३. पथिक, सर्ग ३।

लोकरक्षकता आदि गुणों का ही इतिवृत्तात्मक या गद्यात्मक निरूपण है। ईश्वर इस युग में विशेष न रह कर समस्त मानव मात्र का एक सामान्य आलम्बन हो गया। परिस्थितियों की प्रेरणा से सारे देश को इस समय केवल वही धर्म या ईश्वर स्वीकृत हो सकता था जो सब आरोपित साम्प्रदायिक गुणों से मुक्त एक शक्ति या सत्ता-स्फूर्ति के रूप में भावना में आ सके। काव्य में पत्थर की पिंडी में प्रतिष्ठित ईश्वर की तो अब बेधड़क आलोचना होने लगी। युग का प्रतिनिधि कवि भी उसी स्वर में ईश्वर की व्याख्या कर रहा था। गुप्त जी के 'सिद्धराज' नामक खंड काव्य में राजमाता मीनलदे की इस उक्ति मे युग की विचार-धारा प्रकट हो रही है—

> ...दर्शन किए विना
> किसके ? तुम्हारी उस पत्थर की पिंडी के ?
> जिसको दिखाकर कमाते तुम लाखों हो !
> मंदिर का द्वार जो खुलेगा सब के लिए,
> होगी तभी मेरी वहाँ विश्वम्भर भावना।[1]

इस युग में परिष्कृत ईश्वरत्व की भावना को लेकर प्रार्थना और गीत आदि लिखने वाले मुख्य कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, रामनरेश त्रिपाठी व 'पूर्ण' आदि है। प्रत्येक काव्य-ग्रंथ के आरम्भ में मंगलाचरण या स्तुति तो श्रद्धालु राम-भक्त कवि श्री गुप्तजी की परिपाटी ही है।

(ख) प्रकृति-प्रेम

प्राकृतिक दृश्यों (वस्तुओं और व्यापारो) के प्रति वह लगाव, जो कवि या पात्र के प्रणय-संबंध की भावना से सर्वथा अछूता या स्वतंत्र रहता है, और जो उसके हृदय के व्यापक 'रतिभाव' के अंश-रूप प्रकृति-संबंधी रति का स्वतंत्र आलम्बन होता है, शुद्ध प्रकृति-प्रेम कहलाता है। काव्य में यह प्रेम दो रूपों में प्रकट होता है—(१) वस्तुओं व व्यापारों के चित्रण के रूप में, और (२) उनके प्रति उत्पन्न हुई आनन्द-उल्लास की भावना की व्यंजना के रूप में। प्रथम का विवेचन इसी प्रकरण में आगे चलकर सौंदर्य-चित्रण के प्रसंग में होगा। दूसरे का विवेचन यहाँ प्रसंग-प्राप्त है। उपरोक्त दोनों ही रूपों में कवि-हृदय का सत्व प्रस्फुटित और आलोकित होता है। आनन्द-भावना के प्रकाशन में तो उस तत्व की अभिव्यक्ति स्पष्ट ही है, जैसा कि अभी विदित होगा। किन्तु दृश्य-चित्रण में भी वह सत्वमूलक अनुराग प्रकाशित होता है जिसकी प्रेरणा से कवि उत्साहपूर्वक तथा दत्तचित्त होकर उस दृश्य का यथातथ्य अथवा कल्पना-शोधित, अलंकृत अथवा सादा, चित्र अंकित करता है। पर

---

१. सिद्धराज, पृष्ठ २०।

एक में दृश्य-चित्रण की कला का ही कौशल अधिक प्रदर्शित होता है, और दूसरे में शुद्ध प्रकृति-प्रेम का उल्लास। द्विवेदी-काल में यह प्रकृति-प्रेम निश्चित ही भारतेन्दु-काल से अधिक प्रौढ़ और अधिक परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है। हृदय की आनन्द-भावना का वह बड़ा सशक्त और विशद प्रकाश करता है।

प्रकृति-प्रेम की व्यंजना में पं० श्रीधर पाठक ऐतिहासिक दृष्टि से अग्रगण्य हैं। उन्होंने प्रकृति के उपकरणों को देख कर गहन किन्तु संयत उल्लास की व्यंजना की है। काश्मीर की भूमि और उसके प्राकृतिक ऐश्वर्य को देखकर तो वे गद्गद् हो उठे हैं—

धन्य यहाँ की धूलि, धन्य नीरद, नभ, तारे।
धन्य धवल हिम शृंग, तुग, दुर्गम, दृग प्यारे।
धन्य नदी नद स्रोत, विमल गगोद गोत जल।
सीतल सुखद समीर, वितस्ता तीर स्वच्छ थल।
घनि उपवन, उद्यान, सुमन, सुरभित बनवीथी।
खिलि रही चित्र विचित्र, प्रकृति के हाथनु चीती।
धन्य सुथर गिरिचरन, सरित निर्झर रव पूरित।
लघु दीरघ तरु विहग बोल, कोकिल कल कूजित।
मृदुल, दूब दल रचित, कुसुम भूषित, सुचि शाद्वल।
ललित लतावलि वलित, कलित, कमनीय, सलिल थल।[1]

पं० रामनरेश त्रिपाठी का हृदय भी प्रकृति-प्रेम की उत्ताल तरंगों से तरंगायित है। उन्होंने स्थल-स्थल पर प्रकृति-सौंदर्य-जन्य उल्लास की बड़ी ही गहरी, विह्वल और रसीली व्यंजना की है। 'पथिक' में कवि का यह प्रकृति-प्रेम कथानायक के उद्गारों के माध्यम से फूट पड़ा है—

देखो प्रिये, विशाल विश्व को आँख उठाकर देखो।
अनुभव करो हृदय से यह अनुपम सुषमाकर देखो।
यह सामने अथाह प्रेम का सागर लहराता है।
कूद पड़ूँ, तैरूँ, इसमें, ऐसा जी में आता है।
प्रतिक्षण नूतन वेश बना कर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है।

१. 'काश्मीर सुषमा' (दूसरा संस्करण) पृष्ठ १, २।

रत्नाकर गर्जन करता है, मलयानिल बहता है।
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये भरा रहता है।
इस विशाल विस्तृत, महिमामय रत्नाकर के घर के।
कोने कोने में लहरों पर बैठ फिरूँ जी भर के॥[1]

समुद्र का भव्य सौंदर्य, कोमल कल्पना (fancy) तथा भाव का औदात्य दर्शनीय है!

गुप्त जी ने यद्यपि प्रकृति का उद्दीपन-गत रूप ही अधिक ग्रहण किया है, फिर भी अपने काव्यों में उन्होंने यत्र-तत्र प्रकृति के प्रति अपने मुक्त उल्लास की सुंदर व्यंजना की है। 'पंचवटी', 'सिद्धराज' और 'साकेत' इस दृष्टि से उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ है। कुछ उदाहरण लीजिए—

गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी,
चंचल जल कल कल कर मानों तान ले रहा है अब भी,
नाच रहे हैं अब भी पत्ते, मन से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललक कर लालच भरे लहकते हैं।

× × ×

आँखों के आगे हरियाली रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक एक हिमकणिका जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ सौ नागरिक जनों की वैसी विमल रम्य रुचि है?

× × ×

क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह, है क्या ही निस्तब्ध निशा,
है स्वच्छन्द सुमन्द गन्धवह, निरानन्द है कौन दिशा?[2]

मानवीय गुणों की तुलना में वन की हिमकणिका के गुणों को ऊँचा बताना प्रकृति-प्रेम की एक नवीन मुद्रा है।

'साकेत' में स्वच्छंद वन-जीवन व्यतीत करती हुई वैदेही के द्वारा जिस सहज प्रकृति प्रेम की व्यंजना हुई है, वह हृदय की समस्त ग्रंथियों को झटका देकर खोल देने वाली है। देखिए—

---

१. **'पथिक', प्रथम सर्ग। प्रथम सर्ग के १४ से २२ छंद, तीसरा सर्ग, तथा 'स्वप्न' का दूसरा सर्ग भी इस दृष्टि से दृष्टव्य।**

२. **'पंचवटी'।**

क्या सुन्दर लता वितान तना है मेरा, पुंजाकृति गुंजित कुंज घना है मेरा,
जल निर्मल, पवन पराग सना है मेरा, गढ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा।
प्रहरी निर्झर, परिखा प्रवाह की काया, मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

× × ×

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े, नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े,
गाओ दिवि, चातक, चटक, भृंग, भय छोडे, वैदेही के वनवास-वर्ष है थोड़े,
तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया, मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।[1]

सीता के इस तरल भाव-उल्लास में मानो उसकी आत्मा के शुभ्र शिखरों का हिम पिघल कर बहा आ रहा है।

'हरिऔध' जी ने भी 'प्रियप्रवास' में अपना मुक्त-गम्भीर प्रकृति-प्रेम व्यक्त किया है; यद्यपि है वह बहुत कुछ रूढ़ तथा यमकश्लेषादि-अलंकार-प्रधान। भवभूति की तरह प्रकृति के बीहड़ या उजाड़ खण्डों में उनका भावुक मन खूब रमा है।[2] 'बुद्धचरित' में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी वैसा ही प्रेम पूर्ण रसात्मकता के साथ प्रदर्शित किया है।

द्विवेदीकाल के अंतिम वर्षो में 'प्रसाद' और 'पंत' ने प्रकृति के प्रति अपने स्वतन्त्र प्रेम की बड़ी रमणीय व्यंजना की है। 'प्रसाद' की इन पंक्तियों में उनका प्रकृति प्रेम कूक उठा है—

ऊपर देखो, नील गगन मण्डल में चमकीले तारे
नीचे हिम के बिन्दु एक ही मधुर भाव प्रकटित करते,
मधुर मरुत, कल कल निर्झरिणी जल के साथ बहाता है,
तुंग मनोहर शृंगों से सौंदर्यमयी विमला धारा।
छोटे छोटे कुसुम श्यामला धरणी में किसका सौंदर्य
इतना लेकर खिलते हैं, जिन पर सुन्दरता का गर्व्वी
मानव भी मधुलुब्ध मधुप सा सुख अनुभव करता फिरता।

और 'पंत' तो प्रकृति को मानव से भी अधिक प्रेम करते हैं। प्रकृति प्रिया ने उनको अपने रूप के मायाजाल में बांध लिया है। देखिए—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन—
भूल अभी से इस जग को।

---

१. 'साकेत', सर्ग ८। २. 'प्रियप्रवास', नवम सर्ग।
३. 'प्रेम पथिक' (द्वितीय संस्करण), पृ० २४–२५।

तज कर तरल तरंगों को, इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू-भंगों से कैसे विंधवा दूँ निज मृग सा मन—
भूल अभी से इस जग को।[1]

वास्तव में वस्तु-व्यापार चित्रण और भाव-व्यंजना, ये दोनों प्रायः मिश्रित रूप में ही प्राप्त होते हैं। पूर्ण विशुद्ध चित्र में भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भाव का स्पर्श रहता ही है। भाव-व्यजना दो प्रकार की होती है—(१) जिसमें वस्तु व्यापार का वर्णन न होकर केवल हर्ष-विषाद आदि की ही वेगवती व्यंजना रहती है, और (२) जिसमें वस्तु-व्यापारों का भी उल्लेख होता है, किन्तु भाव-व्यंजना ही प्रमुख होती है। किसी स्थल पर भाव-व्यंजना की या वस्तु-व्यापार चित्रण की अधिकता देख कर यह निर्णय किया जा सकता है कि अमुक स्थल वस्तु-व्यापार-वर्णन-प्रधान है अथवा भाव-प्रधान।

इस युग में प्रकृति-प्रेम पूर्व युगों से आगे बढ आया है, इस का अनुमान उपरोक्त विवेचन से हो सकेगा।

किन्तु, प्रकृति-प्रेम के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात इस युग में और देखने मे आई। राष्ट्रीय और सामाजिक प्रवृत्तियों की प्रबलता के कारण प्रकृति-प्रेम ने इस युग में पूर्वकथित (राष्ट्रीय-सामाजिक) प्रवृत्तियों को समर्पण कर दिया। पं० रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' इसका उदाहरण है। प्रकृति के अन्तरंग में धड़कती आनन्द और सौंदर्य की चेतना से अभिभूत हो 'पथिक' कुतूहल-आश्चर्यमयी प्रकृति के शांत-रमणीय तथा मनोहर अञ्चलों में ही भ्रमण करता फिरता है। किन्तु, एक साधु पथिक को यह उपदेश देता है कि प्रकृति स्वयं प्रतिक्षण मानव के सुख का ही आयोजन कर रही है, और उसका एकमात्र कार्य है—निष्काम सेवा। प्रकृति का सुख-सौदर्य अपने आप में कोई महत्त्व की बात नहीं। पथिक-पत्नी भी यही बात अपने पति को समझाती है।[2] साधु का यह उपदेश आत्मसात् करके पथिक प्रकृति में व्यंजित प्रेम, सुख, शांति, उद्योग, संगठन आदि की भावनाओं से लबालब भर कर मानव-जीवन को सुन्दर, उन्नत और सुखी बनाने के लिए, कर्मकोलाहलपूर्ण तथा रोग-शोक-जर्जर मानव-जगत् की ओर चल देता है। छायावाद में, आगे चल कर, कविवर पंत के काव्य के प्रथम उत्थान (वीणा, ग्रंथि, पल्लव तथा गुंजन जिसमें रचे गए) के अंत में भी कुछ-कुछ यही प्रवृत्ति देखने में आई। प्रकृति-सम्बन्धी यह स्थिति एक प्रकार से वेदांत और सांख्य दर्शनों की उस विचार-धारा से सम्बन्धित है जिसमें माया या प्रकृति, ब्रह्म अथवा पुरुष की अधीनता में ही रहती है। प्रकृति का अपना

१. आधुनिक कवि (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), सं० २००३।
२. पथिक, १।३१–३२।

कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं, वह अपनी पूर्ण सार्थकता और सफलता के लिए पुरुष पर ही आश्रित रहती है।

(ग) मानव-प्रेम या विश्व-प्रेम

इस युग के प्रबन्ध-काव्यों में पात्रों के जीवन-व्यापारों के बीच वे भूमियाँ भी प्रकट हुई जिन पर पहुँच कर उनके हृदय की विश्व-व्यापकता की भावना का बड़ा ही सुन्दर आभास मिला। विश्व-प्रेम देश-काल की सीमाओं से मुक्त हुए उदार मानवों का प्राणिमात्र के प्रति अनुभव किया जाने वाला मानव-प्रेम है। यह हृदय की सबसे उन्नत व उदार अवस्था का सूचक है। यह प्रेम उच्च संस्कारशील व्यक्तियों में जन्मजात होता है, किन्तु प्राय: विरह की दशा में अनुकल धूप, जल तथा पवन मिलने पर इसको लहलहाने का सबसे सुन्दर अवसर मिलता है। कवियों ने अपने काव्यों के आदर्श पात्रों के माध्यम से यह प्रेम प्रकट किया है। श्री मैथिलीशरण गुप्त, 'हरिऔध', 'प्रसाद', पंत तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने अपने प्रबन्ध काव्यों में इस प्रेम की बड़ी ही अनूठी व्यंजना की है। 'साकेत' की वियोगिनी उर्मिला के हृदय का प्रसार सब समदु:खभोगिनियों तक हो गया है, जो संयोग के दिनों में कदापि सम्भव न होता। उर्मिला अपनी सखी को कह रही है—

> प्रोपितपतिकाएँ हों जितनी भी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ,
> समदु खिनी मिलें तो दु:ख बँटें, जा प्रणयपुरस्सर ले आ।[1]

वियोग में उर्मिला दूसरों का अभाव मिटाने की सहानुभूतिपूर्ण उदारता से भर गई है। उसका हृदय अब अपने स्वार्थ के संकुचित घेरे से निकल कर विश्वव्यापी हो गया है—

> सुख दे सकते है तो दु:खी जन ही मुझे, उन्हें यदि भेंटू,
> कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेंटू।[2]

इतना ही नहीं कि उर्मिला, विपन्न और दु:खी के प्रति सहानुभूतिशीला है। अब तो वह मानो ऐसे व्यक्तियों की तलाश कर रही है। यह सब विरह-सुलभ सहानुभूति तथा औदार्य का प्रसाद है। उसकी उदारता की भावना मानव-जगत् ही नहीं, अब तो चराचार जगत् तक व्याप्त हो गई है। वह तो अब पौधों की कटाई-छँटाई को भी उनके प्रति निर्मम तथा निर्दय आचरण समझती है —[3]

> सीचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
> शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी।

---

१. साकेत, सर्ग ६।   २. साकेत, सर्ग ६।
३. साकेत, सर्ग ६।

'प्रियप्रवास' में 'पवन-दूत' प्रसंग में वियोगिनी राधा भी अन्तःकरण की इसी उदात्त भूमि पर पहुँची हुई दिखाई पड़ती है—

कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे धीरे परस उस की क्लान्तियों को मिटाना।
जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला।
छाया द्वारा सुखित करना, त्रस्त भतांगना को।[1]

यह उदारता, अपने चर्मोत्कर्प में, अथाह नदी का वेग लिए, विश्व-हित के महाभाव के अतलान्त समुद्र में इतनी लीन हो जाती है कि राधा लोक-सेविका का शुभ्रोज्ज्वल रूप ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होती है, और फिर तो वह अपने प्यारे के प्रति केवल इतना ही चाहती है—

प्यारे जीवें जग हित करें, गेह चाहे न आवें।[2]

यही उदात्त वृत्ति 'स्वप्न' के 'वसन्त' को उसकी मोह-निद्रा से छुड़ा कर अन्त में मानव-सेवा तथा मानव-प्रेम के लोककल्याणकारी क्षेत्र में पहुँचा देती है—

कहने लगा बसंत मित्र मैं हूँ सुमना का भाग्यवान पति
उसके ही वियोग में मैंने छोड़ी है सांसारिक सुख रति
मैं यदि जन्मभूमि सेवा रत करूँ समर में प्राप्त वीर गति
मेरा यह संदेश स्वयं तुम उसे सुनाना हे प्रगल्भ मति
हे सुमना तेरा प्रियतम पति तेरी शुभ इच्छा का अनुचर
तेरा पुण्य प्रभाव प्राप्त कर पार कर गया है भवसागर।[3]

युग की बौद्धिकता की प्रेरणा से इस युग में अलौकिक देवता मानव-भूमि पर उतार दिये गये। 'साकेत' 'प्रिय प्रवास' 'उद्धव शतक' और 'यशोधरा' आदि कृतियों में इस नवीन मनुष्यता की महिमा निरूपित की गई है। गुप्त जी ने तो चमत्कार-पूर्ण ढंग से इस प्रवृत्ति का वज़न यों बताया है—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या? (साकेत, प्राक्कथन)

तथा,

अमर वृन्द नीचे आवें, मानव चरित देख जावें।[4]

'प्रियप्रवास' में भक्ति-क्षेत्र की नवधा भक्ति मानव और समाज के सुख और कल्याण के लिए नियोजित कर दी गई है।[5]

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ६, छंद ४६। २. प्रियप्रवास, सर्ग १५, छंद ६८।
३. स्वप्न, सर्ग ४, छंद ४०—४१। ४. साकेत, पृ० ६६।
५. प्रियप्रबास, षोडश सर्ग।

'उद्धव शतक' में 'रत्नाकर' ने गोपियों के लिए युग-युग के निर्मम-निष्ठुर श्रीकृष्ण को मानव-करुणा और व्यथा से द्रवित और खिन्न होते दिखाया है।

यशोधरा अपने प्रिय को नर से नारायण का पद पा लेने पर भी स्वयं नारी ही बनी रहना पसन्द करती है—

लूँगी क्या तुमको रोकर ही ?
मेरे नाथ, रहे तुम नर से नारायण होकर ही !
उस समाधि-बल की बलिहारी, अच्छी मैं नारी की नारी।
पूजा तो कर सकूँ तुम्हारी, धुलूँ चरण धो कर ही।[1]

इस प्रकार विश्व-प्रेम या मानव-मात्र के प्रति प्रेम की व्यंजना में हम द्विवेदी काल के कवियों की हरी-भरी हृदय-भूमि का दर्शन करते है। विश्वप्रेम भारतीय संस्कृति का एक सहज गुण है, अतः यह प्रवृत्ति भारतीय साहित्य अथवा हिन्दी-साहित्य के लिये कोई नई वस्तु भी नहीं। नवीनता तो केवल इस तथ्य में निहित है कि रीति कालीन संस्कारों की छाया में पले साहित्य का घिसा-घिसाया माग बदल कर अथवा छोड़कर इन कवियों ने इधर भी नये-सिरे से अपने चरण बढ़ाय

(घ) वात्सल्य प्रेम

प्रेम के विविध रूपों में 'वात्सल्य' का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वात्सल्य की मधुरता के धनीभूत प्रभाव को पहचान कर ही भक्तों ने, भगवान् की बालक रूप में उपासना करने के लिये, उनको अपने हृदय की 'बाल-विषयक-रति' का अलौकिक आलम्वन बनाया। वास्तव में वात्सल्य-प्रेम-भावना के संचार के लिए सभी मानवों के हृदय का एक बहुत बड़ा कोना सुरक्षित है। द्विवेदी काल के कवियों ने इस प्रेम का भी चित्रण करके अपने हृदय की व्याप्ति का परिचय दिया। 'प्रियप्रवास', 'यशोधरा', 'पथिक' आदि काव्य इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व के हैं।

'प्रियप्रवास' का अधिकांश तो वात्सल्य-प्रेम के चित्रण में ही खप गया है। वास्तव में प्रियप्रवास पुत्र-विरह से कातर मातृ-हृदय तथा पितृ-हृदय की विविध मनोदशाओं की रमणीय चित्रशाला है। प्रातःकाल होते ही श्रीकृष्ण मथुरा जाने वाले हैं। अर्धरात्रि में स्नेहाकुल माँ अपने सोये हुए प्रिय पुत्र के पास सिसकियाँ भर रही है—

हरि न जाग उठें इस शोच से, सिसिकतीं तक भी वह थीं नहीं।
इस लिए उन का दुख वेग से हृदय था शतधा अब हो रहा ॥[2]

वह कुल-देवता से, पुत्र के सकुशल लौट आने की, मनौती करती है—

---

१. यशोधरा, पृ० १८५।
२. प्रियप्रवास (सं० १९९८) पृ० ३४।

प्रभु, दिवस उसी मैं सात्विकी रीति द्वारा।
परम शुचि बड़े ही दिव्य आयोजनों से।
विधि सहित करूँगी मंजु पादाब्ज पूजा।
उपकृत अति होके आपकी सत्कृपा से॥[१]

सौंधी काली मिट्टी-से चिकने और उपजाऊ मातृ-हृदय की मंगल-कामना का, महीन रेखाओं वाला, एक चित्र और देखिए—

धीरे धीरे सुपवन बहे स्निग्ध हों अंशुमाली।
प्यारी छाया विटप वितरें शान्ति फैले वनों में।
बाधायें हों शमन पथ की दूर हों आपदायें।
यात्रा तेरी सफल सुत हो क्षेम से गेह आओ॥[२]

गुप्त जी ने 'यशोधरा' में राहुल को आलम्बन बना कर वात्सल्य प्रेम की व्यंजना के लिये खूब ही अवकाश निकाल लिया है। पर यशोधरा अपने ही दुख में अधिक निमग्न है। राहुल अधिक प्रौढ़ बुद्धि का वयस्क सा लगता है, फिर भी उसकी उक्तियों में कहीं-कहीं वात्सल्य भाव की अच्छी व्यंजना होती है। 'राहुल-जननी'[३] खंड में पर्याप्त रसात्मकता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

ठहर, बाल गोपाल कन्हैया, राहुल, राजा, भैया।
मैया है तू अथवा मेरी दो थन वाली गैया।
रोने से यह रिस ही अच्छी तिली लिली ता थैया।

अथवा,

माँ, कह एक कहानी।
बेटा, समझ लिया क्या तूने मुझ को अपनी नानी।[४]

'सिद्धराज' के एक चित्र को उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं किया जा रहा है। सिद्धराज जयसिंह की कन्या काचनदे का बालचापल्य कितना सुन्दर है, देखिए—

"कांचनदे कांचन की पुतली सी उसका,
जो थी जयसिंह की कुमारी कुल बालिका,
औषधि का रत्न पात्र देने चली दादी को,
किन्तु 'नहीं' सुन, हँस बोली बड़ी मीठी है।
हँस पड़े लोग सब और स्वयं रोगिणी।

---

१. वही, पृ० ३४। २. वही, पृ० ६३।
३. यशोधरा : गीत संख्या ६, १२, १४, १९ व २०।
४. यशोधरा, पृ० ८०।

'क्यों री, यह पुरखा हुई तू कह कब से ,
बच्चों सा मुझे भी बहलाने जो चली है यों ।' "[१]

'पथिक' में भी समस्त रस सामग्री के साथ वात्सल्य का सुन्दर निरूपण मिलता है। पथिक का वध निकट है। पथिक-पत्नी अपने बालक को लिये राजपुरी में पहुँचती है। इस स्थान पर वात्सल्य रस की यह झाँकी सचमुच सुन्दर है—

पथिक-पुत्र भी खड़ा वहीं था पीछे आकर ;माँ के ।
सरल प्रकृति अनभिज्ञ पिता से भीड़ देख घबरा के ।
कहने लगा सो गयी क्यों तू माँ ! उठ चल अब घर को ।
मुझे लगी है भूख, अकेला जाऊँ कहाँ किधर को ।
माँ ! तू कुछ न खिलाती मुझको, कभी न दूध पिलाती ।
सारे दिन रोती रहती है, खेल कभी न खिलाती ।
× × ×
जननी एक न थाम सकी जब उमड़े हुए हृदय को ।
आगे बढ़ी निरादृत करके निर्दय नृप के भय को ।।
शिशु स्नेह में विह्वल उसने उठा लिया बालक को ।
बार-बार वह लगी चूमने उसके मुख मस्तक को ।।[२]

सूर-तुलसी के बाद इस प्रकार का वात्सल्य का सरस वर्णन, सबसे पहले हमें द्विवेदी काल में ही देखने को मिलता है।

(ङ) परिवार-प्रेम अथवा कौटुम्बिक प्रेम

यौन-सम्बन्ध से अंकुरित, रक्त-सम्बन्ध पर आधारित और एक भाव-विचार तथा जीवन-प्रणाली के सूत्र में दृढ़ता से सुगुम्फित एक विशेष व्यक्ति-समूह, सामाजिक घटक या इकाई में लहलहाने वाला प्रेम पारिवारिक प्रेम कहलाता है। पति-पत्नी, बहिन-भाई, अनुज-ज्येष्ठ, माता-पिता-संतति तथा इन सबसे सम्बन्धित अन्य घनिष्ठ-तम व्यक्ति आदि का पारस्परिक प्रेम इस प्रेम की परिधि है। यह प्रेम प्रणय का ही प्रपञ्च है अत: पति-पत्नी का प्रेम ही इस प्रेम की लाली और हरियाली का उद्गम है। समाज और विश्व से प्रेम करना सीखने के लिये सामान्यतः इस प्रेम का अनुभव और अभ्यास नितान्त आवश्यक है। जो छोटे से पारिवारिक वर्ग में रहकर अपने प्रेम को सक्रिय, ताजा, पुष्ट और उज्ज्वल नहीं बना सकता वह व्यक्ति समाज और विश्व के प्रति प्रेम की परीक्षा में क्या सफल होगा ! वास्तव में परिवार-प्रेम ही समाज-प्रेम और विश्व प्रेम की नींव है। यहीं प्रणय, वात्सल्य, श्रद्धा, स्नेह आदि प्रेम के विभिन्न रूपों का अभ्यास होता है। विनय, समर्पण, त्याग, सहिष्णुता,

---

१. सिद्धराज, पृ० ८२–८३। २. पथिक, चौथा सर्ग।

क्षमा, आदि अन्तःकरण की ऊँची वृत्तियाँ यही मंजती है और निखरती हैं। समुचित रूप से इस प्रेम का पोषण और संवर्द्धन होने से यह जीवन की एक गहरी शक्ति बन जाता है। अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह, अधिकारों का उपयोग-उपभोग तथा मर्यादा का पालन ही इस प्रेम के संतुलित विकास के लिए जल, धूप और हवा है। इस प्रेम का अभ्यासी जीवन कला का अभ्यास करता हुआ जीवन के सच्चे सौदर्य का दर्शन कर सकता है। इस प्रकार जीवन-विधान तथा समाज-विधान में इस प्रेम का महत्त्व निर्विवाद है।

ससार को नश्वर और क्षण-भंगुर समझने वाले निवृत्तिमार्गी साधु-सन्तों और योगियों-वैरागियो ने इस प्रेम को माया में फँसाने वाला कहकर इसकी प्राय: घोर उपेक्षा की है, किन्तु सगुणमार्गी भक्तो ने इस प्रेम का पूरा सौदर्य देखा और दिखाया है। विविध पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धों के बीच उसी चिर सुन्दर और प्रेमपयोधि की झलकियाँ मिल रही हैं और लहरें उठ रही हैं। फिर इसकी उपेक्षा क्यों ? इसलिए सगुणमार्गी भक्त, प्रेमी तथा कवि-कलाकार आदि इस प्रेम के माधुर्य को अपनी प्रेमानुभूति तथा रसानुभूति से वहिष्कृत नही करना चाहते।

द्विवेदी-काल में इस प्रेम की विवृत्ति में विशेष उत्साह पाया जाता है। स्वजनों का स्मरण इस युग में बड़े स्नेह-पूर्वक किया गया है—'इच्छा होती है स्वजनों को एक बार बन ले आऊँ, और यहाँ की अनुपम महिमा, उन्हें घुमा कर दिखलाऊँ (पचवटी)।' विदेशियो से देश की मुक्ति के लिए संगठन की नितान्त आवश्यकता है। यह संगठन घर से ही तो शुरू होगा। घर अथवा परिवार को संगठित करने के लिए पारिवारिक स्नेह-भावना के विकास की नितान्त आवश्यकता है। इसलिए कवियों ने इस राजनीतिक-सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए इस प्रेम के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये। युग कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इस क्षेत्र में भी नेतृत्व किया है। उन्होंने 'साकेत', 'यशोधरा', 'पंचवटी', 'सिद्धराज' आदि काव्यों में पारिवारिक प्रेम के कुछ अत्यन्त सजीव व आह्लादक चित्र प्रस्तुत किये हैं।

'साकेत' में सास (कौशल्या)—बहू (सीता) का यह चित्र कितना मोहक है—

> सुख से सद्य: स्नान किये, पीताम्बर परिधान किये,
> पवित्रता में पगी हुई, देवार्चन में लगी हुई,
> मूर्तिमयी ममता-माया, कौशल्या कोमल-काया,
> थी अतिशय आनन्दयुता, पास खड़ी थीं जनक-सुता।
>
> × × ×
>
> 'माँ ! क्या लाऊँ ?' कह कहकर—पूछ रही थीं रह रहकर।
> सास चाहती थीं जब जो—देती थीं उनको सब सो।
> कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं सामान सभी। (साकेत)

'साकेत' के दशम सर्ग में उर्मिला अपनी सखी से, अपने बाल्यकाल की मधुर स्मृतियों के बीच, बड़ी बहिन सीता तथा माण्डवी-श्रुतकीर्ति आदि अनुजाओं के साथ घर के आँगन में की जाने वाली क्रीड़ाओं व नोक-झोंकों के वर्णन के द्वारा जिस सुखी गार्हस्थ के वातावरण को प्रस्तुत करती है, वह हृदय मोह लेने वाला है।

गुप्त जी के राम-काव्य का स्थूल रेखा-जाल बहुत कुछ तुलसी का सा ही है, किन्तु उसकी रक्षा करते हुए उसमें नवीन आदर्शों व विचारो के अनुरूप नये रंग भी बहुत भरे गये है। दशरथ के परिवार के सदस्यों की पारस्परिक प्रीति बडी गहरी है। 'पंचवटी' में लक्ष्मण राम-सीता के अनन्य सेवक के रूप में चित्रित किये गये हैं। पर देवर-भाभी की जो पारस्परिक प्रीति है वह कुछ क्षणों के लिए पाठक को रोमांचित कर उसकी पलकें मुँदा देने वाली है। लक्ष्मण के प्रति सीता की यह चुहल भरी चुटकी देखिये—

"रहो रहो, पुरुषार्थ यही है—पत्नी तक न साथ लाये।" (पंचवटी)

नीलाम्बुज-श्यामल श्रीराम देवर-भाभी के इस पवित्र प्रेम पर इतने लट्टू है कि वे आत्म-पटल पर उन दोनों का एक 'पोज' ले लेना चाहते है—

"तनिक देर ठहरो, मैं देखूँ तुम देवर-भाभी की ओर,
शीतल करूँ हृदय यह अपना पाकर दुर्लभ हर्ष-हिलोर।" (पंचवटी)

किन्तु, लक्ष्मण वैसे ही है—'नाहं जानामि केयूरं, नाहं जानामि कुण्डले।'
(वाल्मीकीय रामायण)

इसी प्रकार, 'यशोधरा' में सास (महाप्रजावती), ससुर (शुद्धोधन) और बहू (यशोधरा) के बीच हुए संभाषणों तथा यशोधरा-राहुल के संवादों में भी पारिवारिक स्नेह का माधुर्य बरस रहा है। 'सिद्धराज' में दीन-जीवन तथा वैभवशाली जीवन के अंचलों में पारिवारिक प्रेम के बड़े मोहक चित्र उतरे हैं। 'हरिऔध' जी के 'प्रियप्रवास में भी नन्द-यशोदा के घर की स्नेहपूर्ण झाँकी सुन्दर है। पारिवारिक प्रेम के मुख्य अंग प्रणय, वात्सल्य, श्रद्धा आदि का वर्णन अन्यत्र हो चुका है, अतः अब अधिक विस्तार यहाँ अनावश्यक है।

रीतिकाल मे जिस पारिवारिक प्रेम का वर्णन किया गया था वह अधिकांश में 'प्रणय' तक ही सीमित रहा। द्विवेदी काल में अवश्य ही इस क्षेत्र में अधिक हरियाली और समृद्धि दिखाई पड़ी।

(च) सूक्ष्म के प्रति प्रेम

प्रेम का मुख्य गुण है आनन्द या तृप्ति। वह उपरोक्त प्रेम-रूपों के अतिरिक्त कुछ अन्य सूक्ष्म भावनाओं से भी प्राप्त होती है। सौंदर्य का प्रेम, आदर्श का प्रेम, चरित्र का प्रेम, कल्पना या भावना का प्रेम आदि प्रेम की ही अनन्त परिधि का

विस्तार सूचित करते हैं। किन्तु प्रेम के ये सब रूप प्रकारांतर से उपरोक्त विवेचित रूपों में ही समाविष्ठ है, अतः इनके स्वतन्त्र निरूपण की आवश्यकता नही। सौंदर्य के प्रति जो प्रेम होता है वह मुख्यतः मानव तथा प्रकृति के प्रेम के अन्तर्गत ही आ जाता है, जिनका विवेचन ऊपर हो ही चुका है। आदर्शों का प्रेम, चरित्र का प्रेम, तथा भावना का प्रेम, प्रबन्ध काव्यों में कवि अपनी पात्र-सृष्टि या शील-निरूपण के माध्यम से व्यक्त धरता है। वस्तुतः इसी प्रेम से प्रभावित तथा परिचालित होकर कवि अपने पात्रों की मनोनुकूल सफल सृष्टि कर सकता है और उन्हें अपने गन्तव्य की ओर ले जाता है। आदर्श तथा भावना का प्रेम मानवात्मा का सहज और जन्म-जात गुण है। उसका उत्कर्ष पात्रों की सृष्टि मे ही सर्वाधिक रूप से प्रतिफलित होता है। कवि का कल्पना के प्रति प्रेम तो उसकी काव्य-सृष्टि में मूल तत्त्व की तरह सर्वत्र परिव्याप्त रहता है।

(५) सौंदर्य-भावना

(क) विचार-धारा

द्विवेदी-काल मे सौदर्य की भावना रीतिकाल तथा भारतेन्दु-काल की सौदर्य भावना की अपेक्षा सूक्ष्म हो चली और आलोच्य काल की समाप्ति तक पहुँचते-पहुँचते तो वह 'पन्त' और 'प्रसाद' की आरम्भिक रचनाओं में सूक्ष्मतर होकर, छायावाद में विकसित और समृद्ध भावी प्रवृत्तियो का पूर्वाभास बन चली। अब तक सौदर्य प्रायः व्यक्ति और पदार्थ का बाहरी गुण-धर्म ही समझा जाता रहा। किन्तु अब भावनाओं, आदर्शों तथा कोमल कल्पनाओं में भी उस रोमानी सौंदर्य का अनुभव किया जाने लगा जो अंतः-सवेद्य है। हम इस युग की अनेक रचनाओं में सौंदर्य-भावना को सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई देख सकते हैं।

पं० श्रीधर पाठक ने भारतभूमि के सौंदर्य को—उसके बाहरी रूपों में ही नहीं, किन्तु उसकी आत्मा में, अपने ही ममत्व से, देखा है—

> मेरा ममत्व सारा तुझ में समा रहा है,
> भारत हमारा कैसा सुन्दर सुहा रहा है।[1]

सौदर्य की भावना एक साथ ही अब इतनी सूक्ष्म होने लगी कि गुप्त जी पात्रों के चारित्रिक सौदर्य के उद्घाटन के प्रसंग में मरण में भी सौंदर्य की भावुकता-पूर्ण कल्पना करने लगे। उनकी यशोधरा कहती है—

> मरण सुन्दर बन आया री।[2]

गुप्त जी ने सौंदर्य में, कालिदास की तरह, पावनता दिखाकर उसकी गरिमा भी बताई है—

---

१. भारतगीत, पृ० ६६। २. यशोधरा, पृ० ४७।

सुन्दरता यदि विधे, वासना उपजाती है,
तो कुल ललना हाय, उसे फिर क्यों पाती है।[1]

उत्तर द्विवेदीकालीन काव्य की सौदर्य-चिंतना का नेतृत्व प्रसाद ने अपने 'प्रेम पथिक' में किया है। सौदर्य उनके हाथों कितना सूक्ष्म हो चला है, देखिए—

क्षण भंगुर सौदर्य देख कर रीझो मत, देखो, देखो।
उस सुन्दरतम की सुन्दरता विश्व-मात्र मे छाई है।
छोटे छोटे कुसुम श्यामला धरणी मे किसका सौदर्य।
इतना लेकर खिलते हैं, जिन पर सुन्दरता का गर्व्वी।
मानव ही मधुलुब्ध मधुप सा सुख अनुभव करता फिरता।[2]

इसमें कवि की सूक्ष्मान्वेषिणी दृष्टि ने अचिर सौदर्य से परे आत्मा की धवलता में शयन करने वाले उस चिर सौंदर्य के उद्गमों को ढूँढ निकाला हैं जिसकी झलक प्रकृति का अनंत सौदर्य-प्रसार है, और मानव का बाह्य सौदर्य तो क्रम में सब से नीचे है। ध्यान देने की बात यह है कि सौंदर्य-चेतना की यह अनुभूति 'प्रसाद' में आरम्भ में ही कितनी स्पष्टता तथा मार्मिकता के साथ प्रकट हुई मिलती है। सौंदर्य को देखकर कवि की 'चिर सुन्दर' के प्रति रहस्यमयी जिज्ञासा कैसी स्वाभाविक है—

उषा चाँदनी सी बिछती है किस सुन्दर के लिये कहो।
स्निग्ध, शांत, गम्भीर, महा सौदर्य सुधासागर के कण।
ये सब बिखरे है जग में···विश्वात्मा ही सुन्दरतम है।[3]

मानव की देह, कर्म, भावना में जो सौदर्य है वह तो उस अनन्त रमणीय के कण-मात्र है। 'प्रेम पथिक' का नायक अपनी नायिका को समझाता है—

उस सौंदर्य सुधा सागर के कण हैं हम तुम दोनों ही।
मिलो उसी आनन्द अम्बुनिधि में मन से प्रमुदित होकर।

इस प्रकार, सौंदर्य और आनन्द का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतिपादित करके कवि ने सौदर्य की आध्यात्मिकता निरूपित की है।

कवि पंत की सौदर्य-भावना का जन्म भी बड़ी सरस सुन्दर भाव-भूमि में होता है। उनके लिए सौंदर्य मानव और प्रकृति के स्थूल रूपों में उतना नहीं, जितना सूक्ष्म भावनाओं में।

अब वेदना जैसा प्रतिकूल संवेदनीय सूक्ष्म भाब और अश्रु जैसी क्षुद्र वस्तु भी कितनी सुन्दर हो गयी है! सौदर्य की यह भावना उसके उत्तरोत्तर विकास और

---

१. सैरन्ध्री, पृ० १९। २. प्रेम पथिक, पृ० २४-२५।
३. प्रेमपथिक, पृ० २५।

सूक्ष्मता की सूचक है—

…यह अंधेरे हृदय की दीपक शिखा।
रूप की अन्तिम छटा, औ विश्व की,
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी।[1]

× × ×

अश्रु, इस अनमोल मोती दृष्टि के, नयन के नादान शिशु, इस विश्व में,
आँख है सौंदर्य जितना देखतीं, प्रतनु, तुम उससे मनोरम हो कहीं।[2]

× × ×

पूर्णता स्मृति हीन है, सत्प्रेम की, मूक वाणी एक अनुभव है सही,
बिम्ब भी मिलता नहीं सौंदर्य का घाव भी पर हाय, मिटता है नहीं।[3]

× × ×

ललित लोल उमंग सी लावण्य की, मानिनी सी, पीन यौवन भार से।

'सौंदर्य का बिम्ब' तथा 'लावण्य की लोल उमंग' कहकर सूक्ष्म सौंदर्य को मूर्त तथा सजीव रूप देने का प्रयत्न नितान्त सुन्दर है!

इस प्रकार के सौंदर्य-निरूपणों में हम द्विवेदी-काल की सौंदर्य-भावना को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई पाते हैं।

(ख) मानवीय (शारीरिक) सौंदर्य

(i) **पुरुष सौंदर्य** : सौंदर्य-वर्णन में प्रायः शारीरिक सौंदर्य ही सबसे पहले आता है। मानवीय सौंदर्य के अन्तर्गत मुख्यतः पुरुष व स्त्री के शारीरिक सौंदर्य का चित्रण साहित्य की परम्परा है। रीतिकाल में पुरुष-सौंदर्य के नाम पर कृष्ण के अलौकिक सौंदर्य का ही चित्रण मिलता था। भारतेन्दु-काल में साधारण मानवों अर्थात् पुरुषों के सौंदर्य पर भी किस प्रकार और कैसी दृष्टि गयी, यह यथास्थान बताया जा चुका है। इस काल में प्रसिद्ध पौराणिक या ऐतिहासिक पुरुषों के सौंदर्य-चित्रण की ओर भी कवि विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। इस में नवीनता भी थी और स्वच्छन्द कल्पना का योग भी। पुरुष हो या स्त्री, दोनों के सौंदर्य-वर्णन में पर्याप्त सादगी व संयम से काम लिया गया। अन्य प्रवृत्तियों का नेतृत्व करने की तरह पुरुष-सौंदर्य का चित्रण करने में भी गुप्त जी ही सब से अधिक उत्साही दिखाई पड़े। 'सिद्धराज जयसिंह' का यह चित्र देखिए—

युवक उदार वीर उच्च उदयाद्रि के, शिखर समान, चित्रभानु सा किरीट था,
सहज प्रसन्न मुख, लोचन विशाल थे, भाल पर भौंहे दृढ़ निश्चय की रेखा सी।

---

१. ग्रन्थि, पृ० ३७। २. ग्रन्थि, पृ० ३६।
३. ग्रन्थि, पृ० १७।

लाल लाल होठों पर सूक्ष्म मसि लेखा थी, किन्तु पड़ती थी दृष्टि जाके वहीं उलटी,
हेतु हो रहा था आप डीठ का डिठौना ही, पीन वृष स्कध, क्षीण सिंह कटि साहसी ।
दीर्घ हस्ति हस्त, मानो पशुता के गुण्य की, देव साधना का वह पुण्य नरक्षेत्र था ।[1]

इसी प्रकार महौवे के वीर का एक सादा तथा सहज मोहक चित्र देखिए—

आगत था एक प्रौढ़ वीर और साहसी, धोती घुटनों के तले, उपर अंगरखी,
रिक्त कर, किन्तु दोनों ओर कटि वन्ध में, बांधे था कृपाण दो-दो सिर पर पगडी
तिरक गये थे कुछ बाल डाढ़ी मूँछों के, तो भी गौर चर्म चिकना था, तथा एक सा ।[2]

कल्पना के बल पर कवि ने भारतीय काव्य के बहुवर्णित पात्र राम को भी नवीन रूप व मुद्रा में प्रस्तुत किया है । पेड़ों में जल-सीचती कान्तकाया जनकनन्दिनी को निहारते हुये राम की वह सहज सलोनी मुद्रा कितनी मनोमोहिनी है—

तरु तले विराजे हुए, शिला के उपर, कुछ टिके, धनुष की कोटि टेक कर भू पर ।
निज लक्ष सिद्धि सी, तनिक घूम कर तिरछे, जो सींच रही थी पर्णकुटी के बिरछे ।
उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को, प्रणयप्राणा को और कान्तकाया को ।
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी, योगी के आगे अलख जोति ज्यों जागी ।[3]

गुप्त जी की आरंभिक कविताओं में ऐसा कल्पना-कलित रूप-विधान नहीं दिखाई पड़ता । कही-कहीं तो चित्र बहुत ही स्थूल है । यथा—

वह मुख सुखकारी, दिव्य ऊँचा ललाट, सुगठित वह नासा, पीन वक्षः कपाट ।
वह दृग युग युग तारा, बाहु आजानुलम्ब, नल सम न कहीं है, रूप शोभावलम्ब ।।[4]

जो हो, पुरुष-सौंदर्य के चित्रण में गुप्त जी ने पर्याप्त मनोयोगजन्य रसात्मकता प्रदर्शित की है ।

'प्रियप्रवास' में 'हरिऔध' जी ने बालक श्रीकृष्ण का एक सर्वांगपूर्ण चित्र अंकित किया है जिसमें कल्पना की कोई विशेष नवीनता या मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती । देखिए—

अतसि पुष्प अलंकृत कारिणी । शरद नील सरोरुह रंजिनी ।।
नवल सुन्दर श्याम शरीर की । नवल नीरद सी कल कान्ति थी ।।
विलसता कटि में पट पीत था । रुचिर वस्त्र विभूषित गात था ।।
लस रही उस में बनमाल थी । कल दुकूल अलंकृत स्कंध था ।।
मुकुट मस्तक का शिखि पक्ष का । मधुरिमामय था बहु मंजु था ।।
असित रत्न समान सुरंजिता । सतत थी जिसकी वर चंद्रिका ।।

---

१. सिद्धराज, पृ० २१ ।　२. सिद्धराज, पृ० ११६ ।　३. साकेत पृ० २०४ ।
४. कविता कलाप (पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी-संपादित), पृ० ५४ ।

विशद उज्ज्वल उन्नत भाल में। विलसती कल केसर खौर थी ॥
असित पंकज के दल में यथा। रज सुरंजित पीत सरोज की ॥[1]

उपरोक्त वर्णनों में हम युग की पुरुष-सौंदर्य-चित्रण सम्बन्धी प्रवृत्ति की झलक पा सकते है।

(ii) **नारी सौंदर्य :**

१. **प्राचीन परिपाटी**—नारी-सौंदर्य-चित्रण के लिये रीति-काल में जो नखशिख वर्णन की प्रथा थी वह अब, नवीन-रुचि व युगादर्श के कारण, बहुत कुछ शिथिल पड़ गयी। हां 'शंकर' जैसे कवियों में अब भी वह बहुत कुछ उसी ढर्रे की बनी हुई थी। कवियों ने नारी-सौंदर्य के चित्रण में, अपनी कल्पना से काट-छॉट करते हुये, युग-रुचि की पहचान रखते हुए पर्याप्त संयम से काम लिया। आचार्य द्विवेदी जी ने, राजा रविवर्मा के चित्रों के आधार पर लिखी गई अनेक युग प्रतिनिधि कवियों की कविताओं का एक संग्रह 'कविता कलाप' (द्वितीयावृत्ति, सन् १९२१) के नाम से संपादित कर प्रकाशित करवाया था। उस संग्रह की कविताओं में संग्रहीत कुछ प्रमुख नारी चित्रों का साहित्यिक विश्लेषण करके, इस युग की नारी-सौंदर्य-चित्रण की कला के कुछ मोटे मोटे अथवा सामान्य तथ्य स्थिर किये जा सकते है। रूप-सौंदर्य के कुछ चित्र लीजिए—

१. चारु चन्द्रमा सम मुखमंडल, भूतल में शोभा आखंडल।
कंचन कर्णफूल पहने हैं, नहीं और कोई गहने हैं॥
इसके देख केश घुघराले, सुमन सुवासित सुन्दर काले।
नाग नारियाँ छिप जाती है, मुँह न सामने दिखलाती हैं॥
नयन नील नीरज छविहारी, श्रुति पर्यन्त पर्यटनकारी।
इस के अधर देख जब पाते, शुष्क गुलाब फूल हो जाते।
इस के भृकुटी भय का मारा, लोप शरासन है बेचारा।
कोमल इसकी देहलता है, मूर्तिमती यह सुन्दरता है॥[2]

२. जब यह अद्भुत भाव बताती, बसन इधर से उधर हटाती।
नाभि नवल नीरज दिखलाती, स्तनपट से पट को खिसकाती।
पहनी पारिजात की माला, हरित वस्त्र सिर ऊपर डाला।
कर पल्लव किस भाँति उछाला, श्रुति कुडल क्या खूब निकाला॥
वेश विचित्र बनाया इसने, मुख मयंक दिखलाया इसने।
भृकुटी धनुषाकार मनोहर, अरुण दुकूल बहुत ही सुन्दर॥

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग १, छंद १५–२५। २. कविता कलाप (म० प्र० द्विवेदी सम्पादित), पृ० ६८, द्विवेदी जी की 'कुमुदसुन्दरी' नामक कविता से।

मंजु मृणाल पराजयकारी, वाम बाहु आभूषण धारी ।
किस प्रकार लटकाया इसने, कमलों को शरमाया इसने ।।
कटि इसकी न भग हो जावे, चलते कहीं न यह गिर जावे ।
इस से त्रिवली बन्ध बनाया, विधि ने यह चातुर्य दिखाया ।।
इसका कुच नितम्ब विस्तार, सचमुच है अत्यन्त अपार ।।[१]

३. सुषमा इसकी इस समय अकथनीय है मित्र ।
अनुपम मुद्रा वेश त्यों सुन्दर भाव विचित्र ।।
सुन्दर भाव विचित्र रूप रमणीय मनोहर ।
गुरुनितम्ब, कटि क्षीण, पीन कुच, कृष्ण कलेवर ।।
पुष्पाभरण मनोज्ञ योग्य बनदेवी उपमा ।
दर्शनीय अति दिव्य अलौकिक मुख की सुषमा ।।[२]

४. मन्द चाल से वह मराल को सकुचाती थी ,
बार बार कच भार लंक लच लच जाती थी ।।[३]

५. कर धरे चिबुक पर रुचिर महा, संकुचित हुई सी खड़ी यहाँ ।
अवलोक तुझे लज्जिते प्रिये, लज्जित लज्जा भी आज हिये ।।
हो पुष्प भार से नम्र लता, धारण करती जो सुन्दरता ।
यह तेरी मंजुल मूर्ति छटा, देती है उसका मान घटा ।।
लम्बित नितम्ब पर्यन्त पड़े, है मानों काले नाग अड़े ।
ये तेरे कोमल बाल बड़े, हर लेते हैं मन खड़े खड़े ।।
कुछ मुदे और कुछ खुले हुए, सम भाव परस्पर तुले हुये ।
ये देख विलोचन बड़े बड़े, शतपत्र सड़ेंगे पड़े पड़े ।।
पाई न प्रभा पंकज गण में, देखी न लालिमा दर्पण में ।
इन गोल कपोलों की सुषमा, रखती है एक नहीं उपमा ।।
निकला प्रकोष्ठ भर जो पट से, सटता सा कुछ जंघा तट से ।
शोभित तेरा दक्षिण कर यों, सरिता तट सुन्दर पुष्कर ज्यों ।।[४]

६. कैवर्त कन्या वह सुन्दरी थी, बिम्बाधरी और कृशोदरी थी ।
मनोभिरामा मृगलोचनी थी, मनोज रामा मद मोचनी थी ।।[५]

---

१. वही, लेखक वही, 'रम्भा' नामक कविता से, पृ० ९६ ।
२. वही, लेखक मैथिलीशरण गुप्त, 'शकुंतला पत्र लेखन से', पृ० ५९ ।
३. कविता कलाप, गुप्त जी की 'अर्जुन और सुभद्रा' नामक कविता, पृ० ५३ ।
४. वही, गुप्त जी की 'सलज्जा' नामक कविता, पृ० ४३–४४ ।
५. वही, पृ० ३६ ।

७. गोरे, गुलाब दल से अति गोलगोल, कैसे मनोज्ञ युग में इसके कपोल।
मानों शरीर गृह में विधि के बनाये, कन्दर्प के मुकुर मंजुल हैं सुहाये ॥[1]

८. घबराई सी श्रम के मारे, शिथिल खड़ी है विटप सहारे ॥
तो भी दृष्टि भाव आतुर है, अधरों पर मुसक्यान मधुर है।
कंचन सा उज्ज्वल मुख मंडल, करता है सहसा चित चंचल ॥
काले केश घने सटकारे, लहराते है कुंडल मारे।
गोरी गोल गढी मृदु बाहें, शोभा की मानों सीमा हैं ॥
फूलदान अटका अंगुली से, आकर्षित मानों बिजली से।
उठ से रहे फूल है ऊपर, पंकज तुल्य चूमने को कर ॥
कटि है कसी कदाचित उर में, खो न जाय यह कहीं डगर में।
पावो की सुकुमार अगुलियाँ, शोभित मानों चंपक कलियाँ ॥[2]

९. सब जडाऊ भूषणों के सोहने शृंगार थे।
कंठ में केवल मनोहर मोतियों के हार थे ॥
पीन कृश, उकसे कसे, कोमल कड़े छोटे बड़े।
गुप्त सारे अंग साड़ी की सजावट में पड़े ॥[3]

१०. सीस पै पसार फन लंक लों लपेटा मार,
लट की लटक दिखलाती बलखाती थी।
माँग मुख फाड़, काढ़ मोतियों के दाने दाँत,
झूमर की जीभें लप लप लपकाती थी ॥
शंकर शिरोमणि की ज्योति का उजाला पाय,
रोषभरी प्यारे रूप-कोष को रखाती थी।
बात वेणी नागिन की तब की कही है जब,
नाचती बसन्त सेना बाई गीत गाती थी ॥[4]

११. वदन मंडल पूरन चन्द्रमा, सघन कुन्तल रैन मनोरमा।
मदन ज्योति प्रभा रवि प्रात की, मिली रहीं सुखमा दिन रात की ॥

---

१. वही, पृ० ३४।
२. वही, पं० कामता प्रसाद 'गुरु' की 'अहल्या' नामक कविता, पृ० १६-१७।
३. वही, पं० नाथू राम 'शंकर' शर्मा की 'केरल की तारा' नामक कविता, पृ० १२।
४. कविताकलाप, पृ० १४; पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा की 'वसन्त सेना' नामक कविता से उद्धृत।

ललित बन्दन बिन्दु सुभाल पै, पुरित की पटली पर लाल है।
बिदित धौं तियभाग सुहाग है, उदित सो अथवा अनुराग है॥
कलित मोतिन मन्जु प्रकाशिका, ललित बेसर बेस सुनासिका।
छवि सुहाति असीम प्रशंसिनी, मिलति कीर-बधू-संग हसिनी।
अलक की लट कान समीप है, चहति नागिनि सेवन सीप है॥
मदन चाप किधौं अभिराम है, शिथिल जासु लसे गुन श्याम है।
लसति नील सुहावन कन्चुकी, अरुणिमा तेहि पै पट मजुकी॥
शिखर-आश्रित श्री रसराज पै, रंग जमाय रह्यो अनुराग है।*

उपरोक्त उद्धरण पुरानी परिपाटी के है जिनकी विशेषताएँ संक्षेप में ये हैं:—

(१) प्राय: सारा सौंदर्य-वर्णन परम्परागत है जिसमें नवीनता या मौलिकता नहीं के बराबर है। सौंदर्य-वर्णन का सारा ढाँचा रीतिकालीन है। (२) सूझें वही पुरानी हैं। पुष्प भार से नम्र लता का नायिका के सौंदर्य की तुलना में मान घटना, कटि की सूक्ष्मता सूचित करने के लिये उसका भग होना, कच भार से उसका लचकना, व चलते-चलते गिर जाना, चाल से मराल का सकुचना, कसौटी पर कंचन लीक का खिचना, अलकों की लट का, कान के पास पहुंचने में नागिन का सीप सेवन करना, कपोलो का कन्दर्प का मुकुर होना, मुख-मंडल का कचन, कमल व चन्द्रमा-सा होना, भ्रकुटी भय के मारे नागनारियों का छिप जाना, आदि उक्तियों में कवियों की कोई विशेष नवीन सौंदर्य-दृष्टि सूचित नही होती। (३) सौंदर्य के उपमान भी पुराने व गढ़े-गढ़ाये ही हैं। देह, केश, मुख, नयन, भृकुटी, कपोल, अधर, दाँत, नाभि, कर, उंगलियाँ, आदि के लिये क्रमश: लता, नाग, सोना, कमल या चन्द्रमा, मृग या नील कमल, धनुष, गुलाबपुष्प, बिम्बाफल, मोती, नवल नीरज, पल्लव और चम्पक कलियाँ आदि प्रसिद्ध उपमान ही प्रयुक्त हुए हैं। नवीन उपमान ढूँढने का कोई प्रयत्न लक्षित नही होता। उत्प्रेक्षाएँ भी वही है। (४) कवियों का ध्यान अभी कर्णफल या श्रुतिकुडल, कड़े, बेसर, आदि अलंकारों की ओर है। पारिजात की माला और नील सुहावन कंचुकी भी उन्हें आकर्षक है। (५) शरीर के अंग भी उन्हीं रूढ़ सौंदर्य-गुणों से युक्त बताये गये है। यथा : गुरु नितम्ब, क्षीण कटि, पीन कुच, गोल कपोल, सुभर गोल गोरी बाँहें, सघन जंघा तट, नितम्ब पर्यन्त घुंघराले काले सुवासित कोमल घने सटकारे केश, कुछ मुंदे कुछ खुले बड़े-बड़े नेत्र आदि। (६) हाँ, मुद्राएँ अथवा अनुभाव अवश्य कुछ सुन्दर हैं—यथा : चिबुक पर हाथ धरे नायिका का खड़ा रहना, विटप के सहारे उसका शिथिल-सी खड़ी रहना, घबराई

* कविता कलाप, पृ० ९,१०; श्री रायदेवीप्रसाद पूर्ण की 'इन्दिरा' नामक कविता से उद्धृत।

सी रहना, अलक की लट का कान के समीप डोलना आदि मुद्राओं में पर्याप्त आकर्षण है। पर, देव, मतिराम, पद्माकर आदि के आगे ये सब उषाकाल के दीप से ही हैं। (७) एक बात विशेष महत्त्व की है। छायावाद काल में सभी प्रकार के सौंदर्य में जो एक आश्चर्य, जिज्ञासा या रहस्यात्मकता की भावना आगे चलकर दिखाई पड़ी, वह इस पुरानी परिपाटी में प्रायः कहीं नहीं दिखाई पड़ती। हाँ, 'इसके अधर देख जब पाते, शुष्क गुलाब फूल हो जाते' (देखिए पृ० २९१) जैसी उक्तियों में जायसी का 'नयन जो देखा नीर भा' अवश्य याद आ जाता है, किन्तु कविता में वर्णित प्रस्तुत परिस्थिति और व्यापक संदर्भ में देखने पर यह 'व्यतिरेक' का चमत्कार ही अधिक जान पड़ता है, किसी गहरी तथा स्वाभाविक रहस्य-भावना का संकेतक उतना नहीं। द्विवेदीकाल के अन्तिम पटल में 'पन्त' तथा 'प्रसाद' के द्वारा ही मुख्यतः इस प्रवृत्ति का प्रवर्तन हुआ। प्रस्तुत सौंदर्य-वर्णन में स्थूलता या बहिर्मुखता ही अधिक है। (८) कवियों की रंग-भावना भी कोई विशेष उल्लेख योग्य नहीं। वही कृष्ण, हरित, अरुण, नीला, पीला अथवा गुलाब, कंचन, चम्पक और बिम्बाफल वाले रंग। रंगभावना का सूक्ष्म परिचय भी आगे चलकर छायावादी काव्य में ही मिला। (९) उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, उल्लेख, भ्रांतिमान् आदि अलंकारों का विन्यास प्राचीन ढंग का है।

पुरानी परिपाटी के सौंदर्य-वर्णन की ये ही कुछ मुख्य विशेषताएं हैं।

२. नवीन परिपाटी :—द्विवेदी काल मे ही बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, बाबू जयशकर 'प्रसाद' तथा श्री सुमित्रानन्दन पंत आदि कवियों ने नारी-सौंदर्य वर्णन के क्षेत्र मे अपनी सूक्ष्म सौंदर्य-भावना का परिचय देना आरम्भ कर दिया था। प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के वर्णनो की तुलना करके देखने पर उनका अन्तर स्पष्ट उभर आता है। नवीन सौंदर्य-वर्णन की विशेषताओं के परिज्ञान के लिए कुछ उदाहरणों का आधार लेना उत्तम होगा।

गुप्त जी ने अपनी नवीन कल्पना तथा प्रतिभा के बल से कुछ अत्यन्त सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। सिद्धराज की 'रानकदे' का एक रूप देखिए—

घर के निकट कुछ पेड़ पौधे रोपे थे, और बना ली थी एक बाटिका सी उसने।
गोड़ती थी, सींचती थी आप वह उसको, पानी खींचती थी नित्य प्रातःकाल कूप से।
दायें और बाएँ घूम घूम झूम झूम के, आता लूम लेता हुआ पूर्ण घट नीचे से।
पाती गहरे का रस वह गुणशालिनी, राग रह जाता स्वेद भाग बह जाता था।[1]

यहाँ हम 'साकेत' से एक ऐसे परम रमणीय चित्र को पूरा उद्धृत करने का

१. सिद्धराज, पृ० ५७।

लोभ-संवरण नहीं कर सकते जिसमें गुप्त जी की मृदुल रसीली तूलिका के सब रंग छहर उठे हैं। राघव-प्रिया सीता के स्वच्छन्द वन-जीवन की यह झाँकी टकटकी लगाकर देखते ही रहिए—

अंचल पट कटि में खोंस, कछोटा मारे, सीता माता थीं आज नई धज धारे।
अंकुर हितकर थे कलश पयोधर पावन, जन मातृ-गर्वमय कुसल वदन भव-भावन।
पहने थीं दिव्य दुकूल अहा, वे ऐसे, उत्पन्न हुआ हो देह संग ही जैसे।
कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट से, थे पत्र-पुज में अलग प्रसून प्रकट-से।
कन्धे ढक कर कच छहर थे उनके, रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके।
मुख धर्म बिन्दु मय ओस भरा अम्बुज सा, पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा?
पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसती, तब नखज्योति-मिष, मृदुल अंगुलियाँ हंसती।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता, तब अरुण एड़ियों से सुहास-सा झड़ता।
क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते, पद पद्मों में मंजीर मराल मचलते।
रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती, पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती।
तनु गौर केतकी-कुसुम-कली का गाभा, थी अंग सुरभि के संग तरंगित आभा।
भौरों से भूषित कल्प-लता-सी फली, गाती थीं गुनगुन गान भान-सा भूली।
निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया, मेरी कुटिया मे राजभवन मन भाया।[1]

संगीत और रंगों की मानसिक आँधी में अंकित किए गये इस चित्र का सौदर्य अपूर्व है!

पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। सौंदर्य-भावना को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने में इनका सहयोग मूल्यवान् है। 'पथिक' की नायिका का यह सूक्ष्म रमणीय सौदर्य देखिए—

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन सी वामा।
कवि के स्वप्न समान विश्व के विस्मय सी अभिरामा।
सिन्धु गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता सी।
आकर चकित हुई तट पर प्रियतम दर्शन की प्यासी।
घुसा विषाद-कीट था कोई उसके हृदय-सुमन में।
मुख ऊपर दु:ख की छाया थी सन्ध्या सी उपवन में॥[2]

रेखांकित स्थलों में अनुस्यूत उपमाओं और उनमें निहित अनुभूतियों तथा निरीक्षणों में कवि की नवीन और मौलिक सौंदर्य-चेतना का आभास मिल रहा है।

पं० मन्नन द्विवेदी का यह चित्र सादा होते हुए भी कितना सुन्दर है—

---

१. साकेत, सर्ग ८। २. पथिक, सर्ग १।

कृशोदरी गन कही चली है, लिए है बोझा छुटी हैं बेनी।
निकल के बहती है चन्द्र मुख से, पसीना बन कर छटा की श्रेनी।
गगन समीपी हिमाद्रि शिखरों, घरों में जलती है दीप माला।
यही श्रमरपुर उधर है सुरगण, इधर रसीली हैं देवबाला ॥ [1]

बाह्य सौंदर्य के कुम्हला जाने अथवा लुप्त हो जाने पर भी आत्मिक सौदर्य शेप रह जाता है। सौंदर्य की यह सूक्ष्म भावना 'प्रसाद जी' ने अपने 'प्रेम पथिक' के नायक-नायिका के संवाद के बीच बहुत सुदरता से प्रदर्शित की है—

यह कैसा है वेश, तुम्हारा वह सब वैभव कहाँ गया।
कहाँ स्निग्ध सौदर्य तुम्हारा, वह लावण्य कहाँ है अब ?
वे सब अलस कटाक्ष कहाँ है ? वे घुघराले बाल कहाँ ?
वह उन्मादक रूप, शिशिर के बूँद सदृश क्या ढुलक गया ? [2]

और 'पंत' की 'ग्रथि' की नायिका का सूक्ष्म सौदर्य भी दर्शनीय है। देखिए—

अमृत की जीवित लहर के बाँह में, जगत में कितने अभी भूले भला। [3]
लाज की मादक सुरा सी लालिमा, फैल गालों में, नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ सी सौंदर्य की, अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से।
इन गढों में-रूप के आवर्त्त से, घूम फिर कर, नाव से किसके नयन,
है नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर, भार से दब कर तरुण सौदर्य के। [4]

उपरोक्त सौदर्य-वर्णनो की विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(१) रूप-सौदर्य-वर्णन में अब कवियो की दृष्टि आन्तरिक सौदर्य, जो शील-सौजन्य या चरित्र का सौंदर्य है, पर ही अधिक है। रीतिकाल की प्रतिक्रिया तथा छायावाद की भूमिका के रूप में, काव्य में अब शनैः शनैः स्थूल पर सूक्ष्म विजय पाने लगा है। बाह्य से अब कवियों का ध्यान अन्तर्मुख होता चल रहा है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सौंदर्य अब राजसी ठाठ-बाट में ही नहीं रह गया है ; वह मानो पुराना 'फैशन' हो गया है। अब वह सरलता, सादगी तथा सौहार्द्र से निर्मित चरित्र के सौदर्य या शील में ही ढला जा रहा है। आज प्रगतिवाद जिस साधारण सौंदर्य का समर्थन तथा वर्णन कर रहा है वह भारतेन्दु काल में 'प्रेमधन' जैसे कवियों से आरम्भ होकर तथा प्रस्तुत कवियों से विकसित होकर—किस प्रकार धार बाँध कर रवाना हो चुका है, यह बात ध्यान देने योग्य है। यह प्रगति कितनी स्वाभाविक है ! वह किसी वाद की प्रेरणा या उत्तेजना से ऊपर से थोपी हुई नहीं जान पड़ती।

---

१. कविताकौमुदी भा० २, पृ० ४५५। २. प्रेम-पथिक, पृ० १८।
३. ग्रंथि, पृ० ५। ४. ग्रंथि, पृ० ६।

(२) अलंकार-विधान में भी सूक्ष्म सौंदर्य की भावना को जगाने के लिए सूक्ष्म या अमूर्त उपमानों का आश्रय भी लिया जाने लगा है। ऊपर के उदाहरणों के रेखांकित स्थालों में निबद्ध उपमा-रूपकों तथा लाक्षणिक प्रयोगों मे यह बात देखी जा सकती है। 'अमृत की जीवित लहर' 'सौंदर्य की बाढ़', 'रूप के आवर्त्त', 'सौदर्य के तरुण भार' आदि उक्तियाँ सौंदर्य-भावना तथा अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक नवयुग के उन्मीलन की सूचना दे रही हैं।

(३) नखशिख की प्रवृत्ति अब क्षीण पड़ती जा रही है। वस्तुतः सारा सौदर्य अब शरीर, वेश-भूषा तथा आभूषण आदि से सिमट कर मुख्यत· भावना की ही ओर बहा जा रहा है। पूर्व युगों से स्पष्ट अन्तर सूचित हो रहा है।

(४) सौदर्य के चित्रांकन में अब कवि अधिक स्वच्छंदता से अपनी कल्पना का प्रयोग कर रहा है। रीतिकाल में यह कल्पना बहुत कम दिखाई पड़ती थी। ऊपर गुप्त जी तथा पत जी के काव्य के उद्धरणो से मुक्त कल्पना का रूप देखा जा सक्ता है।

(५) विशेप ध्यान देने की बात यह है कि सौदर्य मे अब वह रहस्यात्मकता तथा कल्पनात्मकता का लावण्य भी आने लग गया है जो प्राचीन और नवीन हिन्दी कविता की सौदर्य-सृष्टि को एक दूसरे से पृथक् करता है। रहस्यात्मक आवरण सौदर्य का एक विशिष्ठ गुण है, यह हम यथास्थान बता चुके हैं। उसके अभाव में सौदर्य-चेतना मानों फीकी-फीकी सी लगती है। यह नवीन प्रवृत्ति छायावाद की अति-कल्पनापूर्ण रहस्यात्मक सौंदर्य-सर्जना (अच्छी है या बुरी, यह प्रश्न अलग है) का पूर्वाभास है।

(६) अब, इन चित्रों का सम्वन्ध नये समाज और नई जीवन-चेतना से बैठा कर देखना भी आवश्यक है। तेजी से बदलते समाज के विचारों और भावनाओं का प्रतिबिम्ब हमें इन चित्रों मे मिलता है। ध्यान देने की बात यह है कि प्राचीन सामन्ती वैभव की तड़क-भड़क के प्रति अब कवियों का कोई आकर्षण नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि इस काव्य की पृष्ठ भूमि में जो राजनीतिक चेतना चल रही थी वह जन-सत्तात्मक राज्य-स्थापना की ओर ही प्रयत्नशील थी। इसीलिए कवि अब सौदर्य—भावना का संग्रह सादा जीवन तथा उसकी परिस्थितियों से ही करते है। श्रम का महत्त्व प्रतिष्ठित हो चुका है। पेड़-पौधे गोड़ना, सींचना, भार उठाना, घड़ा भरना, पसीना बहाना आदि कर्म-सौंदर्य के उपादान हैं। जीवन के दैनिक कार्य-कलापों में सहज आकर्षण समाविष्ट हो गया है। कछोटा, छहरते कच (केश), छुटी वेणी भी अब अधिक आकृष्ट करने लगी है। कविजन अब स्वावलम्ब की एक झलक पर कुबेर का कोष भी न्यौछावर करने को तैयार है। श्रम के द्वारा प्राप्त गौरव, सुख, और संतोष ही उनकी दृष्टि में जीवन का सार-सत्व है ('पंचवटी')। तात्पर्य यह है

कि निम्न जीवन के सादे चित्रों में से सौदर्य-संग्रह का कार्य कवियों की भावना विशेष उत्साह से करने लगी है । यह भी ध्यान देने की बात है कि अधिकाश छायावादी काव्य में आगे चलकर यह प्रवृत्ति फिर लुप्त हो गई और 'प्रयोगवाद' में जा कर ही वह पुनः जीवित हुई ।

(ग) प्रकृति-सौंदर्य

दृश्य-चित्रण—द्विवेदी-काल में कवियों के लिए मानव की अनादि सहचरी प्रकृति के प्रति भी सौदर्य-दृष्टि पर्याप्त रूप से विकसित हो चली । यह दृष्टि नारी-सौदर्य की अपेक्षा प्रकृति के प्रति अधिक सूक्ष्म व परिष्कृत रूप में दिखाई दी । पं० श्रीधर पाठक, प० रामचन्द्र शुक्ल, 'हरिऔध', पं० सत्यनारायण 'कविरत्न', बा० मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामनरेश त्रिपाठी, रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', 'प्रसाद' तथा 'पंत' आदि कवियों ने अपने प्रकृति-प्रेम का गंभीर परिचय देते हुये प्रकृति-सौदर्य का सुन्दर चित्रण किया । हमारी यह मान्यता है कि छायावाद में प्राप्त सूक्ष्म प्रकृति-प्रेम तथा प्रकृति-सौदर्य-चित्रण का मार्ग उपरोक्त कवियों ने ही प्रशस्त किया । पं० श्रीधर पाठक ने ही, अंग्रेज कवि गोल्डस्मिथ के काव्यो के अनुवाद द्वारा, हिन्दी-काव्य को प्रकृति-प्रेम तथा सौंदर्य की विशिष्ठ सामयिक प्रेरणा प्रदान की थी । उन्होंने 'काश्मीर-सुखमा' (जिसका प्रथम संस्करण सं० १६६१ में छपा था और जो 'प्रेमधन' जी की सं० १६६६ में प्रकाशित प्रकृति-प्रेम तथा सौदर्य की सुन्दर कृति 'दुर्दशा दत्तापुर यानी जीर्ण जनपद' से ६ वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था) में नवीन ढंग का प्रकृति-चित्रण करके इस क्षेत्र में नेतृत्व किया । श्रीनगर का एक चित्र देखिए—

धन्य नगर श्रीनगर वितस्ता कूलनि सोहै,
पुलिन मौन प्रतिबिम्ब सलिल सोभा मन मोहै ।
लसत कदल पुल सप्त, चपल नौकागन डोलैं,
रूपरासि नर नारि वारि बिच करत कलोलै ।
शेरगढी नृपभौन सरित तट सोहत सुन्दर,
विज्जु दीप दुति निरखि स्वर्गपुरि दुरत पुरन्दर ।
हेमपत्रमय तत्र गदाधर जू हरि मन्दिर,
राजभवन अवलम्बि, राजकुल कीर्ति थम्ब थिर ।
गिरि ऊपर सों लगत नगर छवि निपट निराली,
वर्गाकृति घर बगर बिछे बहु सोभा साली ।
सोहत सो चहुँ ओर, सुघर घर अवलि एक सी,
बीच वितस्ता धार लखत सुचि रजत रेख सी ।[1]

---

१. काश्मीर सुखमा, पृ० ३ ।

निश्चय ही उपरोक्त चित्र स्थूल है किन्तु उस में ब्यौरों को ध्यान से देखने की (७ पुल, विज्जु दीप दुति, वर्गाकृति घर, घर अवलि, व वितस्ता धार के बीच मे रजत रेख सी दिखना) चेष्टा पर्याप्त मौलिक और नवीन है। इस कविता में आगे चल कर 'भारतेन्दु' के ढंग की ही उपमा उत्प्रेक्षाएँ मिलती है। फिर भी दृश्य-चित्रण में प्राप्त तल्लीनता अवश्य प्रशंसनीय है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध चरित' में प्रकृति के कई अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किये है, जिनमें चित्रकार की-सी प्रतिभा दिखाई पड़ती है। शुक्ल जी की दृष्टि वर्ड्सवर्थ की तरह सामान्य पदार्थो में भी पूरी रसात्मकता के साथ लीन होती है और भवभूति तथा टेनीसन की तरह प्रकृति के भयावह. रूखे, बेडौल तथा परुप रूपों में भी। निश्चित ही शुक्ल जी प्रकृति-चित्रण के हमारे मूर्धन्य कलाकारो में से है। शुक्ल जी के प्रकृति-काव्य का अध्ययन करने पर न जाने क्यों हमारे मन में यह बात रह-रह कर उठती है कि यदि वे आजीवन काव्य-क्षेत्र मे ही रहते तो हमें संसार का प्रकृति का एक महान् कवि मिलता। पर प्रकृति का 'प्लैनिंग' तो कुछ और ही था। सौदा घाटे का भी नहीं रहा। अस्तु। उनकी रचनाओं से दो-एक उदाहरण लीजिए—

पुलकित पुनि लखि परत लहलहे खेत मनोहर,
चुबन सों अनुरागवती उषा के सुन्दर।
प्राची आशा कहन लगति दिन राज अवाई,
पहले केवल धुंध सरीखो परतलखाई।
किन्तु पुकारे अरुणचूड जौ लौं पुर भीतर,
आभा निखरति शुभ्र रेख सी शैलशीर्ष पर।
लागति परसन होति शुभ्रतर सो अब क्रम क्रम,
देखत देखत होति स्वर्णपीताभ धार सम।
अरुण नील औ पीत होत घनखंड मनोरम,
काहू पै चढि जाति सुनहरी गोट चमाचम।
सब जग जीवन मूल प्रतापी परम प्रभाकर,
दिनपति प्रगटत धारि ज्योति परिधान मनोहर।[1]

उपरोक्त चित्र में 'धुध' 'शुभ्र रेख', 'स्वर्णपीताभ', 'अरुणनील और पीत', तथा 'सुनहरी गोट चमाचम' में कवि की कैसी मौलिक तथा सूक्ष्म वर्ण-भावना और निकटदर्शिता लक्षित हो रही है! दृश्य-चित्रण में कितना महीन कौशल निहित है! एक ऐसा ही सूक्ष्मदर्शितापूर्ण चित्र और लीजिए—

अब होत ताके तीर चकरे पात के महुअन तरे,
हिंगोट औ अंकोट की झाड़ीन को मारग धरे।

१. बुद्धचरित, पृ० १०३।

पटपरन में कढ़ि जाइए जहँ फल्गु फोरि नगावली,
चपती चटानन बीच पहुँचति है गया की शुभथली ।
बलुए पहारन और टीलन सो पड़ो सुषमा भरो,
तरु विल्व को ऊसर कटीलो दूर लौ फैलो परो ।
लहरात ताके छोर पै बन परत एक लखाय है,
अति लहलहे तृण सो रही तल भूमि जाकी छाय है ।
जुरि कतहुँ सोतन को विमल जल लसत धीर गंभीर है,
जहँ अरुण, नील, सरोज ढिग वक सारसन की भीर है ।
कुछ दूर पै दरसात ताड़न बीच छप्पर फूस के,
जहँ कृषक सेनग्राम के सुखनीद सोवत हैं थके ।[1]

दृश्य के पेचीदे सूक्ष्म ब्यौरों पर गम्भीर दृष्टि रख कर, चित्रकार की प्रतिभा से, उनके शब्द-चित्रण करने को ही शुक्ल जी 'संश्लिष्ट चित्रण' कहते है ।[2] उन्होंने प्राचीन कवियों—कालिदास, भवभूति आदि—में दृश्य-चित्रण का यही कौशल बताया है । ये चित्र भी उसी प्राचीन संश्लिष्ट-चित्रण की परम्परा में हैं । ऐसे चित्र उनके 'बुद्धचरित' में भरे पड़े है ।[3] निस्सन्देह शुक्ल जी की इस क्षेत्र मे एक बहुत बड़ी देन है ।

'हरिऔध' जी ने प्रकृति-वर्णन प्रायः उद्दीपन के रूप में ही किया है । उनके अधिकांश काव्य के विरह-प्रधान होने के कारण यह स्वाभाविक ही था । किन्तु पृष्ठभूमि, वातावरण-निर्माण तथा स्वतन्त्र चित्रण के लिये उन्होंने प्रकृति को आलंबन रूप में चित्रित करने की भी गुंजाइश निकाल ली है । उनके प्रसिद्ध काव्य 'प्रिय प्रवास' के कुछ सर्ग (१, २, ३, ५, १३ आदि) तो प्राकृतिक वातावरण के चित्रण से ही आरम्भ होते है । नवम सर्ग लगभग पूरा प्रकृति-वर्णन में ही खप गया है । इसमें 'हरिऔध' जी ने यद्यपि अपना प्रकृति-प्रेम मार्मिकता से प्रदर्शित किया है, तथापि वृक्षो, लताओं, रंगों आदि का आलंकारिक चमत्कारपूर्ण इतिवृत्तात्मक परिगणन मात्र भी पर्याप्त हुआ है । यमक तथा श्लेष के प्राचीन ढग के चमत्कार देखने ही योग्य है । उक्तियाँ वैचित्र्यपूर्ण हैं । शुक्ल जी के से रसपूर्ण तथा संश्लिष्ट-चित्रण भी पर्याप्त हैं । प्रकृति के सामान्य रूपो के प्रति अच्छी प्यारभरी दृष्टि व्यक्त हुई है । वर्णनों में कहीं-कहीं तो पेड़ों के नाम भर गिना दिये गये हैं—

---

१. बुद्धचरित, पृ० १२७ ।

२. चिंतामणि, भा० २, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक लेख ।

३. बुद्धचरित, पृष्ठ ३९, ४०, ४१, ४३, ७६, ९९, १०१, ११०, १५९, १६०, १९४ आदि ।

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला ।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली और शिशपा इंगुदी ।
नारंगी अमरूद विल्व बदरी सागौन शालादि भी ।
श्रेणी बद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े ।।[1]

आँवले के पेड़ का यह यमक के चमत्कार से युक्त वर्णन देखिये—

दिखा फलों की बहुधा अपक्वता । स्वपत्तियों की स्थिरता विहीनता ।
बता रहा था चल चित्त वृत्ति के उतावलों की करतूत आँवला ।।[2]

ऐसे चमत्कारपूर्ण वर्णनों से 'प्रियप्रवास' का नवम सर्ग लदा हुआ है । किन्तु, कहीं-कहीं चित्र ऐसे स्पष्ट तथा उज्ज्वल है कि उनमे वस्तुओं के प्रति अच्छी निकट-दर्शिता, कवि की भावुकता तथा कल्पना झलकती है । कवि ने दृश्य को एकाग्रचित होकर देखा है । यथा—

नाना निर्झर हो प्रसूत गिरि के संसिक्त उत्संग से ।
हो हो शब्दित थे सवेग गिरते अत्यन्त सौंदर्य से ।
जो छींटे उड़ती अनन्त पथ में थी दृष्टि को मोहती ।
शोभा थी अति ही अपूर्व उनके उत्थान की, पात की ।
प्यारा था शुचि था प्रवाह उनका सद्वारि सम्पन्न हो ।
जो प्राय: बहता विचित्र गति से गम्य स्थलों मध्य था ।
सीधे ही वह था कहीं विहरता होता कहीं वक्र था ।
नाना प्रस्तर खंड साथ टकरा, था घूम जाता कहीं ।।[3]

कवि में वर्ण-बोध भी कहीं-कही अच्छा पाया जाता है; पर रंगों की यों ही गणना मात्र-सी हो गई है—

अश्वेत, ऊदे अरुणाभ, बैंगनी । हरे अबीरी सित पीत संदली ।
विचित्रवेशी बहु अन्य वर्ण के । विहंग से थी लसिता वनस्थली ।।[4]

'पूर्ण' जी ने भी इसी प्रकार एक जगह पचासों रंगों के नाम गिना डाले है ।

पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' स्वभावत: प्रेम-सौंदर्य-माधुरी में पगे जीव थे । फिर ऊपर से कालिदास, भवभूति, टेनीसन, स्कॉट आदि कवियों के काव्यों के अध्ययन तथा अनुवादों द्वारा उन्होंने अपनी प्रतिभा को बहुत परिष्कृत तथा पैनी भी बना दिया था । उनको प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों ही रूप प्रिय थे । ग्रीष्म की प्रचंडता का एक चित्र देखिये—

---

१. प्रियप्रवास, सर्ग ६, छंद २५ । २. प्रियप्रवास, सर्ग ६, छंद ३३ ।
३. प्रियप्रवास, सर्ग ६, छंद १७, १८ । ४. 'प्रियप्रवास', सर्ग ६, छंद ६१ ।

तपनि सों सुधि बुधि तजि कहुँ जाय, मोर जब पैठत पाँख पसारि
दुरत ता नीचे विषधर आय, विकल प्राणनि कौ मोह बिसारि।
घाम के मारे अति घबराय, फिरत मारे चहुँ जीवन काज।
एक थल अपनो बैर बिहाय, नीर ढिग पीवत मृग मृगराज।
लार टपकति जा की अकुलात, स्वान अति हाँपत जीभ निकारि।
बिलाई कढ़ि समीप सों जात, तऊ नहिं बोलत ताहि निहारि।[1]

और, अब प्रकृति के कोमल रूप का भी एक चित्र लीजिये—

हरी घास सों घिरे तुंग टीले नभ चुम्बत।
तिन में सीधी सरल सरग दिसि डगर उलम्बत।
जब सो बहरै लहरैं छहरैं तेरी समुदित।
बिन कारण नहिं ज्ञात आप आपहि सों प्रमुदित।
कोऊ सरसों सुमन फूल, जौ सिर सों बाँधत।
गरियारन गोरिन के संग कोउ चुहल मचावत॥[2]

इस प्रकार 'कविरत्न' जी का प्रकृति-सौदर्य-निरीक्षण प्रशंसनीय है।

गुप्त जी ने भी कहीं कहीं स्वतन्त्र चित्र अंकित किये हैं। यथा—

संध्या हो रही है। नील नभ में, शरद के
शुभ्र घन तुल्य, हरे वन में, शिविर के
स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत भानु का
अरुण प्रकाश पड़ झलक रहा है यों।
छलक रहा हो भरा भीतर का वर्ण ज्यों।[3]

वसन्त और वर्षा ऋतु के प्रति अनुराग तो प्रायः सभी कवियों में पाया जाता है पर, शरद् के सायंकालीन सौम्य सौदर्य के प्रति प्रदर्शित यह भावुकता कवि के भाव-वृत्त के विस्तार को सूचित करने वाली है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने जहाँ प्रकृति के प्रति अपने छलछलाते अनुराग की गहरी व्यंजना की है वहाँ उन्होंने दृश्य पर दृष्टि टिका कर उसका यथातथ्य चित्रण भी किया है। उनके दृश्य वर्णन में गहरी तल्लीनता तथा सूक्ष्म निकटदर्शिता मिलती है—

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जल वाला।
बहता है अविराम निरन्तर कलकल स्वर से नाला।

---

१. 'हृदयतरंग', ग्रीष्मगरिमा, पृ० ७० । २. 'हृदयतरंग', वसन्त स्वागत, पृ ६८ ।
३. 'सिद्धराज', प्रथम सर्ग का आरम्भ ।

अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरिमाला ।
किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द उजाला ।।
कहीं श्याम चट्टान, कही दर्पण सा उज्ज्वल सर है ।
कहीं हरे तृण खेत, कही गिरि स्रोत प्रवाह प्रखर है ।
कही गगन के खम्भ नारियल तार भार सिर धारे ।
रस रसिकों के लिये खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे ।।
बार बार बक पक्ति गमन के उज्ज्वल फूलों वाली ।
मेघपुष्प वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली ।
लहराती दृग की सीमा तक धानों की हरियाली ।
वारिज नयन गगन छवि दर्शक सर की छटा निराली ।।
सुन्दर सर है लहर मनोरथ सी उठ कर मिट जाती ।
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती ।
लटक रहे हैं धवल सुगधित कन्दुक से फल फूले ।
गूँज रहे हैं अलि पीकर मकरन्द मोह में भूले ।।[1]

चित्र संश्लिष्ट है । इसमें एक बात ध्यान देने योग्य है । प्रकृति से संग्रहीत सौंदर्य-चेतना और आनन्द-भावना सच्चे भावुक के मन में जब तक यह विचार उत्पन्न नही कर देती कि प्रकृति-जगत् की तरह ही मानव-जगत् भी आनन्द, मुक्ति और रस की भावना से परिपूर्ण हो जाय, तब तक मानो उसकी सार्थकता और सफलता नहीं । कवि ने 'किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द उजाला' के द्वारा मानव की व्यथा की अकाट्यता और प्रकृति की असमर्थता—दोनों का बोध करा कर, हमारी कठोर संज्ञा को झकझोरने के लिये, सृष्टि की एक विडम्बना का कारुण्य हमारी चेतना में छोड़ दिया है ।

पं० श्रीधर पाठक का 'हिमालय' का एक संक्षिप्त चित्र भी देखिये—

चारु हिमाचल आंचल में एक साल विसालन कौ बन है ।
मृदु मर्मर शील झरैं जल स्रोत हैं पर्वत ओट है निर्जन है ।।
लिपटे हैं लता द्रुम, गान में लीन प्रवीन विहंगन कौ गन है ।
भटक्यौ तहाँ रावरौ भूल्यौ फिरै, मद बावरौ सौ अलि को मन है ।।[2]

'प्रसाद' जी ने अपनी आरम्भिक उठान में ही दृश्य-चित्रण में एक-एक विवरण को स्पष्टता से अंकित करने की अच्छी प्रवृत्ति दिखाई थी—

---

१. पथिक सर्ग ३ ।

२. कविताकौमुदी (पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संपादित), भाग २, पृ० १३२ ।

सुन्दर कुटिया वह कैसी है रम्यतटी में सरिता के
शांत तपस्वी सी वल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई।
फैल रहे थे कोमल वीरुध हरे हरे तृण चारो ओर
जैसे किसी दुर्ग की खाई मे श्यामल जल भरा हुआ
स्वच्छ मार्ग था रुका जहाँ था हरी मालती का तोरण
गिरी वहाँ थी नई चमेली की टट्टी प्राकार बनी
कानन के पत्तों, कोमल तिनकों की उस पर छाया थी
मृग छाला, कौशेय, कमंडल वल्कल से ही सजी रही
शांत निवास बनी थी कुटिया और रहा जिसके आगे
नवल मालती कुज बना दालान, अनोखे सजधज का।[1]

वर्ण-भावना : चित्र को पूर्ण सजीव तथा प्रभावशाली बनाने के लिए दृश्य के वर्णों (रंगों) तथा उसकी ध्वनियों की भी व्यंजना करना कवियों को इप्ट होता है। ऊपर इसकी कुछ चर्चा प्रसंगवशात् हो चुकी है। रंगों की व्यंजना तो शब्द प्रतीकों के द्वारा कर ही दी जाती है, किन्तु ध्वनि की सफल संवेदना जगाने के लिए प्राय: अनुकरणात्मक या नादानुयायी शब्दों का प्रयोग किया जाता है। वर्ण की व्यंजना जिस प्रकार रगों के स्थूल-सूक्ष्म विविध मिश्रणों से परिचित होने वाली सजग आँखों वाले कवियों के ही द्वारा सफलतापूर्वक हो सकती है, उसी प्रकार ध्वनि की व्यंजना भी तदनुकूल अक्षर-योग या शब्द-विन्यास की क्षमता रखने वाले कवियों के द्वारा ही संभव है। आलोच्य काल में कुछ प्रतिभा-संपन्न कवियों ने प्रकृति-सौंदर्य-चित्रण की कला में इसका भी परिचय दिया। दृश्य की भावना पाठक के लिए पूर्ण संप्रेषणीय बनाने के लिए यह भी दृश्य-चित्रण-कौशल का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। पहले हम रंगों को लें। काला, पीला, लाल, नीला, हरा मात्र का उल्लेख तो काम चलाऊ ही समझिये। उससे कवि की कोई विशिष्ट वर्ण-भावना का पता नहीं चलता। पर जब मिश्रणों या हल्की-गहरी रंगतों का भी उल्लेख होता है, तभी कवि की सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है।[2] कुछ उदाहरण लीजिए—

१. ढरत दीप्त अंगारबिंब सम गिरितट दिनकर,
परसति आभा अरुण खेत औ खरियानन पर।[3]

---

१. प्रेम पथिक, पृ० ४।

२. मासिक पत्र 'कल्पना' (हैदराबाद) में श्री जगदीश मित्तल का 'हिन्दी में रंगों की नामावली' नामक लेख इस प्रसंग में दृष्टव्य है (अप्रैल, १९५३)।

३. बुद्धचरित, पृ० १०२।

२. देखत-देखत होति स्वर्ण पीताभ धार सम !
अरुण, नील औ पीत होत घनखंड मनोरम,
काहु पे चढ़ि जाति सुनहरी गोट चमाचम ।[१]

३. हेमाभ वृंत हिलाय हरपत ताल करत प्रणाम है ।[२]

४. स्वदेशी मलमल मल मल धोय, सदली ताकों सुघर रंगाय ।[३]

५. अश्वेत ऊदे अरुणाभ बैंगनी । हरे अबीरी सित पीत संदली ।[४]

६. गोट जड़ाऊ घूंघट की, बिजली जलदोपम पट की,
परिधि बनी थी विधु मुख की, सीमा थी सुषमा सुख की ।[५]

उपरोक्त उद्धरणों के रेखांकित स्थलों में कवियों की वर्ण-भावना का कुछ परिचय मिलता है । वस्तुतः इस दिशा में प्रयास अभी आरम्भिक ही है । वर्ण-भावना का अच्छा विकास आगे चलकर छायावाद के विशिष्ठ कवियों में, मुख्यतः 'प्रसाद', पंत, महादेवी वर्मा, 'बच्चन', 'अंचल' आदि कवियों में, दिखाई पड़ा । अंग्रेज कवियों में कीट्स, आर्नल्ड, रोजेटी आदि कवियो मे इसका बहुत सुन्दर रूप मिलता है ।

नाद-व्यंजना : इसी प्रकार प्राकृतिक सौंदर्य-चित्रण में नाद-व्यंजना का भी महत्त्व है । इसमें वर्णो की या शब्दों की ऐसी योजना की जाती है कि उनके उच्चारण के साथ ही दृश्यगत नाद अथवा ध्वनि की संवेदना उत्पन्न हो जाय । कुछ उदाहरण लीजिए—

१. जहाँ-तहाँ झाड़ी में झिरती है झरनों की झड़ी यहाँ ।[६]

२. झनन झनन नाद हो रहा था रथ का ।[७]

३. लहलही लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल,
हरित कुसुमित लगे झूमन बिरिछ मंजुल विपुल ।[८]

४. सुमन निकुंजन में, कंजन के पुंजन में,
गुंजत मलिंदन को वृंद मतवारो है ।[९]

५. फूल कंज वृंद मकरंद को विहाय अर-
बिंद की कली में जो मलिंद मतवारी है ।[१०]

---

१. बुद्धचरित, पृ० १०३ । २. बुद्धचरित, पृ० १६० । ३. हृदय-तरंग ।
४. प्रियप्रवास । ५. साकेत, पृ० ७६ । ६. पंचवटी ।
७. सिद्धराज । ८. 'पूर्णसंग्रह', भूमिका । ९. वही ।
१०. वही ।

६. सम्मोहन बंशी बजती थी नव तमाल के कुंजों में।[1]

७. क्वणित मंजु विषाण हुए कई।
रणित शृंग हुए बहु साथ ही।[2]

ऊपर के उद्धरणो के रेखांकित स्थलों की पदावली अपनी कर्ण-मधुर वर्ण-मैत्री या सानुप्रासिकता से दृश्यांतर्गत व्यापार की मूल-भावना का प्रभावशाली संवेदन उत्पन्न करती है, तथा उससे दृश्य की कल्पना-गत चर्वणा में सहायता मिलती है।

यह हुआ दृश्य-चित्रण का विवेचन। काव्य में प्रकृति के मुख्यत: निम्न प्रयोग माने जाते हैं:—आलम्बन रूप में, उद्दीपन रूप में, अलकार-विधान में, रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में, प्रतीक-योजना में, उपदेश-कथन में तथा पृष्ठ-भूमि और वातावरण के निर्माण में। आलम्बन-रूप का वर्णन ऊपर हो चुका। उद्दीपन-रूप की भी व्याख्या शृंगार के विरह-मिलन के प्रसंग में हो चुकी है। प्रतीक की प्रवृत्ति कविता की इतिवृत्तात्मकता अथवा अभिधात्मकता के कारण इस युग में नहीं के बराबर ही रही है। पृष्ठ-भूमि, अलकार, तथा वातावरण के रूप में प्रकृति के प्रयोग की चर्चा भी ऊपर यत्र-तत्र की जा चुकी है, अतः अधिक विस्तार अनावश्यक है।

प्रकृति का रूप-सौदर्य-चित्रण रहस्य-भावना की प्रवृत्ति के लिए भी मार्ग खोलता है। सौदर्य चाहे शारीरिक हो चाहे प्राकृतिक, भावुक हृदयों के लिए उसमें कुछ स्वाभाविक जिज्ञासा या रहस्य की भावना उत्पन्न हो ही जाती है। सौदर्य के प्रति, उसके आदि सृष्टा अथवा किसी अज्ञात शक्ति के प्रति एक ऐसी जिज्ञासा या कुतूहल उत्पन्न हो जाता है जो भावुक हृदय को चंचल कर देता है। शारीरिक और प्राकृतिक, दोनों ही प्रकार के सौदर्य को देखकर यह जिज्ञासा समान तीव्रता के साथ हो सकती है, पर प्रायः वह प्राकृतिक सौदर्य के प्रभाव या कुतूहल से ही अधिक होती है। इस कारण रहस्य-भावना का थोड़ा विवेचन दृश्य-चित्रण के प्रसंग में अप्रासंगिक नहीं।

रहस्य-भावना : इस युग में कवियों मे एक ऐसी स्वाभाविक रहस्य-भावना भी जगी जो सहृदयों को आकर्षित कर सकती है। पर, यह रहस्य-भावना साम्प्रदायिक नहीं है; हमारे हृदय के भाव-चक्र की प्रकृत परिधि के ही अन्तर्गत संचरण करने वाली है। ऐसी स्वाभाविक रहस्य-भावना हमें भारतीय उपनिषदों मे भी प्राप्त होती है।[3] पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस स्वाभाविक रहस्य-भावना की अनेक स्थलों पर

---

१. प्रेमपथिक। २. प्रियप्रवास।

३. ओ३म्, केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रेतियुक्तः।
केनेषितों वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवी युनक्ति॥—केनोपनिषद् १,१।

बहुत ही रमणीय अभिव्यक्ति की है। यथा—

किसकी सुख निद्रा का मधुमय स्वप्न खंड है विशद विश्व यह ?
जग कितना सुन्दर लगता है ललित खिलौनों का सा सग्रह !
बार बार अंकित करता है ऋतुओं में सविता किसकी छवि ?
मोहित होता है मन ही मन देख देख किसकी क्रीड़ा कवि ?
है वह कौन रूप का आकर जिसके मुख की कान्ति मनोहर ?
देखा करती है सागर की व्यग्र तरंगें उचक उचक कर।
घन में किस प्रियतम से चपला करती है विनोद हँस हँस कर ?
किस के लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर ?
मंजु मोतियों से प्रभात में तृण का मरकत सा सुन्दर कर—
भर कर कौन खड़ा करता है किसके स्वागत को प्रतिवासर ?[१]

× × × ×

जग क्या है ? किसलिये बना है ? क्यों है यह इतना आकर्षक ?
कोई इसका अभिनेता है—मैं हूँ कौन ? दृश्य या दर्शक ?[२]

प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति यह जिज्ञासा या कुतूहल की भावना आगे चल कर छायावाद-काव्य में खूब लहलहायी।

किन्तु, मानव सौंदर्य के प्रति अथवा उसके नाते सिरजनहार के प्रति जिज्ञासा या कुतूहल की भावना भी इस युग मे उत्पन्न होने लगी जो अन्य अनेक प्रवृत्तियों की तरह ही हिन्दी-कविता में एक नई प्रवृत्ति थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब नवीन सौंदर्य-दृष्टि या नवीन सौदर्य-चेतना के प्रपंच के अन्तर्गत ही था।

मानव के बाह्य रूप-सौंदर्य को देखकर उत्पन्न होने वाली स्वाभाविक जिज्ञासा का यह उदाहरण देखिए—

देख अतुल सौंदर्य तुम्हारा मुग्ध हुआ मन मेरा।
जिसने तुम्हें रचा वह कैसा होगा चारु चितेरा।
उसे देखने की दृढ़ इच्छा प्रबल हो उठी मन में।
फिरा खोज में रूप राशि की मैं निशि दिन वन-वन में।[३]

रूप-राशि की यह खोज हिन्दी कविता में जायसी के बाद शायद सबसे पहले

कोयमात्मेति वयमुपास्महे। कतेरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा श्रृणोति...।
ऐतरेयोपनिषद्, ३।१; आदि।

१. स्वप्न, पृ० २०, २१। २. स्वप्न, पृ० ३०। ३. पथिक, पृ० २२।

ही दिखाई पड़ी। आगे छायावादी काव्य में यह खोज बराबर जारी रही पर क्षितिज का अंत नही मिला। पं० श्रीधर पाठक की यह जिज्ञासा भी देखिए—

भरे गगन मे हैं जितने तारे हुये है मदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानों दो उंगलियों पर नचा रही है॥
सुनो तो सुनने की शक्ति वालों सको तो जाकर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन में कि इतनी चुलवुल मचा रही है॥[1]

गुप्त जी मे रहस्य की प्रवृत्ति विशेष नहीं मिलती क्योंकि वे सृष्टि के बीच ही ब्रह्म की व्यक्त कला का दर्शन करने वाले सगुणोपासक कवि है। उनकी 'झंकार' में अवश्य इस भावना के कुछ गीत या कविताएँ मिलती है। 'पंत', 'प्रसाद', महादेवी वर्मा, 'निराला' आदि कवियों मे इस भावना का विकास आगे चल कर छायावाद-काल में ही मिलता है। आरम्भिक रचनाओं में कुछ संकेत मात्र ही मिलते है।

कविजन प्राकृतिक वस्तु-व्यापारों से नैतिक आदर्शों या तथ्यों का संग्रह भी करते हैं। तुलसी की "बुंद अघात सहे गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे" जैसी उक्तियाँ प्रसिद्ध ही है। प्रकृति के माध्यम से उपदेश की यह प्रवृत्ति इस युग मे भी कहीं-कहीं लक्षित हुई। यथा—

कहती है यह प्रकृति सदा तुम प्रेम करो केवल अपने पर।
सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार द्रव्य बल।
मूल हेतु रवि में गौरव का, है प्रकाश ही, न कि उच्च स्थल।[2]

(घ) सौंदर्य के सूक्ष्म रूप

सौंदर्य के उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्ष्म रूप भी होते है जो जीवन, काव्य या कला में अनुभूत भावना, आदर्श तथा विचार आदि में उपलब्ध होते है। पर, इनके स्वतंत्र विवेचन की आवश्यकता नहीं क्योंकि ये काव्य में शैली, चरित्र-चित्रण या शीलनिरूपण आदि में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सर्वत्र ही दिखाई पड़ते है। सौंदर्य का मुख्य गुण है आकर्षण। जीवन और कला-साहित्य में जहाँ जहाँ भी सूक्ष्म गुणों के प्रति हमारे हृदय में आकर्षण होता है, वहाँ-वहाँ सौंदर्य के ये भेद प्रचुर परिमाण में प्राप्त होते हैं।

६. काव्य-शैली तथा युग की देन

द्विवेदी कालीन काव्य में निरूपित प्रेम-सौंदर्य की वृत्तियों के इस विस्तृत विश्लेषण के पश्चात् अब हम अन्त में काव्य की शैली, जो कला-गत सौंदर्य के

---

१. कविताकौमुदी, भा० २, पृ० १२७, १२८।
२. स्वप्न, पृ० ३६।

अतर्गत आती है, तथा इस काव्य की देन के संबंध में दो बातें कहेंगे।

यह स्पष्ट है कि इस युग के काव्य में इतिवृत्तात्मकता, अभिधात्मकता या गद्यात्मकता अधिक है। काव्य-शैली में वह निखार और लावण्य नहीं जो आगे चलकर छायावाद में दिखाई पड़ा। किंतु यदि हम तटस्थ होकर विचार करें तो इस युग की देन पर्याप्त बहुमूल्य जान पड़ेगी। छायावाद की संस्कृति मे पले सहृदयों को इस युग की इतिवृत्तात्मकता या अभिधात्मकता भले ही काव्योपयोगी न जान पड़े, किंतु यदि हम इस युग की ऐतिहासिक और साहित्यिक परिस्थितियों तथा विश्वव्यापी ऊहापोह की व्यापक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर देखे तो इस युग की अर्जना का महत्त्व समझ में आ सकेगा। माना कि अभिव्यक्ति मे इतिवृत्तात्कमता अधिक है, किंतु इसकी क्षति-पूर्ति हम इस काव्य के अन्य प्राणवान् तत्त्वों में पाते है। काव्य अपने व्यापक रूप में (कवि की व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुभूति की अभिव्यक्ति के विचार से ही नहीं) जीवन की विशद समालोचना है।[1] यदि इस धारणा में कुछ बल है तो इस समालोचना के अनुपात में ही हम इस काव्य का वास्तविक गौरव आँकने का आधार पा सकते है। हाँ, यह बात अवश्य है कि समालोचना भी काव्य की रागात्मक अभिव्यंजना या 'सौंदर्य' के माध्यम से होनी चाहिए। किन्तु दोनों का समान महत्त्व है। यों भी कहा जा सकता है कि पौष्टिक खाद्य अथवा पेय सामग्री, तथा परिवेषण— दोनों का महत्त्व निर्विवाद है। इस काल के कवियों ने देश और जाति के जीवन की बड़ी विशद, सशक्त और मौलिक आलोचना और व्याख्या की है। और इसी में इस काव्य की देन और शक्ति निहित है। काव्य यद्यपि अभिधात्मक है किंतु उसमें पूर्ण भाव-सत्यता, सात्विक ओज, प्रवाह, जीवनोष्मा तथा बल है। उसमें भारतीय राष्ट्र के जीर्णोद्धार तथा नवनिर्माण के शिव संकल्प की जीवन्त प्रेरणायें सुलग रही हैं। पौष्टिक 'वस्तु' के अभाव में कोरी शैली का सौंदर्य क्या कभी वरणीय है? फिर, जब हम देखते हैं कि इन कवियों ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठने से प्रयत्न में प्रेम और सौदर्य की वृत्तियों का परिष्कार किया, तथा उन्हें ऊर्ध्वमुख और उज्ज्वल बनाया तो उनकी उपलब्धि हल्की नहीं ठहरती। इसके अतिरिक्त कवियों के हृदय की सीमित परिधि का विस्तार भी हुआ। 'रति' का प्रवाह केवल दाम्पत्य रति की सीमा को तोड़ कर जगत् तथा जीवन के अनेक विस्तृत क्षेत्रों की ओर भी दौड़ पड़ा।

---

१. "......The noble and profound application of ideas to life is the most essential part of poetic greatness."

"......That poetry is at bottom the criticism of life; that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life."

—Mathew Arnold : *Preface to 'Poems of Wordsworth'* (1906)

संक्षेप में वह कहा जा सकता है कि इस युग की प्रतिभा वर्णन की प्रतिभा थी, गीतात्मक प्रतिभा नहीं। अपनी मर्यादा और परिस्थितियों में रह कर जो कुछ इन्होंने अर्जित किया वह हमारी बहुमूल्य उपलब्धि है, और इसके लिए वे उचित श्रेय के सर्वथा अधिकारी है। भक्तिकाल की प्रेम-सौदर्य चेतना के स्तर तथा गांभीर्य का दावा ये भूल कर भी नही करते। रीतिकाल के विकृत और विषाक्त अंगों को इन्होंने छील-छीलकर साफ़ किया। रीतिकालीन कवियों ने व्यावहारिक जीवन की सीमाओं में गार्हस्थ का जो सौदर्य निहारा, उस सौदर्य का महत्त्व-स्वीकार करते हुए इन्होंने उसकी और भी गहरी तहें खोली। इसके अतिरिक्त गार्हस्थ के सौदर्य मे इन्होंने 'प्रणय' के अतिरिक्त परिवारिक जीवन-सौदर्य भी समाविष्ट कर उसे और भी व्यापक बना दिया। 'भारतेन्दु'—कालीन काव्य से ये किन-किन रूपों में आगे बढ़े यह भी यथास्थान बताया जा चुका है। हिन्दी-काव्य की महत्त्वपूर्ण तथा बहुमूल्य निधि छायावादी कविता के लिए किस प्रकार इन्होंने भूमिका तैयार की और उसका मार्ग प्रशस्त किया, यह भी यथा-स्थान दिग्दर्शित किया जा चुका है। इन सब बातों पर विचार करने पर द्विवेदी काल की कविता काफ़ी वज़नदार उतरती है, इसमें सदेह नही। काव्य-शैली के क्षेत्र में भी इन कवियों की देन प्रशंसनीय है। अपनी वस्तु अथवा कथानकों को प्रभावशालिता के साथ ढालने के लिए प्राचीन वर्णवृत्तों के साथ शत-शत नवाविष्कृत छन्दों का प्रयोग इन्होने किया है। वस्तुतः द्विवेदी-काल में भाषा और शैली सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये गये जिनके द्वारा छायावाद को प्रतिष्ठित हो जाने के लिए बना बनाया क्षेत्र मिल गया।

———

प्रकरण : ४

छायावाद-काल

(सन् १९१८ से १९३७)

(प्रेम और सौंदर्य की गहन सूक्ष्मता, और गम्भीरता तथा धूमिल रहस्यात्मकता)

१. सामान्य

मानव-हृदय तथा मानव-सभ्यता का इतिहास स्थल से सूक्ष्म की ओर निरंतर उठने का इतिहास है। साधक जब अन्नमय कोष से अपनी यात्रा आरंभ करके आनंदमय कोष तक पहुँचता है, तभी उसकी यात्रा समाप्त मानी जाती है। केवल स्थूल तक ही सीमित होकर रह जाना मानव-गौरव के अनुकूल नहीं। काव्य-साधना में भी, काल विशेष तथा कवि विशेष में, हम स्थूल-सूक्ष्म की इसी यात्रा का क्रम बराबर देखते हैं। हमारी आत्मा में जगत् और जीवन की किसी सूक्ष्मतम सत्ता के प्रति एक विशिष्ठ ललक या मोह छिपा हुआ है। वस्तुत· हम अपनी भीतरी सूक्ष्म सत्ता (जो प्रेम व सौदर्य की भावना में सर्वाधिक स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होती है) में ही वास्तविक रूप में जीते हैं; चाहे स्थूल देह देश-काल की सीमाओं में बंदी रह कर जीवन के स्थूल एवं भौतिक धरातलों पर ही विचरती रहे। सूक्ष्म के प्रति यह सर्वोच्च प्रेम ही भाव-विचार के धनी मानव की स्थायी आत्मिक सम्पदा है। जिस व्यक्ति में सूक्ष्म के प्रति यह प्रेम (जीवन-व्यवहार को सुन्दरता से साधते हुए) जितना ही अधिक होता है वह उसी अनुपात में सहृदय, समुन्नत तथा सुसंस्कृत समझा जाता है। पर, हम इस सूक्ष्म की ओर अविराम गति से ही नहीं बढ़ते जाते। मार्ग में वे उत्थान-पतन भी आते रहते हैं जो सूक्ष्म की पूर्ण प्राप्ति के आवश्यक सोपान हैं। हिंदी-साहित्य की आत्मा भी इसी सूक्ष्म की प्राप्ति के लिए शताब्दियों से स्थूल-सूक्ष्म की मंजिलें तय करती बढ़ रही है। वीरगाथा काल तथा रीतिकाल में वह मुख्यतः स्थूल तक ही सीमित थी, किंतु भक्ति-काल तथा छायावाद काल में उसने सूक्ष्म की ओर उठने का स्तुत्य प्रयास किया।[1] किंतु, जैसा कि हम

---

१. अवश्य ही भक्ति-काव्य और छायावादी काव्य को, उनकी बाह्य आकृति और प्रकृति को देखते हुए हम, एक साथ नहीं रख सकते किन्तु देश-काल की परिस्थितियों के छिलकों को हटाकर देखने पर मूलवर्ती सूक्ष्मता की आकांक्षा में, मनोवैज्ञानिक चीर-फाड़ के बाद, कोई विशेष अन्तर भी नहीं दिखाई पड़ेगा।

आगे चलकर बतायेंगे है; अभी यह प्रयास ही, न्यूनाधिक सफलता के साथ। अभी सूक्ष्म की लक्ष्य-प्राप्ति न जाने कितनी दूर है। छायावाद के चिंतकों ने छायावाद के गुणों की जितनी चर्चा की है उसके मूल में उन्होंने इसी सूक्ष्म-प्रेम को महत्त्वपूर्ण बताया है। चाहे कोई उसे उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति स्वातंत्र्य का विद्रोह, काव्य के बंधनों के प्रति स्वच्छंदता का विद्रोह'[1] या स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की प्रतिक्रिया कहे, चाहे अंतर-जगत् या अतीन्द्रिय जगत् और जीवन की प्राप्ति की आकुलता कहे, नवीन अभिव्यंजन-पद्धति की चित्र-भाषा में लौकिक व अलौकिक प्रेम की व्यंजना कहे,[2] चाहे वेदना के आधार पर भिन्न प्रकार के आतंरिक स्पर्श से पुलकित भावों की, लावण्य, तड़प, भंगिमा, व वैदग्ध्य से पूर्ण ध्वनि-प्रधान स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति कहे,[3] सब में उसी सूक्ष्म की ओर उठने का प्रयास ही दृष्टिगोचर होता है। यह सूक्ष्मता काव्य तथा शैली दोनों की ही है।

यों प्रेम व सौंदर्य, अपने पूर्ण आदर्श रूप में, हृदय की स्थायी आनन्दमयी भावनाएँ हैं, किंतु उनके व्यावहारिक रूप पर देश-काल का प्रभाव भी पड़ता रहता है और परिणामस्वरूप उनमे परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। इन भावनाओं के स्वरूप-परिवर्तन के अनुरूप ही उनकी अभिव्यंजना की शैली में भी परिवर्तन आ जाता है। प्रेम-काव्य की वस्तु और शैली—इन दोनों के ही परिवर्तन को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उसकी स्वरूप-विधायिनी देश-काल की व्यापक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक है।

२. परिस्थितियाँ और प्रभाव, तथा उनके द्वारा निर्धारित नवीन काव्य-स्वरूप।

(क) परिस्थितियाँ

(i) **अंतर्राष्ट्रीय**:—हिंदी की छायावादी कविता का काल विश्व के उस

भक्तिकाल की सूक्ष्म साधना और छायावादी सूक्ष्म साधना को कुछ विद्वान् एक ही कोटि मे रखना पसन्द नहीं करेंगे। उनके अनुसार भक्ति की सूक्ष्म साधना दर्शन के कोषानुसार सूक्ष्म की प्राप्ति की थी पर छायावादी सूक्ष्म साधना वासनाओं की कुंठा से उत्पन्न थी। एक सच्चे आत्मोत्कर्ष की साधना थी तो दूसरी कुंठा और वासना की। यहाँ हमारा केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गहरी छानबीन करने पर कदाचित् दोनों की ही सूक्ष्म साधना अपने अपने देश-काल के परिवेश मे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रमाणिक सिद्ध हो जाय।

१. डा० नगेन्द्र : 'सुमित्रानंदन पंत' में 'छायावाद' नामक लेख।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ८०५।

३. श्री जयशंकर 'प्रसाद' : 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ० १४३–१४४।

राजनीतिक युग के समानान्तर चलता है जो प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के प्रायः मध्यवर्ती है। यह काल विश्व की व्यापक हलचलों का काल है। रेल, जहाज, बिजली, टेलीफोन तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों के कारण इस काल मे देश और काल की दूरी दिन प्रति दिन अधिकाधिक कम होती गई। परिणाम स्वरूप विश्व की प्रत्येक घटना का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामान्य व्यक्ति पर पड़ने लगा। प्रेम और सौदर्य की अनुभूति जीवन की निश्चिन्तता, तथा शान्तिपूर्ण वातावरण में ही अपना वास्तविक प्रकाशन करती है। यों जीवन के संघर्ष, अनुभूति के विरोध (Contrast) के कारण, उसका स्वाद बढाने में सहायक होते हैं, यह दूसरी बात है। हाँ, राष्ट्र-प्रेम के लिए तो वास्तव में संघर्षपूर्ण समय भी अनुकूल पड़ सकता है। किंतु तुमुल कोलाहल, और राजनीतिक अशांति में प्रेम की गंभीर अनुभूति सम्भव नहीं। संघर्षकाल (व्यक्तिगत तथा सामाजिक-राजनैतिक) में होता यह है कि प्रेम की अनुभूति, जो परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण बाहर पूर्णतः व्यक्त नही हो पाती, केवल व्यक्ति के मनोलोक में ही मँडरा कर स्वप्न-कल्पना का इंद्रधनुषी, मसृण, तथा सूक्ष्म ताना-बाना बुनने मे ही लीन हो जाती है। जो आदर्श प्रेम हम मानव जीवन मे प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करना चाहते है, और जो आदर्श सौदर्य साकार रूप में देखना चाहते हैं, वह केवल मनोजगत् मे ही दबा-घुटा और कुंठित-लुंठित होकर पड़ा रहता है। छायावाद की अधिकाश प्रेम-कविता का सत्य यही था, क्योकि बाह्य जीवन व जगत् की स्थिति उसके लिए बहुत कठोर तथा विषम थी।

प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध तक का काल सैद्धान्तिक राजनीति की दृष्टि से पूजीवाद व साम्यवाद, व्यवहारिक राजनीति की दृष्टि से राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीयता, तथा सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति व समाज के भीषण संघर्ष का काल है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सन् १६२० में वार्साई की प्रसिद्ध सधि हो गई थी। सन् १६२० में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, सुरक्षा तथा शान्ति की प्रथम महत्त्वपूर्ण संस्था लीग आफ नेशन्स (League of Nations) की स्थापना भी हो गई। विश्वशांति की ओर बढ़ने का राष्ट्रों का यह पहला ठोस व संगठित कदम था। उसके बाद ही संसार के लोग एक छत के नीचे बैठ कर विश्व-समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ढंग से सोचने लगे थे। पर परिस्थितिवश उक्त संस्था अपना मनोनीत कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकी। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद भी अनेक छोटी-मोटी लड़ाइयां भूमण्डल पर चलती रहीं। सन् ३७—३८ का इटली-ऐबिसीनिया युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से पर्याप्त अशांतिजनक सिद्ध हुआ। इसी बीच छोटे-छोटे राष्ट्रों में राष्ट्रीय भावना की प्रबल लहरें और भी वेग से दौड़ने लगीं। प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक व्यक्ति आत्म स्वातंत्र्य की भावना से दीप्त दिखाई देने लगा। नवीन मानव-स्वतंत्रता के उद्घोषक प्रजातन्त्रवाद (Democracy) का बिगुल

चारों ओर बज उठा और जीर्ण-शीर्ण साम्राज्यवाद के पाँव लड़खड़ाने लगे । दो विश्वयुद्धों ने उसका अन्त ही कर डाला। किंतु इन सब के अतिरिक्त भी संसार में एक और व्यापक संघर्ष बराबर चलता रहा जो रूस से समाजवाद के नाम से सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति से आरम्भ हुआ था। इस वाद का मुख्य स्वर पूजी-पतियों तथा श्रमजीवियों के बीच सैद्धान्तिक और व्यावहारिक (आर्थिक) सघर्ष का था। कम्युनिज़्म के नाम से इस संघर्ष की लपटें सारे ससार में फैलने लगीं। नाजी जर्मनी और फ़ासिस्ट इटली की राजनीति ने भी संसार को बहुत गहराई से प्रभावित किया।

(ii) **राजनीतिक-राष्ट्रीयः**—छायावाद-काल का भारतीय-राजनीतिक घटना-चक्र गाँधी जी के जीवन का इतिहास है और जो देशव्यापी असहयोग, उपद्रव, गिरफ्तारी, कानून-भंग, फाँसी, वलिदान, विद्रोह, दमन, शोपण, हत्याकाँड, सत्याग्रह, अहिंसा-व्रत व अनशन आदि से सम्बन्धित कार्य-व्यापारों की एक अटूट शृंखला और सरगर्मी का इतिहास है। देश की सामाजिक, आर्थिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मुख्यत राजनीतिक दासता से मुक्ति पर ही निर्भर करती है। भारत की बूढ़ी ग्रीवा पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद का जूआ रखा हुआ था। अंग्रेजों की 'बाँटो और राज्य करो, (Divide and rule) की नीति से देश में हिन्दु-मुस्लिम समस्या ने विकटतम रूप धारण कर लिया, इसलिए भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति का प्रश्न अभी खटाई में ही पड़ा हुआ था। राष्ट्रीय-राजनीतिक वातावरण बड़ा क्षुब्ध था। कवियो के मन मे तो आत्मस्वातन्त्र्यमूलक नवीन मानव-संस्कृति के स्वर्णिम स्वप्न थे, किन्तु आँखों के आगे भयंकर संघर्ष। सन् १९१९ का जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड, सन् २० का असहयोग आन्दोलन, सन् २२ का चौरीचौरा काँड, सन् २८ का बारडोली सत्याग्रह, सन् २९ की काँग्रेस की पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा, सन् ३० की नमक-कानून तोड़ने के लिए गाँधी जी की डाँडी यात्रा, सन् ३१ में राजगुरु, सुखदेव, व भगतसिह को फाँसी तथा गणेशशंकर विद्यार्थी का बलिदान, सन् ३२ का काँग्रेस का गैरकानूनी घोषित किया जाना तथा तत्सम्बन्धी सत्याग्रह, सन् ३० से ३४ तक का सविनय अवज्ञा आन्दोलन, सन् ३३ व ३९ में गाँधी जी का आमरण अनशन, तथा सन् ३९ में द्वितीय महायुद्ध की घोषणा आदि अविराम घटना-शृंखला ने भारतीय राज-नीतिक वायु-मण्डल को क्षुब्ध कर दिया था। ऐसी स्थिति में पृथ्वी पर स्वर्ग का देवदूत कवि सरस वसंत के गीत कैसे गा सकता था। उसके मन में तो अमर आदर्शों के सौंदर्यपूर्ण झीने और जालीदार स्वप्न थे और बाहर यथार्थ जगत् में भयंकर शोषण, उत्पीडन व दमन ! कैसा विरोध ! समाज का सारा हाहा-कार मानो कवि की साँस में व्यथा बन कर घुट गया और उसके वेग ने उसकी चेतना को मथ डाला।

इन घटनाओं ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से हिन्दी-कविता को अनेक रूपों में प्रभावित किया। देश के प्राचीन गौरव की भावना (जो काव्य क्षेत्र में गुप्त जी की

'भारत भारती' जैसी रचनाओं ने जगा दी थी) से भरे तथा मानव-स्वातन्त्र्य के मोहक तथा नवीन पाश्चात्य आदर्शों से ज्वलन्त युवा कवियों के हृदय तड़प उठे। उनकी सब से गहरी व्यथापूर्ण अनुभूति थी—सामाजिक व व्यक्तिगत आदर्शों तथा महत्त्वाकांक्षाओं को जीवन में पूरा न कर पा सकने की असमर्थता, तथा राजनीतिक-सामाजिक परवशता से उत्पन्न तीव्र मानसिक वेदना! यह वेदना कवियों के गूढ़तम अन्तर्प्रदेश में निवास करने वाली प्रेम-सौंदर्य-भावना को प्रभावित किए बिना कैसे रह पाती! व्यवहार-क्षेत्र में प्रेम का पल्लवन तथा विकास बहुत कुछ बाहरी जीवन-परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है। प्रेम मानव-हृदय की एक चिरनिगूढ़ तथा चिरलालित वृत्ति है। वह जीवन की स्थायी आनन्दधारा है जो साधारणतः विश्व, देश या जीवन के व्यावहारिक संघर्षों के बीच भी मोटी-पतली होकर, कभी प्रकट रूप में और कभी अंतः सलिला सी, मानव-हृदय में बहती ही चलती है। छायावाद-काल में राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण प्रेम के उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए अनुकूल अथवा सुविधाजनक न था, अतः कवियों की उक्त वेदना में एक तीव्रता, तिक्तता तथा पैनापन आ गया। कठोर कँटीली धरती पर स्वर्गीय प्रेम के नन्दन के पारिजात का चूर्ण हाथ न आया। झुंझला कर इस क्षति की पूर्ति कोमल कल्पना के सतरंगे, शीतल, व मोहक जगत् में पहुँच कर ही की गई।

(iii) **सामाजिक-आर्थिक** :—देश की तत्कालान सामाजिक स्थिति भी विचारणीय है। देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संगठन की बहुत बड़ी आवश्यकता अभी भी बनी हुई थी। स्त्री-समाज तथा पुरुष-समाज, दोनों ही जागरण की शख-ध्वनि सुनकर स्वातन्त्र्य संग्राम में उतरे। देशोन्नति के लिए स्त्री-शिक्षा का कार्य-क्रम गाँधी जी के विशेष कार्यक्रमों में से था। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार का कार्य वेग से आरम्भ हुआ और युग-युग की वंदिनी नारी सड़न-घुटन के प्रतीक परदे को फाड़ कर मुक्त पवन में आई। कवियों ने धीर-गम्भीर स्वर में, स्त्रियों के प्रति अब द्विवेदीकाल से भी अधिक प्रेम व श्रद्धा के उद्‌गार व्यक्त किए। 'प्रसाद' 'पंत', 'निराला', नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि कवियों ने भरे हृदय से मातृशक्ति का गौरवगान किया। सबसे बड़ा परिवर्तन नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण में यह आया कि जहाँ पहले नारी पर एक स्वाधिपत्य की भावना थी, वहाँ अब उसके प्रति मैत्री तथा समर्पण की भावना आई। हिन्दी-कविता में यह एक बिलकुल नवीन प्रवृत्ति थी जो पाश्चात्य नारी-जागरण के आन्दोलन से प्रभावित थी। वीरगाथा काल की नारी विजय की 'शील्ड' थी, भक्तिकाल में, विशेषतः योगियों, अवधूतों व कनफड़ों के काव्य में वह हाड़माँस की पोटली, नरक का द्वार तथा कालनागिनी थी, और रीतिकाल में तो वह भोग की पुतली अथवा लाल मदिरा से भरी पतली कमर वाली शीशे की सी चमकदार गौरवर्ण प्याली थी। किन्तु अब नवीन सामाजिक-पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप उसके प्रति

श्रद्धा और समर्पण का भाव जगा। इस प्रवृत्ति के आविर्भाव में गाँधी जी का हाथ सब से बड़ा था क्योंकि उन्होंने ही उसके आध्यात्मिक स्वरूप का पुनरावर्त्तन किया।

शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी-शिक्षा का ही प्राधान्य था। किन्तु राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, तिलक तथा गाँधी के प्राच्य विद्या-प्रेम से प्राचीन भारतीय साहित्य भी अब अधिकाधिक रुचि के साथ पढा जाने लगा। हमारे साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य तथा पाश्चात्य सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधारा की भी गहरी छाप पडी। कॉलिजों तथा विश्वविद्यालयों में सह-शिक्षा भी आरम्भ हुई जहाँ नवजीवन तथा नवविचार से आस्फूर्त्त एवं तरंगित युवक-युवतियों को परस्पर निकट सम्पर्क में आने और मनोविनिमय करने का सुन्दर अवसर मिला। ऐसे वातावरण में युवक-युवतियों की जीवन-सुलभ प्रणय-भावना को भी लहकने-महकने तथा स्वच्छन्दता से अभिव्यक्त होने का कुछ खुलासा मार्ग मिला। इस प्रकार मुक्त प्रेम के लिए अनुकूल बयार चली। इस भावना के प्रेरणा-स्वरूप प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ कर स्वच्छन्द प्रेम-मार्ग पर बढ चलने की बलवती आकांक्षा प्रत्येक स्वतन्त्रताभिलाषी युवक-युवती के मन में सूखी लकड़ी के समान सुलग उठी। अंग्रेजी साहित्य में बहुलता से प्राप्त मुक्त प्रेम की चटकीली भावना के आस्वाद ने भी इस प्रवृत्ति को सान पर चढ़ा कर पैना दिया।

देश की आर्थिक दशा भी विषम थी। बेकारी, दुर्भिक्ष आदि कारणों से देश दुर्दशाग्रस्त रहा। मशीन युग के जो भी दुष्परिणाम हो सकते हैं, वे देश में बढ़े जा रहे थे। किसान व जमीनदार दोनों की दशा डाँवाडोल थी। मजदूरों और मिल-मालिकों का संघर्ष हड़तालों के रूप में प्रकट हो रहा था। देश का सारा व्यापार विदेशियों के हाथ में बदस्तूर जारी था। घरेलू उद्योग धन्धे पनप नहीं पा रहे थे। कच्चा माल विदेश को चला जा रहा था और बदले में महँगा तैयार माल भारत के सिर मढा जा रहा था। इसके अतिरिक्त वेतनभोगी अंग्रेज राज्यकर्मचारियों का एक विशाल जाल कंकालप्राय भारत की छाती पर बिछा था। यद्यपि देशी कारीगरी, कौशल, ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग आदि की उन्नति के उपायों द्वारा स्वदेशी-आन्दोलन भी गाँधी जी एवं अन्य नेताओं द्वारा चलाया जा रहा था, पर देश के दारिद्रय को समूल नष्ट करने की शक्ति उसमें अभी नहीं थी। तात्पर्य यह है कि देश की इस व्यापक आर्थिक दुर्दशा ने भी कवि-हृदय को अत्यन्त संवेदनशील तथा वेदना-सम्पन्न बना दिया।

धार्मिक जगत् में आमूल क्रान्ति हुई। गाँधी जी ने धर्म को मानव के नित्य के व्यवहार में ला स्थापित किया। रवीन्द्र ने अपनी 'गीतांजलि' में नवीन भक्ति का जो आकर्षक रूप खड़ा किया था वह अपना प्रभाव बढ़ाता जा रहा था। ईश्वर अब मन्दिर में नहीं रहा। वह जीवन-क्षेत्र के नाना रूपों और स्थितियों में ही अनुभव

किया जाने लगा। तीर्थाटन आदि अब सन्देह की दृष्टि से देखे जाने लगे। मानव में ही ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा हुई। धर्म और ईश्वर के प्रति यह परिष्कृत दृष्टिकोण विचारवानों में अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था। अब लौकिक तथा अलौकिक या ईश्वरीय तथा भौतिक जैसे भेद लुप्त हो चले। भौतिक में अभौतिक और अभौतिक में भौतिक को देखना व्यक्तिगत साधना की उच्चता तथा दृष्टिकोण की निर्मलता का मानदण्ड बन गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नवीन धार्मिक दृष्टिकोण ने भी छायावाद की कविता को बहुत दूर तक प्रभावित किया।

(ख) अन्य बाह्य प्रभाव

(i) **अंग्रेजी रोमांसवाद** (Romanticism) **व पाश्चात्य विचारधारा:**—छायावाद पर अंग्रेजी रोमांसवाद या स्वाभाविक स्वच्छंदतावाद का भी गम्भीर प्रभाव पड़ा। वह जीवन की एक गम्भीर आवश्यकता की पूर्ति करता हुआ सा आया। वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के कारण यूरोप के लोगों के जीवन को 'सूखा रोग' सा होने लगा था। भीतर की चिकनाई, हरियाली और तरावट बाहरी मानव-व्यवहारों की खुश्की से नष्ट हुई जा रही थी। ऐसे समय इस साहित्यिक वाद ने प्रकट होकर जीवन की लुप्त होती जाने वाली शांति, सुषमा व मधुरिमा की पुनर्प्रतिष्ठा की। यह सब जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण की सूचक थी।[1] अंग्रेजी साहित्य में रोमांसवाद के आविर्भाव के पूर्व कविता परम्पराभुक्तता, यांत्रिकता, आलकारिकता कृत्रिमता तथा शब्द-मोह से बुरी तरह पीड़ित थी और प्राचीन परिपाटियों के अत्यधिक अंधानुकरण से वह निष्प्राण हो चली थी। एक ओर भाषा की व्याकरण-गत शुद्धता पर अत्यधिक बल था और दूसरी ओर शब्दाडंबर का प्राबल्य था। कविजन काव्य-प्रेरणा सीधे प्रकृति या निजी मौलिक जीवानुभाव से प्राप्त न कर अधिकतर प्राचीन ग्रंथों से ही करते थे। इस प्रकार काव्य में ताजगी, मौलिकता और स्वाभाविकता का सर्वथा अभाव हो गया। व्यवस्था, स्पष्टता तथा शुद्धता पर ही अत्यधिक बल होने के कारण भावना की सहज मिठास, स्वाभाविकता, कल्पना की नवीनता तथा रमणीयता, प्राणोष्मा और भावोच्छ्वास नहीं के बराबर रह गया। इस जड़ स्थिति के विरुद्ध काव्य-क्षेत्र में एक बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और थॉमसन, काउपर, क्रेब, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शैली, व कीट्स आदि प्रकृति, प्रेम, सौंदर्य और मानव-जीवन के कवियों के द्वारा रोमांसवाद का प्रवर्तन तथा पोषण हुआ। अब काव्य में विषयों की विविधता, कल्पना की रमणीयता तथा स्वच्छंदता के दर्शन होने लगे। प्रत्येक प्रकार

---

1. "Romanticism is that attitude of the mind in which it withdraws itself from commerce with the outer world, and turns in upon things it finds within itself.

—L. Abercrombie.

के साधारण-असाधारण सौंदर्य में एक सहज-सौदर्य जिज्ञासा, कुतूहल या रहस्य के तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई। इससे भावों में गांभीर्य तथा सजीवता आई। प्रकृति के प्रति भी दृष्टिकोण बदला। अब वह केवल जड़ उद्दीपन मात्र ही नहीं रह कर एक चेतन सत्ता हो गई और मानव के साथ उसका गम्भीर तादात्म्य स्थापित हुआ। पशु-पक्षियों तथा जीव-जगत् के अन्य प्राणियों के साथ भी मानव का रागात्मक सम्बन्ध व्यक्त हुआ। रूक्ष और सरस दोनों ही काव्य की प्रकृत सीमा में समाविष्ट हुए। प्रकृति ने अध्यात्म के द्वार भी खोल दिये। कवियों ने (मुख्यतः वर्डस्वर्थ, आर्नोल्ड, टैनीसन आदि) प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण किया और उसकी सत्ता के मर्म को पहचाना। प्रकृति के साधारण से साधारण रूप के प्रति भी कवियों ने अपनी अपूर्व ममता का प्रकाशन किया। इतना ही नही प्रकृति-प्रेम के नाते साधारण मानव भी काव्य का एक महत्त्वपूर्ण विषय हो गया। दिन-रात आँखों के सामने फलने-फूलने वाली सीधी-सादी प्रकृति तथा उसके स्नेहाचल में बसने वाले प्राणी, उनके द्वंद्व-विहीन जीवनोपयोगी कार्य-व्यापार या घरेलू-धन्धे—ये सब प्रकृति-काव्य की व्यापक परिधि में समाविष्ट हुए। वर्ड्सवर्थ तथा गोल्डस्मिथ जैसे कवियों ने इस प्रकार के प्रकृति काव्य को खूब समृद्ध किया। अंग्रेजी रीतिकाल में (ड्राइडन, पोप आदि के युग में) साधारण मानव उपेक्षितप्राय था। किन्तु अब नई दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय चिन्ता के कारण उसका महत्त्व उभर आया। कवियों ने अपनी व्यक्तिगत आशा, निराशा, वेदना, हर्ष आदि सब जीवन-सुलभ मानवी भावनाओं को निर्भीक हो कर वाणी देना आरम्भ कर दिया। अपने व्यापक जीवनानुभव से पककर तैयार हुए अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को भी कवियों ने व्यक्त किया और स्वतन्त्र ढग से काव्य में जीवन की व्याख्या प्रस्तुत की। यह उनके अपने स्वस्थ व्यक्तित्व का निश्छल प्रकाशन था। मानव व प्रकृति के प्रति उनका दृष्टिकोण काव्य में अभूतपूर्व स्पष्टता तथा नवीनता के साथ प्रकट हुआ। अतीत के प्रति ललक और अनागत की लालसा रोमांसवाद की एक मुख्य प्रवृत्ति है। कवियों ने अतीत से पुष्कल प्रेरणा ग्रहण की और उससे बहुत से काव्य-विषय चुने। कीट्स की कल्पना ने अतीत में जा कर खूब किलोलें की।

इस समस्त परिस्थिति का प्रभाव काव्य-शैली पर भी पड़ा। अब काव्य में कोरे शब्दाडंबर, बुद्धि-विलास तथा व्याकरणगत साधुता का ही महत्त्व नहीं रह गया। भाव, कल्पना तथा उसकी स्वाभाविक या निश्छल अभिव्यक्ति का माहात्म्य बढ़ गया। पर यह रोमांसवाद या स्वच्छन्दतावाद त्रुटियों या अभावों से पूर्णतया रहित भी नहीं था।[1] अत्यधिक काल्पनिकता और आन्तरिक वृत्तियों की स्वच्छन्दता के

१. "...the danger of the second, the Romantic method, is to sacrifice one or the other of these qualities in literature which have

अतिरेक से जो भी विकार उत्पन्न हो सकते है वे सब स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद की कविता में कालान्तर मे आने लगे। भाव और विचार का संतुलन विषम होते ही फिर किसी वाद की आवश्यकता आ पड़ती है। यही, संक्षेप में, अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद की मुख्य विशेषताएँ हैं।

भारत में अंग्रेजी साहित्य के प्रसार के कारण हिन्दी पर भी इस वाद का गम्भीर प्रभाव पड़ा। द्विवेदीकाल की कविता पर जो प्रभाव पड़ा वह पीछे बताया जा चुका है। छायावाद काल में पन्त, 'निराला', रामकुमार वर्मा आदि कवियो ने इस वाद से अपने को पर्याप्त रूप से सिन्चित व पोषित किया। पन्त जी की काव्य-शैली पर रोमांसवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है।

काव्य-स्वरूप सम्बन्धी इस वाद के अतिरिक्त अंग्रेजी समीक्षा-क्षेत्र के कलावाद का भी प्रभाव छायावाद पर बहुत गहरा पड़ा है। प्रो० ब्रेडले ने काव्य में 'कला कला के लिए' (Art for Art's sake) का सिद्धान्त बहुत जोर-शोर से चलाया। इस विचारधारा का मूल सूत्र है—कला का उद्देश्य केवल कला ही है, उसका और कोई व्यावहारिक मूल्य या उपयोग नही। स्पिगार्न, क्रोचे, क्लाइव बॅल, ऑस्कर वाइल्ड, बाडलेयर, मॉरिस, टी. एस. ईलियट, फ्लॉबर्ट आदि अन्य अनेक कवियों और विचारकों का भी न्यूनाधिक समर्थन और पोषण इस विचारधारा को प्राप्त हुआ। इस सब का यह प्रभाव पड़ा कि काव्य लोकपक्ष से हट कर अधिक व्यक्ति-प्रधान होने लगा। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य जगत् के प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता फ्रॉयड तथा प्रसिद्ध जीव-शास्त्री डार्विन ने क्रमशः अपने स्वप्न-सिद्धान्त तथा जीव-विकास सम्बन्धी सिद्धान्त के द्वारा भाव, विचार तथा काव्य शैली को बहुत दूर तक प्रभावित किया। फ्रायड, एडलर, जुंग आदि मनोविज्ञान-वेत्ताओं की धारणा का फल यह हुआ कि कवि अपने अवचेतन (Unconscious) या अर्धचेतन (Sub-conscious) मन की भावनाओं को वाणी देने में ही काव्य की सार्थकता समझने लगे। इटली के सुप्रसिद्ध सौंदर्य-शास्त्री बेनेडेट्टो क्रोचे (Benedetto Croce) ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त 'अभिव्यंजनावाद' (Expressionism) का प्रवर्त्तन किया। उसने कला में से अनुभूति को निकाल कर कल्पना के सौदर्य और अभिव्यंजना की शैली को ही काव्य का प्राण-तत्त्व प्रतिपादित किया। हिन्दी-

---

been shown to be of permanent value by the experience of past ages, by an endeavour to secure effects, which, though they possess a distinct and appreciable value for the contemporary readers, from their close connection with the movement and thought of the moment may cease to possess an interest, or even to be intelligible, to future generations."

—W. Basil Worsfold : '*Judgment in literature*' p. 90—91.

कविता पर इस सबका प्रभाव, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, बहुत ही गहरा पड़ा। अब कविता में अभिव्यक्ति का वैचित्र्यपूर्ण ढंग और रमणीय कल्पना-विधान ही प्रमुख बन बैठा। इस प्रकार कविता की अर्थ-भूमि अत्यन्त सकुचित रह गई। भाव या अनुभूति की सत्यता या वास्तविकता का विशेष महत्त्व न रह गया। भारतीय काव्य-पद्धति में तो भाव ही रस की मूल सामग्री है, कल्पना उसका पोषक तत्त्व। अतः कल्पना और सौंदर्य की यह स्वतन्त्र महत्ता भारतीय दृष्टि से बेमेल सी हो चली। छायावादी कविता पर साम्यवादी विचारधारा का भी प्रभाव पड़ा। जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने मानव जाति के इतिहास की अर्थपरक व्याख्या प्रस्तुत की जिसका रूस जैसे देश ने बडी धूमधाम से स्वागत किया। पर, इसका सीधा प्रभाव उत्तरकालीन छायावाद (जिसमे हम पंत जी की 'युगान्त', 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' जैसी रचनाएँ रख सकते है) या 'प्रगतिवाद' पर ही अधिक स्पप्टता से लक्षित हुआ।

(ii) **रवीन्द्र का आध्यात्मिक रहस्यवाद** :—छायावाद की वस्तु तथा शैली के साथ कवीन्द्र रवीन्द्र का भी घनिष्ठतम सम्बन्ध है। 'गीतांजलि' के प्रकाशन (सन् १९१४) के साथ ही हिन्दी-कविता क्षेत्र में भाव-विचार तथा शैली-सम्बन्धी एक नवीन क्रांति उपस्थित हो गई। अनेक हिन्दी कवि 'गीतांजलि' की भाव-कल्पना-प्रधान शैली का अनुकरण करने मे ही मानो अपने को कृतकृत्य समझने लगे। रवीन्द्र ने अपनी उक्त रचना के गीतों में नवीन मानवता[१], धर्म और भक्ति-साधना[२] का नवीनतम तथा प्रांजल रूप प्रस्तुत किया। इसमें उन्होने अपने अनुभूति पथ में आने वाली मननशील और आनन्दमय आत्मा की गम्भीर तथा रहस्यपूर्ण झपकियाँ, झलकियाँ और झाँकियाँ[३] सामने रखी, जिसके द्वारा प्रकृति के प्रति नितांत मौलिक अनुराग,[४] नवीन प्रतीक विधान, मानवीकरण की कला का सौंदर्य, नूतन छंद-विधान, तथा नवीन कल्पनाओं व उपमाओं[५] से सम्पन्न एक अभिनव काव्य-शैली का मुग्धकारी सौंदर्य उन्होंने कला प्रेमियों को भेंट किया। अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद की रमणीय काव्य-शैली तो मोहक वस्तु थी ही, किन्तु विपय (नवीन विचारधारा तथा कर्म, ज्ञान व भक्ति समन्वित साधना सम्बन्धी भावनाएँ) और शैली (पद-लालित्य, नूतन छन्द-विधान, रमणीय कल्पना तथा स्निग्ध, चपल, रंगीन भाषा आदि)—इन दोनों ही दृष्टियों से 'गीतांजलि' की सामूहिक छवि-छटा भारतीय भावना से पूर्ण कवियों के हृदय के लिए अत्यधिक पुष्टिकर तथा रंजनकारी प्रमाणित हुई। नवीन हिन्दी-कवियों के लिए यह रचना काव्य कृतित्व का आदर्श हो गई। आरम्भ में इस नवीन

---

१. Tagore : '*Gitanjali*', p. 9.
२. **वही**, p, 8, 9, 68.
३. **वही**, p. 22, 26, 36, 64, 72, 74 etc.
४. **वही**, p. 54, 62.
५. **वही**, p. 74 etc.

रचना की शैली का अनुकरण करने वालों में श्री मुकुटधर पाण्डेय, कविवर मैथिली-शरण गुप्त, रायकृष्ण दास, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि आदि कवि अग्रगण्य रहे किन्तु छायावाद के प्रमुख उन्नायकों पर भी उसका दूर-पास का प्रभाव अवश्य ही पड़ा।

(iii) **उर्दू-फारसी शैली तथा सूफी-मत का प्रभाव :** मुसलमान शासकों के संरक्षण मे फारसी भारत की राज्य-भाषा रह चुकी है, अतः हिन्दी के विकास के युग में उस पर उसका प्रभाव पड़ना भी अस्वाभाविक नहीं। आगे चलकर फ़ारसी के मेल से उर्दू जबान भी तैयार हो गई जिसकी साहित्यिक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ फ़ारसी से आईं। उर्दू-फारसी की कविता शमा (शम्मा), परवाना, गुल, बुलबुल, साकी, मयखाना, चमन आदि सौदर्य और प्रेम के प्रतीकों से भरी हुई है। हिन्दी-कविता में, उर्दू के पारस्परिक साहित्य-सम्पर्क से, शैली और उसमें व्यवहृत प्रेम-सौदर्य के प्रसिद्ध प्रतीकों का भी पुष्कल ग्रहण हुआ। सूफी या उर्दू-फारसी काव्य की वे बातें भी (जैसे छाले फूटना, मवाद निकलना, रक्त बहना, हड्डियो में पहाड़ खोदना, दिल से शोले फूटना आदि) जो भारतीय दृष्टि से कुत्साजनक हैं, हिन्दी कविता में आ गई।[1] उपरोक्त भाषाओं के प्रतीकों के प्रयोग बिलकुल नए भी नही है। जायसी की कविता में सूफी मत की मूल भावना या सिद्धान्तों का प्रकाशन हो चुका था। कबीर ने भी सूफी मत में प्राप्त प्रतीकों को पर्याप्त ग्रहण किया है। प्रेम-सौदर्य के प्राचीन भारतीय प्रतीकों (कमल, चन्द्रमा, मीन, चातक, दीप, हंस, भृंग आदि) के अतिरिक्त उर्दू फारसी के उपरोक्त प्रतीकों का काव्य में जो व्यवहार हुआ उससे अभिव्यंजना में बल भी आया। इसमें कोई सदेह भी नही कि विदेशी कविता के ये प्रतीक हैं बहुत गम्भीर और शक्तिशाली। प्रेम-वृत्ति से सम्बन्धित अनेक भावनाएँ इतनी सूक्ष्म-गहन और चपल-तरल होती हैं कि अभिधा में उनकी अभिव्यक्ति प्रायः असम्भव है। अतः युग-युगान्तरों से जनता के हृदय को स्पंदित-आंदोलित कर सकने की गम्भीर शक्ति रखने वाले विशिष्ठ प्रतीक काव्य की महत्त्वपूर्ण निधि होते हैं।

छायावाद के प्रेम-कवियों में 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी, भगवती-चरण वर्मा, 'अंचल', एवं 'नवीन' आदि कवियों पर उर्दू-कविता की वस्तु और शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। फारस के कवि उमर ख्याम की रुबाइयों के फिट्जरल्ड् (Fitzerald) द्वारा प्रस्तुत अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से भी हिन्दी मे प्रेम की विदेशी रंगत की भावना का प्रसार हुआ है। उमर ख्याम की रुबाइयों के हिन्दी में भी अनेक अनुवाद हुए हैं जिनमें सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, केशव प्रसाद पाठक, 'बच्चन' तथा श्रीमती कमला चौधरी के अनुवाद महत्त्वपूर्ण हैं।

(iv) **आंतरिक प्रतिक्रिया**—इतने गहरे और व्यापक बाह्य प्रभावों के पड़ने पर

---

१. 'प्रसाद', 'पंत', 'निराला' महादेवी मे यह प्रभाव दिखाई पड़ता है।

हिन्दी कविता अपने परम्परागत स्वरूप को पकड़े हुए ही कब तक चल सकती थी ? उसके विषय तथा शैली में भी यथावश्यक परिवर्तन हुआ। परिस्थितियाँ भी इस समय इस परिवर्तन के सर्वथा अनुकूल थी। 'प्रसाद[1]', पंत[2], 'निराला', भगवतीचरण वर्मा[3], रामकुमार वर्मा[4] एवं छायावाद के अन्य उन्नायकों ने रीतिकाल की स्थूल वासनात्मक तथा द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता, रूक्षता व विषयाभिमुखता के विरुद्ध विद्रोह किया और उस नवीन काव्य-शैली की प्रतिष्ठा की जिसे 'छायावाद' कहते है। बाह्य प्रभावों के कारण ही, जिनका निरूपण हो चुका है, यह आतरिक प्रतिक्रिया सफल हो सकी। वस्तुतः यह परिवर्तन इस समय हिन्दी-कविता की प्राकृतिक माँग थी, अतः वह नितान्त समयोपयुक्त ही था। यद्यपि द्विवेदी काल की कविता में (रीतिकाल और भारतेन्दु-काल की कविता पर विचार करके देखने पर) कुछ चमकीले कण अवश्य थे, किन्तु पूर्ण काव्य के स्वरूप पर विचार करने पर उस युग की अधिकाश कविता प्रणाली बद्ध और निर्जीव-सी थी। उसमें कविता के वास्तविक अस्तित्व की सूचना देने वाली नवीन और गहन अनुभूति नवीन स्पंदनों के संचार, तथा नवीन अभिव्यंजन-शैली की बहुत बड़ी आवश्यकता और गुंजाइश अभी बनी हुई थी। छायावाद मानो इस प्राकृतिक माँग की पूर्ति का पूरा-पूरा आश्वासन दे रहा था।

(ग) नवीन काव्य-स्वरूप : प्रमुख उपकरण

इन सब परिस्थितियों, प्रभावों, तथा आंतरिक प्रतिक्रियाओं के परिणाम-स्वरूप हिन्दी-कविता के स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन उपस्थित हो गया। यह परिवर्तन निम्नलिखित मुख्य रूपों में प्रकट हुआ :—

(i) **विकसित मानववाद एवं व्यक्तिवाद :** नवीन मानववाद विचार-जगत की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अर्वाचीन देन है। काव्य में मानव का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता चला आ रहा था, यह पहले बताया जा चुका है। अब व्यक्ति की सत्ता पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई और मानव (अपनी मानवता के सारे सामान के साथ) काव्य का एक भरा-पूरा और गौरवपूर्ण विषय हो गया। पहले काव्य में ईश्वर, राजा-महाराजा, ऋषि-मुनि, ब्राह्मण, श्रीमंत आश्रयदाता आदि का ही महत्त्व था। साधारण मानव की आशा-आकांक्षा, विजय-पराजय, अश्रु-हास आदि तुच्छ और नगण्य थे। कवियों ने अब कुछ अधिक स्पष्टता से अपनी तथा मानव-हृदय की भावनाओं को वाणी देना आरम्भ कर दिया। मानव-हृदय की सामान्य भावनाओं का पूर्ण तल्लीनता

---

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक लेख।

२. 'पल्लव' की भूमिका।

३. 'मधुकण' की भूमिका।

४. 'अंजलि' की भूमिका।

और सरसता से चित्रण किया जाने लगा। प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान और महत्त्व सुरक्षित रहता है। काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा प्रत्यक्ष मानव का अब अधिक सम्मान है, क्योंकि ईश्वर मनुष्य के रूप में ही तो प्रकट हो रहा है। पूर्व और पश्चिम में इस विचारधारा का व्यापक प्रसार-प्रचार हुआ। भारत मे जनता में जनार्दन की भावना अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु जातीय अधोगति के युग मे वह मानों भूली जा चुकी थी। सामान्य मानव के इस महत्त्व को आज डा० राधाकृष्णन जैसे मेधावी मनीषी भी स्वीकार करते है।[१] राजनीति के क्षेत्र में भी व्यक्तिवाद का आज बोलबाला है।[२] भारत के एम० एन० राय ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो आन्दोलन छेड़ा वह भी मनुष्य के गौरव को प्रतिष्ठित करने वाला है। काव्य क्षेत्र में भी मानव का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ चला है।

अभिप्राय यह है कि मानववाद या व्यक्तिवाद (जो सास्कृतिक क्षेत्र के मानववाद का अहं भावना मूलक राजनीतिक संस्करण है) जीवन और साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण वाद हो चला। अतः छायावादी कवियो ने भी मुक्त कण्ठ से अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन किया। रीतिकालीन कवियों ने सम्भ्रान्त जीवन तक ही अपने को सीमित रखा था। किन्तु अब कवियों ने अपनी या मानव की प्राकृतिक आकाक्षाओ या वासनाओं को वाणी देना भी अपनी आंतरिक स्वच्छन्दता का विशेषाधिकार माना। इतना ही नही, उनको वाणी न देना कला-साहित्य की स्वाभाविकता तथा स्वास्थ्य के लिए बाधक, तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वयं कवि के लिए घातक भी समझा जाने लगा। कला में जाकर ही व्यक्तिगत सुख-दुख का उन्नयन (Sublimation) होने लगा। नवीन विश्व-जीवन की परिस्थितियो के थपेड़ों में विवशतापूर्वक बहते जाने की विडम्बना के कारण कवि के मन में वेदना भी अब घनीभूत हो चली। यह व्यापक वेदना कवि के व्यक्ति केन्द्र में जाकर इसकी चेतना को झँझोड़ने लगी। कवियों ने अपनी असहायता में, कबीर की सी (किन्तु कृत्रिम) एक ऐसी मस्ती का प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया कि वेदना ही उन्हें जीवन का

---

१. "Even God acts with a peculiar delicacy in regard to human beings. He woos our consent but never compels. Human individuals have distinctive beings of their own which limit God's interference with their development. The Gita lays stress on the individual freedom of choice and the way in which he exercises it. Man's struggles, his sense of frustration and self-accusation are not to be dismissed as errors of the mortal mind or mere phases of a dialectic process "

—S. Radhakrishnan : '*The Bhagavadgita*' (Introduction) p 48

२. C. E. M. Joad : '*Modern Political Thought*', Chapter on **'Individualism'**.

सार जान पड़ी। इस प्रवृत्ति के अतिरेक से हिन्दी काव्य-क्षेत्र में 'वेदनावाद' एक वाद के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया।

(ii) **स्वच्छन्दतावाद :** ऊपर अंग्रेज़ी रोमांसवाद का स्वरूप निरूपित किया ही जा चुका है। नई विचारधाराओं और प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप हिन्दी कवियों मे भी स्वच्छन्दता की बलवती भावना जगी। मानववाद व व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियों ने इस स्वच्छन्दतावाद के लिए मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया। कवियों ने रीतिकाल तथा द्विवेदीकाल की स्थूलता के विरुद्ध विद्रोह करके और अर्थ-शून्य साहित्यिक रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करके उन्हें निर्ममतापूर्वक तोड़ फेंकना आरम्भ किया। वस्तु तथा शैली दोनों क्षेत्रों में उन्होंने पूर्ण नवीनता तथा मौलिकता की क्राति का शंखनाद कर दिया। हिन्दी में आविर्भूत इस स्वच्छन्दतावाद या रोमांसवाद के मूल तत्त्व प्राय: वे ही थे जो अंग्रेजी कविता के रोमांसवाद में प्राप्त होते है : अर्थात्, रूढ़ियों से मुक्ति, व्यक्तिगत जीवनानुभूति, स्वच्छन्द व रमणीय कल्पना, प्रकृति के प्रति गम्भीर प्रेम तथा उसमें चेतन सत्ता का आरोप, अतीत और भविष्य के प्रति लालसा-ललक, बौद्धिकता के स्थान पर कोमल भावना का प्राधान्य, मुक्त छन्दविधान आदि।

(iii) **अन्तर्जगत् का विश्लेषण :** स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति कल्पनानुकूल स्वच्छन्द, जीवन, अन्तर्निरीक्षण और मनोमंथन को उत्तेजित करती है। वस्तुत: साहित्य में अब तक बाह्यार्थ अथवा बाह्य जीवन का इतना विस्तृत निरूपण हो चुका था कि अब कवि-हृदय अपने अन्तर्मन की गीले सन सी क्लिष्ट घुडियाँ खोल कर शुद्ध व्यक्ति-परक अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठा। अत: आत्माभिव्यंजन की प्रेरणा अत्यधिक बलवती हो उठी। कवि मानो "अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास" लिख डालने को चंचल हो उठा। हृदय की सरस-सुकोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए छोटी कविता अथवा मुक्तक गीत उपयुक्त होते हैं, अत: उन का प्रचलन बढा। हमारा अन्तर्जगत् बाहर के जगत् से कई गुना विस्तृत व विशाल है। बाहर का जगत् तो देश-काल की सीमाओं से आबद्ध है किन्तु अन्तर्जगत् का विस्तार निस्सीम है और हमारी मुक्त आत्मा उसमे स्वच्छन्दता से भ्रमण कर सकती है।[1] जीवन के न जाने कितने ज्ञात, और उनकी तहों में छिपे अज्ञात आदर्श हैं जिनकी प्राप्ति के लिए मानवात्मा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ललकती रहती है; हमारे मन के कचनार-कुंजो में सुकुमार कामनाएँ, उषाकाल की नन्हीं-नन्हीं रंगीन-चपल चिड़ियों की तरह, चहचहाती रहती

१. The mind, that ocean where each kind,
Does straight its own resemblance find;
Yet it creates, transcending these,
Far other worlds, and other seas;" —A. Marvell.
—F. T. Palgrave : *'Golden Treasury'* (1933), p. 93.

है। वस्तुत. ये कामनाएँ हमारी आनन्दमयी आत्मा की लीलामयी लहरियाँ है। कोरे स्थूल नैतिक तथ्यों की अभिव्यक्ति ही काव्य नहीं है। काव्य केवल वस्तु (Matter) ही नही है, वह रूप (Form) या पद्धति (Manner) भी है। कला के सत्य और सुन्दर की सीमा में रह कर यदि ये भावनाएँ अभिव्यक्त हो,[१] तो इससे काव्य में असीम सौदर्य और माधुर्य उत्पन्न हो जाता है। प्रेम और सौदर्य के आदर्श हमारे मन के सबसे सूक्ष्म आदर्श हैं। छायावाद में उक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति, कवि की मौलिक अनुभूति से अनुप्राणित होकर, खुल कर होने लगी।

(IV) **नवीन लालित्य के प्रति आकर्षण** :—वृत्ति की अन्तर्मुखता के साथ ही अभिव्यक्ति भी सूक्ष्म और गम्भीर हो चलती है। ऐसी अभिव्यक्ति के लिए नवीन शैली-शिल्प का चातुर्य भी अपेक्षित होता है। भाव और शैली का घनिष्टतम सम्बन्ध है। छायावाद में स्वच्छन्दतावाद-जन्य अन्तर्मुखता की प्रवृत्ति से वस्तु के साथ शैली में भी स्वाभाविक परिवर्तन आया। नवीन प्रतिभा अपने संचरण के लिए, रौंदे हुए मार्ग पर ही चलना स्वाभिमान के विरुद्ध समझती है। छायावादी कवियों ने भी नवीन शैली-गत सौदर्य-लावण्य के प्रति गहरी ललक दिखाई।[३] इसमें कवियों का बौद्धिक अध्यवसाय या कवि-कर्म का कौशल निहित था। प्रसाद, पत, निराला तथा महादेवी ने जागरूक कलाकार की तरह अभिव्यक्ति को रमणीय बनाने के लिए छन्द, भाषा तथा अलंकार-सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए। उन्होंने वर्ण या अक्षर की चमक-दमक, शब्दों का रूप-रंग और पदावली का संगीत और प्रभाव परखा। अभिव्यक्ति अभिधा से उठ कर ध्वनि तक आई, जिसका सौदर्य सहृदय भावुकों के द्वारा ही विशेष रूप से चर्वणीय होता है। शब्दों का चुनाव, उनकी शक्ति, काति और प्रभाव की दृष्टि से होने लगा। भाषा परिष्कृत, सुचिक्कण और कोमलकात पदावली से संयुक्त हो गई। कल्पना अपेक्षाकृत अधिक मुक्त, श्लक्ष्ण और लोकोत्तर हो गई। उपमा आदि अलकार के विधान में सादृश्य की अपेक्षा साधर्म्य या प्रभाव-साम्य पर दृष्टि अधिक रहने लगी। छन्दों के भी अनेक नवीन प्रयोग हुए। भाव की तीव्रता, गहनता तथा आरोह-अवरोह के अनुरूप ही संगीतमयी गति वाले नव-नव छन्दों का आविष्कार और प्रयोग बढ़ा। यही नवीन काव्य-शैली का लालित्य था।

✓(v) **रहस्य-भावना** :—रहस्य, कुतूहल, जिज्ञासा या आश्चर्य की भावना प्रेम-सौदर्य की भावना का एक अनिवार्य तत्त्व है, यह हम पीछे बता चुके हैं। छायावाद पर भारतीय उपनिषदों के रहस्यवाद (जिसका साहित्यिक सरस रूप

---

१. "But for supreme poetical success more is required than the powerful application of ideas to life, it must be an application under the conditions fixed by the laws of poetic justice and poetic Beauty"
—Arnold.

रवीन्द्र-काव्य में विद्यमान् है) का प्रभाव है अतः रहस्य-भावना का न्यूनाधिक सन्निवेश उसमें स्वाभाविक ही है। अंग्रेजी प्रेम-काव्य में (विशेषतः शैले, ब्राउनिंग, विलियम ब्लेक आदि के काव्य मे) प्रेम-सौदर्य की अभिव्यक्ति में रहस्य या जिज्ञासा का तत्त्व समाविष्ट हुआ था, उसका प्रभाव भी हिन्दी कविता पर पड़ा। सूफ़ी काव्य भी इस दृष्टि से पर्याप्त प्रभावशाली था। यों भी जब प्रेम व सौदर्य की भावनाएँ गम्भीर रूप ग्रहण करती है तो उनमें रहस्यप्रवणता आ ही जाती है। इस प्रकार रहस्य की यह प्रवृत्ति पूर्णतः रवीन्द्र या अंग्रेजी का ही प्रभाव नहीं है; उपनिषदों में यह रहस्य-भावना अपने पूर्ण स्वाभाविक रूप में हमे अनेक स्थलों पर प्राप्त होती है।[1] जायसी हिन्दी-काव्य में कबीर की तरह हठयोगी या साधनात्मक रहस्य-भावना के साथ ही स्वाभाविक काव्योपयोगी रहस्य-भावना का अत्यन्त उत्कृष्ट रूप प्रकट कर चुके हैं।

छायावाद के कवियों में प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, पं० उदयशंकर भट्ट, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि कवियों में यह रहस्य-भावना यत्र-तत्र स्वाभाविकता के साथ निरूपित हुई मिलती है।

(vi) **मानवीकरण** :—मानवीकरण छायावाद की एक विशिष्ट कला है। हृदय की सूक्ष्म भावनाओं अथवा वस्तु-व्यापारों को मानवी रूप प्रदान करना प्रभावोत्पादन व रमणीयता की दृष्टि से बहुत काव्योपयुक्त होता है। अंग्रेजी काव्य में मानवीकरण की कला बहुत सुन्दर रूप में दिखाई पड़ती है। उसमें कवियों की कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। आधुनिक हिन्दी कवियों मे भावों के मानवीकरण की प्रवृत्ति के प्रति बहुत उत्साह पाया जाता है। वह छायावाद की कविता का एक अलंकार ही बन गया है। 'प्रसाद' ने अपने 'कामना' नामक नाटक तथा 'पंत' ने अपनी 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका मे अनेक सूक्ष्म भावों को मानव पात्रों का रूप देकर मानवीकरण का सुन्दर रूप उद्घाटित किया है। मानवीकरण मूर्त-विधान में बहुत सहायक होता है। मन में तथ्यों अथवा विचारों की प्रमाएँ (Concepts) खड़ी करने की अपेक्षा कल्पना की सहायता से पाठक के भावना-पटल पर 'बिम्बग्रहण' कराना काव्य की पद्धति के अनुकूल है, क्योंकि यह रस-सिद्धि में बहुत अधिक सहायक होता है।

---

१. जैसे, "कोयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन शृणोति येन वा गन्धाना जिघ्नति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति।"—ऐतरेयोपनिषद्, ३।१।१; यथा,

"किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१.

छायावाद पर पड़ने वाले बाह्य प्रभावों तथा उनसे गठित छायावादी काव्य के स्वरूप का यह सामान्य विवेचन है। अब प्रेम और सौंदर्य की भावनाओं का छायावाद में कैसा निरूपण हुआ है, यह देखना आवश्यक है।

सबसे पहले हम प्रेम का निरूपण करेंगे।

३. प्रेम-निरूपण

(क) छायावादी काव्य में प्रेम का स्वरूप

छायावाद का मुख्य विषय प्रेम (प्रणय) है। इस प्रेम के सम्बन्ध में सब से महत्त्वपूर्ण बात यही दिखाई पड़ती है कि जहाँ प्राचीन काव्य में लौकिक प्रेम और अलौकिक प्रेम, ऐन्द्रिक प्रेम और आत्मिक प्रेम, या स्वकीया प्रेम और परकीया प्रेम, जैसी भिन्न-भिन्न या स्वतन्त्र कोटियाँ पर्याप्त स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है, वहाँ नवीन काव्य में इस प्रकार का कोई साफ अन्तर या विभाजन-रेखा नहीं दिखाई पड़ती। उक्तियाँ ऊपर बताये सब प्रकार के प्रेम के लिये एक समान लागू हो सकती है। प्रेम लौकिक है, इसीलिये निंदनीय, यह धारणा प्राय: रूढ़ हो चली है। इतना ही नही, इससे आगे भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी है। तुलसी जैसे कवि तो निर्गुण को भी सगुण बनाना चाहते है, किन्तु आज का छायावादी कवि प्रत्यक्ष जगत के प्राणी को भी अलौकिक आवरणों में परिवेष्टित कर के अपने काव्य में प्रस्तुत करता है। विचारों में एक नई प्रवृत्ति यह दिखाई पड़ी कि इन्द्रियो के माध्यम से जो प्रेम अभिव्यक्त होता है, वह भी सदा निंद्य नही, यदि इस ऐन्द्रिक प्रेम के माध्यम से जीवन का चैतन्य प्रकाशित होता हो। मानव-मानव का ऐन्द्रिक-प्राकृतिक प्रेम (प्रणय) ईश्वरीय कोटि तक पहुँचा हुआ चित्रित किया जाने लगा है। इतना ही नहीं, छायावादी कविता में परकीया प्रेम की भी मुक्त व्यंजना होने लगी है। संस्कृत-अपभ्रंश काव्य में भी इस प्रकार का प्रेम निरूपित हुआ है किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से केवल प्रेमलक्षणा भक्ति (भक्ति का सर्वोच्च स्तर) के क्षेत्र में ही परकीया का प्रेम अध्यात्म-धरातल पर विधेय ठहराया गया है। भारतीय नीति-शास्त्र तथा धर्म-शास्त्र परस्त्री और पर पुरुष की ओर दृष्टिपात भी पाप ठहराता है। छायावादी रचनाओं को देखकर यह निर्णय कर सकना प्राय: असम्भव है कि अमुक उद्गार स्वकीया के प्रति व्यक्त किये गये है, या परकीया के प्रति। इसी कारण कठोर नीतिवादियों ने इस काव्य के प्रति उपेक्षा से लेकर घृणा तक के उद्गार व्यक्त किये हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात नवीन काव्य में यह देखने में आई कि शृंगार-रस के ढाँचे में आने वाले परम्परागत नखशिख-वर्णन, षट्ऋतु-वर्णन, बारहमासा नायिका-भेद, दूत-दूती-प्रसंग, आदि प्राचीन विधान अब प्राय: पूर्णत: समाप्त हो चले।

स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्ति के आग्रह से कवियों ने घिसे-पिटे मार्ग को सर्वथा छोड़ कर अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर ही अपनी मौलिकता की छाप छोड़नी चाही।[1] 'प्रसाद', 'निराला', पंत, महादेवी, आदि कवि इस क्षेत्र में अग्रगण्य रहे। आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी भाव आदि रस-सामग्री पर ध्यान रख कर कविता करना अब बन्धन समझा जाने लगा। अभिप्राय यह कि काव्य-निर्णय के प्रसंग मे रस के अंगों की चर्चा चलाना अब दकियानूसी प्रवृत्ति समझी जाने लगी। व्यक्ति, वस्तु या स्थिति के केन्द्रीय भाव का और उसकी अभिव्यक्ति का महत्त्व बढ़ गया। रचना प्रायः मुक्तक कविताओं या छोटे-छोटे गीतों के रूप में ही होने लगी। उनमें वर्णन का उतना प्रयास या उत्साह नही, जितना स्वच्छन्द भावाभिव्यक्ति का। अतः काव्य में भावाभिव्यजन का महत्त्व अत्यधिक बढ़ चला।

नैतिक बन्धनों की शिथिलता, स्वच्छंदता के प्रति अत्यधिक आग्रह, लौकिक पर अलौकिक आवरण की प्रवृत्ति, तथा लाक्षणिकता व ध्वन्यात्मकता आदि ने काव्य में स्थूल वासनात्मक उद्गारों को नवीन साज-सज्जा में आने का अच्छा अवसर दिया। यद्यपि शुद्ध प्रेम तथा काम मे स्पष्ट अन्तर है,[2] जो प्रस्तुत काव्य के भावोत्कर्षपूर्ण स्थलों के विश्लेषणों से परखा जा सकता है, तथापि उनका बाहरी रूप बहुत कुछ समानता लिये रहता है। इस कारण हीन वासनाओं के उद्गारों को भी इस परिस्थिति से लाभ उठाकर उच्च प्रेम की कोटि में आने का अच्छा हीला-बहाना मिल गया। प्रेम के इस विकृत स्वरूप का उद्गम स्वच्छंद प्रेम या मुक्त प्रेम की सीमातीत प्रवृत्ति है। यों स्वच्छंद-प्रेम, प्राकृतिक चुनाव के नियम के रूप में और उसके अनुसार, जीवन की एक स्वस्थ-सुन्दर परम्परा है, किन्तु अमर्यादित उच्छृंखल तथा विवेकहीन होकर अधोमुखी होने का खतरा भी उसके सामने रहता है। युवक-युवतियों के पारस्परिक सम्पर्कों के अधिक अवसर तथा चलचित्र व उपन्यासों में अंकित अतिकल्पनापूर्ण आदर्शात्मक प्रेम कहानियों से प्राप्त मनोरंजन आदि स्वच्छंद प्रेम की प्रवृत्ति का पोषण करते हैं। यदि उसमें स्थिरता तथा एकनिष्ठता आ जाय तो प्रेम उज्ज्वल व उदात्त भूमिकाओं पर उठ जाता है। अन्यथा वृत्ति का व्यभिचार आरम्भ होने लगता है। काव्य में विकृत प्रेम कैसी ही सुन्दर साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया जावे, वह उस प्रेम से निश्चित ही निम्न कोटि का रहेगा, जिसका मेरुदण्ड एकनिष्ठता, विश्वास व अनन्यता है। अवश्य ही भावनाओं के क्रमिक उदात्तीकरण से ऐन्द्रिक प्रेम भी शनैः शनैः बहुत कुछ निर्मल हो जाता है, किन्तु गम्भीर विचारकों की दृष्टि में ऊँचे से ऊँचे आध्यात्मिक धरातलो पर पहुँचा हुआ

---

१. देखिए, सुमित्रानन्दन पंत : 'पल्लव' की भूमिका।

२. देखिए, प्रथम प्रकरण मे प्रेम-विवेचन।

भी यह प्रेम खतरे से खाली नहीं ।[1] फिर साधारण जीवन के धरातलों की बात तो दूर की ही है । छायावाद के सर्वोच्च कवियों के काव्य में प्रेम की गम्भीरता तथा पावनता के दर्शन हुए किन्तु अनेक अभ्यासी कवियों में रंगीन और मदिर वासना की रुन-झुन ही अधिक सुनाई पड़ी ।

इस प्रेम-काव्य में एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति देखने में आई, और वह है मिलन में जलन की, और जलन में सुख-सन्तोष के अनुभव की प्रवृत्ति । विरह में व्यथा और दाह का अनुभव तो स्वाभाविक ही है, किन्तु संयोग में भी उसका अनुभव करना अवश्य एक विलक्षण प्रवृत्ति है । जहाँ तक जलन में सुख-सन्तोष के अनुभव की बात है, यह प्रवृत्ति अहिंसावादियों के आत्मपीड़न के दर्शन से उद्भूत अथवा प्रभावित जान पड़ती है, जिसमें मँदरी-मँदरी मीठी-मीठी आँच में जल जल कर उज्ज्वल होने में ही आत्मोन्नति समझी जाती है । कबीर जायसी आदि साधकों में यह प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है । हाँ, मिलन मे या सुख में भी जलन की भावना शायद सूफियों की या वैष्णव भक्तो की विभूति है जो मिलन की अपेक्षा जलन की आकुलता मे ही सुखानुभव करना चाहते है । जो भी हो, यह प्रवृत्ति इस युग में पहली बार छायावाद में ही दिखाई पडी ।

विरह या मिलन के उद्गारों में छायावादी कवि अपने प्रिय (स्वकीया, परकीया या अलौकिक शक्तिमय आलम्बन आदि) के लिए 'तू' या 'तुम' इन संबोधनात्मक सर्वनाम से ही काम चलाता है । इसे आलोचकों ने आलम्बन की अस्पष्टता का कारण भी कहा है । है भी यह बात बहुत अंशों तक ठीक । किन्तु जहाँ इस संकेत मात्र से आलम्बन के स्पष्ट बिम्ब-ग्रहण में बाधा पड़ती है, वहाँ इससे एक लाभ भी है । पाठक या श्रोता कवि-कल्पित आलम्बन (विशिष्ठ व्यक्ति) तक ही सीमित न रह कर, अपनी सक्रिय कल्पना के योग से, अपने ही किसी प्रेमपात्र पर उन उद्गारों का आरोप कर सकने मे समर्थ होते है । और इस प्रकार कवि का आलम्बन अत्यन्त व्यापक होकर उसके साधारणीकरण के लिये अधिक विस्तृत भूमिका खोलता है । वास्तव में आलम्बन का भरा-पूरा वर्णन प्रबन्ध-काव्यों में तो आवश्यक ही है, किन्तु गीति-काव्य की सीमित परिधि में उसका संकेत मात्र ही पर्याप्त माना जा सकता है । कवि अपने आलम्बंन को मानव-मात्र का आलम्बन बना देना चाहता है । और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यह विधान कम से कम गीत जैसी सूक्ष्म-तरल रचना में कोई अनुपयुक्त भी नहीं । सब कुछ अनावृत कर देने में भी तो सौंदर्य नहीं । रहस्य का एक झीना सा आवरण सौंदर्य वृद्धि में सहायक ही होता है । 'तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर आते हो क्यों—'प्रसाद' की इस पंक्ति में 'तुम' संबोधन ही मर्म-मधुर भावना के रहस्यपूर्ण सौंदर्य का केन्द्र है । वह

१. Aurobindo Ghose: *'The Bases of Yoga'*, P. 98.

'तुम' कौन है, इससे पाठक को उतना सरोकार नहीं, जितना 'तुम' के प्रति व्यक्त किये गये भाव से। इस लिये यह प्रश्न कम से कम गीति-काव्य के लिए कोई बहुत महत्त्व का भी नहीं जान पड़ता।

किन्तु, यह सब एक कुतूहल या रहस्यभावना का धूमिल मार्ग अवश्य खोलता है। वस्तु या व्यापार की प्रत्यक्षता के बदले अप्रत्यक्षता या अतिकाल्पनिकता कवि को हवाई ऊँचाइयों में उड़ा ले जाती है। काव्य मे सामान्यतः आलम्बन की स्पष्टता ही वाछनीय है। संस्कृत का कवि अपना आलम्बन पूर्ण स्पष्ट रखता था। अपने आलम्बन को पूर्ण स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रख कर भी वह प्रेम-भावना की गभीर से गंभीर व्यंजना करता था। साथ ही वह उस व्यजना में अलौकिकता या आदर्शात्मकता का वांछित स्पर्श या पुट भी दे देता था[1]। अत्यधिक काल्पनिकता से काव्य मे एक प्रकार की वायवीयता उत्पन्न हो जाती है और वर्णन का कोई ठोस या यथार्थ आधार न होने से अन्ततः उसके कारण रसानुभूति में व्यवधान ही पडता है।

(ख) युग का प्रेम-दर्शन

द्विवेदी काल के कवियों ने किस प्रकार प्रेम को परिष्कृत और उज्ज्वल बनाया, यह पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है। 'यशोधरा', 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न', 'ग्रंथि' तथा 'प्रेमपथिक' आदि रचनाएँ इस दृष्टि से नितांत महत्त्वपूर्ण कृतियाँ है। छायावाद में आकर यह प्रेम सूक्ष्म, अतिकाल्पनिक और वायवीय हो चला। उस के चरण पृथ्वी पर रखे नही दिखाई पड़े। प्रेम का यह स्वरूप इस सीमा को पहुँच गया कि आगे चलकर इसकी प्रतिक्रिया प्रगतिवाद में हुई। जो भी हो, छायावाद ने प्रेम को सूक्ष्म और उदात्त बनाने मे श्रेयस्कर कार्य किया है।

यह पहले कहा जा चुका है कि इस युग मे स्थूल और सूक्ष्म, लौकिक और अलौकिक जैसा भेद अब प्रायः लुप्त हो चला। कोई वस्तु लौकिक है इसलिए हेय है, और अलौकिक है इसलिए ग्राह्य, यह धारणा केवल स्थूल नैतिकता की दृष्टि पर आधारित थी; उसमें निहित सत्य आंशिक ही था पूर्ण नहीं। लौकिक हो या अलौकिक, यदि उसमें बुद्धि और भावना से सत्य, शिव, व सुन्दर का समुचित योग कर दिया गया है तो वह वस्तु या व्यक्ति पूर्ण स्वीकार्य एवं सम्माननीय है। यही दृष्टिकोण युग की प्रेम-भावना का मेरुदंड है। युग-कवि का प्रेम-दर्शन भी इसी नीव पर खड़ा है निश्चय ही लौकिक और अलौकिक की सीमा-रेखाओ के ढह जाने पर भी उक्त दोनों बिन्दुओं के बीच की प्रेम-भावना अपने निम्नतम वासनात्मक स्तर से लेकर उच्चतम व पावनकारी प्रेम के स्तर तक संचरण करती हुई दिखाई पड़ती है। पूर्ण भाव-सत्य पर आधारित लौकिक-अलौकिक का यह सामंजस्य मात्रा-भेद से

1. Sushil Kumar De : '*Treatment of Love in Sanskrit Literature*', p. 36.

जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, व 'निराला' तथा अन्य कवियों में दिखाई पड़ता है। कवि 'प्रसाद' के लिये प्रेम की यह स्थिति इतनी पावन व आलोक-मयी है कि—

'जिसके प्रकाश में सकल कर्म, बनते कोमल उज्ज्वल उदार।'[१]

किन्तु, वह प्रेम मिलता नही, वह तो केवल दिया ही जाता है—

पागल रे, वह मिलता है कब, उस को तो देते ही हैं सब,
आँसू के कन कन से गिन कर, यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार—मुझको न मिला रे कभी प्यार।[२]

क्योंकि, यदि इस पथ पर कोई पाने की कामना करेगा तो वह घाटे मे रहेगा—

विनिमय प्राणों का यह कितना भय-संकुल व्यापार अरे।
देना हो जितना दे दे तू, लेना, कोई यह न करे।
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती।
सध्या रवि दे कर पाती है, इधर उधर उडुगन बिखरे।[३]

इसलिए कवि को अपनी पूर्ण मानसिक सुख-शांति के लिए यही इष्ट है -

जो कुछ अपने सुदर से हैं, दे देने दो इनको।[४]

प्रेम की जब पवित्र अनुभूति हो गई तो मानो सब कुछ आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण हो गया, और सृष्टि भर में आलोक की किरणें विकीर्ण हो गई—

वर्षा होने लगी कुसुम मकरद की, प्राण पपीहा बोल उठा आनंद में।
कैसी छवि ने बाल अरुण सी प्रकट हो, शून्य हृदय को नवल रागरजित किया।
सद्यः स्नात हुआ मै प्रेम सुतीर्थ में, मन पवित्र उत्साहपूर्ण सा हो गया,
विश्व, विमल आनन्द भवन सा हो गया, मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।[५]

लौकिक प्रेम के मेघ को किस प्रकार स्वर्गीय प्रेम की किरण महिमामंडित कर देती है, देखिए—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से, स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा,
कोकिलो का स्वर विपंची नाद भी, चन्द्रिका, मलयजपवन, मकरंद औ,
मधुप माधविका कुसुम से कुंज में, मिल रहे, सब साज मिल कर बज रहे।··· .
दृष्टि पथ में सृष्टि है आलोकमय, विश्व वैभव से भरा यह धन्य है।[६]

व्यक्ति के जीवन में जो प्रेम ऐसी दिव्य अनुभूति प्रदान करता है, यह कोई

---

१. प्रसाद, 'लहर', पृ० ३६।
२. लहर, पृ० ३७।
३. कामायनी, स्वप्न सर्ग।
४. लहर, पृ० ४५।
५. झरना, पृ० ६।
६. वही, पृ० ४२, ४३।

साधारण बात नहीं; प्रेम ही सृष्टि-लीला की मंगलमयी प्रेरणा है और भव-धाम ही सफल बनाने का एक अमोघ अस्त्र। यह सारी सृष्टि प्रेम-कला का विकास ही तो है—

> यह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल शक्ति थी प्रेम कला,
> उसका संदेश सुनाने को संसृति में आई वह अमला।[1]

कामायनी की नायिका श्रद्धा, नायक मनु को, इसी परिष्कृत काम या प्रेम का पाठ पढ़ा रही है—

> दुःख के डर से तुम अज्ञात, जटिलताओं का कर अनुमान,
> काम से झिझक रहे हो आज, भविष्यत् से बन कर अनजान।
> कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
> विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।
> काम मगल से मंडित श्रेय, सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
> तिरस्कृत कर उस को तुम भूल, बनाते हो असफल भवधाम।[2]

'कामायनी' के 'संघर्ष' सर्ग में कवि ने इड़ा तथा मनु के संघर्ष के प्रसंग में क्षुद्र काम की पराजय दिखाकर प्रेम की उच्चता तथा पावनता की प्रतिष्ठा की है।

उदात्त प्रेम की वृत्ति भौतिक जीवन की सीमाओं को तोड़कर जन्मजन्मांतर तक का सम्बन्ध अपने प्रिय के साथ स्थापित कर देती है। प्रेम के द्वारा संसार का सारा कलुष व पाप पुण्य में परिणत हो जाता है—

> है जन्म-जन्म के जीवन, साथी संसृति के दुख में,
> पावन प्रभात हो जावे, जागो आलस के सुख में।
> जगती का कलुष अपावन, तेरी विदग्धता पावे,
> फिर निखर उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे।[3]

'रत्नाकर' ने अपने 'उद्धवशतक' में तथा गुप्त जी ने अपनी 'यशोधरा' में भी प्रेम की इस जन्मांतरव्यापिनी भावना का सुन्दर संकेत किया है।

कविवर पंत ने भी इसी प्रकार अपनी उदात्त भावना के स्वर्ण-स्पर्श से पावन प्रेम का शृंगार किया है। प्रेम की यह रस-रगमयी और आलोकवान् भावना आलम्बन में अनन्त सौंदर्य तथा पवित्रता समाहित कर देती है। पवित्रता भारतीय प्रेम व सौंदर्य का सर्वोच्च गुण है। 'पंत' की इन पंक्तियों में हृदय की कितनी पावनता, कितनी माधुरी, और कितनी गंभीरता समाहित हो गई है, देखिए—

---

१. **कामायनी, काम सर्ग।**
२. **कामायनी, श्रद्धा सर्ग।** ३. **आँसू, पृ० ७४।**

एक वीणा की मृदु झंकार, कहाँ है सुन्दरता का पार ।
तुम्हे किस दर्पण मे सुकुमारि, दिखाऊँ मै साकार ।
तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान ।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान ।[१]

त्वचा-मांस में भी फूटा हुआ प्रेम का यह चहचहाता बसन्त-विकास कितना रहस्यपूर्ण और उल्लासकारी है ! क्या यह अध्यात्म नहीं है ?

कवि 'पत' की प्रेम-सम्बन्धी धारणा बहुत व्यापक है। वह जीवन के नाना सम्बन्धों के बीच मे उसी की व्याप्ति दिखा कर—सभी को उसी प्रकाश व माधुर्य से अनुप्राणित दिखाकर—प्रेम की महानता की घोषणा कर रहा है—

कहाँ नहीं है स्नेह, साँस सा सब के उर मे ।
रुदन, क्रीड़न, आलिंगन, मरण, सेवन, आराधन,
शशि की सी ये कलित कलाएँ किलक रही है पुर पुर मे ।[२]

जीवन की सभी अवस्थाओं में मनुष्य न्यूनाधिक रूप में प्रेम से ही परिचालित रहता है। बचपन से लेकर मृत्यु तक—यही तत्त्व जीवन में आकाश में नीलिमा की तरह समाया हुआ है—

यही तो है बचपन का हास, खिले यौवन का मधुप विलास,
प्रौढता का वह बुद्धि-विलास, जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश,
जन्म दिन का है यही हुलास, मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास ।[३]

वही एक मूलभूत तत्त्व अधिकरण-भेद से विभिन्न नामों के साथ सृष्टि में सर्वत्र परिव्याप्त हो रहा है। प्रेम के नाते ही सारा संसार एक सूत्र में बँधा है—

एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास, शांत अम्बर में नील विकास,
वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास, काव्य में रस, कुसुमों मे वास,
अचल तारक पलकों मे हास, लोल लहरों में लास ।[४]

प्रेम अपनी किरणें जीवन के उदात्त मानसिक शृंगों पर फेंकता है। बुद्धि, भावना तथा लोक सेवा के आदर्शों को भी वही महिमान्वित किये हुए हैं—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अविकार ।[५]

---

१. पल्लव. पृ० १८ । २. वही, ('उच्छ्वास' नामक कविता)
३. पल्लव, (उच्छ्वास) । ४. पल्लव, पृ० ८७ । ५. वही ।

प्रेम केवल शारीरिक भोग मात्र नहीं है। वह इससे कहीं ऊँची वस्तु है। उससे ही हृदय की मुक्ति होती है जो वास्तविक सुख और आनन्द का मूल है—

देह नही है परिधि प्रणय की, प्रणय दिव्य है, मुक्ति हृदय की।[1]

अतः प्रेम इतनी दिव्य वस्तु है कि वह कवि की साधना का लक्ष्य, उसका जीवन व प्राण ही हो जाता है। जन-जन के मन मे उसको उतारना ही मानो कवि का मधुर व्यवसाय है—

खर कोमल शब्दों को चुन चुन, मै लिखता जन-जन के मन पर,
मानव-आत्मा का खाद्य प्रेम, जिस पर है जगजीवन निर्भर।[2]

इन कवियो के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी प्रेम के ऐसे उद्गार व्यक्त किये है जिनसे युग की प्रेम-सम्बन्धी दृष्टि का परिचय मिलता है।

'बच्चन' ने दैनिक जीवन के सामान्य रूपों में भी उच्च प्रेम का दर्शन किया है। नित्य अनुभव-पथ में आने वाले प्रेम के सामान्य उपकरणों के प्रति किसी को कोई भ्राति न हो जाय, इसलिये कवि कहता है—

मै गाता हूँ इसलिए कि विरही के दृग में,
जो बिंदु सुधा का सिधु समेट छलकता है,
उसको कोई खारा जलकण मत कह बैठे।
मे गाता हूँ इसलिए कि प्रेमी के मन मे,
जो प्यार अनत अपार अगाध उमड़ता है,
उसको कोई व्यामोह व्यसन मत कह बैठे।[3]

सहज मानवीयता से परिचालित आज के कवि का प्रेम इस सीमा तक व्यापक हो गया है कि वह अपनी लौकिक प्रेयसी की मुस्कान मे भी आत्मा की ज्योति का दर्शन करके मुग्ध है—

ओ दार्शनिक प्रवर,
जो न भूल जाओ निज ज्ञान अभिमान में,
आत्म ज्योति प्रेयसी की पाओ मुसकान में,
व्यक्त न जो निश्छल ममत्व में, प्रणय में,
मिलेगा क्या ब्रह्म वह घृणा, द्वेष, भय में।
जहाँ प्रेम, जहां प्रीति, जहाँ एकरसता,
समता, सहानुभूति, वहाँ ब्रह्म बसता।[4]

---

१. स्वर्ण किरण, पृ० ३८। २. युगवाणी, पृ० २६।
३. मिलनयामिनी, पृ० ५७ व ५९। ४. डॉ० देवराज, प्रणयगीत, पृ० ६५।

और, लौकिक प्रेम का अलौकिकता में यह पर्यवसान कितना स्वाभाविक और निष्कपट अतः मार्मिक है—

पावन है प्रणय।
पावन युवा युवती का बन्धन, परिणय।
पावन है लोचनों की मृदुल लाज डोर,
बाँध लेती प्रेमिका को जो चारों ओर।
पावन दो हृदयों का मिलन,
पावन हैं प्रेमियों के कुसुम-चुम्बन।
पावन है नारी की ममता, उत्सर्ग, त्याग,
पावन है प्रेमिका का अविचल विश्वास राग,
पावन है प्रेम रंगे सस्मित नयन।[1]

छायावादी कवियों के प्रेम-धारणा सम्बन्धी विचारों का दिग्दर्शन कराने के लिय यह विवेचन पर्याप्त होगा। वास्तव में कवियों की प्रेम-सम्बन्धी धारणा अब जीवन के यथार्थ और आदर्श से छन कर बहुत युगानुरूप, मानवोचित और स्वाभाविक हो गयी है। साधारणतः विचार ही भावों को प्रेरित और तरंगित करते हैं।

अब कवियों की प्रेम-सम्बन्धी अनुभूति का विवेचन किया जायगा जो उक्त विचारधारा से अनुप्राणित है।

मिलन-भावना

(i) **मिलन की अनुभूति का मर्म**—सहज प्राकृतिक आकर्षणों से खिंचे हुए दो हृदयों का मिलन जीवन की एक अनमोल निधि है। इसका अनुभव तो प्रायः सभी करते हैं; इसके रोमांच, पुलक-कम्प, प्राण-प्रवेग और दिव्य उल्लास से सभी परिचित होते है, किन्तु सभी लोग इस अनुभव को उपयुक्त वाणी नहीं दे पाते। विशेष भावुकों के लिये मिलन केवल ऐन्द्रिक संयोग या स्थूल भाव-स्थिति मात्र ही नही; वह एक आध्यात्मिक अनुभव है। इस अनुभव को वाणी देकर स्वयं आनन्दित होना और अन्य सहृदयों को आनन्दित करना प्रेमी कवियों का ही कार्य है। वस्तुतः मिलन की अनुभूति की अभिव्यक्ति में भी, यदि वह एकनिष्ठ, अतः प्रगाढ़ प्रेम से प्रवाहित हुई है, आत्मा का चैतन्य झलकता है और उसमें चेतना के गूढ़तम स्पंदनों का मार्मिक अन्तः साक्षात्कार होता है। अभिप्राय यह है कि यह अनुभूति जीवन की एक दिव्य अनुभूति है।

छायावाद के कवियों ने इस अनुभूति को पूर्ण भाव-सत्यता, प्राणवत्ता

---

१. वही, पृ० ६६।

तथा पर्याप्त स्वाभाविकता के साथ वाणी दी है। यद्यपि इन कवियों का काव्य मुख्यतः विरह-प्रधान है, किंतु मिलन-भावना की अभिव्यक्ति (सभी नहीं, उसका अधिकांश तो मांस की पुकार मात्र है) परिमाण में अल्प होते हुए भी निश्चित ही प्रौढ़, सशक्त, तथा आत्म-प्रकाशिनी है।

(i) **रचनाएँ व प्रेम का स्वरूप :**—मिलन की अनुभूति के क्षेत्र में प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेंद्र शर्मा, अंचल आदि कवि अग्रगण्य हैं। इन सभी कवियों का काव्य प्रायः विरह-प्रधान है किन्तु इन्होंने मिलन-भावना की भी पर्याप्त अभिव्यक्ति की है। 'प्रसाद' का 'प्रेम पथिक', 'कानन कुसुम', 'झरना', व 'कामायनी'; 'पंत' का 'गुंजन'; 'बच्चन' की 'सतरंगिणी' व 'मिलनयामिनी'; भगवतीचरण वर्मा का 'मधुकण' व 'प्रेमसंगीत'; रामकुमार वर्मा की 'रूप-राशि' व 'चित्र-रेखा'; उदयशंकर भट्ट का 'विजयपथ', 'मानसी' व 'राका'; तथा नरेंद्र शर्मा की 'प्रभात फेरी', 'प्रवासी के गीत', व 'अग्नि-शस्य' आदि रचनाएँ इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता छायावादी मिलन-भावना की भी एक प्रमुख विशेषता है। मिलन की अनुभूति बड़ी स्फूर्तिमयी और प्राणवान् होती है। उसके ज्वार में जीवन के सब कृत्रिम बंधन टूट जाते हैं; कुछ समय के लिए जीवन के कंटक, कील और पंक, लाली में डूब जाते हैं। आत्मा का आलोक प्रेम-पात्र को अपनी स्वर्ण-किरणों से रंजित कर सृष्टि को श्री, सौरभ और संगीत में बोर देता है। प्रिय के नाते इस कठोर पृथ्वी का कण-कण और समस्त विश्व एक साथ चमचमा उठता है।[1] यह अनुभव एक ऐसी विशिष्ट मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से होता है जिससे प्रेम-पात्र प्रेमी को नितांत नूतन, रस-रंगपूर्ण, प्रकाशमयी सत्ता-सा जान पड़ता है। अनुभूति की तीव्रता इतनी बढ़ जाती है कि फिर प्रिय पार्थिव न रह कर पूर्ण अपार्थिव व अतीन्द्रिय हो जाता है। यही प्रवृत्ति छायावाद की कविता में रहस्यात्मकता या आध्यात्मिकता उत्पन्न कर देती है। भावोत्कर्ष के सरस-उजागर क्षणों में यह स्वाभाविक भी है। अतः हर समय ऐसी अनुभूति की अभिव्यक्ति में अस्वाभाविकता, धूमिलता या जटिलता की शिकायत करना भी न्यायोचित नहीं। हाँ, जहाँ जानबूझ कर बनावट पैदा की जाती है, वहाँ यह प्रवृत्ति अवश्य निंदनीय है। जीवन की परिपूर्णता की अनुभूति इस मिलन की एक विशेषता है क्योंकि मिलन के क्षणों में आत्मा प्रकाश से भर उठती है। ऐसा

---

1. "All the world comes to partake of the fair one's splendor."
—Will Durant : '*The Mansions of Philosophy*', p. 290.

अनुभव होता है मानों जीवन में जो कुछ भी प्राप्त होना था, या हो सकता था, वह आज हो गया ! ऐसे चमकीले, रसीले, गोल-सुडौल और शुभ्र-पारदर्शी क्षणों की अनुभूति धन्य है ! ऐसे ही क्षणों में कवि-कंठ लहरा कर यों फूट पड़ता है—

मैं तुम से मिल गया प्रिये, यह है जीवन का अन्त ।
इसी मिलन की गीत, कोकिले, गा जीवन पर्यन्त ।
इस के परिमित पल में है, इस जीवन का उपहास ।
एक दृष्टि में जन्म, दूसरी में है अमर प्रवास ।
यह संसार शिशिर है तुम हो विश्वाकार वसन्त ।
मैं तुम से मिल गया प्रिये, यह है यात्रा का अन्त ।[1]

जीवन का और यात्रा का अन्त कह कर कवि यह प्रकट कर रहा है कि जीवन का सार-सत्व तो मानो आज प्राप्त हो गया; शेष जीवन, इस रसपूर्णता के सामने, मानों जीवन ही नहीं है !

और, लबालब भरे हृदय की इसी पूर्णता को कवि 'प्रसाद' यों वाणी देते हैं—

सद्यः स्नात हुआ मैं प्रेम सुतीर्थ में मन पवित्र उत्साहपूर्ण सा हो गया ।[2]

मिलन में जहाँ पूर्णता का यह अनुभव होता है वहाँ जलन और दाह का भी। बात यह है कि अनुभव अथवा भोग की हमारी शारीरिक व मानसिक शक्तियाँ सीमित हैं किन्तु उपभोग्य सौंदर्य और प्रेम तो अथाह और अनन्त ठहरा ! हमारा सीमित हृदय सीमित और शक्तियों वाली इन्द्रियाँ उस सब आनन्द का एक ही साथ उपभोग करना भी चाहें तो कैसे करे ! ऐसी अवस्था में मन में एक क्षोभ होता है । यों भी संसार में चारों ओर पग-पग पर संघर्ष है । पूर्ण निश्चिन्त हो कर हम यहाँ प्रत्येक क्षण चाँद देखते हुए, स्निग्ध लहरोंपर, किसीको साथ लिए, अपनी प्रेम-बाँसुरी नहीं बजा सकते । अतः इस सीमा और विवशता पर हमें क्षोभ, जलन, व अशांति का ही अनुभव हो सकता है । यह अनुभव तीन चार रूप पकड़ता है—

(१) हम अपनी प्रिय वस्तु को सदा सुरक्षित रखना चाहते हैं। परन्तु मौत के जबड़ों में फँसा मानव का हृदय तो बड़ा शंकाशील है ! अपना प्रिय तो जीवन की अनमोल निधि है ! आह, वह कहीं हम से बिछुड़ गया तो ! अतः कवि इस विकल आशंका के साथ हहर उठता है—

इस पार प्रिये मधु है तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा ।[3]

(२) इसी से सम्बन्धित नश्वरता की भावना है । प्रकृति के सब पदार्थ बन

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा, आधुनिक कवि (सम्मेलन संग्रह); पृ० ५७–५८।
२. झरना; पृ० ६ । ३. बच्चन : मधुबाला ।

रहेंगे, पर काल हमें तोड़ कर झोली में डाल ले जायगा। कवि प्रकृति के सरस-सुन्दर पदार्थों को संबोधित कर के कहता है—

कलिके, मैं चाहता तुझे उतना जितना यह भ्रमर नहीं।
अरी तटी की दूब, मधुर तू उतनी, जितना अधर नहीं।
किसलय तू भी मधुर, चन्द्र-वदनी निशि, तू मीठी रानी,
दुख है, इन आनंद-कुज में मैं ही केवल अमर नहीं।[१]

(३) अत्यधिक प्रेम या सौंदर्य की तृष्णा एक प्रकार का क्षोभ और बेकली उत्पन्न करती है। अतः कवि को मिलन सुख की घड़ियों में इस प्रकार की भी अनुभूति हो तो क्या आश्चर्य—

(क) प्रेयसी के अधर मधु में भी मिला कितना गरल है।[२]
(ख) प्राण, मैंने तो प्रलय तक के लिए यह दाह पाया।[३]
(ग) प्यार का है, प्यास का क्रन्दन कहो मत,
इस पुरातन प्रीति को नूतन कहो मत।[४]
(घ) शूल तो जैसे विरह, वैसे मिलन में।[५]
(ङ) वेदना मधुर हो जावे मेरी निर्दय तन्मयता।
मिल जावे आज हृदय को पाऊँ मैं भी सहृदयता।[६]

(४) प्रेमियों को प्रेमाधिक्य से उन्माद या बेहोशी का भी अनुभव होता है। यह प्रवृत्ति छायावादी मिलन-भावना में बराबर दिखाई पड़ती है—

(क) पीने दे पीने दे ओ यौवन मदिरा का प्याला।
मत याद दिलाना कल की, कल है कल आने वाला।[७]

(ख) मधु छलक रहा था उर में मैं था सुख का दीवाना
अलसायी सी आँखों में था झूल रहा मैखाना,
पागल सा खेल रहा था विस्मृति से मैं मनमाना।
हर रंग उमंग से पूरित हर राग यहाँ मस्ताना।[८]

(ग) गलबाही दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला।
× × ×
चाहना पीना मैं प्रियतम, नशा जिसका उतरे ही नहीं।[९]

---

१. दिनकर; रेणुका।
२. बच्चन; एकांत संगीत, पृ० ६३।
३. अंचल; अपराजिता, पृ० ३२।
४. मिलनयामिनी; पृ० ४४।
५. वही; पृ० ४६।
६. आँसू; पृ० ६६।
७. भगवतीचरण वर्मा; मधुकण।
८. वही, पृ० २७ व २८।
९. 'प्रसाद'; 'झरना'।

छायावादी कविता में मिलन-भावना की अभिव्यक्ति मुख्यतः पाँच रूपों में दिखाई पड़ती है—

(१) जहाँ भौतिक प्रिय का समागम ही प्रेरणा का मुख्य आधार होता है, अर्थात्, जहाँ प्रेयसी या विवाहिता पत्नी ही आलम्बन होती है। उदाहरणार्थ, 'प्रेम-संगीत' तथा 'मिलनयामिनी' की कविताएँ;

(२) जहाँ उस भौतिक प्रिय को ही कवि, भावना के बल से, अलौकिक धरातलों तक उठा ले जाता है और उसमें अनन्त सौंदर्य और प्रेम की काल्पनिक प्रतिष्ठा कर देता है। छायावाद की यह सामान्य प्रवृत्ति ही है;

(३) जहाँ कवि प्रकृति को ही प्रिया मान कर उसके साथ काल्पनिक प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करके मिलन-सुख का अनुभव करता है। प्रकृति में प्रिया की कल्पना छायावाद का प्रमुख लक्षण है। पन्त के 'पल्लव' में 'आँसू' नामक कविता इस प्रसंग में विशेष रूप से दृष्टव्य है;

(४) जहाँ कवि अपनी भावी पत्नी की कल्पना करके उसके साथ मिलन का मधुर अनुभव करता है। ऐसी रचनाओं में स्वच्छन्द तथा कोमल कल्पना की मोहकता दर्शनीय होती है। पंत के 'गुजन' की 'भावी पत्नी के प्रति' तथा नरेन्द्र शर्मा की 'प्रभात फेरी' की 'भावी पत्नी' नामक कविताएँ इसके सुन्दर उदाहरण है;

(५) जहाँ कवि अपने उच्च आदर्शों के अनुरूप संसार में कोई प्रिय न पाकर अज्ञात सत्ता में रूप-व्यापारों का आरोप करके उसके प्रति अपने मिलन-सम्बन्धी प्रणयोद्गार व्यक्त करता है। यह वस्तुतः रहस्यवाद का क्षेत्र है जो उपरोक्त तृतीय रूप की भावना से ही विकसित होता है। अपने लौकिक प्रिय की छाया प्रकृति में देखना छायावाद है, और अलौकिक प्रिय अथवा परमात्मा की छाया प्रकृति में देखना रहस्यवाद। रहस्यवादी कवि या तो प्रकृति में अलौकिक आलम्बन का अनुभव करता है या ईश्वरत्व की सूक्ष्म भावना ही उसके रति-भाव का आलम्बन हो जाती है। किन्तु ऐसी भावना में प्रायः अत्यधिक सूक्ष्मता, श्लक्ष्णता, या वायवीयता आ जाती है। कवि की व्यक्तिगत भावना से ही सम्बन्धित होने के कारण साधारण पाठक का उस आलम्बन के प्रति साधारणीकरण नहीं हो पाता। ऐसे आलम्बन के प्रति तो कवि का स्वयं का ही चाक्षुष अनुभव नहीं होता, किन्तु फिर भी उसके प्रति मादनभाव के प्रेम की व्यंजना की जाती है। किन्तु अभिव्यक्ति के लिए रूप का आधार लिए बिना काम भी तो नहीं चलता। रहस्यवादी प्रेम-भावना के क्षेत्र में हिन्दी में महादेवी वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सूक्ष्म आलम्बन के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

तुम मुझ में प्रिय, फिर परिचय क्या।
तारक में छवि प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,
भर लाई हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या।[1]

इस प्रकार मिलन-भावना की अभिव्यक्ति की कई रंगतें हैं। उपरोक्त रूपों में प्रथम रूप ही ऐसा है जो मूलवर्ती होने के कारण सब रूपों पर एक समान लागू होता है, क्योंकि प्रणय की मूल भावना सब रूपों में, बाहरी आवरणों की तह में, समान भाव से परिव्याप्त है।

भाव व्यंजना :—मिलन-भावना का मुख्य आधार आलम्बन होता है। आलम्बन के रूप-सौदर्य तथा शील-सौदर्य का विवेचन आगे सौदर्य-विवेचना के प्रसंग में होगा। यहाँ उसके प्रति उत्पन्न भावों की व्यंजना का विवेचन ही प्रसंग-प्राप्त है। स्थायी भाव 'रति' ही है। संयोग-वर्णन में भाव-व्यंजना मुख्यतः संचारी भावों तथा सात्विक भावों के निरूपण द्वारा ही होती है। पर छायावादी कवि स्वच्छंदता की प्रवृत्ति के कारण शृंगार रस के शास्त्रीय ढांचे को ध्यान में रख कर रचना में प्रवृत्त नहीं होता। प्रायः भाव की मुक्त व्यंजना ही उसे इष्ट होता है।

'प्रसाद' ने 'कामायनी' में मिलन-भावना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। 'श्रद्धा' और 'मनु' का मिलन इस काव्य का महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। 'श्रद्धा' को देखते ही मनु के प्राणों में जीवनमयी अमृत-तरंग सी दौड़ गयी। उस समय मनु के हृदय में जो अनुभूति हुई वह गहरी और सशक्त है। मिलन की यह अनुभूति कितनी उल्लासमयी है, देखिए—

सुना यह मनु ने मधु गुंजार, मधुकरी का सा जब सानन्द,
किए मुख नीचा कमल समान, प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द।
एक झिटका सा लगा सहर्ष, निरखने लगे लुटे से, कौन?
गा रहा यह सुन्दर संगीत, कुतूहल रह न सका फिर मौन।...
कौन हो तुम वसन्त के दूत, विरस पतझड़ में अति सुकुमार?
घन तिमिर में चपला की रेख, तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान, हृदय के कोमल कवि की कांत,
कल्पना की लघु लहरी दिव्य, कर रही मानस हलचल शांत।[2]

---

१. यामा, (द्वितीय संस्करण), पृ० १४२।
२. कामायनी; श्रद्धा सर्ग।

कवि ने अपनी कतिपय अन्य कृतियों में भी मिलन की अनुभूति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।[१]

कविवर 'पंत' की आरंभिक कृतियों, मुख्यतः 'वीणा', 'ग्रंथि' व 'गुजन' में भी मिलन-भावना का बहुत ही गम्भीर, उल्लासपूर्ण व स्वाभाविक रूप दिखाई पड़ता है। प्रिया की एक मुसकान मात्र से कवि-हृदय इतना तरल व उल्लसित है कि उसे सारी प्रकृति फूली-फूली दिखाई दे रही है। इस अनुभूति में अन्तस्तल के रंगों की पिचकारी सी छूट पड़ी है —

> मुसकुरा दी थी क्या तुम प्राण, मुसकुरा दी थी आज विहान।
> आज गृह वन उपवन के पास, लोटता राशि-राशि हिम हास,
> खिल उठी आंगन में अवदात, कुन्द कलियों की कोमल प्रात।
> मुसकुरा दी थी, बोलो प्राण, मुसकरा दी थी तुम अनजान।
> आज छाया चहुँदिशि चुपचाप, मृदुल मुकुलों का मौनालाप।
> रूपहली कलियों से, कुछ लाल, लद गई पुलकित पीपल डाल।
> और वह पिक की मर्म पुकार, प्रिये, झरझर पड़ती साभार,
> लाज से गड़ी न जाओ, प्राण, मुसकुरा दी क्या आज विहान।[२]

निश्चय ही 'गुजन' में कवि-हृदय का मुक्त उल्लास चहक उठा है! आत्मा के मिलन-सुख की दृष्टि से 'गुजन' की कुछ गीतियाँ हिन्दी-साहित्य की अमर निधियाँ हैं।[३]

'निराला' ने भी मिलन-सुख का आकंठ अनुभव किया है। उसकी स्मृति में वे अनुभव करते है कि मिलन के ही दिन उनकी कल्पना ने सजीवता पाई थी। देखिए —

> आज वह याद है वसन्त, जब प्रथम दिगन्त श्री
> सुरभि धरा के आकांक्षित हृदय की,
> दान प्रथम हृदय को था ग्रहण किया हृदय ने,
> अज्ञात भावना, सुख चिर मिलन का,
> हल किया प्रश्न जब सहज एकत्त्व का प्राथमिक प्रकृति ने,
> उसी दिन कल्पना ने पाई सजीवता।[४]

---

१. प्रेमपथिक; पृ० १८ से २६; तथा 'झरना' की 'प्रथम प्रभात', 'मिलन', 'सुधासिंचन', आदि कविताएँ।

२. गुंजन; गीत संख्या २१।

३. 'गुंजन'; गीत संख्या २५ (मधुवन नामक कविता); तथा, पृ० ४७ का गीत विशेष रूप से दृष्टव्य।

४. अनामिका; पृ० ७७।

कवि जीवन में ऐसे दिव्य मिलन का अभिलाषी है जो उसे संसार-सागर से पार लगा दे। उसकी मधुमयी कामना है कि वह और उसकी प्रिया, एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए, संसार-सागर की लहरों में उनके सब थपेड़े सहते हुए, मजे में बहते रहें—

जैसे हम है वैसे ही रहें
लिए हाथ एक दूसरे का अतिशय सुख के सागर में बहें।
मुदें पलक, केवल देखें उर में, सुनें सब कथा परिमल सुर में,
जो चाहें, कहें वे, कहे।
वहाँ एक दृष्टि से अशेष प्रणय देख रहा है जग को निर्भय,
दोनों उसकी दृढ़ लहरें सहें।[1]

'जो चाहें, कहें वे कहें।'—इसके बिना इस कठोर संसार में काम चलेगा भी तो नहीं—क्योंकि प्रेमियों का अनुभव है—'प्रेमियों के प्रति रही है, आह, कितनी क्रूर दुनियाँ।'[2] 'प्रसाद' भी ऐसी दुनियाँ को धता बता कर अपना काम से काम रखते है—'हम–तुम जब है एक, लोग बकते फिरें।'[3]

महादेवी जी शाश्वत सुख की खोज में है। किन्तु, ऐसा सुख किसी अलौकिक प्रियतम से ही प्राप्त हो सकता है। सीमित व क्षणिक सुख में उन्हें संतोष नहीं। पर, व्यक्त जगत् में तो उन्हें अपना वांछित नहीं प्राप्त होता। अतः वे कहती है—

तम के पर्दे में छिपकर भाता प्रियतम को आना,
ऐ नभ की तारावलियों, तुम पल भर को छिप जाना।[4]

कवि का अपने अमर प्रियतम से अभी पूर्ण साक्षात्कार नहीं हुआ, पर उसे आभास अवश्य मिलता है कि उसका प्रिय उसके पास आता है—

सजनि कौन तुम मे परिचित सा, सुधि सा, छाया सा, आता ?
सूने में सस्मित चितवन से जीवन-दीप जला जाता।
छू स्मृतियों के बाल जगाता, मूक वेदनायें दुलराता,
हृत्तन्त्री में स्वर भर जाता,
बन्द दृगों में चूम सजल सपनों के चित्र बना जाता।[5]

इस प्रकार हम महादेवी जी के मिलन को अलौकिक मिलन के रूप में पाते हैं।

---

१. 'अनामिका' का आरंभ। २. 'बच्चन'; निशानिमन्त्रण।
३. 'काननकुसुम' की 'मर्मकथा' नामक कविता।
४. यामा। ५. वही, पृ० ९८।

श्री रामकुमार वर्मा को मिलन के क्षण एक ऐसी दिव्य शक्ति दे जाते हैं कि जीवन की नश्वरता भी सरलतापूर्वक सहन की जा सकती है—

इसी मिलन के बल पर मैं, नश्वरता सुख से सहन करूँगा ।[१]

जीवन क्षणिक है । इसलिए उसका पूरा आनन्द अनुभव करने के लिए कवि अपनी प्रेयसी के साथ प्रेम-मिलन चाहता है । इस मिलन-सुख के रस से संसार की भीषणता नष्ट होगी और आत्मा को अपना दिव्य पथेय मिलेगा । देखिए—

सुख की राका का केवल है एक मनोरम काल ।
आओ प्रेयसि, बैठो यह है प्रेम मिलन की डाल ।[२]

'बच्चन' प्रणय-रस की प्राप्ति की तुलना में स्वर्ग को भी ठुकराने योग्य समझते हैं ।[३] प्रेमी हृदय का अनन्त प्यार केवल क्षुद्र मोह और व्यसन मात्र ही नहीं है ।[४] मिलन की रसीली यामिनी दिन की धूप व धूल-धक्कड़ सहने वाले को मानो प्रकृति का पुरस्कार है ।[५] विश्व की सम्पूर्ण सत्ता कवि की दृष्टि में प्रणय-भावना से ही सार्थक है, अन्यथा यह विश्व केवल मरुस्थल ही है—

यदि प्रणय जागा न होता इस निशा में, सुप्त होती विश्व की सम्पूर्ण सत्ता,
वह मरण की नींद होती जड़ भयंकर, और उसका टूटना होता असम्भव,
प्यार से संसार सोकर जागता है, इसलिए है प्यार की जग में महत्ता ।[६]

मिलन से जीवन पूर्ण बनता है, इस जीवन-सत्य का कवि अनुभव कर चुका है—

खंडित सा मैं घूम रहा था जग-पंथों पर भूला-भूला,
तुमको पाकर पूर्ण हुआ मैं, आज हृदय मन फूला-फूला ।

दो हृदयों का, दो आत्माओं का गुँथ-जाना, घुल जाना, एकरस या एकाकार हो जाना, पूर्ण रसमग्न हो जाना, मानों प्रकृति की माँग है, उसका समर्थन है ।[७] इसलिए कवि सरस प्रणय की मादकता में पूर्णतया आत्मविभोर हो गया है ।[८] प्रथम मिलन की सुधि का चित्र तो अत्यन्त ही मोहक है ।[९] कवि ने 'मिलनयामिनी' में प्रेम-भावना को मधुरता व उज्ज्वलता प्रदान की है । उस ने 'मिलनयामिनी' के गीत आत्मिक मुक्ति के रस में डूबकर, पूर्ण उल्लास के साथ, कोकिल के कंठों की सहजता से गाये हैं । इस क्षेत्र में 'मिलनयामिनी' निश्चय ही एक अनूठी रचना है । 'प्रणय पत्रिका' भी इस दृष्टि से कवि की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है ।

---

१. रामकुमार वर्मा आधुनिक कवि; (सम्मेलन संग्रह), पृ० १९ ।
२. रूपराशि (द्वि० सं०); पृ० ३० । ३. मिलनयामिनी; पृ० १७६ ।
४. वही; पृ० ५९ । ५. वही; पृ० ३६ । ६. वही; पृ० १३६ ।
७. वही; पृ० १४९ । ८. वही; पृ० १४६, १५६ । ९. वही; पृ० १७४ ।

कविवर भगवतीचरण-वर्मा ने 'मधुकण' व 'प्रेमसंगीत' में अपनी मिलन-भावना को सशक्त व उन्मुक्त वाणी दी है। मधुकण की 'नववधू के प्रति', 'उपहार', 'स्वागत' आदि रचनाओं में प्राण से प्राण जुड़ने के क्षणो की आत्म-विभोरता, विस्मृति व प्रेमोन्माद की वेगवती व्यंजना हुई है। कवि रूपसी के पराग की हाला पीकर आगामी कल की याद भी नहीं दिलवाना चाहता !

'प्रेम संगीत' में कवि पूर्णतः भावान्दोलित हो उठा है। परिवर्तन और नाश के इस संसार में कवि मिलन के सुख को अपना बना लेना चाहता है। देखिए—

जीवन सरिता की लहर लहर, मिटने को बनती यहाँ प्रिये,
संयोग क्षणिक, फिर क्या जाने, हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये।
पल भर तो साथ-साथ बह लें, कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें।[1]

प्रिय के संयोग-सुख के उल्लास में कवि विश्व की समस्त श्री-सुषमा को साँसों में समेट कर उन्हें अनन्त बना डालने की मादक भावना से उच्छ्वसित हो उठा है—

जग के उपवन की यह मधु-श्री, सुषमा का सरस वसन्त प्रिये।
दो साँसों में बस जाय और ये साँसें बनें अनन्त प्रिये।
मुरझाना है आओ खिल लें, हम तुम जी भर खुल कर मिल लें।[2]

कवि की प्रणय भावना कितनी उच्च है। प्रेम कवि के लिए शक्ति है। वह अपनी प्रिया से जगत् का भ्रम-जाल तोड़ने को कहता है क्योंकि और किसी में तो मानो यह शक्ति है नही। कवि को विश्वास है कि प्रेम के बल पर जहाँ भी पहुँच जायेंगे वही वास्तविक गन्तव्य है, इसलिए साथ-साथ बह चलना है मुख्य ध्येय है, अन्य प्रश्न असामयिक और अप्रासंगिक है—

तुम कल्याणी हो, शक्ति बनो, तोड़ो भव का भ्रम-जाल यहाँ,
बहना है, बस बह चलो, अरे है व्यर्थ पूछना किधर ? कहाँ ?[3]

कवि की प्रिया ही उसके गायन की स्वर लहरी है, उसकी आत्मा का स्पंदन है—

बोलो ना मेरे गायन की तुम में ही तो स्वर लहरी है।[4]

निःसंदेह कवि ने प्रेम के मिलन-सुख का आकंठ पान किया है। उसकी अभिव्यक्ति में उल्लास, पुलक, रोमांच तथा सात्विक ओज है जो उसके प्रेम की प्राणवत्ता का परिचायक है।

नरेन्द्र शर्मा की प्रणयानुभूति भी अत्यन्त गम्भीर व उदात्त है। इन पंक्तियों

---

१. प्रेम-संगीत; पृ० २४। २. वही; पृ० २५।
३. वही; पृ० २८। ४. वही; पृ० २६।

में तो आत्मिक उल्लास का मानो प्रबल ज्वार ही आ गया है—

> कैसा था अद्‌भुत अपूर्व वह महानन्द का एक अमर क्षण,
> विश्व भर गया था जब मधु से, क्षण भर का वह प्रेमालिंगन।
> तीव्र श्वास पुलकाकुल स्वेदित, शिथिल गात मधु रात अचेतन,
> प्राणों में जब भेद नहीं था, एक हो गये थे दोनों तन।[1]

कपोत प्रेम का प्रतीक है। उसका प्रेम बहुत मार्मिक होता है। कवि कपोत को अपने प्रिय का प्रतीक मान कर कहता है—

> इस विशद विश्व का कहाँ अन्त ?
> पर आत्मा को आधार एक, तुम वह साधन मेरे कपोत।
> तुम से ही मेरी दिवा निशा, नयनों में बंदी सूर्य-चन्द्र,
> वाणी में ग्रह संगीत मंद्र, भू चाप चकित प्रत्येक दिशा,
> पर व्योम, पैर पृथ्वी, कपोत।[2]

निश्चय ही कवि ने मिलन की अनुभूति के द्वारा प्रेम की उज्ज्वलता का स्वरूप हमारे सामने रखा है। कवि की कई अन्य रचनाएँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[3]

'अंचल' को भी मिलन के क्षणों की अनमोल अनुभूतियाँ प्राप्त हुई है। प्रेम जीवन को अनन्द व शांति प्रदान करता है। कवि का अनुभव है—

> तुम्हें देख लेता हूँ जब लावण्य पुंज, हे बाले !
> एकाकिनि मल्लिका लता सी तेजतमी मधुशाले !
> जग का दुख दावानल घर्षण देवि लुप्त हो जाता,
> विपुल अनन्त विश्व में कोई शत्रु नहीं दिख पाता।
> तृप्ति हर्ष उल्लास शांति की जननि साधना रानी।
> मूक तपस्वी की नीरव अनुभूति अनन्त कहानी।
> एक तुम्हीं पर होम दिया विभ्रांत हृदय तूफानी,
> श्रीचरणों पर मुग्ध सदा मदहोश पड़ा था मानी।[4]

इस समस्त अभिव्यक्ति में प्रेम की सात्त्विकता की धवलिमा परिव्याप्त है। कवि ने अपनी अन्य कविताओं में भी ऐसी अनेक उदात्त भावनाएँ व्यक्त की है।[5]

---

१. प्रवासी के गीत; पृ० १६। २. वही; पृ० ८१।
३. प्रवासी के गीत; पृष्ठ ६; प्रभातफेरी, पृष्ठ ३०, ३२, ३३, ५६ व १२६ आदि। ३. अपराजिता; पृष्ठ १६०।
४. वही; पृष्ठ १८ व १७४; ५. किरणवेला, पृष्ठ ६४।

'दिनकर' का स्थान प्रेम-कवियों में बहुत उच्च है। इनकी प्रणयाभिव्यक्ति में माधुर्य, औज्वल्य और उल्लास के दर्शन होते हैं। 'रेणुका' व 'रसवन्ती' के अनेक गीतों में इनकी मधुर मिलन-भावना चहचहा उठी है। प्रेमिका को देख कर कवि को कितने दिव्य उल्लास की जीवन्त अनुभूति हुई है, देखिए—

> एक क्षण कोलाहल के बीच पुलक की शीतलता में मौन,
> सोचने लगा हृदय में आज हुआ नूपुर मुखरित यह कौन,
> खोल दृग देखा प्राची और अलक्तक चरणों का शृंगार,
> तुम्हारा नव, उद्वेलित रूप, व्योम में उड़ता कुंतल भार।
> उठा मायाविनि अंतर बीच कल्पना का कल्लोलित ज्वार,
> लगा सद्य.स्फुट पाटल सदृश दृगों को मोहक यह संसार।
> लगी पृथ्वी आँखों को देवि, सिक्त सरसीरुह सी अम्लान,
> कूल पर खड़ी हुई सी निकल सिंधु में करके सद्यःस्नान।[१]

कवि ने लौकिक प्रिया में कैसी अलौकिकता का भाव समाविष्ट कर दिया है। प्रेमी अपने प्रेम-पात्र को सदा बढ़े-चढ़े व सुन्दर रूप में ही देखना चाहता है। अपने प्रिय को देख कर जो अनुभूति कवि को हुई है, वह सरस तथा रमणीय है।

इसी प्रकार अन्य अनेक छायावादी कवियों की रचनाओं से ऐसे अगणित उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके द्वारा मिलन की उदात्त अनुभूति का बोध हो। इस विवेचन द्वारा हमारा आशय केवल इतना ही है कि छायावाद काल में मिलन की अनुभूति के माध्यम से कवियों ने अन्तःकरण की शुभ्रता, पावनता और उज्ज्वलता का भी पर्याप्त अनुभव किया है।

उद्दीपन (प्रकृति)

संयोग-शृंगार के वर्णन में प्रकृति काव्य में उद्दीपन के रूप में बराबर ग्रहण की जाती रही है। यद्यपि छायावाद काल में उसके प्रति स्वतन्त्र प्रेम विकसित हुआ और वह आलम्बन के रूप में ग्रहण की गई, किन्तु उद्दीपन के रूप में भी उसका महत्त्व पूर्ववत् बना रहा। प्राचीन हिन्दी-साहित्य में जहाँ वह मुख्यतः उद्दीपन के रूप के ही प्रयुक्त होती थी, वहाँ अब वह दोनों रूपों में प्रयुक्त हुई। प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों ने उद्दीपन रूप में उसका पर्याप्त ग्रहण किया है।

मिलन के क्षणों में आंतरिक आनन्दोन्मेष के कारण सब कुछ उल्लासपूर्ण हो जाता है। समस्त प्रकृति में एक आनन्द-ज्वार-सा आ जाता है। 'बच्चन' की यह अनुभूति कितनी स्वाभाविक है—

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ८।

कला-निधान रश्मियान पर चढ़े, प्रदीपवान आसमान पर बढ़े,
हुई समुद्र की तरंग चंचला, धरा समुद्र दूध में नहा उठी ।[1]

वियोग में जो चाँद विरही को भूनता है, वही मिलन-पहर में अमृत भी बरसाता है । फिर तो सारी सृष्टि सौरभवान् तथा आलोकपूर्ण ही हो उठती है—

शीतकर शत शत उदय होने लगे । तारकायें नील नभ में आज ये,
फूल की झालर बनी है शोभती । गंध सौरभ वायुमण्डल की तहें,
अंतरिक्ष विशाल में है मिल रही । चन्द्रकर पीयूष वर्षा कर रहा ।
दृष्टि पथ में सृष्टि है अलोकमयी, विश्ववैभव से भरा यह धन्य है ।[2]

संयोग में जब प्रकृति सुखकर हो जाती है, उसके स्पर्श कोमल व स्निग्ध हो जाते है, फिर ऐसे क्षणों में मानिनी का मान क्यों न टूट जाये, लाज की कच्ची मिट्टी की प्राचीरें क्यों न ढह जायें ।[3] ऐसे ही क्षणों में तो दो हृदय एक दूसरे में डूब कर पूर्ण एकाकार हो जाते है ।[4] यही हृदय की महा मुक्ति या लय है । इस मानसिक महामुक्ति में प्रकृति ही साधन होती है । चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण में ही रतिभाव को इस सीमा तक उद्दीप्त करने की क्षमता है—

आज मधुकर कर रहा मधुपान है, आज कलिका दे रही रसदान है ।
आज बौरों पर विकल बौरी हुई, कोकिला करती प्रणय का मान है ।
यह हृदय की भेंट है स्वीकार हो, आज यौवन का सुमुखि, अभिसार है ।[5]

और, प्रकृति में उठी रस की यह फेनिल-प्रबल हिलोर प्रेमियों को बहा कर ले जाने वाली है । कितना वेग है इसमें—

है हमें बहाने को आई यह रस की एक हिलोर, प्रिये ।
शाश्वत असीम में चलना है निज सीमा के उस ओर प्रिये ।
यह पल असीम यह पल अखंड, इस पल का ओर न छोर प्रिये ।
तुम चंचल गति, मैं हूँ प्रसार, यह रस की एक हिलोर प्रिये ।[6]

इस प्रकार छायावादी कवियों ने मिलन के क्षणों में प्रकृति की आनन्दोल्लास-मयी आत्मा का दर्शन किया है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अनुभव केवल प्रेमियों की ही विभूति है ।

सात्विक भाव

प्रेम की पवित्रता, गंभीरता, और निर्मलता की यह पहचान है कि प्रेम-भावना

---

१. मिलनयामिनी; पृ० २१० । २. प्रसाद : झरना, पृ० ४३ ।
३. प्रेमसंगीत; पृ० ४३ । ४. वही; पृ० ४४ ।
५. वही; पृ० ४४ । ६. वही; पृ० ४६ ।

अपने साथ सात्विक रोमांच, पुलक, कंप, व प्रेमाश्रु भी लावे। इन सात्विक भावों की जहाँ स्थिति होती है, वहाँ प्रेम की पूनो प्रकट होती है। मिलन की मधुर भावना की सात्त्विकता इन पंक्तियों में देखिए—

नाच रहा था चंचल गति से सखि उर में उल्लास,
मेरे अधरों पर हिम जल सा छलक रहा था हास।
अरुण कपोलों पर यौवन की भीनी सी मुस्कान,
स्वेद कणों की मौक्तिक माला मस्तक पर अम्लान।
किंतु पलक झुक गये न सह कर वह सुख भार महान्,
नयन ढूँढने लगे भूमि पर अपना खोया ज्ञान।[1]

और यह पुलक, मिलन-सुख का चरमोत्कर्ष है—

प्राणो का होगा आज मिलन, कम्पित है पुलकित गात प्रिये,
तुम सम्मोहिनि, मैं विसुध स्वप्न, यह है संयोग की रात प्रिये।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि छायावाद-काल की मिलन-भावना पर्याप्त सशक्त व प्राणमयी है, और वह आत्मा के आनन्द को आलम्बन के माध्यम से प्रकाशित करती है। ज्ञानी जिस तत्त्व को ज्ञान या बुद्धि के मार्ग से अनुभव करते हैं, उसी को भाव-योगी कवि, प्रेमी, या भक्त भावना के मार्ग से अनुभव करते है। कवि को भावना-क्षेत्र में वियोग या संयोग के द्वारा उस परमतत्त्व की रमणीय अनुभूति होती है। पर साथ ही यह भी भ्रांति न रहे कि सयोग-मात्र के नाम पर कविता में जो भी अभिव्यक्ति हो, वह सभी उज्ज्वल व उदात्त ही होती है। वस्तुतः जो कुछ चमकता है सभी खरा सोना नहीं होता। छायावाद की कविता भी इस का अपवाद नहीं। बहुत सी प्रेमाभिव्यक्ति स्थूल मांस की पुकार-मात्र है, जिसमें कलुषित वासना का ही शृंगार है। सिद्धान्त प्रकरण में हम यह बता चुके है कि मानव का आदि भाव परिष्कृत काम या प्रेम, जिसका सम्बन्ध ब्रह्म के सृष्टि-निर्माण के संकल्प के साथ है, ही है, किन्तु जब यह भाव अधोगामी होकर काव्य में आता है, तो सच्चे सहृदयों को स्थायी व सात्त्विक आनन्द प्रदान नहीं कर सकता, चाहे काव्य-शैली का कैसा ही चारुत्व हो। प्रेम की मूल पवित्रता अनायास ही सीधे मर्म पर प्रहार करती है। छायावाद की कविता में मिलन-भावना की जो अभिव्यक्ति हुई है, वह प्रेम की अत्यन्त उदात्त भावना हमारे सामने प्रस्तुत करती है, इसमें संदेह नही। निश्चय ही वह छायावाद का रस-किञ्जल्क है।

संयोगानुभूति के पश्चात् अब विरह-भावना पर भी विचार किया जाय।

---

१. मधुकण; पृ० ४८। २. प्रेमसंगीत; पृ० ४५।

(घ) विरह-भावना

(i) **मर्म तथा महत्त्व** :—कवि का समग्र अस्तित्व विरहावस्था में ही अपने मूल से व निःशेष रूप मे बोलता है। मिलन में कवि 'स्व' के सब ओर से सिमट कर केवल अपने प्रिय में ही केंद्रित हो जाता है, और अनुभूति से भर कर पूर्ण वेग से घूमते हुये लट्टू की तरह बाहर से तो स्थिर किन्तु भीतर पूर्ण रूप से गतिशील बना रहता है। किंतु, सच्चा प्रेमी प्रिय में केंद्रित होकर भी हृदय से विश्वव्यापक रहता है। विरहास्वथा में विरही की आत्मा कण-कण में व्याप्त हो जाती है। विरह की अभिव्यक्ति में कवि के अन्तरसंघर्ष-जन्य आलोक-भरे चेतना-स्फुलिंग चटचटा कर प्रस्फुटित हो उठते है। उनमें प्राण का संजीवन-रस या तरल-तप्त लावा फूट-फूट कर बह निकलता है। कवि के ज्योति-चुम्बित आत्मा-शिखरों की उदात्त ऊँचाइयों के दर्शन विरह के मर्मोद्‌गारों में ही मिल सकते हैं। पर हो वह विरह वास्तविक। यों तो मिलन के क्षण-विशेष भी अलौकिक अनुभूतियाँ प्रदान करते है, किंतु मिलन-सुख की तृप्ति-जन्य जड़ता कण-कण में दिव्य सत्ता या प्रिय की दिव्य सत्ता या प्रिय के रूप-शील का निरन्तर वैसा तैलधारवत् अनुभव करते रहने की प्रेरणा नहीं देती जो विरह में सहज-सुलभ होती है। विरह में तो आत्मा फूट-फैल कर, तरलित होकर, कण-कण में बह चलती है। जीवन में उज्ज्वल-गुणों-उदारता, भूतमात्र-व्यापिनी दया, ममता, सहानुभूति आदि का विकास प्रायः विरह में ही हो पाता है। इसीलिये साहित्य में मिलन की अपेक्षा विरह का महत्त्व सदा से अधिक रहता आया है। विरह के माध्यम से ही प्रेमी-हृदय या कवि, जीवन के परमतत्त्व का अनुभव कर सकने में समर्थ होता है। इसीलिए महाकवि कालिदास सच्चा प्रेम विरह में ही मानते हैं।[१] कालिदास ने यक्ष, सूर ने राधा, तुलसी ने सीता, गुप्त जी ने उर्मिला व यशोधरा, और हरिऔध जी ने राधा के विरह-वर्णन के माध्यम से इसी अनमोल, और आत्मा को विकसित व निर्मल करने वाली अनुभूति को वाणी दी है, और उनके प्रेम को विरह की ज्वाला में जला-जला कर खरा कुंदन बना दिया है। हिंदी के कवियों ने भी इसीलिए प्रेम के विरह-पक्ष का बहुत गौरव-गान किया है।

पंत जी वियोग में ही कविता का जन्म मानते हैं। उनका तो यहाँ तक विश्वास है कि विश्व का प्रथम कवि वियोगी ही रहा होगा—

---

१. एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
　　मा कौलीनाच्चकितनयने मय्यविश्वासिनी भूः
　स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा
　　दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।

—मेघदूत, उत्तरमेघ, ५५

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान ।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान ।।[१]

यद्यपि विरह पीड़ा भयंकर है, उसमें बड़ी कराह, व तीक्ष्णता है—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर, विरह, अहह कराहते इस शब्द को ।
किस कुलिस की तीक्ष्ण, चुभती नोक से, निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा ।।[२]

किन्तु, फिर भी अपनी आंतरिक माधुरी, हरियाली, तृप्ति और कांति के कारण वह जीवन की अनमोल निधि है, वरदान है—

विरह है अथवा यह वरदान ।
कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता, सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द है, मधुर लय का क्या कहीं अवसान है ।[३]

महादेवी जी को तो जीवन का उद्धारक, और आत्मा को अमरता प्रदान करने वाला यह विरह इतना प्रिय है कि मिलन का नाम तक भी उन्हें नहीं सुहाता—

मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ ।[४]

और विरह की ज्वाला उनको इतनी जीवनमयी लगती है कि वे उसके बिना जीवन को मिट्टी ही समझती है—

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ ।[५]

कवियित्री के लिए जीवन की यह विरह-निशा आलोकपूर्ण प्रभात ही हो गई है, क्योंकि विरह में उसका रोम-रोम प्रिय-स्मरण रूप जागरण से आस्फूर्त है—

अब विरह की रात को तू चिर मिलन का प्रात रे कह ।[६]

और, कवि 'बच्चन' तो जीवन के इस मीठे और प्राकृतिक दर्द से वंचित व्यक्ति (ठूंठ, लक्कड़) के लिए कुछ माकूल और पक्की (मुकम्मिल) व्यवस्था करना चाहते हैं—

बड़भागी है दर्द बसाए रह सकता है जिसका अन्तर,
जो इससे वचित है उनको फूँको फूस-चिता पर धर कर ।[७]

कवि 'दिनकर' को इस दर्द का मज़ा मालूम है । इस दर्द में उनके लिए वह मिठास है कि वे उसका इलाज करवाने को भी तैयार नहीं—

जीवन का यह दर्द मधुर है, तू न व्यर्थ उपचार करे,
किसी तरह ऊषा तक टिमटिम जलने दे दीपक मेरा ।[८]

---

१. पल्लव; पृ० १२ । २. ग्रन्थि; पृ० ३८ । ३. पल्लव; पृ० १२ ।
४. यामा; पृ० २१८ । ५. वही; पृ० २१८ । ६. वही; पृ० १८७ ।
७. प्रणयपत्रिका; पृ० ४८ । ८. रेणुका ।

ध्यान देने की बात यह है कि उत्तरकालीन द्विवेदी काल में ही इस विरह-वेदना की वंदना-अर्चना शुरू हो चली थीं। इस प्रसंग में साकेत के नवम् सर्ग के 'वेदने तू भी भली बनी' नामक गीत की ओर संकेत यहाँ पर्याप्त होगा।

(ii) **विरह का स्वरूप**:—छायावाद मुख्यत: वियोग-प्रधान प्रेम-काव्य है। प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, अंचल, आरसीप्रसाद सिंह आदि इस वाद के प्रमुख कवियों ने अपनी विरहानुभूति का मार्मिक चित्रण किया है। विरह-भावना के चित्रण में उच्च-कोटि की गम्भीरता तथा मौलिकता है और उसके इन्हीं मुख्य गुणों में प्राचीन हिन्दी-काव्य के विरह-वर्णन से इस काव्य का विशिष्ट अन्तर देखा जा सकता है। प्राचीन कवि अपनी विरह-भावना को या तो अपने काव्य-गत पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता था, या राधाकृष्ण की प्रेम लीला के वर्णन के द्वारा भारतेन्दु काल तक यही बात बनी रही। द्विवेदी काल में गुप्त जी, हरिऔध जी, व पं० रामनरेश त्रिपाठी ने उसमें पर्याप्त मौलिकता का समावेश किया, किन्तु छायावाद में विरह के स्वरूप में इतना परिवर्तन उपस्थित हो गया कि नवीन कविता प्राचीन कविता से बहुत पृथक् दिखाई पड़ने लगी। इस अन्तर को स्पष्टता से समझने के लिए प्रस्तुत काव्य की विरह-भावना सम्बन्धी विशेषताओं पर थोड़ा विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक है :—

१. कवि की विरह-वेदना अधिकांश में अलौकिक न हो कर लौकिक या व्यक्तिगत ही थी। अब तक कवि प्राय: ऐसा स्वीकृत करने में संकोच करता था। यद्यपि छायावादी कवि भी अपनी लौकिक विरह-भावना को अलौकिक बनाने के लिए पर्याप्त कौशल करता है, किन्तु मूल में होती है वह लौकिक ही। साथ ही हम यह भी मानते हैं कि कुछ कवियों में विरह-भावना आध्यात्मिक भी थी। नवीन अध्यात्म गाँधी, अरविन्द, रवीन्द्र द्वारा प्रचारित तथा भौतिक जीवन में ही मानसिक एकाग्रता व सहज संयम के द्वारा की जाने वाली सुन्दर व मधुर साधना है। हिन्दी-कवियों पर भी इस धारणा का प्रभाव दिखाई पड़ा। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा आदि कवि आज अपने आप को पृथ्वी का बताने में नहीं हिचकते। हाँ, इन्होंने अपनी विरह-भावना को कल्पना के सौंदर्य के द्वारा जगमगा कर अवश्य इतना कलात्मक बना दिया कि वह अलौकिक-सी भासित हुई। 'प्रसाद' की काव्यधारा तो भौतिक और आध्यात्मिक—इन दो कूलों के बीच ही सदा प्रवाहित हुई।[1] पंत का विरह 'ग्रंथि' में भौतिकता से आरम्भ होकर 'उत्तरा' तक पहुँचते-पहुँचते सूक्ष्म व आध्यात्मिक हो गया है। वस्तुत: स्पष्टता के लिए स्थल रूप से विरह के दो भेद किये जा सकते हैं—(१) लौकिक विरह, और (२) अलौकिक विरह। छायावाद में लौकिक विरह भी कल्पना से समलंकृत होकर चलता है। अलौकिक विरह के लिए

१. पं० कृष्णशंकर शुक्ल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—पृ० ३७९—३८०

आलम्बन भौतिक होता है, किन्तु होता है वह निमित्त मात्र ही। उसमे आध्यात्मिक विरह-भावना ही मुख्य होती है। इस प्रकार विरह-भावना की अभिव्यक्ति लौकिक और अलौकिक—इन दो विभागों में बँटकर कई रंगतों की होती है।

२. आलम्बन को अत्यधिक सूक्ष्म या अलौकिक बनाने के प्रयत्न में काव्य में एक वायवीयता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। 'बच्चन' आदि के काव्य में तो ऐसा नहीं, किन्तु महादेवी जी के काव्य में या पंत जी के 'गुंजन' की 'अप्सरा', 'एक तारा', या 'उत्तरा' की 'प्रीति' आदि कविताओं में यह बात दिखाई पड़ती है। आलम्बन को अत्यधिक सूक्ष्म बनाने का कारण अतिकाल्पनिकता या अत्यधिक आदर्शवाद है जो पात्र को पार्थिव न रखकर अत्यधिक अपार्थिव रखने में ही संतोष का अनुभव करता है। किन्तु सिद्धान्त-रूप में विचार करने पर, कोरे शून्य-जीवी होने के बजाय पृथ्वी से भी समुचित सम्बन्ध बनाये रखने में ही भावों को अपने संचार के लिए रसानुभूति के उपयुक्त दृढ़ भूमि मिलती है। फिर, पार्थिव में भी तो ऊँचे से ऊँचे आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई है, और हो सकती है। कवियों का यथार्थता से दूर भाग कर कोरा शून्य-जीवी होना प्रेम-काव्य के मर्मज्ञ समीक्षकों को भी रुचिकर नहीं लगा है। आलम्बन को कल्पना के आकाश में उड़ाकर ले जाने और वहाँ भौतिक रूप-रंग देने की अपेक्षा व उन्हें पृथ्वी पर रख कर ही स्वर्गीय महिमा से मंडित करना अधिक काव्योचित समझते हैं। संस्कृत के कवि, उन समीक्षकों की धारणा में, इस दृष्टि से, छायावादी कवियों से कहीं अधिक स्पष्ट और यथार्थवादी, और साथ ही आदर्श-प्रिय हैं।[1]

---

1. "For, they (Sanskrit love-poets) must have realised that love can not live merely upon abstraction; it must have actualities to feed itself upon. It would be absurd indeed to suppose that these Sanskrit love poems do not possess any touch of that idealism without which no poetry is poetry; they have enough idealism, but they do not live upon air. With these poets love is not a cold white ideal rising moon-like over the rapt vision of the love sick shepherd prince. It does not die in dreams, nor is it troubled with a deep philosophy, nor bored with its own ideality, losing itself in the worship of a phantom woman, or rising into mystic spirituality and indefinite pantheism. Nor is it sicklied over with the subtleties of decadent psychologists or with the subjective malady of modern love-poets. It is exasperatingly authentic and admirably plain-speaking. It does not talk about ideals and gates of heaven but walks on the earth and speaks of the insatiable hunger of the body and the exquisite intoxication of the senses. For these poets must have felt, as every true passionate poet feels, that passion in its essence is not idealism which

३. छायावादी कवि जलन में भी वास्तविक सुख-संतोष का एक काल्पनिक प्रयत्न करता है। यह प्रवृत्ति छायावाद की एक विशिष्ठ प्रवृत्ति है। जलन में शीतलता का अनुभव या तृप्ति का संतोष, प्रेम-ज्वाला में जलते हुये हृदय की मार्मिक दशा की पराकाष्ठा का सूचक है। उदाहरणार्थ—

(क) प्रेम-वंचित को तथा कंगाल को है कहाँ आश्रय, विरह की वह्नि में।
भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा हो गई परिणत विरत सी शक्ति में।[१]

(ख) वेदना से भी निरापद क्या अहा और कोई शरण है संसार में।
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का।[२]

(ग) आज मैं सब भाँति सुख सम्पन्न हूँ, वेदना के इस मनोरम विपिन में।
विजय छाया में द्रुमो की, योग सी, विचरती है आज मेरी वेदना।[३]

(घ) निर्मम जगति को तेरा मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुये हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला।[४]

(ङ) इस विकल वेदना को ले किस ने सुख को ललकारा,
वह इस अबोध अकिंचन, बेसुध चैतन्य हमारा।[५]

(च) इस दुख में पाओगी सुख की धुधली एक निशानी,
आहों के जलते शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी।[६]

रेखाकित स्थलों से हमारा आशय स्पष्ट हो सकेगा।

४. प्रेम अमर है। काम तो भोग-तृप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है किंतु प्रेम जन्म-जन्म तक संस्कार रूप में चलता रहता है।[७] जहाँ प्रेम लौकिक प्रिय के प्रति भी प्रगाढ़ व अनन्य हो जाता है, वहाँ वह जन्म-मरण की दीवारों को तोड़-फोड़ कर अपनी प्रकाश-किरणें आगे-पीछे फेंकने लगता है। ऐसा ही प्रेम छायावाद में विरह के प्रसंग में कहीं-कहीं प्रकट हुआ मिलता है। 'प्रसाद' का प्रिय उसका जन्म-जन्म का साथी है। यथा—

हे जन्म-जन्म के जीवन, साथी संसृति के दुख में,
पावन प्रभात हो जावे, जागो आलस के सुख में।[८]

---

looks beyond the real, but idolatry which finds the ideal in the real."
—Sushil Kumar De : '*Treatment of love in Sanskrit Literature*', p. 36.

१. ग्रंथि; पृ० ३६। २. वही; पृ० ४२। ३. वही; पृ० ४३।
४. आँसू; पृ० ६३। ५. आँसू; पृ० ११। ६. मधुकण; पृ० २२।
७. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५/२; तथा, पातंजल योगसूत्र, १/१६।
८. आँसू; पृ० ७४।

और, कवि 'दिनकर' अपने प्रिय को पाने के लिए क्या नहीं कर सकता? को उसका प्रेम जन्म-जन्मान्तरों तक व्याप्त कर देने में समर्थ है—

निखिल जन्मों में जिस पर देवि, चढ़ाये हमने तन, मन, प्राण,
सुनेंगे हवन हेतु इस बार एक दिन फिर उसका आह्वान।[1]

और, इस वेग को भी देखिए जो प्रेम पथ के अखंड विश्वास, एकनिष्ठता, व अनन्यता से प्रेरित है—

चमकूँगा धूल कणो में, सौरभ हो उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा कही तुम्हें तो, ग्रह पथ में टकराऊँगा।[2]

५. विरह-भावना के वर्णन में कवियों ने सूफियों के पुराने सामान भी इकट्ठे किये हैं—हाला, प्याला, मधुशाला, साकी, आदि। उर्दू-फारसी की कविता में प्रचलित छालों का फूटना भी मिलता है। प्रतीक रूप में निश्चित ही ये प्रेमोन्माद की बड़ी सुन्दर भावना बँधाते है, पर पुरानी परिपाटी के लोग इन बातों से जरा चिढ़ते है। विरह-वर्णन में सूफी प्रतीक-सामग्री के प्रयोग के कुछ उदाहरण देखिए—

(क) हाला में आने से पहले नाज दिखाएगा प्याला,
अधरों पर आने से पहले अदा दिखाएगी हाला,
बहुतेरे इन्कार करेंगे साकी होने से पहले,
पथिक, न घबरा जाना, पहले मान करेगी मधुशाला।[3]

(ख) छिल छिल कर छाले फोड़े मलमल कर मृदुल चरण से,
घुल घुल कर वह रह जाते आँसू करुणा के कण से।[4]

(ग) लहरों में प्यास भरी है, है भँवर पात्र भी खाली,
मानस का सब रस पीकर, लुढ़का दी तुमने प्याली,

(घ) पीने दे, पीने दे, औ यौवन मदिरा का प्याला,
मत याद दिलाना कल की, कल है कल आने वाला।
है आज उमंगों का युग, तेरी मादक मधुशाला।
पीने दे जी भर रूपसि अपने पराग की हाला।[6]

(ङ) प्रेम किया था उस चातक सा, बुझी न जिसकी प्यास,
अरे सुधा के उन प्यालों का है विचित्र इतिहास,
कि जो होंठों से लगते ही छलक जाते हैं हाय।[7]

---

१. रसवन्ती; पृ० १२। २. आँसू; पृ० ४३। ३. मधुशाला; छंद १३।
४. आँसू पृ० ११। ५. वही; पृ० २८। ६. मधुकण; पृ० ४२।
७. वही; पृ० ७८।

(च) अरुण कलियों से कोमल घाव, कभी खुल पड़ते है असहाय।[1]

(छ) देखता हूँ, जब उपवन पियालों में फूलों के,
प्रिये, भर भर अपना यौवन पिलाता है मधुकर को।[2]

(ज) तेरा अधर विचुम्बित प्याला, तेरी ही स्मित मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला, फिर पूछूँ क्या मेरे साकी।
देते हो मधुमय विषमय क्या।[3]

रेखांकित स्थलों में प्रेम के विरहोन्माद को हृदयंगम कराने के लिए ही प्रतीक-रूप में सूफी उपकरणों का व्यवहार किया गया है। पर यह सब हिन्दी कविता के लिए (जायसी आदि कवियों को छोड़कर) प्रायः नई वस्तु ही है।

६. विरह, प्रेमी को, अपने चरित्र की त्रुटियों को देखकर आत्म-निरीक्षण, आत्मशोधन, प्रायश्चित, पश्चाताप आदि का भी अवसर प्रदान करता है और इस प्रकार विरही के चरित्र में एक मौन परिष्कार चलता रहता है। चारित्रिक सुधार जितना स्नेह के द्वारा संभव है, उतना अन्य किसी भी प्रकार नहीं। इसीलिए कवि 'बच्चन' अपने प्रिय से यही चाहते है--

इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो।
पुकार कर दुलार लो, दुलार कर सुधार लो।[4]

विरह में, मन के सहज द्रवणशील होने के कारण, विरही के स्वार्थप्रियता अनुदारता आदि दोषों का भी शनैः शनैः उपशमन होता है, और इस प्रकार वह नये बल से प्रेम की उज्ज्वलता का अनुभव कर प्रिय के साथ पूर्ण एकरस होने का संकल्प-आयोजन आदि करता है। नारी प्रायः सहज विश्वासमयी होती है और पुरुष शासन-भावना से पूर्ण। शताब्दियों से पुरुष की चेतना इस आधिपत्य को अपना विशेषाधिकार समझती आयी है। पर नारी-जागरण के इस युग में प्रणय-व्यापार में पुरुष को इस दृष्टि से आत्मनिरीक्षण करना पड़ा। फलतः उसमें आत्म-शोधन व समर्पण की भावनाएँ आई। ये भावनाएँ विरह की स्थिति में ही अधिक सम्भव और अभिव्यक्त हुई, क्योंकि, ऐसे ही समय में मानव हृदय अपेक्षाकृत निर्मल या उदार होता है। आत्मनिरीक्षण व समर्पण की भावना से सम्बन्धित ये उद्गार उक्त आशय को स्पष्ट करेंगे--

भूल क्यों अपनी कही थी,
भूल क्या वह भी नहीं थी।

---

१. पल्लव; पृ० १२। २. वही; पृ० १४।
३. यामा; पृ० १४३। ४. सतरंगिनी; पृ० १४२।

अब सहो विश्वासघाती विश्व का उपहास !
जीवन भूल का इतिहास ![1]

किन्तु, कभी-कभी कवि का समर्पण उसके प्रतिकूल ही पड़ा क्योंकि जीवन में निर्मम और निष्ठुर व्यापार भी तो सदा से चलते ही आये हैं। कवि की यह व्यथा कितनी मार्मिक है—

मेरे पूजन आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कह कर, मेरा पूजित पाषाण हँसा—
तब रोक न पाया मैं आँसू ।[2]

और, कविवर रामकुमार वर्मा इस स्वर में गाते है—

यदि कोमल उर शैया पर तुम सो न सके यौवन में।
मैं अपना जीवन लाया हूँ तुम से आज मिलाने ।[3]

समर्पण की यह भावना कवि ने प्रकृति की भाषा में अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त की है—

ओस सदृश अवनी पर बिखरा कर यह यौवन सारा।
किसी किरण के हाथ समर्पित कर दूँ जीवन सारा।[4]

'प्रसाद' की 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा आत्मसमर्पण की भावना से परिपूर्ण है, किन्तु नायक मनु श्रद्धा नामक गुण के अभाव में आँधी में रूई के फाहे की तरह उड़ते फिरते हैं और अन्त में वे विश्वासमयी श्रद्धा को आत्मसमर्पण करके ही निश्चिन्त होते हैं—

कहाँ ले चली हो अब मुझ को, श्रद्धे, मैं थक चला अधिक हूँ,
साहस छूट गया है मेरा निस्संबल भग्नाश पथिक हूँ।
लौट चलो, इस वात-चक्र से मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा,
श्वास रुद्ध करने वाले इस शीत पवन से अड़ न सकूँगा।

× × ×

घबराओ मत, यह समतल है देखो तो, हम कहाँ आ गए,
मनु ने देखा आँख खोल कर जैसे कुछ कुछ त्राण पा गए।[5]

---

१. एकांत संगीत; पृ० १६२। २. वही; पृ० ५६।
३. चित्र-रेखा; पृ० ३०।
४. आधुनिक कवि : रामकुमार वर्मा (सम्मेलन संग्रह); पृ० ११२।
५. कामायनी; रहस्य सर्ग।

'श्रद्धा' की उपेक्षा या अनादर करने पर मनु इस आकाशवाणी से कम्पित हो उठते हैं और श्रद्धा के गौरव को मन ही मन समझने लगते हैं—

मनु, तुम श्रद्धा को गये भूल !
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल !
तुमने तो समझा असत विश्व जीवन धागे में रहा झूल !
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।[1]

इस प्रकार 'प्रसाद' ने प्रेम-मार्ग में पारस्परिक समर्पण तथा विश्वास का महत्त्व दर्शाया है।

और, भगवतीचरण वर्मा अपनी सम्पूर्ण अहंता को मिटा कर आज सब कुछ अपने प्रिय पर उत्सर्ग करने को आये हैं क्योंकि वे जानते है कि इस निःशेष आत्म-समर्पण के बिना जीवन की पूर्णता के अनुभव का कोई दूसरा मार्ग नहीं—

मैं आज मिटा आया हूँ सुध-बुध की सीमा सारी,
निज सब कुछ तुम को देकर बन आया आज भिखारी।[2]

श्री नरेंद्र शर्मा का समर्पण कितना स्वाभाविक और हृदय की सच्ची विकलता का सूचक है—

थक गया हूँ, चाहता हूँ लूँ कहीं विश्राम क्षण भर,
किंतु पैरों में गिरूँ किसके तुम्हें मैं छोड़ सुदर।[3]

और 'बच्चन' तो अपने को ही क्या, जहाँ से यह अस्तित्व रवाना होता है, उस सारे हृदय को ही अपने प्रिय को अर्पित करके निश्चिन्त हैं—

अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा।[4]

इस प्रकार हम छायावाद की विरह-मिलन की कविता में आत्मसमर्पण की नवीन प्रवृत्ति का दर्शन करते हैं, जो इसी युग की विशेषता है।

७. छायावाद में स्वच्छंदता की प्रवृत्ति से कवियों की कल्पना भी पूर्ण उन्मुक्त हो चली। प्राचीन कवियों की कल्पना प्रायः शास्त्र के विधि-निषेध की बंधी-बंधाई सीमा मे ही अपने पंख फड़फड़ाती रहती थी। पर, अब वह स्वर्ग व पृथ्वी के बीच निःशंक व उन्मुक्त उड़ानें भरने लगी। कल्पना इतनी अधिक व्योमविहारिणी हो चली कि कवि 'दिनकर' उसे पृथ्वी पर ही उतरने के लिए प्रार्थना करने लगे—

---

१. कामायनी; इड़ा सर्ग। २. प्रेमसंगीत; पृ० ४२।
३. प्रवासी के गीत; पृ० १४। ४. प्रणय पत्रिका; पृ० ३२।

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने—भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,
आ न सकते हम तुम्हारे पास तो, भूमि पर ही ला बसा अलका यहीं ।[१]

'प्रसाद,' पंत, महादेवी व 'निराला' आदि कवियों के विरह-वर्णन में बड़ी ही रमणीय व कोमल कल्पना के दर्शन होते हैं ।[२] कभी-कभी तो यह कल्पना इतनी सूक्ष्म व निर्बन्ध हो जाती है कि अनुभूति का उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाई पड़ता—जैसे, 'पंत' जी की 'बादल' व 'अप्सरा' आदि कविताओं में कल्पना काव्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है किन्तु, अनुभूति के अभाव में उसकी सारी क्रीड़ा एक राज-नर्तकी की, सी जान पड़ती है ।

संक्षेप में, आधुनिक कवियों की विरह-भावना की ये ही मुख्य विशेषताएँ है ।

भाव-व्यंजना :—अब हम प्राणवान् विरहानुभूति की उस सरस अभिव्यक्ति पर विचार करते हैं जो कवि-हृदय के तत्त्व और ओज का प्रकाश करती है और जिसमें अस्तित्व की सतरंगी प्रकाश-किरणें फूट पड़ती है। कवि की आत्मा का आलोक, उज्ज्वलता व दिव्यता का आभास हमें उसमें ही प्राप्त होता है और उसी के आधार पर हम कवि के आत्मोत्कर्ष को आँक सकने में समर्थ होते है । साहित्य, प्रेम की भावना से कितना महिमामंडित होता है, इसको निर्धारित करने के लिए भी यह अभिव्यक्ति हमें एक सुदृढ़ आधार प्रदान करती है । इस बात का यहाँ एक बार फिर स्मरण कराना कदाचित् अनुपयुक्त न होगा कि कुछ तो स्वच्छन्दता की अत्यधिक प्रवृत्ति से और कुछ काव्य-स्वरूप के मुक्तक होने के करण कवियों ने शृंगार रस के शास्त्रीय ढाँचे को ध्यान में रख कर भाव-व्यजना नहीं की है । वस्तुतः ये बंधनों से मुक्त विरही-हृदय कवियों के सहज व जीवन्त भाव-स्फोट है ।

'प्रसाद' ने विरह की ज्वाला में अपने प्रेम को तपा कर उज्ज्वल बनाया है । 'आँसू' उनकी एक बड़ी मार्मिक और छबीली रचना है । इसमें लौकिक आलम्बन के सहारे कवि ने अपने प्रेम को अलौकिक धरातल पर उठा दिया है । कवि की उक्तियों में उसके निर्मल प्रेम की भावना सजीव व मूर्तिवन्त हो उठी है । कवि का प्रेम कितना अनन्य है—

छलना थी, तब भी मेरा उसमें विश्वास घना था,
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था ।[३]

यदि प्रिय इस जन्म में न मिला तो अनन्त जीवनसमष्टि में कहीं न कहीं तो अवश्य मिलेगा, कहीं न कहीं तो अवश्य टकरायगा—

---

१ दिनकर : रेणुका ।

२. 'आँसू', 'लहर', 'ग्रंथि', 'यामा', 'दीपशिखा', 'परिमल' आदि छायावाद की कृतियाँ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

३. आँसू; पृष्ठ २४ ।

चमकूँगा धूल कणों में सौरभ हो उड़ जाऊँगा,
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो ग्रह पथ में टकराऊँगा।[१]

संसार चाहे पूर्ण अंधकारमय हो जाय, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बिजली आदि प्रकाश के सब आश्रय लुप्त हो जायें, किन्तु कवि को इसकी चिन्ता नहीं। उसके हृदय में तो स्वर्गीय शृंगार धारण किये हुए प्रेम की आलोकमयी कनक-शिखा, उसकी प्रेमिका, निरन्तर निवास कर रही है। फिर अन्धकार का क्या भय—

मणिदीप विश्व मन्दिर की पहने किरणों की माला।
तुम एक अकेली तब भी जलती हो मेरी ज्वाला।[२]

प्रेम ही जीवन का चैतन्य है, संगीत है, चहक और उल्लास है। उसके बिना जीवन जड़ और विषण्ण है। विरही कवि अपने प्रिय को निमन्त्रित करता है जिससे कि जीवन में मधुर भावनाओं का कोमल कलरव हो—

वह मेरे प्रेम विहँसते जागो, मेरे मधुबन में,
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में।
इस स्वप्नमयी संसृति के सच्चे जीवन तुम जागो,
मंगल किरणों से रंजित मेरे सुन्दरतम जागो।
अभिलाषा के मानस में सरसिज सी आँखे खोलो,
मधुपों से मधु गुजारो कलरव से फिर कुछ बोलो।[३]

प्रेम-पथ के आँसू निष्फल नहीं। उनमें जीवन की सरसता भरी रहती है। कवि की दृष्टि में सब कुछ उसी से हरा है—

आँसू वर्षा से सिंच कर दोनों ही कूल हरा हो।
उस शरद प्रसन्न नदी में जीवन द्रव अमल भरा हो।[४]

प्रेम जीवन की सब से बड़ी शक्ति है। वह जन्म-जन्म तक जीवित रहता है। वही जीवन का प्रभात है। जीवन का पाप और अन्धकार उसी से नष्ट होता है। जीवन में निर्मलता और पुण्य का आगमन भी उसी से होता है—

हे जन्म-जन्म के जीवन साथी संसृति के दुख में,
पावन प्रभात हो जावे जागो आलस में सुख में।
जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे।[५]

कवि का प्रेम परमोज्ज्वल है। कवि ने भौतिक प्रेम को अलौकिक महिमा से

---

१. आँसू; पृ० ४३। २. वही; पृ० ६०। ३. आँसू; पृ० ६४–६५।
४. आँसू; पृ० ७१। ५. आँसू; पृ० ७४।

मंडित कर उसे स्वर्गीय बना दिया है। उसमें आत्मा का प्रकाश-स्रोत फूट पडा हैं। 'प्रेम पथिक', 'लहर', 'कामायनी' में भी कवि ने विरह के माध्यम से इसी प्रकार प्रेम को उज्ज्वल व निर्मल बनाया है। 'कामायनी' में काम पर प्रेम की विजय दिखाकर कवि ने उसकी दिव्यता की ही घोषणा की है। 'लहर' की 'प्रलय की छाया' नामक कविता में भी वासना पर पवित्र प्रेम की विजय दिखाई गई है।

'ग्रंथि' व 'पल्लव' में कवि पंत की विरह-भावना अपने पूर्ण प्राण-प्रवेग से फूट पड़ी है। यही विरह कवि के हृदय को दिव्य व उज्ज्वल बना कर उसे जड़-चेतन-व्यापी कर देता है। विरह में कवि जब अपनी प्रिया का स्मरण करता है तो उसका सौदर्य शतगुणा बढ जाता है। स्मृति-क्षणों मे प्रिय के स्पर्श व शब्द भी कितने पावन व आनन्ददायी हो उठते हैं—

एक वीणा की मृदु झंकार, कहाँ है सुन्दरता का पार,
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि दिखाऊँ मैं साकार।
तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान।
अपरिचित चितवन में था प्रात, सुधामय साँसों में उपचार,
तुम्हारी छाया में आधार सुखद चेष्टाओं में आभार।[1]

विरह में कवि-हृदय इतना उदार हो जाता है कि वह, प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को अपने प्रिय से मिलते हुए देखकर, पूर्ण संतुष्ट होता है, चाहे वह स्वयं विरह की ज्वाला में दग्ध क्यों न हो रहा हो। यह कोरे काम का लक्षण न हो कर उच्च कोटि के प्रेम का सूचक है। विरही कवि प्रकृति के सब पदार्थों को कहता है—

शैवलिनि, जाओ, मिलो तुम सिन्धु से, अनिल, आलिंगन करो तुम गगन को।
चन्द्रिके, चूमो तरंगों के अधर, उड्गणों, गाओ, पवन वीणा बजा।
पर, हृदय, सब भाँति तू कंगाल है, उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी भग्न भावी को डुबा दे आँख सी।[2]

विरह में ही कवि-हृदय अपने प्रिय का अमर सौंदर्य देख पाता है। प्रिय चिर और अचिर दोनों से परे है, वह सुन्दरतम है—

तुम आए गए, जग का छल, तुम हो, तुम होगे, सत्य अटल,
रीता हो, भरे मेरा अंचल, तुम परे अचिर चिर से, सुन्दर।[3]

चिरविरहिणी महादेवी विरह में कैसी दिव्य व मधुर भावना का अनुभव करती हैं—

---

१. पल्लव; पृ० १८।   २. ग्रन्थि; पृ० ३१।
३. उत्तरा; पृ० १४०।

रोम रोम में नन्दन पुलकित, साँस-साँस मे जीवन शत शत,
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित, मुझ में नित बनते मिटते प्रिय,
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या।[१]

और, विरह की वह अनुभूति तो धन्य है जिसमें अमर-अलौकिक प्रिय की आराधना मे लीन रहने के कारण अपने अंग-प्रत्यंग में प्रकाश, गन्ध व संगीत की रहस्यमयी अनुभूति हो। यह अनुभूति दिव्य प्रेम का ही प्रसाद हो सकती है—

मैं नीर भरी दुख की बदली।
स्पन्दन में चिर निस्पंद बसा, क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों मे दीपक से जलते, पलको में निर्झरिणी मचली।
मेरा पग पग संगीत भरा, स्वासों से स्वप्न पराग झरा,
नभ के नव रँग बुनते दुकूल, छाया मे मलय बयार पली।[२]

और, 'निराला' के विरही-हृदय को उनका प्रिय, जीवन में आलोकमय मंगल-प्रभात जगाता हुआ सा जान पड़ता है—

उषा सी क्यों तुम कहो, द्विदल सुप्त पलकों पर कोमल हाथ
फेरती हो ईप्सित मंगल, जगा देती हो वही प्रभात।
वही सुख, वही भ्रमर गुंजार, वही मधुगलित पुष्प संसार।[३]

श्री रामकुमार वर्मा प्रिय के किरण के समान आगमन की कल्पना से ही पूर्णता व प्रफुल्लता का अनुभव करते हैं—

मत कहना मेरा जीवन है निर्जन सा एकान्त
यद्यपि रहता हूँ वियोग से मैं अस्थिर उद्भ्रान्त
अब निर्बल हो ओस विदु सा पड़ा रहूँगा श्रान्त
एक किरण सी आ जाना तुम मेरे उर मे शान्त
प्रिये, रहूँगा फिर भविष्य जीवन मे नही अकेला
इस जीवन का खेल बहुत मैं खेला।[४]

और श्री भगवतीचरण वर्मा विरह में प्रेम की प्यास का गंभीर अनुभव करते है। कवि के विरह के आँसू, समुद्र का उबला हुआ रूप है और निःश्वास सूखी हुई नदी का। कवि प्रिय-दर्शन को जीवन की सबसे बड़ा साध समझता है। उसकी प्रेम की प्यास कितनी प्रबल है, और उसकी तृप्ति कितनी असम्भव :—

इस ज्वाला में जलने का है अति विचित्र इतिहास।
उदधि उबल बन गया अश्रु कण, नदी सूख निःश्वास,

---

१. यामा; पृ० १४३। २. यामा; पृ० २२७।
३. अपरा; पृ० १२२। ४. रूपराशि; पृ० ३१।

प्रिय-दर्शन है साध हृदय की, प्रिय की छवि उल्लास,
प्रियतम तन, मन, धन, सखि प्रियतम जीवन मरण विकास।
तृप्ति असम्भव यहाँ, सदा है मृग-तृष्णा का त्रास,
बुझ न सकी है, बुझ न सकेगी, सजनि प्रेम की प्यास। [1]

कवि नरेन्द्र शर्मा के विरहोद्गार भी बड़े मार्मिक है। कवि का प्रेम इसी पृथ्वी तक, जीवन की इन्हीं सीमाओं में, रह कर कुम्हला जाने वाला या समाप्त होने वाला नहीं। कवि मृत्यु के बाद भी अपने इसी जन्म के प्रिय से मिलने का आकांक्षी है। देखिए—

जब विरह के युग बिता युग प्रेमियों के उर मिलेंगे
कौन जाने कल्प कितने बाहु बन्धन में बँधेगे।
कहेंगे दृग अधर हँस मिल अश्रुमय अपनी कहानी
एक हो शत कम्प उर के मौन हो कर सुनेंगे।
प्रलय होगी, सिंधु उमडेंगे हृदय में, चेत होगा फिर नई जब सृष्टि होगी,
मिल गए उस जन्म में संयोग वश यदि, क्या मुझे पहचान लोगी ? [2]

कवि को प्रेम पथ का एक दिव्य अनुभव हुआ है। उसने एक अनमोल रहस्य समझ लिया है कि प्रेम धारा में डूब कर ही कूल मिलता है। प्रेम एक अद्भुत मन्त्र मणि है जिससे संसार की भ्रान्ति, भय और चिन्ता आदि मिट जाते हैं—

मुंद गए दृग डूब तम में, किन्तु एक रहस्य जाना,
प्रेम पारावार में सम्भाव्य है, सखि, पार पाना।
प्रेम में तो डूबना ही पार जाना, सार है यह,
मिट गई भयभ्रान्ति चिन्ता, मन्त्र मणि अद्भुत मिली है।
आज मावस है विरह की यामिनी तम सिंधु सी है। [3]

'अंचल' में प्रेम की ज्वाला, तृष्णा व दाह का आधिक्य है। कवि प्रतिक्षण अशान्त है। उसका विरही हृदय अपने प्रिय को अपनी ज्वाला का उपशमन करने के लिए अनुनय करता है —

एकाकी अशान्त कातर हो भटक भटक कर घर में
कितने सकरुण गीत सुनाए दुख आकुल वासर में
कौन पसीजा हाय रो उठा मैं उद्भ्रान्त भिखारी
सन्ध्या सी विकसित पावन तुम देख पड़ी सुकुमारी

---

१. मधुकण; पृ० ४६।
२. प्रवासी के गीत; पृ० १६। ३. प्रभात फेरी; पृ० ८५।

तुमने ही तो मुझे बनाया ठुकरा चिर निर्वासी
तुम्हीं हरो मेरा यह पथ श्रम ज्वर आक्रान्त उदासी
जाग उठी यह कैसी ज्वाला, सुलग उठा हिय तापी
सान्ध्य दीपवेला में द्वारे कलप रहा यह पापी।[१]

'बच्चन' ने प्रेम पथ की शून्यता, अमर्ष, वेदना, निराशा, रुदन, विवशता, आह, अवसाद, जलन, क्षोभ, अशान्ति, तृषा, व ज्वाला को ही अधिक वाणी दी है। यों, कवि ने विरह और मिलन—दोनों की अनुभूतियों का आकण्ठ अनुभव किया है। वह मिलन के क्षणों में अपने को संसार का सबसे सुखी प्राणी समझता है, और विरह में सबसे अभागा। यही उसके प्रेम की सहजता, स्वाभाविकता, तथा मानवीयता है। कवि के उद्गारों में आश्चर्यजनक खरापन, सादगी, स्वच्छता, स्पष्टता, गम्भीरता और मधुरता है। उस का प्रेम शुद्ध मानवीय है। वह वासना से सहज स्वाभाविक मानवता की ओर यात्रा करने वाला पथिक है। सत्य-हृदयता कवि का सब से बड़ा गुण है। अपने प्रेम को कवि ने निश्छलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है। 'निशा निमन्त्रण,, 'आकुल अन्तर', 'विकल विश्व' आदि रचनाओं में कवि ने अपने विरही हृदय को खोल कर डाल दिया है। कवि का हृदय प्रेम की ज्वाला में तप-तप कर कितना उदार हो गया है—

प्यार मेरा फूल को भी,
प्यार मेरा शूल को भी,
फूल से मैं खुश, नही मैं शूल से नाराज,
बुलबुल गा रही है आज।[२]

प्रेमानुभूति के प्रभाव से जड़ मिट्टी तक के प्रति कवि का हृदय आज कितना सहानुभूतिशील हो गया है:—

वह किसे दोषी बताए,
और किसको दुःख सुनाए,
जब कि मिट्टी साथ मिट्टी के करे अन्याय,
मिट्टी दीन कितनी हाय।[३]

कवि को प्यार न मिला। इसीलिए वह प्रेम-वंचितों की पीड़ा को भली भाँति समझता है। मिलन के रस से मत्त व्यक्ति तो स्वार्थी हो जाता है, किन्तु विरही की सहानुभूति का स्रोत तो सबके लिए खुला रहता है। कवि प्रेम-वंचितों को अपना प्यार देने के लिए आज भुजा फैलाये खड़ा है:—

मिल न पाया प्यार जिनको, आज उनको प्यार मेरा।[४]

---

१. अपराजिता; पृ० ६९। २. एकान्त संगीत, पृ० ६६।
३. एकान्त संगीत, पृ० ६८। ४. निशा निमंत्रण।

हमने ऊपर छायावाद की विरह-भावना सम्बन्धी अभिव्यक्ति के कुछ चुने हुए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस अभिव्यक्ति मे केवल कामोद्गार मात्र ही नही है, प्रत्युत् उसमें कवियों के विरह-वेदना में तप कर चमकते हुए अस्तित्व के बहुमूल्य आत्मिक प्रकाश-कण भी उपलब्ध है। कवियों के विरह में केवल कामवासना की मांसल पुकार ही नहीं है, अपितु उस में चेतना का सरस संगीत भी है, प्राणवान् व स्फूर्तिमय भाव-स्फोट भी हैं, और उसमें परिष्कृत अस्तित्व के प्रकाशस्नात मर्मोच्छ्वास भी है। इन उक्तियों में कवियों की उच्चाशयता, निःस्वार्थता, उदारता व प्रेम-साधना की उच्चता से सम्बन्धित अन्य अनेक गुणों व विशेषताओं की बड़ी ही भव्य झलकें हमें देखने को मिलती हैं। वास्तव में छायावाद के विपुल विरह-वर्णन में जो यह अथवा इसके समकक्ष अभि-व्यक्ति है वही छायावाद की कविता के गौरव का अक्षय आधार है।

विकृत-प्रेम :—छायावाद के प्रेम पर उस के वासनात्मक होने का आरोप भी प्रायः लगाया जाता है। पर, इस सम्बन्ध में विशेष रूप से हमे जो कुछ भी कहना है उसके लिए इस ग्रंथ के 'भूमिका' भाग मे प्रस्तुत हमारा दृष्टिकोण ही मुख्य आधार है। मनोविज्ञान-शास्त्री प्रायः सब एक मत हैं कि काव्य या कलाओं में मानव वासनाओं का ही उदात्तीकरण या उन्नयन होता है। वास्तव में है भी यही बात। काव्य मानवीय वासनाओं से प्रेरित होता है, यह कोई उसका दुर्गुण नहीं है। [१] दुर्गुण तो उसके वहीं तक (वासनाओं तक) सीमित रह जाने में हैं। किन्तु जब कवि अपनी आत्मिक साधना से मानवीय वासना को परिष्कृत, उज्जवल व उदात्त बना कर उसे अपने आत्मप्रकाशन या आत्म-परिष्कार का साधन बना लेता है, तो उसका सारा विष झड़ जाता है। यों साधना-मार्ग के अत्यन्त सूक्ष्म विचारक तो इस उदात्तीकरण को या ईश्वरोन्मुख परिष्कृत रतिजन्य उच्च कोटि के वैष्णवीय भाव अथवा माधुर्य भाव तक को वासना का ही विकार मात्र समझते हैं। [२] पर काव्य

---

१. देखिए, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'करुणा' नामक लेख (चिंतामणि, भाग १); तथा जयशंकर 'प्रसाद' कृत 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' नामक पुस्तक में पृ० १३१।

२. "Sex can no longer be treated in this way. It can become at any moment a disturbing, upsetting and deforming force. I have observed that to an equal extent with ego (pride, vanity, ambition) and rajasic greeds and desires it is one of the main causes of the spiritual casualities that have taken place in sadhana. The attempt to treat it by detachment without complete excision breaks down; the attempt to sublimate it, favoured by many modern mystics in Europe, is a most rash and perilous experiment. For it is when one

या साहित्य तो सदा इसी मार्ग से चलता आया है। हाँ, लौकिक वासना से काव्य आरम्भ अवश्य होता है किन्तु उसका लक्ष्य पंकिल वासना ही नहीं, [१] उज्जवल या दिव्य रस ही है जो ब्रह्मानन्द-सहोदर है। रस में परिणत या रूपांतरित होकर वासना के समस्त विकार पूर्णतया लय हो जाते है और फिर आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होता है। [२] फिर, एक बात और भी है। अश्लीलता एक सापेक्षिक (relative) शब्द है। बालक या किशोर के लिए जो अश्लील है वह राग-रग के अधिकारी युवक-युवती के लिए सर्वथा श्लील है। अतः श्लीलता का मापदण्ड यही माना जा सकता है कि वह समान वृत्ति के सहृदय अथवा सुसंस्कृत समाज के सामने निःसंकोच रूप से प्रस्तुत किया जा सके। बस वहाँ अपने आप श्लील-अश्लील की सीमायें निर्धारित हो जाती हैं। फिर कभी-कभी काव्य में निम्न वासनाओं का चित्रण, पाठकों के मन पर उज्जवल वृत्तियों का प्रभाव डालने के उद्देश्य से, विरोध (Contrast) का कार्य साधने के लिए भी होता है। कवि अन्त मे निर्मल अथवा उदात्त प्रेम की प्रतिष्ठा करने के लिए इस पद्धति को सबसे आकर्षक व प्रभावशाली पाता है। कालिदास ने 'रघुवंश' के उन्नीसवें सर्ग में राजा अग्निवर्ण के तथा 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में मनु के विलास, अथवा 'लहर' में 'कमला' की रूप गर्व को वृत्ति को चित्रित कर अन्त मे विलास की पराजय ही दिखाई है। विलास का चित्रण अन्ततः प्रेम की पवित्रता को ही उभारता है। अतः ऐसे स्थलों पर कवि पर अश्लीलता या वासनात्मकता का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। हाँ कवि जहाँ प्रेम की आड़ में केवल अपनी हीन वासनाओं का प्रकाशन मात्र ही करता है, वहाँ अवश्य वह साहित्य के मर्म से अपरिचित होने का परिचय देता है, और साहित्य को दूषित करता है, उसे पतनोन्मुख करता है। यह ठीक है कि छायावाद में, रमणीय काव्य-शैली के

---

mixes up sex and spirituality that there is the greatest havoc. Even the attempt to sublimate it by turning it towards the Divine as in the Vaishnava Madhura Bhava carries in it a serious danger, as the results of a wrong turn or use in this method."

—Aurobindo Ghose : '*Bases of Yoga*', p. 98.

१. "Everything ideal has a natural basis, and everything natural has an ideal development." —George Santayana (Quoted from Will Durant's '*The Mansions of Philosophy*', p. 170)

"Let love be unashamed of its origins, and let desire be mortified if it does not mount to devotion." —Will Durant: '*The Mansions of Philosophy*' p. 170.

२. देखिये आचार्य मम्मट-कृत 'काव्य प्रकाश', चतुर्थ उल्लास, कारिका २६ की अभिनवगुप्त द्वारा 'लोचन टीका' में व्याख्या।

आवरण में, वासनात्मक उद्गारों को भी प्रश्रय मिला है।[१] वासना पर भी काव्य-शैली का मुलम्मा चढ़ा कर उसे अलौकिक बनाने का मिथ्याचार किया गया है। किन्तु फिर भी यह मानना होगा कि काव्य में तो मानवीय वासनाओं के परिष्कार का ही प्रयत्न रहता है और दुर्वासनाओं को उज्जवल व स्वस्थ मानवीय भावनाओं में परिवर्तित करने का बड़ा ही श्रेयस्कर आयोजन होता है। कवि मानवीय वासनाओं को कुशलतापूर्वक ग्रहण कर जीवन के मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन करता है, प्रेम की उज्ज्वलता निरूपित करने के लिए उनको पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करता है और उनको चरित्र-चित्रण में परिष्कृत व प्राञ्जल बनाता है। जहाँ-जहाँ यह वासना प्रोज्ज्वल होकर आत्म-चैतन्य को प्रकाशित करने का प्रभावशाली साधन बन जाती है, वहाँ-वहाँ काव्य निश्चित ही महिमान्वित हो उठता है। इस सम्बन्ध में विचार के लिए एक यही मार्ग दिखाई पड़ता है। इस प्रसंग में हम अधिक विस्तार में न जाकर आधुनिक हिन्दी काव्य के कतिपय विशिष्ठ स्थलो की ओर पाठकों का ध्यान आर्कापित कर उन पर, उपरोक्त विवेचन तथा इस ग्रन्थ के 'भूमिका' भाग में प्रस्तुत दृष्टिकोण के प्रकाश में, और अधिक विचार करने व किसी निर्णय पर पहुँचने की प्रार्थना करते है।[२]

उद्दीपन:—जिस प्रकार प्राचीन कविता की भाँति प्रकृति, काव्य में संयोग-वर्णन में उद्दीपन-रूप में ग्रहीत हुई, उसी प्रकार विरह में भी। यह प्रवृत्ति काव्य की सनातन प्रवृत्ति है; इसमें कोई विशेप नवीनता नहीं है। अतः इसके कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

(क) चातक की चकित पुकारें श्यामा ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।[३]

(ख) शीतल समीर आता है कर पावन परस तुम्हारा
मै सिहर उठा करता हूँ बरसा कर आँसू धारा।[४]

(ग) घूमता है सन्मुख वह रूप, सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र।
ढाल सा रखवाला शशि आज हो गया है हा, असि सा वक्र।
हुई मरु की मरिचिका आज मुझे गङ्गा की पावन धार।[५]

---

१. डॉ० देवराज : छायावाद का पतन, पृ० ६६।

२. निराला : 'परिमल' की 'जूही की कली' नामक कविता ; 'आँसू का 'परिरम्भ कुम्भ की मदिरा' आदि छन्द ; पंत की 'उत्तरा', पृ० ४६, ५३ व ७३ ; 'युगांत', पृ० ३३–३४; बच्चन, की 'मिलनयामिनी', पृ० ३४ व ३६; भगवतीचरण वर्मा का 'मधुकण', पृ० ७६, ७८, ७९ ; 'अंचल' की किरणवेला, पृ० ३८, ९४, ९५ व १२४ ; 'अपराजिता', पृ० ८१, ९८, ९९ ; 'अज्ञेय' का 'इत्यलम्' आदि।

३. आँसू; पृ० १३। ४. वही; पृ० ३६। ५. पल्लव; पृ० ९ व १०।

(घ) क्या था उस मादक लाली में, क्या उस मोहक हरियाली में,
जिससे छाती में तीर चुभे, जिससे अंतर में चाह जगी।
सहसा बिरवों में पात लगे, सहसा बिरही की आग जगी। [१]

उद्दीपन के इस रूप को हम रीतिकाल की प्रवृत्ति का अनुकरण नहीं कह सकते। विरह में प्रकृति को देखकर मानव-हृदय सदा उस का इसी रूप में अनुभव करता रहेगा। यह मनोविज्ञान का सत्य है जिसमें संशोधन की कोई गुंजायश नहीं। द्विवेदी काल में गुप्त जी ने विरह-वर्णन में प्रकृति के उद्दीपन-गत रूप के निरूपण में अवश्य एक नवीनता का सूत्रपात किया था, यह बात हम यथास्थान बता चुके हैं।

सात्विक-भावः—पुलक, अश्रु व रोमांच आदि सात्विक भाव विरह व मिलन दोनों ही स्थितियों में प्रकट होते हैं। ये भाव हृदय की सात्विक दशा या आत्मोत्कर्ष को सूचित करते हैं। मिलन में प्रायः इनकी अधिकता होती है। किन्तु, कवि या प्रेमी विरह में भी सात्विकतापूर्ण रोम-हर्ष का अनुभव करता है—

मधु संसृति की पुलकावलि जागो, अपने यौवन में
फिर से मरन्द उद्गम हो कोमल कुसुमों के वन में। [२]

× × ×

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है मुसक्याती खड़ी अमरता। [३]

अश्रु आत्मा का अनमोल रस-बिन्दु है, अतः कवि को स्पृहणीय है। अपने जीवन को हरा-भरा रखने के लिए कवि विरह में इस का आह्वान करता है। सुख का सारा रस निचोड़ कर बने इस आँसू का वह अपने जीवन में वर्षण चाहता है—

सब का निचोड़ लेकर सुख से सूखे तुम सुखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकण सा आँसू इस विश्व सदन में। [४]

प्रेम का मुख्य अथवा केन्द्रीय ढाँचा यही है। अलौकिक प्रेम-चित्रण में भी यही ढाँचा काम में लाया जाता है। लौकिक प्रेमानुभव करने वाला और रक्त-गति से धड़कने वाला हमारा यही रागविरागशील हृदय अलौकिक अथवा आध्यात्मिक प्रेम की अनुभूति में भी धड़कता है, किन्तु उसका विस्तार प्रेम की केवल प्रणय-क्षेत्र की अनुभूति तक ही सीमित नहीं है। हमारे हृदय का रतिभाव बहुत व्यापक है। नायक-नायिका के अतिरिक्त उसके और भी कई विशिष्ठ आलम्बन है, या हो सकते हैं। वे है : ईश्वर, देश, मानव, शिशु, गुरुजन या नेता, प्रकृति, व सूक्ष्म भावनाएँ तथा आदर्श आदि। अतः प्रेम के अन्य कई रूप और हैं, जिनकी ओर भी यहाँ कुछ

---

१. मिलनयामिनी; पृ० ८२। २. आँसू; पृ ६६।
३. वही; पृ० ६४। ४. वही पृ० ७९।

सकेत करना उचित होगा, जिससे कि छायावादी कविता के प्रेम-क्षेत्र की व्यापकता का दिग्दर्शन हो जाय।

(ङ) प्रेम के अन्य रूप

(1) **ईश्वर प्रेम या अलौकिक के प्रति प्रेम.**—ऊपर कहा ही जा चुका है है कि लौकिक प्रेम जैसे दो स्पष्ट, स्वतन्त्र वर्ग अब हिन्दी कविता में नहीं रहे। अरविंद, गाँधी, तिलक, रवीन्द्र आदि विचारकों के प्रभाव से भौतिक पदार्थों में भी ईश्वरता की भावना का समावेश हुआ। वस्तुतः यह भावना भारतीय दर्शन क्षेत्र की बहुत पुरानी भावना है।[1] छायावाद मे लौकिक की भी ऐसी विवृत्ति हुई कि वह अलौकिक होकर दमक उठा। हाँ, महादेवी ने अवश्य स्पष्टतः अपने प्रेम को अपेक्षाकृत उच्च अलौकिक धरातल पर ही बनाए रखा। किन्तु मूल में स्वभावतः उनका अलौकिक भी मानव हृदय की चिरपरिचित प्रणय-भावना पर ही आधारित रहा। उनका आलम्बन कल्पना में निवास करने वाला सूक्ष्म प्रियतम है। इस युग में ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति उस रूप में अब सम्भव नही थी, जिस रूप में तुलसी या सूर के सगुण ब्रह्म सम्बन्धी काव्य मे; क्योकि ईश्वरता के प्रति युग-धारणा अब यह हो चली कि वह मानव-जीवन में ही, हमारी भावनाओं, निष्ठाओं, आचार-विचारों और जीवन के सामान्य दैनिक व्यवहारों में ही, व्याप्त है। हाँ, एक अनादि शक्ति के रूप में ईश्वर की सूक्ष्म भावना सच्चे कवियो के हृदय को अवश्य तरगित व झंकृत करती रही, जैसा कि वह सब युगों में स्थूल साम्प्रदायिकता से परे रहने वाले सहज धर्म को मानने वालों को करती आई है।

'प्रसाद', पंत, निराला व महादेवी ने घट-घट में व्याप्त प्रभु का परम मधुरता के साथ स्मरण, स्तवन व वन्दन किया। 'प्रसाद' के आरम्भिक काव्य-संग्रहों (जैसे, 'चित्राधार' तथा 'कानन कुसुम' आदि) तथा नाटकों में ईश्वर के सगुण व निर्गुण इन दोनों रूपों पर अनेक गीत व कविताएँ उपलब्ध है। कवि पंत का हृदय भी आस्तिक का श्रद्धालु हृदय है। अतः उनके भक्ति-कंठ का इस प्रकार सहज ही फूट पड़ना स्वाभाविक ही है—

नीरव तार हृदय में,
गूँज रहे है मंजुल लय में, अनिल पुलक-से अरुणोदय में।
चरण कमल मे अर्पण कर मन, रज-रजित कर तन,
मधु रस मज्जित कर मम जीवन, चरणामृत आशय में।[2]

---

१. ओ३म् ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
—ईशावास्योपनिषद्, १।

२. आधुनिक कवि; सुमित्रानन्दन पंत (सम्मेलन संग्रह), पृ० ६।

कवि ने अपनी 'उत्तरा' में 'गगन', 'वेदना', 'स्तवन', 'अभिलाषा', 'विनय', 'आह्वान' व 'अवगाहन' आदि गीतों में अपनी ईश्वरपरक भावना बड़ी सुन्दरता से प्रकट की है।

कवि 'निराला' ने अपनी 'अर्चना' में अनेक भक्तिभावमूलक गीतो का संकलन किया है। 'दुरित दूर करो नाथ, अशरण हूँ गहो हाथ।' 'भवसागर से पार करो हे', 'तिमिरदारण मिहिर दरसो', 'दो सदा सत संग मुझको', 'आँख बचाते हो', 'मानव का मन शांत करो हे', 'तरणि तार दो' आदि गीत अत्यन्त भावपूर्ण हैं। इनमें हिन्दी के भक्त कवियों का सा दैन्य, सारल्य, आस्तिक्य-भाव व विनय प्रकट हुआ है। रहस्यवादी व बौद्धिक 'निराला' इन गीतों मे शुद्धाचरण-प्रिय व निश्चल-हृदय भक्त-कवि के रूप में प्रकट हुए हैं। परमिल की 'तुम और मैं' नामक कविता में जिस कवि ने दार्शनिकता के बल पर रहस्यमयी निर्गुण सत्ता का गान किया है, उसका स्वर उक्त गीतों मे सगुण भक्ति के रस से विशेष रूप से आर्द्र और सुकोमल हो गया है।

महादेवी जी पूजा-अर्चन के विधान से ऊपर उठ कर प्रभु की सूक्ष्म भावना में उन्मत्त होकर गाती हैं। इस गीत में मानो उनके रोम-रोम की झंकृति सुनाई पड़ती है—

> क्या पूजा क्या अर्चन रे !
> उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे !
> मेरी स्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
> पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जलकण रे !
> अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !
> स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे !
> मेरे दृग में तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
> धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिफल मेरे स्पंदन रे !
> प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे ! [1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद में परम्परागत वैष्णवी भक्तिभावना भी पर्याप्त सुन्दर रूप से अभिव्यक्त हुई है। निर्गुण भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत', महादेवी, उदयशंकर भट्ट, 'नवीन' आदि कवियों के काव्य में हुई है, जो बड़ी स्फूर्तिमयी, रसपूर्ण और जीवंत है।

(ii) **देश प्रेमः**—देश प्रेम के उद्‌गार भी नवीन शैली-सज्जा के साथ व्यक्त हुए। इस क्षेत्र में 'प्रसाद', 'निराला' 'पंत', 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, श्याम

---

१. आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा (सम्मेलन संग्रह), पृ० ७३।

नारायण पाडेय आदि कवि स्मरणीय है। प्रसाद के 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' नामक गीत में देश-प्रेम की रसीली भावना अपने उत्कृष्ट रूप को प्राप्त हुई दिखाई पड़ती है। 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' नामक कविता में भी कवि का हृदय देश-प्रेम से फूट पड़ा है। इसके अतिरिक्त 'पेशोला की प्रतिध्वनि' तथा 'शेरसिह का शस्त्र समर्पण' (लहर) आदि कविताएँ, तथा नाटकों में प्राप्त कुछ राष्ट्रीय गीत भी इस दृष्टि से बहुत ओजस्विनी रचनाएँ है। 'निराला' जी की 'जागो फिर एक बार' तथा ऐसी ही अन्य कविताएँ रग-रग में जीवन दहका देने वाली है। देश के दुःख-दैन्य का चित्रण करने वाला पंत का गीत 'भारतमाता ग्राम-वासिनी' तथा देश-दशा सम्बन्धी अन्य कविताएँ भी बहुत मर्मस्पर्शी है। 'दिनकर' की 'हिमालय' शीर्षकिनी कविता भी इस दृष्टि से एक अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचना है। अन्य अनेक कवियों ने भी देश-प्रेम के मार्मिक उद्गार व्यक्त किए है। यह देश-प्रेम या राष्ट्रीयता संकीण या साम्प्रदायिक न होकर उदार भावना से समन्वित है। छायावाद युग की कविता में देश-प्रेम दो प्रकार का व्यक्त हुआ—(१) आदर्श-वादी, तथा (२)यथार्थवादी। भारत के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव व प्राकृतिक ऐश्वर्य को लेकर प्रसाद ने जो देश-प्रेम के गीत लिखे वे आदर्शात्मक हैं। यद्यपि देश (जिस समय ये रचनाएँ हुई) बाहरी दृष्टि से दुर्दशाग्रस्त है, किन्तु फिर भी कवि ने गद्गद् होकर भारत के प्राचीन आदर्श रूप का वर्णन किया है। देश की सौदर्य-माधुरी से मत्त कवि का कोकिल कंठ उल्लसित होकर फूट पड़ा है—

> अरुण यह मधुमय देश हमारा।
> जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा। अरुण०
> सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
> छिटका जीवन हरियाली पर, मंगल कुंकुम सारा। अरुण०
> लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे
> उड़ते खग जिस ओर मुँह किए समझ नीड़ निज प्यारा। अरुण०
> हेम कुम्भ ले उषा सवेरे भरती ढुलकाती सुख मेरे
> मदिर ऊँघते जब रहते जग कर रजनी भर तारा। अरुण०[1]

पंत जी ने भारत की माता के रूप मे यथार्थवादी कल्पना की है। भारत गाँवों में बसता है। उन गाँवों की दशा कितनी दयनीय है! उसी दयनीयता को मूर्तिमान करने के लिए कवि ने भारतमाता का यह युगानुरूप करुण चित्र अंकित किया है—

---

१. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य; द्वितीय अंक, (कार्नेलिया का गीत)।

भारत माता ग्रामवासिनी ।
खेतों में फैला है श्यामल, धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल, मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी !
दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन, अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग-युग में तम से विषण्ण मन, वह अपने घर मे प्रवासिनी ।
तीस कोटि संतान नग्न तन, अर्ध क्षुधित, शोपित, निरस्त्र जन,
मूढ, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नत मस्तक तरु तल निवासिनी ।[१]

भारत की दशा का कितना करुण, यथार्थ और सुन्दर चित्र है !

छायावाद काल मे देश-प्रेम की भावना द्विवेदी कालीन भावना से अधिक सूक्ष्म दिखाई पड़ती है । द्विवेदी काल में जहाँ वह जाति, समाज और देश तक सीमित है (उस युग के लिए यह स्वाभाविक ही था), वहाँ छायावाद-काल में वह अधिक अन्तर्राष्ट्रीय तथा विश्वभावनामयी दिखाई पड़ रही है । सीमित राष्ट्रीयता से व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा मानवता की ओर बढ़ने की उदार भावना से, छायावादी राष्ट्रीयता गंभीर और मृदुल हो गई है ।

(iii) **मानव-प्रेम** :—मानव-प्रेम, विश्व-प्रेम अथवा ईश्वर-प्रेम का ही पर्याय कहा जा सकता है । इस युग ने काल्पनिक ईश्वर की सेवा की अपेक्षा व्यक्त मानव की सेवा और उसके प्रति प्रेम को ही सर्वोच्च स्थान दिया । यही भावना हिन्दी कविता में प्रकट हुई । नर में नारायणत्व की भावना भारत की बड़ी पुरानी भावना है । भारतीय संस्कृति का यह विशेष गुण है । 'बच्चन' ने इस युग में मानव की महानता यों प्रकट की है—

विराग मग्न हो कि राग रत रहे, विलीन कल्पना कि सत्य में दहे,
धुरीण पुण्य हो कि पाप में बहे, मुझे मनुष्य सब जगह महान है ।[२]

मनुष्यता नगरों में ही निवास नही करती । खरी मानवता दीन, हीन व असहाय के पास मिलती है । सच्चा सहृदय कवि इसीलिए दीनों के प्रति अपनेपन की दृष्टि और सहानुभूति की भावना से युक्त होता है । 'पंत' ने समाज के पतितों को भी मानवी मृदुलता के साथ देखा है —

नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले, पर फुर्तीले ।
दौड़ पार आँगन के फिर हो जाते ओझल,
वे नाटे छः सात साल के लड़के मांसल ।

---

१. पंत; ग्राम्या । २. मिलनयामिनी; पृ० २२७ ।

सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन ।[1]

मानवीय ममत्व तथा सहानुभूति की यह भावना कवि की 'ग्राम्या' की अनेक कविताओं मे प्रकट हुई है । 'युगान्त' की 'ताज' नामक कविता कवि के मानव-प्रेम को दर्शाने वाली एक सुन्दर कविता है ।

'निराला' का मानव-प्रेम बहुत मार्मिक है । 'तोड़ती पत्थर' नाम की उनकी एक युगान्तरकारी रचना है, जिसमे दलित और श्रमिक के प्रति सच्ची सहानुभूति व्यक्त हुई है । 'भिक्षुक' नामक कविता में भी कवि ने दलितो के प्रति अपनी सहज सहानुभूति का परिचय दिया है ।[3] भारत की दलित विधवा के प्रति उसके ये उद्गार कितने मार्मिक है—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर कालतांडव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की विधवा है ।[4]

भारतीय सस्कृति मानव-प्रेम व विश्व-मैत्री की नींव पर खड़ी है, अतः यह तत्त्व भारतीय काव्य के लिए कोई नई वस्तु नहीं । किन्तु, शताब्दियों तक क्षुद्र साम्प्रदायिकता की विभीषिकाएँ भारत देख चुका है । नव मानववाद की प्रेरणा से शुद्ध मानवीय दृष्टिकोण का प्रभाव भी इस समय कविता पर पड़ा । द्विवेदी-काल में ईश्वर दीन मानव में ढूँढा गया, यह यथास्थान बताया जा चुका है ।

(iv) **वात्सल्य-प्रेम**—वात्सल्य-प्रेम भी हमारे हृदय के समस्त प्रेम-वृत्त का एक महत्त्वपूर्ण अंश घेरे हुए है । हृदय का विकास या पूर्णता इस प्रेम के बिना भी अधूरी है । अतः प्रेम-काव्य मे इसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । वस्तुतः सूर व तुलसी के बाद वात्सल्य रस की व्यंजना नहीं के बराबर ही हुई । किन्तु, इधर छायावादी कवियों का कुछ ध्यान प्रेम के इस कोमल रूप की ओर पुनः आकृष्ट हुआ । श्री गोपालशरण सिंह, 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, डॉ० देवराज, 'पंत', पं० उदयशंकर भट्ट व 'प्रसाद' आदि कवियों ने वात्सल्य-भावना के सुन्दर उद्गार व्यक्त किए हैं । नमूने के लिए 'प्रसाद' की 'कामायनी' के श्रद्धा-कुमार के संवाद से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

---

१. आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पंत (सम्मेलन संग्रह), पृ० ७८ ।
२. निराला; 'अनामिका' । ३. निराला; 'परिमल' ।
४. 'परिमल' की 'विधवा' शीर्षकिनी कविता ।

माँ, फिर एक किलक दूरागत गूंज उठी कुटिया सूनी ।
माँ, उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी ।
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गई ।

× × ×

मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही ,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर बोलूँगा मैं आज नहीं ।
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली ।
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही ।[१]

पर, तुलसी-सूर जैसी व्यापकता-गम्भीरता यहाँ कहाँ! 'प्रिय-प्रवास' की तरह, प्रबन्ध-काव्य की व्यापक भूमिका पर लाकर, वात्सल्य रस की व्यंजना का भी इस युग में कोई प्रयास नहीं हुआ । केवल मुक्तक गीतों में ही वात्सल्य की व्यंजना दिखाई पड़ी । डॉ० देवराज ने शिशु पर कुछ मुक्तकों की रचना की है जो अवश्य महत्त्वपूर्ण तथा सुन्दर है ।[२] इस युग की वात्सल्य की कविताओं में दार्शनिकता और रहस्य का भी हल्का-गाढा पुट प्रायः दिखाई पड़ेगा ।

(v) **श्रद्धा-प्रेम** :—महापुरुषों, गुरुजनों, नेताओ व अन्य पूज्य व्यक्तियों के प्रति समाज सदा से अपना प्रेम श्रद्धा-रूप में प्रकट करता जा रहा है । यह भी प्रेम का एक बहुत परिष्कृत रूप है जो हमारे हृदय के रति भाव की परिधि के अन्तर्गत है । इस प्रेम की अभिव्यक्ति से कवियों के हृदय की पूर्णता व प्रसार का पता चलता है । छायावाद के कवियों ने भी पूज्य या श्रद्धेय व्यक्तियों के प्रति अपने प्रेम को वाणी दी है । पंत जी ने गाँधी, अरविंद, जवाहर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिली-शरण गुप्त आदि सांस्कृतिक-साहित्यिक महापुरुषों के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं । 'लहर' में 'प्रसाद' ने भगवान बुद्ध के प्रति और इसी प्रकार 'निराला' ने स्वामी विवेकानन्द आदि के प्रति अपने पुनीत प्रेम-भाव व्यक्त किये हैं ।

(vi) **प्रकृति-प्रेम** :—वास्तव में प्रकृति का छायावाद में अत्यधिक महत्त्व है । अधिकारी विद्वानों के मतानुसार छायावाद वस्तुतः प्रकृति से ही सार्थक हुआ है ।[३]

---

१. 'कामायनी'; स्वप्न सर्ग । २. 'जीवन रश्मि'; पृ० ३८ से ५१ तक ।

३. "हृदय की कुतूहलता को शांत करने वाली, हृदय की भावनाओं को सुख देने वाली अनेक वस्तुओं और उनके काल्पनिक स्वरूपों की सृष्टि प्रकृति के गम्भीर विस्तार ही में होती है ।···प्रकृति का क्षेत्र ही इन कवियों की कविता का क्षेत्र है । ऐसी स्थिति में इस कविता को यदि छायावाद के बजाय प्रकृतिवाद कहें तो अधिक युक्ति-संगत होगा । अनंत के सम्मिलन की आकांक्षा और अन्तिम संयोग के पहले कवि को प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का अन्वेषण करना पड़ता है । उसे पहले प्रकृति

प्रकृति में अपने प्रिय की छाया देखना छायावाद है व विश्वात्मा का प्रतिबिम्ब देखना रहस्यवाद दोनों के लिए प्रकृति ही महत्त्वपूर्ण माध्यम है। अतः हिन्दी की छायावादी-रहस्यवादी कविता में प्रकृति का विपुल ग्रहण हुआ है। हाँ, यह बात दूसरी है कि अन्य समृद्ध साहित्यों (संस्कृत, अंग्रेजी आदि) की तुलना में प्रकृति-प्रेम की दृष्टि से हिन्दी-कविता कदाचित् उतनी प्राण-प्रवेगमय नहीं।[1]

यों तो काव्य में प्रकृति के जितने भी प्रयोग होते हैं (आलम्बन, उद्दीपन, रहस्य भावना की अभिव्यक्ति, अलंकार, प्रतीक, उपदेश, मानवीकरण, पृष्ठभूमि व वातावरण-निर्माण आदि रूपों में) उन सब में, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, कवि का प्रकृति के प्रति न्यूनाधिक मौलिक प्रेम झलकता है, किन्तु उन सब रूपों के उपजीव्य-स्वरूप आलम्बन रूप में ही वह सब से अधिक प्रस्फुटित होता है।[2] आलम्बन की चर्चा अभी हम कुछ स्थगित रखते हैं। उद्दीपन रूप में प्रकृति मानव के प्रेम के प्रसंग में, अर्थात् मानव-सापेक्ष रूप में ही ग्रहीत होती है, अतः उसका महत्त्व गौण होता है। उसके प्रति कवि या पात्र की कोई स्वतन्त्र प्रेम-दृष्टि नही दिखाई पड़ती। रहस्य भावना के प्रकाशन में अनुराग अलौकिक सत्ता के प्रति होता है; प्रकृति तो केवल माध्यम या निमित्त मात्र ही होती है। 'कामायनी' में प्रकृति के माध्यम से रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति बहुत रमणीय रूप में हुई है। यथा—

> महा नील इस परम व्योम में, अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
> ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान?
> छिप जाते है और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए,
> तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए?
> सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ?
> सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?
> हे अनन्त रमणीय कौन तुम यह मै कैसे कह सकता!
> कैसे हो, क्या हो, इसका तो भार विचार न सह सकता![3]

अलंकार-रूप में भी कवि का प्रकृति-प्रेम झलकता है, किन्तु परोक्ष रूप से। अप्रस्तुत अथवा उपमान-पक्ष के लिए जो पदार्थ व्यापार या दृश्य-खण्ड आते हैं, उनका

का मर्म जानना पड़ता है और प्रकृति का ज्ञान आत्मा के ज्ञान के पहले होना चाहिए।"—श्री रामकुमार वर्मा, 'अंजलि' की भूमिका, पृ० १७।

१. डॉ० देवराज: 'छायावाद का पतन'; पृ० १२१।

२. विशेष विस्तार के लिए देखिए, हमारा इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ—'कविता में प्रकृति चित्रण'; प्रकरण ४।

३. 'कामायनी'; आशा सर्ग।

चयन कवि के प्रकृति के प्रति अनुराग अथवा सूक्ष्म निरीक्षण को ही सूचित करता है। उदाहरणार्थ—

क. मकरन्द मेघ माला सी, वह स्मृति मदमाती आती। (आँसू)

ख. ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली। (कामायनी)

ग. मेमनों से मेघों के बाल, फुदकते थे प्रमुदित गिरि पर। (पल्लव)

घ. मैं नीर भरी दुख की बदली। (यामा)

ङ. प्रिय, सांध्य गगन, मेरा जीवन। (महादेवी)

च. मुख कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के,
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब उन कानों में दुख किनके। (आँसू)

छ. दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज, सरल उपकृति का सजल मानस प्रिये,
क्षीण करुणालोक का भी लोक को है वृहत् प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा।
(ग्रंथि)

रेखांकित स्थलों में जो उपमान प्रयुक्त हैं, उनमें कवि का अनुराग मूलक प्रकृति-निरीक्षण निहित है। जो उपमान आये है वे केवल रूढ़ नही है; इनके द्वारा कवियों के प्रशंसनीय मौलिक निरीक्षण का पता चलता है।

यही बात प्रतीकों के सम्बन्ध में है। प्रतीक रूप में चन्द्र, उषा, कमल, मीन, लहर, भ्रमर आदि प्रकृति पदार्थों का जो प्रयोग होता है, उनमें पदार्थों के प्रति कवि का स्वतः कोई विशिष्ठ प्रेम न हो कर, उन्हीं तथ्यों या भावनाओं के प्रति अनुराग सूचित होता है जिनका प्रतीकत्व उक्त पदार्थ वहन करते हैं। प्रतीक-विधान में प्रकृति के पदार्थों का उल्लेख तो निमित्त-मात्र होता है। पंत जी ने अपनी 'उत्तरा' में मिट्टी, मुकुल, स्वप्न, शिखर, पुलिन, अम्बर, ज्वाल, शोणित, पावक, तम, भ, ज्वार, हरियाली, छाया, जलज, विद्युत् आदि प्रकृति के पदार्थों में बहुत शक्तिशाली प्रतीकत्व का विधान किया है।

प्रकृति के द्वारा उपदेश या किसी नैतिक तथ्य की अभिव्यक्ति के रूप में, प्रकृति के किसी दृश्य या परिस्थिति के द्वारा व्यंजित किसी नैतिक या आध्यात्मिक तथ्य पर ही कवि की दृष्टि अधिक रहती है। यथा—

हँसमुख प्रसून सिखलाते पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से जग का आँगन भर जाओ।
उठ-उठ लहरें कहतीं यह हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह नित आगे बढ़ती जावें।[१]

---

१. गुंजन; पृ० २३।

अथवा, प्रकृति के द्वारा जगत्-जीवन सम्बन्धी एक शाश्वत तथ्य की अभिव्यक्ति का यह एक दूसरा उदाहरण और लीजिये—

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।[1]

मानवीकरण में अवश्य कवि का प्रेम झलकता है। मानवीकरण उन्हीं पदार्थों का होता है जिनके प्रति कवि या पात्र का रागात्मक सम्बन्ध हो या वह उनके साथ आत्मीयतामूलक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता हो। इस सम्बन्ध-स्थापना के प्रयत्न मे प्रेम या रागात्मकता निहित ही है, यथा—

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है,
वह संध्या सुन्दरी परी सी, धीरे धीरे धीरे।[2]

कवि ने दत्तचित्त हो कर सध्या के सौदर्य को देखा है और उसके रूप के प्रति प्रेमानुभव किया है, अन्यथा यह मानवीकरण सम्भव ही न होता।

पृष्ठभूमि व वातावरण-निर्माण के लिए प्रकृति के दृश्य अथवा उनके कुछ अंश संश्लिष्ट रूप में अंकित किय जाते है। पृष्ठभूमि का चित्रण प्रस्तुत प्रसंग से कोई गहरा सम्बन्ध नही रखता। जिस प्रकार कमीज का कॉलर और फोटो की फ्रेम, कमीज तथा फोटो की शोभा के वर्द्धन में सहायक होती है (उनके न होने पर भी कमीज और फोटो की उपयोगिता को कोई बहुत गहरी हानि नहीं होती), उसी प्रकार प्रकृति भी काव्य-वर्णित परिस्थिति की शोभा बढा देती है। प्रकृति इसमें विशेप सक्रिय नहीं होती। हाँ, निष्क्रिय रह कर ही वह प्रकृति और मानव-जगत् के साम्य-वैपम्य को (कि प्रकृति में तो कितनी सुख-स्वातन्त्र्य है और मानव कितना अशांत और दुःखी है, आदि) व्यंजित या स्पष्ट करती रहती है। पृष्ठभूमि के रूप में अंकित चित्र भी कवि की वैसी तन्मयता की अपेक्षा रखते हैं जैसी आलम्बन-गत चित्रण के लिए आवश्यक होती है। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का चित्रण मानव-जगत् के क्रिया-कलापों और प्रकृति-जगत् के सुख-सौदर्य के बीच साम्य और वैषम्य (प्राय: वैषम्य ही) बताने के लिए किया जाता है, किन्तु प्राकृतिक 'वातावरण' का चित्रण काव्य के पात्रों पर कोई विशेष चारित्रिक प्रभाव (शांति, प्रसन्नता, संतोष, दया, उदारता आदि कोई भावना) डालने के उद्देश्य से किया जाता है। यही दोनों

---

१. गुंजन; पृ० ९६।
२. 'निराला'; 'परिमल' की 'संध्या' नामक कविता।

मे विशिष्ठ अन्तर है। दोनों का प्रयोग सामान्यतः प्रबन्ध-काव्यों में ही होता है। दोंनो के ये उदाहरण है—

पृष्ठभूमि

वह चन्द्र-हीन थी एक रात, जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात;
उजले उजले तारक झलमल, प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल,
धारा बह जाती बिम्ब अटल, खुलता था धीरे पवन पटल;
चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत, सुनती जैसे कुछ निजी बात।[1]

वातावरण

उषा सुनहले तीर बरसाती, जय-लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी, जल में अंतर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से,
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में शरद-विकास नये सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।[2]

ऊपर पृष्ठभूमि के उदाहरण में प्रकृति मानव जगत् की गतिविधि से स्वतन्त्र हुई निरूपित की गई है, और 'वातावरण' के उदाहरण में प्रकृति निराश मनु के मन पर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में सहायक-होती चित्रित की गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रकृति के अनेक प्रयोगों में न्यूनाधिक रूप से कवि का प्रकृति-प्रेम झलकता है, किन्तु केवल आलम्बन-गत रूप में किए गए प्रकृति-चित्रण में ही यह प्रेम सबसे अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट होता है।

प्रकृति के आलम्बन-गत चित्रण में किसी पदार्थ, दृश्य या व्यापार का काव्य में दो रूपों में प्रयोग पाया जाता है—(१) दृश्य-चित्रण व (२) भाव-व्यंजना।

सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण मे, प्रकृति का उसकी समग्र परिस्थिति के साथ भरा-पूरा चित्रण करता है। इसकी विवेचना का प्रकृत क्षेत्र सौदर्य-विवेचन का प्रकरण है, अतः इसका विचार आगे चलकर होगा। प्राकृतिक पदार्थ ही भाव-व्यंजना के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। छायावाद में वस्तु-चित्रण व भाव-व्यंजना दोनों ही पर्याप्त रूप में पाये जाते हैं। दृश्य-चित्रण में कवि प्रायः तटस्थ होकर चित्रकार की-सी दृष्टि से अपना तूलिका-कौशल प्रदर्शित करता है।[3] किन्तु कवि को इतने से ही तो संतोष

---

१. साकेत; अष्टम सर्ग। २. कामायनी; दर्शन सर्ग।

३. कामायनी; आशा सर्ग।

३. इस संबंध में सैद्धान्तिक विवेचना के लिए विशेष देखिए हमारा ग्रंथ—'कविता में प्रकृति चित्रण', द्वितीय प्रकरण।

नहीं हो पाता और न होना ही चाहिये।[1] वह प्रस्तुत दृश्य के प्रति अथवा उससे प्रेरित जगत्-जीवन के मूलस्वरूप अथवा मानव-हृदय के हर्ष-विषाद अथवा अपने निजी-चिन्ता-क्षोभ या मुक्त उल्लास की भरपूर व अबाध व्यंजना करके ही पूर्णतः संतुष्ट हो सकता है।

छायावाद के कवियों का प्रकृति-प्रेम, हिंदी-कविता की पिछली गति-विधि को देखते हुए, पर्याप्त संतोषजनक कहा जा सकता है। वस्तुतः प्रकृति, छायावादी युग में, अपने साधारण-असाधारण सभी रूपों, तथा गतिविधियों में, कवियों के भाव-स्पंदन से स्पंदित तथा उनके उच्छ्वास से उच्छ्वसित हो उठी। वास्तव में प्रकृति के प्रति ऐसा शुद्ध, स्वतंत्र व गंभीर प्रेम हिंदी-काव्य में पहले कभी देखने को न मिला। पंत को तो प्रकृति मानव से भी अधिक प्रिय हुई—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन,
भूल अभी से इस जग को।
तज कर तरल तरंगों को, इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू भंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन।
भूल अभी से इस जग को।[2]

प्रकृति के एक अत्यन्त विशिष्ठ रूप—समुद्र को देख कर आज का भावुक कवि भावोल्लास से तरलित होकर रहस्यमय प्रेम और आनन्द के उस चिर चेतनामय सुदूर आंतर लोक में पहुँच जाने को विकल है जहाँ संगीतमयी लहरों की ध्वनि में निश्छल प्रेम-कथा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुनाई पड़ता। प्रकृति ही यहाँ इस ललक की माध्यम बनी है। प्रकृति के प्रति मूल आकर्षण ही इस भावना का प्रेरक है —

ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे!
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी,
निश्छल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।[3]

महीन चित्रों की चितेरी श्री महादेवी वर्मा ने प्रकृति में, आत्मा के नाते,

---

१. "If you ask me to draw some particular tree, and I am no artist, I try to copy every detail, lest I should otherwise lose the peculiarity of the tree, forgetting that the peculiarity is not the personality. But when the true artist comes, he overlooks all details and gets into the essential characterization."—Tagore: '*Personality*' (1948), p. 23.

२. पल्लव; पृ० ३१।   ३. लहर; पृ० १४।

उसी अनन्त चेतन की सत्ता-स्फूर्ति का मर्मानुभव किया है।[1]

महादेवी ने प्रकृति को आलम्बन के रूप में उतना ग्रहण नहीं किया जितना उद्दीपन तथा अलौकिक प्रेम के निरूपण के माध्यम के रूप में। तारे भी चमकते हैं तो वे अलौकिक प्रिय के आगमन का ही संकेत करते हैं ; उनकी अपनी निज की शोभा का कोई महत्त्व नहीं—

मुसकाता संकेत भरा नभ, अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?[2]

'दिनकर' ने कलिका, दूब, किशलय, और बाँस की हरियाली जैसी सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति भी जो अपना अनमोल प्यार न्यौछावर किया है, वह बड़ा मर्मस्पर्शी है—

कलिके, मैं चाहता तुझे उतना जितना यह भ्रमर नहीं।
अरी तटी की दूब, मधुर तू उतनी, जितना अधर नहीं।
किशलय, तू भी मधुर, चन्द्रवदनी निशि तू मीठी रानी।
दुख है इस आनन्द-कुञ्ज में मैं ही केवल अमर नहीं।[3]

× × × ×

फूलों की क्या बात, बाँस की हरियाली पर मरता हूँ,
अरी दूब, तेरे रहते जगती का आदर करता हूँ।[4]

नन्दन के पारिजात के प्रति तो कविजन लुब्ध रहे ही हैं, किन्तु बाँस की हरियाली और दूब पर मरने वाले अनूठे प्रकृति-पेमी कवि की अनमोल भावना पर हम भी दिलोजान से फ़िदा हुए बिना नहीं रहेंगे।

श्री गुरुभक्तसिंह का 'नूरजहाँ' नामक प्रबन्ध काव्य भी प्रकृति प्रेम तथा प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। कवि ने उसमें अपने प्रकृति-प्रेम का सुन्दर परिचय दिया है। एक उदाहरण लीजिए—

इन घासों के मैदानों में, इन हरे भरे मखतूलों पर।
इन गिरि शिखरों के अंकों में, इन सरिताओं के कूलों पर॥
जो रहा चाटता ओस रात भर प्यासा ही था घूम रहा।
वह मारुत पुष्पों का प्याला खाली कर कर है झूम रहा॥
पर्वत के चरणों में लिपटी वह हरी-भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर-झर है फूलों ही से जो पाटी है,

---

१. "जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसे तारतम्य को खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक एक अंश एक अलौकिक व्यक्तितत्व को लेकर जाग उठा।"—'यामा' की भूमिका।

२. यामा। ३. रेणुका। ४. रेणुका।

उसके तट के सुरम्य भू पर, झाड़ी के झिलमिल घूँघट में ।
है नई कली इक झाँक रही लिपटी घासों ही के पट में ।।[1]

प्रकृति-प्रेम की दृष्टि से श्री गोपालसिंह 'नेपाली' की 'पंछी', 'उमग', 'रागिनी' और 'नीलिमा' नामक कृतियाँ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । 'बच्चन' के काव्य 'मिलनयामिनी' के अंतिम गीतों में भी प्रकृति-प्रेम की बहुत सुन्दर व्यंजना हुई है । प्रकृति के भव्य रूपों के प्रति ही नहीं, उसके कुरूप, भीषण अनगढ़ या खुरदरे रूपों के प्रति भी बहुत से कवियों ने अच्छा अनुराग प्रदर्शित किया है । श्री पतराम गौड़ 'विशद' के 'रेगिस्तान', श्री परमेश्वर 'द्विरेफ' के 'मरु के टीले' तथा 'धूल के फूल' तथा श्री चन्द्रसिंह की 'बादली' और 'लू' (राजस्थानी) नामक काव्य-कृतियों में मरुस्थल का सौंदर्य भी बड़ी भावुकता के साथ निरूपित हुआ है । इसी प्रकार 'शेखावाटी के कवि' नामक आंचलिक काव्य-संकलन में भी मरुस्थल के सौंदर्य-सम्बन्धी अच्छी कविताएँ है ।

(vii) **सूक्ष्म के प्रति प्रेम:**—सौंदर्य, कल्पना, कला, एवं उच्च मानवीय भावनाओं (दया, करुणा, उदारता आदि) तथा इन सब की प्रेरक आत्मा के प्रति प्रेम भी सभ्य-असभ्य सभी मानवों में, स्वसंस्कारानुसार न्यूनाधिक रूप में जीवन में बराबर पाया जाता है । पर इनके प्रति सीधे उद्‌गार प्रायः कम ही मिलते हैं । वास्तव में ये सब प्रकार के प्रेम, काव्य में चरित्र-चित्रण, पात्र-सृष्टि, शैली-का सौंदर्य, अलंकार-विधान रस-निष्पत्ति आदि काव्य-अवयवों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में तत्व-रूप से सर्वत्र ही विद्यमान रहते हैं । सौंदर्य के सम्बन्ध में विचार अगले प्रकरण में होगा । अन्य प्रकार के प्रेम के सम्बन्ध में कहीं-कहीं कुछ उक्तियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं—

कल्पना-प्रेम

आह, कल्पना का सुन्दर यह, जगत मधुर कितना होता,
सुख स्वप्नों का दल छाया में, पुलकित हो जगता सोता ।[2]

कला-प्रेम

कहा मांडवी ने 'उलूक भी जगता है चित्रस्थ भला',
सुन्दर को सजीव करती है, भीषण को निर्जीव कला ।[3]

कला नित्य आनन्द प्रदान करती है, किन्तु जब उसका स्वरूप किसी कारण-वश विकृत हो चलता है तो वह जीवनघातिनी भी हो जाती है, अतः कवि के हृदय में ऐसी कला के प्रति असंतोष भी स्वाभाविक ही है । यथा—

---

१. नूरजहाँ; पृ० १७ । २. कामायनी; आशा सर्ग ।
३. साकेत; एकादश सर्ग ।

संस्कृति रे परिहास, क्षुधा से यदि जन कवलित,
कला कल्पना, जो कुटुम्ब तन नग्न, ग्रह रहित ।[1]

× × ×

आज सत्य, शिव सुन्दर करता नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट औ, संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित ।
संस्कृति, कला, सदाचारों से भव मानवता पीड़ित,
स्वर्ण पीजडे में है बन्दी मानव आत्मा निश्चित ।[2]

इसी प्रकार, 'दिनकर' ने अपनी 'रेणुका' की 'कलातीर्थ नामक कविता में कला के प्रति सुन्दर भावनाएँ व्यक्त की है। कवि ने कला की पूर्णता व उसके लक्ष्य या आदर्श की भावना काव्यात्मक ढंग से और सुन्दरतापूर्वक कराई है।

आदर्श-प्रेम

मै प्रेमी उच्चादर्शो का, सस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शो का,
जीवन के हर्ष-विमर्षो का, लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मे इच्छा से उन्मन, उन्मन ।[3]

कवि का आदर्श-प्रेम इतना धनीभूत है कि वह अपने स्वर्णिम आदर्शो की प्राप्ति बाह्य जगत् में असंभव समझता है। इसीलिए उसने एक ऐसी मानसी सृष्टि रची है जिसमें वह अपने मनोनुकूल आदर्शो की प्राप्ति कर सके, और जीवन की पूर्णता का अनुभव कर सके—

मै सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर,
सौदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे मिल सका नही जग में बाहर ।[4]

(viii) **चरित्र-गत गुणों के प्रति प्रेम**—गुणों के प्रति प्रेम या आकर्षण मानव के लिए बहुत स्वाभाविक है। दया, क्षमा, करुणा, सहिष्णुता, उदारता आदि वृत्तियों या बल, विद्या, प्रतिभा आदि अन्य गुणों के प्रति मानव, हृदय में सहज आकर्षण विद्यमान है। कवि 'पंत' मानव के इन गुणों पर मुग्ध है—

आशाभिलाष, उच्चाकांक्षा, उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास, असद्, सद् का विवेक, दृढ़ श्रद्धा, सत्य प्रेम अक्षय ।
मानसी भूतियाँ ये अमन्द, सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव, संस्कृति स्वर्गीय, स्वभाव पूर्ति ।[5]

(ix) **आत्मा का प्रेम**—आत्मा का प्रेम सब प्रकार के प्रेम का मूल है ।

---

१. स्वर्णकिरण; पृ० १११ । २. युगवाणी; पृ० ३५ ।
३. गुंजन; पृ० १८ । ४. युगांत; पृ० २८ ।
५. वही; पृ० ४७ ।

इसकी अनुभूति से ही हमारी आत्मा जड़चेतन-व्यापी होती है। किन्तु यह प्रेम प्रायः जीवन की विविध अनुभूतियो के आवे मे तपे हुए विदग्ध हृदयों को ही अनुभव होता है। 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में 'मनु' के चरित्र-चित्रण के माध्यम से इस प्रेम की बहुत ही सुन्दर व्यजना की है। जब यह प्रेम उत्पन्न हो जाता है तो समस्त सृष्टि हरी-भरी हो जाती है, सब पाप-ताप शात हो जाते हैं, सृष्टि का कण-कण अपना जाना-पहचाना लगता है, और अपने-पराये का समस्त भेद पूर्णतया लुप्त हो जाता है। देखिए—

मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर कैलास और दिखलाया,
बोले, देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नही कमी है।
शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है,
जीवन-वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।[1]

इसी प्रकार मानव-हृदय में काल विशेष के प्रति भी एक विशेष प्रेम होता है। किसी को अतीत से अत्यधिक प्रेम होता है, किसी को वर्तमान से। यह प्रेम भी सर्व-व्यापक मानव-आत्मा की पूर्णता की प्राप्ति की चेष्टा का ही परिचायक है। 'प्रसाद' जी का अपने स्वर्णिम अतीत के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है। पंत जी को वर्तमान व उससे भी अधिक भविष्य से प्रेम है। वे मानव-जीवन और मानव-जाति के उज्जवल भविष्य की कल्पना अपनी 'उत्तरा', 'स्वर्णकिरण', 'युगपथ', 'रजत शिखर', आदि नवीन कृतियों में बड़े उत्साह से कर रहे है। अंग्रेज कवि कीट्स (Keats) का अतीत प्रेम तथा शैले (Shelley) का भविष्य-प्रेम अग्रेजी साहित्य में प्रसिद्ध है। वर्तमान के प्रति अत्यधिक प्रेम प्रायः उन कवियों में पाया जाता है जो प्रस्तुत समस्याओं को ही सबसे महत्त्वपूर्ण समझते है। इस दृष्टि से प्रगतिवादियों का वर्तमान के प्रति मोह या प्रेम निःसंदेह स्तुत्य है।

कवि अतीत के प्रेमी हों अथवा भविष्य के, प्रकारांतर से श्रेष्ठ कवियों की रचना वर्तमान को अवश्य ही कोई न कोई महत्त्वपूर्ण सदेश देती है। 'कामायनी' आदि काव्य उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(च) प्रेम-क्षेत्र में छायावाद की देन

इस प्रेम-विवेचन के पश्चात् और छायावाद की सौंदर्य-विवेचना में प्रवृत्त

१. कामायनी; आनन्द सर्ग।

होने से पूर्व, अब यह यहाँ प्रसंग-प्राप्त ही है कि दो क्षण रुक कर प्रेम-क्षेत्र में छायावाद की विशिष्ठ देन पर व्यापक दृष्टि से कुछ विचार कर लिया जाय ।

पिछले पृष्ठों में किये गये विवेचन-विश्लेषण से यह जान पड़ा होगा कि प्रेम अब पिछले युगों से कितना आगे बढ आया व उसमें कितनी सूक्ष्मता का समावेश हो गया । भारतेन्दु-काल में प्रेम का रीतिकालीन ढाँचा ही ग्रहीत हुआ था। किन्तु अब स्वच्छंदता की प्रवृत्ति से काल्पनिकता का विकास हुआ । परिणाम-स्वरूप प्रेम की दिवृत्ति में अधिक सप्राणता व लावण्य आया । वास्तव मे इस काव्य में प्रणयानुभूति की ही व्यापकता है । द्विवेदी काल मे राष्ट्रीय प्रेम-भावना का ही प्राधान्य था, और छायावादी काव्य में प्रणय-भावना का । द्विवेदीकाल तक लौकिक व अलौकिक प्रेम बहुत कुछ अलग-अलग से थे, यद्यपि गुप्त जी व पं० रामनरेश त्रिपाठी की कृतियों मे वे बहुत कुछ एकरस हो चले थे । किन्तु अब दोनों प्रकार के प्रेम के बीच की सीमा-रेखाएँ लुप्तप्राय हो चली । द्विवेदी काल की प्रेमाभिव्यक्ति का सबसे बड़ा अभाव या सीमा (Limitation) उसकी इतिवृत्तात्मकता थी । इस काल मे काव्य की रागात्मक अभिव्यंजना की पद्धति अवतरित हुई, अतः उसमें रमणीयता का सचार हुआ । किन्तु प्रेम में वैसा बहुविध व व्यापक विस्तार न दिखाई पड़ा । हाँ, छायावाद ने अपना जितना विषय-क्षेत्र निर्धारित किया, उससे संबन्धित अभिव्यक्ति में गंभीरता अवश्य आई । इस अभिव्यक्ति के विरह और मिलन—इन दोनों रूपों के निरूपण पर कदाचित् वासनात्मकता, अतिकाल्पनिकता, अथवा वायवीयता का आरोप बराबर लगाया जाता रहे, फिर भी निष्पक्ष बुद्धि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस ढेर-ढेर सिकता में शुद्ध सोने व चांदी के प्रकाशोज्ज्वल कण भी बहुतायत से विद्यमान है, जो कवियों द्वारा भाव-मार्ग से अनंत प्रकाशमय चैतन्य की या अखंड रस की अनुभूति की सूचना अवश्य दे रहे है । हमारा निरीक्षण है कि वस्तु की दृष्टि से छायावाद की कविता का यही अश उसको हिन्दी-साहित्य के इतिहास में गौरवान्वित किए हुए है, और किए रहेगा । उसको पूरी मानसिक ईमानदारी के साथ उसके श्रम और अर्जना का न्यायोचित श्रेय देना नितान्त आवश्यक है । हिन्दी-काव्य के विकास में छायावाद की देन हमें नत-शिर स्वीकार करनी होगी । इसमे वीरगाथा काल के से प्रेम की स्पष्टता व यथार्थता नहीं, भक्त कवियों की सी अलौकिकता, असीम, गभीर व अकूल आत्मोल्लास, आत्म-विस्मृति, व नैतिक आदर्शो के आत्यन्तिक पालन का प्रयत्न नहीं, रीतिकाल के प्रेम की सी मादकता, यथार्थता, ऐहिकता व खरापन नहीं । किन्तु, जो कुछ इसने दिया है वह अपने ढंग से सर्वथा मौलिक, सुन्दर व प्राणवान् है । प्रेम-वृत्ति जो अव्यक्त काल से मानव-हृदय में चली आई है और शाश्वत जीवन-धारा में घिसती-पिटती चली आ रही है, वह छायावादी कवियों के हाथों कुछ स्निग्ध-सुडौल व चित्रवान् हुई है. ऐसा अवश्य समझा जाता रहेगा ।

(४) सौंदर्य-निरूपण

(क) सामान्य

(i) **सौंदर्य-निरूपण की प्रसंग-प्राप्तता :** सौदर्य, प्रेम का अनिवार्य अंग है। सिद्धान्त पक्ष के विवेचन में हम यह बता चुके हैं कि जिस प्रकार सौंदर्य से प्रेम उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रेम से सौंदर्य भी। दोनो प्रायः अन्योन्याश्रित हैं। केवल बाह्य सौंदर्य से प्रेम की उत्पत्ति उतनी सुनिश्चित अथवा स्थायी नहीं जितनी प्रेम से सौंदर्य की होती है। प्रेम से ही दृष्टि कण-कण में असीम सौंदर्य देखने में समर्थ होती है। उसके पहले मानो सब कुछ जड़ और निष्प्राण है। प्रेम चाहे प्रणय, भक्ति, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, किसी भी रूप का हो, वह जगत् के समस्त बाह्य पदार्थों में शारीरिक, प्राकृतिक तथा मानव-कृत पदार्थों में अनिवार्य रूप से सौंदर्य की सतरंगी प्रकाश-किरणें फेंकता है। इस नाते प्रेम का विवेचन सौंदर्य-विवेचन के अभाव में एकांगी व अधूरा है। फिर, अकेले आश्रय की भावना-मात्र ही क्या कर सकती है, यदि कोई आलम्बन (मूर्त्त-अमूर्त्त या स्थूल-सूक्ष्म) 'रति' आदि स्थायी भाव को उद्‌बुद्ध करने के लिये न हों! आलम्बन ही भावानुभूति या रसानुभूति का राजद्वार है। अभी तक हमने मुख्यतः आश्रय की भावना की दृष्टि से ही प्रेम का विवेचन किया है। अब हम उस प्रेम के आधारभूत आलम्बन के गुण-धर्म अर्थात् सौंदर्य का भी विचार करेंगे, जो यहाँ प्रसंग-प्राप्त है।

(ii) **छायावादी सौंदर्य की विशेषताएँ :** यों तो द्विवेदी-काल के प्रमुख कवियों की रचनाओं में ही सौंदर्य, पदार्थों के बाहरी गुणों (रंग, रूपाकार, स्पर्श सम्बन्धी) से परे सूक्ष्म भावना के क्षेत्र में संक्रमित हो चला था, पर इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक उत्कर्ष छायावादी काल में ही देखने को मिला। छायावादी कविता की प्रथम चहक के साथ ही कवियों ने प्राचीन काव्य से, विशेषतः रीति युगीन से, नवीन काव्य का स्पष्ट अन्तर बताते हुए, महत्त्वपूर्ण युग-परिवर्तन की निर्भीकतापूर्वक घोषणा कर दी।[1] किन्तु बाह्य सौंदर्य से आन्तरिक अथवा सूक्ष्म सौंदर्य की ओर

---

१. "हाँ, उन कवियों ने शारीरिक सौंदर्य ही देखा, आत्मिक सौंदर्य नहीं। वे शब्दों के साथ खेलते थे, भावों के साथ नहीं। यह युग मानसिक विकास का है, भावों के साथ खेलने का है, अन्तर केवल इतना है।"

—श्री भगवतीचरण वर्मा : 'मधुकण' की भूमिका, पृ० २७।

"उसमें (छायावाद में) नये हाथों का प्रयत्न, जीवित साँसों का स्पंदन, आधुनिक इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पद चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथवा नवीन युग की नवीन सृष्टि का समावेश है। उसमें नये कटाक्ष, नए रोमांच, नये स्वप्न, नया हास, नया हृत्कम्पन, नवीन वसन्त, नवीन कोकिलाओं का गान है।"—पंत; 'पल्लव' की भूमिका, पृ० १४।

यह स्थानान्तर सहसा ही नहीं हुआ; उसका क्रमिक विकास स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। हिन्दी में छायावाद की अवतारणा का मूल, सृष्टि के बाह्यार्थ-निरूपण से पराङ्मुख होकर हृदय की मानवीय अनुभूतियो के सूक्ष्म चित्रण की बलवती सृजन-प्रेरणा है। छायावाद के मूर्धन्य कवियों ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होने में ही उक्त वाद के अस्तित्व की सार्थकता समझी और समझाई है। 'प्रसाद' ने 'बाह्य वर्णन से भिन्न, वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति' को छायावाद ठहरा कर उसमें ऐसे भिन्न प्रकार के (रीति-कालीन काव्य की तुलना में) भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति बताई है जो 'आतरिक स्पर्श से पुलकित होते है।'[1] श्री महादेवी ने कहा—"छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।'[2] ब्रजभाषा काव्य की तुलना में छायावाद की नवीन कविता के सम्बन्ध में कवि पंत तथा श्री भगवतीचरण वर्मा के विचार ऊपर उद्धृत किये ही जा चुके है। उपरोक्त कथनों से कविता के स्थूल से सूक्ष्म की ओर होने वाले क्रमिक विकास का स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि उपरोक्त सभी कवियों ने इस सूक्ष्मता को, विशेषतः रीतिकाल की स्थूलता से ही, स्पष्ट पृथक् करके दिखाया है।

सौंदर्य की कला-गत अभिव्यक्ति में भी यही सूक्ष्मता लक्षित हुई। छायावादी कविता में सूक्ष्मता के इस विकास-क्रम के तीन स्पष्ट सोपान दिखाई पड़े :

१. **पूर्ण स्थूल** : इसमें वर्णित व्यक्ति या वस्तु के बाह्याकार पर ही अधिक दृष्टि रही, पर उसमें आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा भी महत्त्वपूर्ण है। अतः छायावाद का यह पूर्ण स्थूल भी रीतिकाल के पूर्ण स्थूल से, सुकुमार और उदात्त भावों के स्पर्श से, पर्याप्त सूक्ष्म या महीन था। उदाहरण के लिए 'प्रसाद' के 'श्रद्धा' के सौंदर्य-वर्णन (कामायनी) या 'आँसू' की नायिका के नखशिख-वर्णन की ओर संकेत ही पर्याप्त होगा।

२. **स्थूल—सूक्ष्म के लिए, या माध्यम मात्र** : इस प्रकार की रचनाओं में कवि प्रथम कोटि की रचनाओं से इतना अधिक अनुभूतिमय रहता है कि सौंदर्य की भावना तथा उसकी प्रेरक वस्तु या आलम्बन-इन दोनों में ही उसका हृदय सम भाव से विभाजित रहता है। कवि का अन्तश्चेतना में आलम्बन की सत्ता की उपस्थिति

१. 'प्रसाद'; 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', (प्र० सं०), पृ० १४३;
२. महादेवी वर्मा; 'यामा' में 'रश्मि' की भूमिका।

भी आद्यंत बनी रहती है । उदाहरणार्थ, पंत की 'भावी पत्नी के प्रति' तथा 'निराला' की 'सरोज स्मृति' आदि कविताएँ ।

३. **पूर्ण सूक्ष्म—अर्थात्, आलम्बन, निमित्त मात्र** : इस प्रकार की रचनाओं में वस्तु या व्यक्ति का आधार तो बस नाममात्र को ही रह जाता है। इन में उससे बस इतना ही सम्बन्ध रहता है जितना बिजली का लट्टू जलाने के लिए स्विच का। कवि रचना-काल मे भाव, उल्लास, रोमांच व स्पंदन-मात्र शेप रह जाता है। सौंदर्य की भावना का प्रेरक मूल रूप तो मन के अर्धचेतन या अवचेतन मे ही कहीं लुप्त हो जाता है, किंतु फिर भी समस्त इंद्रधनुषी रेशमी धागों का काल्पनिक वितान मकड़ी के-से मूल द्रव का ही विस्तार रहता है। यहीं छायावाद का कवि मानो अपने अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित करता है। इस स्थिति का सर्वोच्च विकास सौंदर्य के प्रेरक रूप या आलम्बन के अलौकिकीकरण, रहस्यीकरण अथवा आध्यात्मीकरण में होता है, और भौतिक पदार्थ या आलम्बन कवि को पूर्णतः अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, फेनोपम, कल्पनावेष्टित, धूमिल, किंतु उज्ज्वल व उदात्त सौंदर्य-चेतना के स्वर्णिम प्रकाश में निमज्जित हुआ सा अनुभूत होता है। यदि यहाँ कवि की लेखनी प्रेरणामयी अनुभूति-घटा की घुमड़ नही सँभाल पाती तो उसकी अभिव्यक्ति में स्वभावतः न्यूनाधिक अस्पष्टता या बौखलाहट उत्पन्न हो जाती है, और कवि यहीं पर आलोचकों का कोप-भाजन या साधारण पाठकों के लिए कुतूहलवर्द्धक, दुर्बोध, अगम्य, या कभी-कभी उपेक्षणीय या हास्यास्पद हो जाता है।

मानव-प्राणियों की प्रवृत्ति सामान्यतः नेत्रों को चट से आकर्षित करने वाले, भड़कीले या असाधारण पदार्थों की ओर ही खिचने की होती है। किंतु यह बात सौम्य और विकसित व्यक्तित्व के लिए उतनी लागू नहीं होती। सादे, सौम्य, व चिर-परिचित रूपों में भी पर्याप्त आकर्षण होता है। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की दृष्टि प्रायः ऐसे ही पदार्थों की ओर रहती थी। द्विवेदी काल में हमने देखा है कि पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० श्रीधर पाठक, व पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने जीवन के चिरपरिचित रूपों के प्रति ही बड़ा नेह व्यक्त किया था। यद्यपि छायावाद में भव्य और उदात्त के प्रति पर्याप्त आकर्षण है तथापि उसमें उक्त प्रवृत्ति भी कुछ विकसित होकर आई। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में 'श्रद्धा' का भव्य व साधारण दोनों ही रूपों में पूर्ण तल्लीनता व सजीवता के साथ वर्णन किया है। पंत में तो यह प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पडी। 'गुंजन' में 'अप्सरा' की भव्य सृष्टि करने वाला कवि 'ग्राम्या' तक पहुँचते-पहुँचते सरल व सादे ग्राम-सौंदर्य के प्रति पूर्णतः आकर्षित हो गया यह प्रवृत्ति आगे चल कर तो प्रगतिवादियों की विशेष सम्पदा ही हो गयी। 'बच्चन', 'अचल', व नरेंद्र शर्मा में सौम्य व सादे रूपों के प्रति विशेष आकर्षण दिखाई पड़ा।

केवल स्त्री-सौदर्य अथवा केवल पुरुष-सौदर्य तक ही सीमित रहना हमारे सीमित दृष्टिकोण का ही परिचायक है। वस्तुत: स्त्री और पुरुप, दोनों का सौदर्य विधाता की सृष्टि की अनोखी विभूति है, दोनों की अपनी अपनी विशेषताएँ है। दोनों का सम्मिलित सौदर्य ही पूर्ण मानव-सौदर्य की धारणा बँधाता है। स्त्री का कोमल सौदर्य ही सौदर्य का सर्वस्व नही, पुरुष का परुष या कठोर सौदर्य भी अपने स्थान पर बड़ा मोहक होता है। दोनों में सौंदर्य देखने वाली आँख ही सौदर्य की पूर्णता का अनुभव कर सकती है। वस्तुत: यह प्रवृत्ति बहुत कुछ जाति-गत ही होती है। पुरुष व स्त्री, दोनों परस्पर एक दूसरे के सौदर्य के प्रति ही आकर्षित पाये जाते हैं, अपने समलिगी के प्रति नहीं—'मोह न नारि नारि के रूपा।' यों, छायावाद काल के कवियों ने कहीं-कहीं पुरुष-सौंदर्य के चित्रण में भी पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है।

सौदर्य का स्वाभाविक रहस्य-भावना के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि मानव-मन में प्राय: प्रकृति के दृश्यों को देखकर ही अव्यक्त की जिज्ञासा या परमरमणीय की खोज होने लगती है। है भी यह स्वाभाविक। 'कामायनी' में इस स्वाभाविक रहस्य-भावना का चित्रण प्रकृति के माध्यम से ही हुआ है। किंतु, मानव में भी तो प्रकृति के पदार्थो की अपेक्षा कोई कम, जिज्ञासा-वर्धक सौंदर्य नहीं! कदाचित् यह बात ठीक है कि चेतन-चेतन के सन्बन्ध के नाते मानव मानव-सौंदर्य की ओर ही अधिक आकृष्ट होगा; उसमें पूर्ण रूप से लय हो जायगा। मानव-सौंदर्य के नाते ही दृष्टा फिर प्रकृति में भी सौदर्य का दर्शन करने लगेगा। इस प्रकार प्रकृति के मानव-निरपेक्ष सौंदर्य को देखकर ही किसी रहस्य सत्ता की भावना में डबने की बात को हम कदाचित् बौद्धिक जिज्ञासा मात्र ही कहेंगे। प्रकृति में पूर्ण भावात्मक लय तो मानव-सौदर्य के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही उपस्थित होगा। अस्तु! जिस प्रकार हम यह प्रश्न करते हैं कि ये सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि क्या हैं? मेघ, ऊषा, संध्या, आदि कहाँ से आते है? पक्षियों के कलकंठों से फूटने वाली संगीत की सरस रागिनियाँ कहाँ से आती हैं? उसी प्रकार मानवीय सौंदर्य को देखकर भी तो भावुकों के मन में यह जिज्ञासा हो उठना स्वाभाविक है कि अंगों में यह लावण्य, विकास, निखार व दीप्ति कहाँ से आती है? नेत्रों में यह आलोक-किरण कहाँ से उतरी है? कंठों के इन मधुर स्वरों का उद्गम कहाँ है? यह हास-विलास, यह यौवन का वासन्ती ज्वार किस सौंदर्य-सिन्धु का उफान है? छायावादी सौंदर्य-भावना अपने स्वाभाविक क्रम मे मानवीय सौंदर्य के इन अंचलों में भी उतर आई। यह निश्चित ही हमारे कवियो की सौंदर्य-भावना का स्वाभाविक और वाछित विकास है। मानव-सौंदर्य के प्रति इस प्रकार की उत्कंठाओं से पूर्ण जिज्ञासा हिन्दी-कविता में आज तक शायद ही कही दिखाई पड़ी हो! द्विवेदी काल में पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने शारीरिक सौंदर्य के प्रसंग में किस प्रकार रहस्य-भावना के स्फुरण का अनुभव कर के इस प्रवृत्ति

का शिलान्यास किया यह यथास्थान बताया ही जा चुका है ।

स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के कारण मुक्त कल्पना का विकास हिंदी में बेहद बढ़ गया, यह भी यथास्थान बताया जा चुका है । सौदर्य के साथ तो कल्पना का घनिष्ठतम सम्बन्ध है ही । बात यह है कि प्रेमी अपने प्रिय व्यक्ति अथवा पदार्थ के सौदर्य को कुछ ऐसी अनूठी वस्तु समझता है कि उसे संसार की विषाक्त हवा और कुटिल दृष्टि नहीं लगने देना चाहता । अतः घृणा, द्वेष, आदि की पार्थिव भूमि से उठाकर वह अपने प्रिय को अपनी मानसी या काल्पनिक सृष्टि के शांत, सुगंधित व निभृत कुञ्जों में ही ले जाना चाहता है। कल्पना के बल से वह अपने प्रिय के अवगुणों या अभावों को ही पूरा नहीं करता, प्रत्युत् वह उसमें विश्व के सारे गुण और श्री को चुन-चुन कर संचित कर देना चाहता है । इस प्रवृत्ति के अतिरेक से होता यह है कि सौदर्य-सृष्टि पूर्णतः आदर्शात्मक या काल्पनिक हो जाती है । वर्णित सौदर्य ऐसा जान पड़ता है मानो केवल कल्पना-जगत् में ही सभव या सुलभ हो । 'पंत' जी की 'अप्सरा' (गुजन) नामक कविता छायावादी कविता में इस रोमांटिक, आदर्शात्मक या काल्पनिक सौदर्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है । इसके विपरीत कवि यथार्थ सौंदर्य में भी अपनी तूलिका के कोमल स्पर्शों से विशेष मोहकता उत्पन्न कर देता है । छायावाद में इसीलिए यथार्थ तथा आदर्श सौदर्य के बीच पड़ने वाले सभी रंगतों के सौंदर्य का ग्रहण हुआ है, किंतु प्रवृत्ति अपेक्षाकृत सूक्ष्म या धूमिल आवरण युक्त झिलमिल सौंदर्य की ओर ही अधिक है ।

सौदर्य-वर्णन के प्रसंग में नख-शिख वर्णन की परम्परा का निर्वाह भारतीय कवियों में होता आया है । हिंदी के रीतिकाल की तो यह मान्य परिपाटी ही थी। द्विवेदी काल में वह 'शकर' आदि कवियों मे भी कुछ-कुछ बनी हुई थी, किंतु छायावाद काल में तो वह प्रायः समाप्त हो चली । 'आँसू' तथा 'कामायनी' में 'प्रसाद' ने नायिका-सौंदर्य-वर्णन में उसका प्रयोग किया है अवश्य, किंतु वह रीतिकालीन अथवा परम्परागत ढाँचे का उतना न होकर ध्वन्यात्मक सौंदर्य से ही विशेषतया समन्वित है ।

छायावाद में भाव-व्यंजना की प्रवृत्ति अधिक है, सौंदर्य के बाह्य चित्रण की कम । विस्तृत बाह्य सौदर्य-चित्रण (शारीरिक या प्राकृतिक) का अवसर प्रबन्ध-काव्यों में ही अधिक मिल सकता है । छायावाद में मुक्तक गीतों का प्राधान्य है जो भाव-व्यंजना या प्रणयोद्गार की अभिव्यक्ति के लिए ही अधिक उपयुक्त है ।

संक्षेप में छायावादी सौंदर्य-भावना की ये ही मुख्य विशेषताएँ है ।

(ख) युग का सौंदर्य-दर्शन

प्रत्येक प्रभावशाली काव्यात्मक अभिव्यक्ति अपने पीछे एक स्पष्ट व प्रौढ़

दार्शनिक विचारधारा रखती है। छायावादी कवियों की सौंदर्य-सृष्टि भी उन की सौंदर्य-संबंधी विचारधारा से पुष्ट व अनुप्राणित है। युग के प्रमुख कवियों की सौंदर्य-संबंधी चिंताएँ बहुत सूक्ष्म तथा गंभीर हैं।

'प्रसाद' की सौंदर्य-संबंधी धारणा तो बहुत ही उच्च है। उनकी दृष्टि में सौंदर्य, व्यक्ति या पदार्थ का साधारण बाहरी गुण मात्र ही नहीं है। वह एक ईश्वरीय विभूति है। उसमें ब्रह्म का साक्षात् चित् अंश ही झलक रहा है। सौंदर्य की यह भावना पूर्णतया भारतीय भावना के मेल में है।[१] कवि की सौंदर्य-संबंधी यह भावना नितान्त प्रौढ़ तथा उदात्त है—

उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनंत अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।[२]

इसलिए कवि की दृष्टि में सौंदर्य की प्रत्येक कृति के परदे में एक अक्षय धन छिपा हुआ है—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी, वह क्या सब छाया उलझन है,
सुदरता के इस परदे में, क्या अन्य धरा कोई धन है?[३]

सौंदर्य का पूर्ण साक्षात्कार होना ही ब्रह्म के सत् स्वरूप का साक्षात्कार है[४] क्योंकि सौंदर्य उसी दिव्य शिल्पी के हाथ का कला-कौशल है। सौंदर्य की अनुभूति, चाहे वह मानवीय सौंदर्य की हो या प्राकृतिक सौंदर्य की, हमें एक दिन अवश्य ही सत्य का साक्षात्कार करा देगी—

मानवी या प्राकृतिक सुखमा सभी, दिव्य शिल्पी के कला कौशल सभी।
देख लो जी भर इसे देखा करो, इस कलम से चित्र पर रेखा करो।
लिखते लिखते चित्र वह बन जायगा, सत्य सुंदर तब प्रकट हो जायगा।[५]

सौंदर्य बाहर की ऐन्द्रिक उपासना में नहीं है। सच्चा और अनंत सौंदर्य तो इसके परे है। इसीलिए कवि क्षणभंगुर सौंदर्य की अपेक्षा शाश्वत या अमर सौंदर्य ही देखने के लिए हमें प्रेरित करता है—

क्षणभंगुर सौंदर्य देख कर रीझो मत, देखो, देखो।
उस सुंदरतम की सुंदरता विश्वमात्र में छाई है।[६]

---

१. यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीलदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्॥　—गीता, १०।४१

२. कामायनी; लज्जा सर्ग।　३. वही; काम सर्ग।

४. "Beauty is truth, truth beauty, that is all
Ye know on earth, and all ye need to know!"
—John Keats.

५. कानन कुसुम; पृ० ४९।　६. प्रेमपथिक; पृ० २४।

कवि का विश्वास है कि अनंत सौंदर्य के तो इंगित मात्र से ही जीवन-मुक्ति संभव है—

प्रार्थना अंतर की मेरी यही जन्मान्तर की हो उक्ति—
जन्म हो, निरखूँ तब सौंदर्य मिले इंगित से जीवनमुक्ति।[१]

यों तो सौंदर्यपूर्ण मनोहर दृश्यावलि कहाँ नहीं है? सर्वत्र है। किंतु इसके लिये पहले हृदय को प्रशांत व गंभीर बनाने की आवश्यकता है क्योंकि उसके अभाव में वास्तविक सौंदर्य का दर्शन संभव नहीं—

सृष्टि में सब कुछ है अभिराम, सभी मे है उन्नति या ह्रास।
बना लो अपना हृदय प्रशात, तनिक तब देखो वह सौंदर्य।[२]

यदि सौंदर्य का आँख भर कर दर्शन कर लिया तो जीवन-रत्न प्रेम की पताका सर्वत्र फहरायगी। जिसने आँख खोल कर कण-कण में सौंदर्य न देखा उसे प्रेम-रत्न का यह दिव्य पुरस्कार कैसे मिलेगा—

मेरे अतर मे छिप कर भी प्रकटे मुख सुषमा का।
प्रबल प्रभंजन मलय मरुत हो, फहरे प्रेम पताका।[३]

भारतीय कवि पवित्रता को सौंदर्य का अनिवार्य उपकरण मानता है। इसलिए नारी का भव्य रूप भी उस पवित्रता के अभाव में जीवित अभिशाप ही है—

नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नही।[४]

इसलिए संसार में हमें चारों ओर पवित्र सौंदर्य का दर्शन करके तृप्त और सुखी होकर लौटना ही इष्ट है—

मानस उसको कहते हैं सुख पाता जो है जाता।[५]

जो ऐसे सौंदर्य-सिंधु संसार से तृषित और अतृप्त ही लौटे, अपनी मानसिक साधना या आत्म-बल के अभाव में, सौंदर्य को केवल बाहरी रूप तक ही समझ कर, अतृप्त ऐन्द्रिक तृष्णा में ही निरंतर अशांत रहे, उसके लिए 'प्रसाद' केवल इतना ही कहना उचित समझते हैं—

सौंदर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र।[६]

अतः कवि अपने प्रिय को सर्वत्र देखकर तृप्ति का अनुभव करके लौटना चाहता है। प्राची के अरुण मुकुर में अपने चिर सुन्दर को नित्य देखते रहने की उसकी साध है—

---

१. झरना; पृ० ५४। २. वही; पृ० ५२। ३. वही; पृ० ८१।
४. लहर; पृ० ८६। ५. कामायनी; 'आनंद' सर्ग।
६. कामायनी; 'इड़ा' सर्ग।

प्राची के अरुण मुकुर में सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा
उस अलस उषा में देखूँ अपनी आँखों का तारा ।[1]

पर सौदर्य की अनुभूति इतनी सरल भी नहीं है। उसके लिए अथक मानसिक साधना अपेक्षित है। जन्मजन्मान्तर के संस्कार से एक दिन सौदर्य की अनुभूति होगी, और तभी जान पड़ेगा कि प्राणी जीवन मे क्यों इतना दुख-सुख सह रहे हैं—

उस दिन तो हम जान सके थे सुन्दर किसको है कहते ।
तब पहचान सके, किसके हित प्राणी यह दुख सुख सहते ।[2]

जिस दिन हमारी सौदर्य की अनुभूति पूर्ण हो जायगी उसी दिन सारा संसार हरा-भरा हो उठेगा; सर्वत्र आनन्द-मंगल की वर्षा हो जायगी। 'कामायनी' के श्रद्धा-मनु उसी भूमिका पर पहुँच कर यह अनुभव करते है—

सब सम्हल गये थे आगे थी कुछ नीची उतराई,
जिस समतल घाटी मे, वह थी हरियाली से छायी ।
श्रम, ताप और पथ पीड़ा क्षण भर में थे अंतर्हित,
सामने विराट धवल नग अपनी महिमा से विलसित ।
उसकी तलहटी मनोहर श्यामल तृण वीरुध वाली,
नव कुंज, गुहा गृह सुन्दर हृद से भर रही निराली ।[3]

यह है 'प्रसाद' की सौदर्य-सम्बन्धी विचार-धारा जो उनके काव्य को अनुप्राणित व महिमान्वित किए है। 'प्रसाद' की सौंदर्यानुभूति में यथार्थ और आदर्श का जो मृदुल सामञ्जस्य हो गया है, उसके पीछे सौदर्य-सम्बन्धी यही विचार धारा है।

कवि पंत तो सौंदर्य के ही कवि है। उनकी सौदर्य-सम्बन्धी धारणा पूर्ण उदात्त व प्रौढ़ है। कवि सौंदर्य-दर्शन का इतना अभ्यासी है कि उसे सारा संसार छवि-उपवन ही लगता है। अब यह अपनी-अपनी क्षमता पर निर्भर है कि इसके दर्शक इसके फूल और काँटों में से क्या चुनते हैं—

देखूँ सब के उर की डाली,
किसने रे क्या क्या चुने फूल, जग के छवि उपवन से अकूल
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल ।[4]

कवि को आज रूपों का सत्य अत्यन्त प्रिय है। वह सर्वत्र रूप और सौंदर्य देख कर मुग्ध है, क्योंकि सब सौंदर्य-युक्त पदार्थ मानो किसी गम्भीर सत्ता के संदेश-वाहक हैं—

---

१. आँसू; पृ० ६७।   २. कामायनी; 'निर्वेद' सर्ग ।
३. वही; आनन्द सर्ग ।   ४. गुंजन; पृ० ६ ।

राशि राशि सौदर्य, प्रेम, आनन्द, गुणों का द्वार।
मुझे लुभाता रूप, रंग, रेखा का यह संसार।[1]

संसार को वास्तविक सुन्दर रूप में वही कवि देख सकता है, जिसकी आत्मा में सौदर्य व प्रेम की अजस्रधारा बहती रहती हो। कवि के मन में यह धारा फूट पड़ी है, हमें इस सम्बन्ध में उस का ही अन्तःसाक्ष्य प्राप्त है—

सुन्दरता का आलोक स्रोत है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात होगा फिर जग के आँगन में।[2]

इसीलिए कवि समस्त प्रकृति-जगत को सौंदर्य से परिप्लुत देखता है। फिर, सौंदर्य की अनुभूति के ज्वार मे उसे सृष्टि-मुकुट मानव सुन्दरतम क्यों न दिखाई पड़े !—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर, मानव, तुम सब से सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल सुषमा से, तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।[3]

जब प्रकृति जगत् व मानव-जगत् दोनों ही सौंदर्यपूर्ण है तो फिर अब सौंदर्य कहाँ नहीं रहा ? कवि के लिए अब रजकण, सुख दुःखमय मन, शैशव, यौवन, वाणी का विभ्रम, कर्मो का उपक्रम, जन्म-मरण, दिशि, पल, पुराण-नूतन, जीवन का क्रम और जग-जीवन—सब कुछ सौंदर्य-पूर्ण हो उठा है। बस सौंदर्य की यही पूर्ण अनुभूति है।[4] इसी अनुभूति में सृष्टि के रोम-रोम में सौंदर्य समाविष्ट हो जाता है—

इस धरती के रोम रोम मे भरी सहज सुन्दरता।
इसकी रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक, सुन्दर।[5]

और, कवि का विश्वास है कि सुखमय जीवन का निर्माण भी सुन्दर विश्वासों से ही हो सकता है—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज सहज साँसों से चलता उर का मृदु स्पंदन।[6]

मानव-जीवन और प्रकृति में सौंदर्य का यह विस्तार, महत्त्व और उसकी प्रभुता देख कर कवि, सुन्दरता को जीवन की समस्त श्री और ऐश्वर्य का केन्द्र ही कह उठा है—

अकेली सुन्दरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यो की सन्धान।[7]

---

१. युगवाणी; पृ० ७६। २. युगान्त; पृ० २७। ३. वही; पृ० ४६। ४. गुंजन; पृ० २१। ५. युगवाणी; पृ० २६। ६. गुंजन; पृ० २०। ७. पल्लव; पृ० ५४।

कवि सौंदर्य को बाहरी पदार्थों का ही गुण नहीं मानता। उसकी जिज्ञासा है कि सौंदर्य-सृजन का कोई एक रहस्यपूर्ण आन्तरिक स्रोत कहीं छिपा है, जहाँ से जगत् के कण-कण को सौदर्य का दान मिलता रहता है—

चित्रिणि, इस सुख का स्रोत कहाँ जो करता निज सौदर्य सृजन।
वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर क्या कहती यही, सुमन चेतन। [1]

वास्तविक सौंदर्य बड़ा ही सूक्ष्म है। वह स्थूल में मानो अपने को पूर्णतः प्रकट नहीं करता। वह तो नीरव अंतस्तल में ही स्फुरित होता रहता है—

वह सौदर्य चेतना का नीहार लोक चिर मोहन
सहज स्फुरित हो उठता नीरव अंतस्तल में गोपन। [2]

कवि का सौंदर्य सम्बन्धी आदर्श बहुत उच्च है, किन्तु बड़ी विडम्बना यह है कि वह उसे इस कठोर बाह्य जगत् में नहीं प्राप्त कर सकता। सौदर्य का चरम आदर्श वह अपनी आत्मा में ही, अपनी मानसिक काल्पनिक सृष्टि में ही, पाना चाहता है—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर,
सौदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग में बाहर। [3]

सौंदर्य की यह सूक्ष्मता या अंतर्मुखता उसका कोई अवगुण नहीं। वस्तुतः उसके इन्ही गुणों के कारण कवि उसे प्रज्ञा, शुद्ध-बुद्धि अथवा सत्य का ही प्रकाश या स्वरूप समझता है। सौदर्य ही विविध आश्रयों में विविध संज्ञाएँ ग्रहण कर लेता है—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोक सेवा में शिव अविकार। [4]

किन्तु सौंदर्य का इतना महत्त्व होते हुए भी वह अपने आप में मानो पूर्ण नहीं। उसकी सत्ता किसी अन्य सत्ता से ही सार्थक होती है। वह सत्ता है प्रेम —प्रेम,—जो जीवन का अमर रत्न है। वह सौंदर्य में ही मिलेगा और सौदर्य भी प्रेम में ही। दोनों का आन्तरिक सम्बन्ध है—

तुम्हारी छवि में प्रेम अपार, प्रेम में छवि अभिराम। [5]

यद्यपि प्रेम और सौंदर्य दोनों प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हैं, किन्तु महत्त्व-प्रेम का ही है। इन दोनों का परस्पर वही सम्बन्ध है जो देह और छाया का होता है। प्रेम यदि देह है तो सौदर्य उसकी छाया—

यह सौंदर्य चेतना उसके अमर प्रेम की छाया,
दिव्य प्रेम देही, सुन्दरता उसकी सतरंग काया। [6]

---

१. युगान्त; पृ० ५०। २. स्वर्ण किरण; पृ० ३१। ३. युगांत; पृ० २८। ४. प लव; पृ० ८७। ५. गुंजन; पृ० ५७। ६. स्वर्णकिरण; पृ० ३३।

कवि की सौंदर्य-सम्बन्धी चिन्ता कितनी सूक्ष्म और गहरी है, और मानवजीवन के अन्तर्बाह्य-विधान में वह सौंदर्य का समावेश कितनी दूरी तक चाहता है, यह कवि की 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका में 'स्वप्न' के कथन द्वारा भली भाँति व्यक्त हुआ है—

"मनुष्य जाति को सदैव से सौदर्य विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इन्द्रजाल, और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसन्द रहा है।...उसके सूक्ष्म वायवी हृदय तत्त्व को एवं सीमा हीन आकांक्षाओं को इसी में परितृप्ति मिलती है।...सम्राज्ञी की आज्ञा हो, तो मैं अपनी दिव्य वायवी शक्तियों का परिचय दूं, और मनुष्य की आँखों के सामने एक ऐसे अननुभूत ऐश्वर्य और स्वर्गीय सौंदर्य का अलौकिक इंद्रजाल उछाल दूँ कि वह इंद्रियों की देह से मुक्त होकर एक अभिनय सूक्ष्म शोभा के मात्राकाश में विचरण करने लगे।"

कवि सौदर्य के इंद्रजाल या उसकी स्वर्गीय मोहिनी द्वारा मानव की तामसिक विषय वासनाओं के गरलदन्त का टूटना सर्वथा शक्य समझता है।

यही है छायावादी सौदर्य की वायवी सूक्ष्मता जो पंत जी की सौदर्य-सम्बन्धी चिन्ता में अत्यन्त ही गम्भीरता के साथ प्रकट हुई है।

महादेवी जी ने भी प्रस्तुत प्रसंग के अनुकूल यत्र-तत्र अपने विचार व्यक्त किए हैं। सौदर्य के सम्बन्ध में वे एक स्थान पर लिखती हैं—"सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अनेकता में अनन्त।"

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सौदर्य के सम्बन्ध में यत्र-तत्र अपने विचार व्यक्त किए हैं। उपरोक्त विचार कवियो के कोरे रूखे इतिवृत्तात्मक कथन-मात्र ही नहीं है। वे भावयोगियों (कवियों) की जीवन-व्यापिनी अनुभूतियों के अंचल से छन कर प्रस्तुत हुए हैं। ये ही विचार कवियों के सौंदर्य-सम्बन्धी काव्य की दार्शनिक रीढ़ तैयार करते हैं।

(ग) सौंदर्य के विविध रूप

(i) **मानवीय सौंदर्य : नारी-सौंदर्य**—यों तो मानवीय सौदर्य का आधार प्रकृति ही है, क्योंकि स्वास्थ्य, शारीरिक सौदर्य, तथा सौंदर्य के प्रमुख व मौलिक प्रसाधन प्रकृति से ही प्राप्त होते हैं, अतः उसका आदि महत्त्व है, किन्तु साहित्य में या जीवन में सामन्यतः मानवीय सौंदर्य का ही सर्वाधिक महत्त्व रहता आया है। मानवीय सौदर्य के अन्तर्गत नारी-रूप-सौंदर्य तथा पुरुष-सौदर्य का वर्णन ही साहित्य में प्रमुखता से हुआ है, पर इन दोनों में नारी-रूप-सौदर्य का वर्णन ही अधिक पाया जाता है। आधुनिक हिन्दी कवियों ने भी नारी-सौंदर्य का वर्णन सर्वाधिक उत्साह व मनोयोग के साथ किया है।

नारी-सौंदर्य-वर्णन का विवेचन सुभीते की दृष्टि से चार मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) रूप, (१) सज्जा; वस्त्र, अलंकार, अनुलेपन आदि, (३) अनुभाव या शारीरिक चेष्टाएँ, तथा (४) चरित्र-गत शील या अन्तः-सौंदर्य।

(१) **रूप :** वस्तुतः रूप-सौंदर्य के विस्तृत वर्णन का क्षेत्र प्रबन्ध काव्य ही है जहाँ कवि को इसका पर्याप्त अवकाश और अवसर मिल जाता है। छायावाद मुख्यतः मुक्तक रचनाओं का काव्य है, अतः उसमें सांकेतिक ढग से सौदर्य की झलकें मात्र ही सम्भव हो सकी हैं। किन्तु कुछ छायावादी प्रबन्ध काव्यों में अवश्य ही सौदर्य का रमणीय वर्णन हो सका है। 'प्रसाद' आधुनिक कविता में रूप, यौवन, व विलास के अद्वितीय कलाकार कहे गये है। उन्होंने नख-शिख का पुराना ढाँचा लेकर और उसमें अपनी मौलिक कल्पना का रंग भर कर, हमें कतिपय अत्यंत सुन्दर चित्र दिए हैं। श्रद्धा (कामायनी) का रूप-सौदर्य वर्णन इस दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ा है। देखिए—

> और वह देखा सुन्दर दृश्य, नयन का इंद्रजाल अभिराम;
> कुसुम वैभव में लता समान, चद्रिका से लिपटा घनश्याम।
> हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
> मधु पवन, क्रीड़ित ज्यों शिशु-साल, सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
> मसृण गांधार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म;
> ढॅक रहे थे उस का वपु कांत, बन रहा था वह कोमल वर्म।
> नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।
> आह, वह मुख, पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम;
> अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।
> या कि, नव इंद्रनील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कांत;
> एक लघु ज्वालामुली अचेत, माधवी रजनी में अश्रांत।
> घिर रहे थे घुंघराले बाल, अंस अवलंबित मुख के पास;
> नील घन शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास।
> और उस मुख पर वह मुसक्यान, रक्त किसलय पर ले विश्राम;
> अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम।[1]

चित्र कितना सर्वाङ्गपूर्ण, मौलिक तथा संयत अँगुलियों से अंकित किया गया है। रंगों की योजना भी चित्र को सम्पन्न बनाने में सहायक हुई है। उपमा, उत्प्रेक्षा, व रूपक अलंकारों का विधान मौलिक प्रकृति-निरीक्षण पर आधारित है।

---

१. **कामायनी; श्रद्धा सर्ग।**

नख-शिख की रीतिकालीन परिपाटी के बहुत कुछ अनुकूल 'प्रसाद' के 'आँसू' की नायिका का ऐसा ही एक और चित्र लीजिए—

बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरो से,
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरो से।
काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।
तिर रही अतृप्ति जलधि मे नीलम की नाव निराली,
काला पानी बेला सी है अंजन रेखा काली।
अंकित कर क्षितिज पटी को तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयों की बन जाती चतुर चितेरी।
कोमल कपोल पाली में सीधी सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता जिसने भौ में बल देखा।
विद्रुम सीपी सम्पुट में मोती के दाने कैसे
है हस न, शुक यह, फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे।
विकसित सरसिज वन वैभव मधु ऊषा के अंचल में
उपहास करावे अपना जो हँसी देख ले पल में।
मुख कमल समीप सजे थे दो किसलय से पुरइन के
जल बिंदु सदृश ठहरे कब उन कानों में दुख किन के।
थी किस अनंग के धनु की वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या तनु छवि सर की नव लहरी।[1]

बाह्य रूप का वर्णन होते हुए भी यह चित्र आंतरिक सौंदर्य-चेतना से गूँज उठा है। प्राचीन परिपाटी के नख-शिख-वर्णनो में नायिका के सब अंगों का ब्यौरेवार वर्णन होते हुए भी उनमें (कुछ श्रेष्ठ कवियों के वर्णनों को छोड़कर) वह प्राणोष्मा नहीं मिलती जो यहाँ विद्यमान है। इसका मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि वे चित्र प्रबन्ध काव्य के नियमों के अनुसार, यान्त्रिक रूप में, खानापूरी के लिए अंकित कर दिये गये है; वे सौंदर्य-चेतना-सम्बन्धी गहरी प्रेरणा की हिलोर से तरंगित नहीं। अभिप्राय यह है कि उक्त स्थूल सौंदर्य के वर्णन में भी कवि का अनुभूति-गांभीर्य ही मुख्य है, केवल रूपाकार की नाप-जोख मात्र नहीं। नख-शिख-परम्परा का स्मरण कराने वाले इन वर्णनों में नायिका के बाह्य शरीरावयवो के उल्लेख के माध्यम से कवि-हृदय की अनुभूति ही मुख्य रूप से प्रभावित करने वाली और कवि की सौंदर्य भावना का मर्म हृदयंगम करने वाली है। नायिका के केश, मुख, नेत्र, अंजन-रेखा, बरौनी, कपोल, दाँत, हँसी, कान और बाहुओं का वर्णन केवल बाह्य स्थूल रूपाकार

१. आँसू; पृ० २१ से २४।

रूप व रंग आदि का परिचायक न होकर कवि की आंतरिक सौदर्य-भावना से सजीव तथा पुलकित है ।

उपरोक्त चित्र भव्य सौंदर्य के चित्र कहे जा सकते हैं, जिनमें वैभव और आभिजात्य का वातावरण है । पर, कवियों ने देश-काल की परिस्थिति तथा नवीन रुचि के अनुरूप सौम्य, सरल और अकृत्रिम सौदर्य के भी सहज चित्र अंकित किये है । 'कामायनी' से ही 'श्रद्धा' का एक चित्र लीजिए—

यों सोच रही मन मे अपने हाथों में तकली रही घूम,
श्रद्धा कुछ-कुछ अनमनी चली अलकें लेती थीं गुल्फ चूम ।
केतकी गर्भ सा पीला मुँह, आँखों मे आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी कंपित लतिका सी लिए देह !
मातृत्व बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज,
कोमल काले ऊनो की नव पट्टिका बनाती रुचिर साज ।
कटि में लिपटा था नवल वसन वैसा ही हलका बुना नील,
दुर्भर थी गर्भ मधुर पीड़ा झेलती जिसे जननी सलील ।[1]

इस चित्र के द्वारा कई तथ्य प्राप्त होते है । नारी के केवल भोग्या रूप से आगे बढ़कर उसके प्रसविनी और जननी जैसे सौम्य-स्निग्ध रूपो का रुचि तथा उत्साह के साथ यह वर्णन सौदर्य-दृष्टि की परिधि के विस्तार का सूचक है । 'केतकी गर्भ-सा' के द्वारा नवीन उपमा सामने आई है । 'तकली' के उल्लेख द्वारा युग-जीवन की भी एक झलक मिलती है । 'नील' वर्ण के प्रति कवि का सर्वत्र ही गहरा मोह मिलता है, जो यहाँ भी प्रकट है ।

इसी के मेल में कवि 'दिनकर' का नवप्रसविनी का एक और सादा तथा सात्विक चित्र देखिए—

आँखों में गीला काजल, लम्बी रेखा सेंदुर की ,
नासिकाग्र से चली गई है ऊपर चीर चिकुर को ।
सीधी रेख बना, कच दोनों ओर सके हैं ऐसे ,
फट कर दी हो राह तिमिर ने जैसे किसी किरण का ।
पहुँची पर है नई चूड़ियाँ, रँगी हुई अलता से ,
हाथों की उँगलियाँ दीखतीं लाल लाल कोंपल सी ।
तन पर पीला वसन, ज्योति पीली कुम्हलाये मुख की ,
माँ बन कर रमणी प्रसूति गृह से तुरन्त निकली है ।
कई दिनों की छाया और धुओं से वह कुम्हलाई ,
कच्ची धूप सदृश लगती है कुछ कुछ गीली गीली ।[2]

---

१. कामायनी; ईर्ष्या सर्ग । २. रसवंती; पृ० ४६ ।

बड़ा यथार्थ और सजीव चित्र है और नारी-जीवन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष के सात्त्विक-सुकुमार सौंदर्य को प्रस्तुत करता है। 'कच्ची धूप सदृश' के द्वारा जो उपमा दी गई है, वह बड़ी ही सटीक और भाव-पूर्ण है।

पंत जी के अनेक सौंदर्य-चित्र बड़े आकर्षक हैं। उनके आरम्भिक प्रबन्ध (खण्ड) काव्य 'ग्रन्थि' से एक चित्र लीजिए—

बाल रजनी सी अलक थी डोलती, भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में,
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही, प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।
लाज की मादक सुरा सी लालिमा, फैल गालों मे, नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़ सी सौंदर्य की, अधखुले सस्मित गढों से, सीप से।
इन गढों में रूप के आवर्त से, घूम फिर कर, नाव से किसके नयन,
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर, भार से दब कर तरुण सौंदर्य के।[1]

'गुंजन' में पंत जी ने 'अप्सरा' के काल्पनिक रूप-सौंदर्य का भरा-पूरा वर्णन प्रस्तुत किया है, जो उन की सौंदर्य-सृष्टि-निर्माण की अनेक विशिष्ट प्रवृत्तियों को लक्षित करता है। अप्सरा का यह चित्र देखिए—

इन्द्रलोक में पुलक-नृत्य तुम करती लघु-मद-भार,
तड़ित-चकित चितवन से चंचल कर सुर-सभा अपार।
नग्न-देह में नव-रंग सुर-धनु छाया-पट सुकुमार,
खोंस नील-नभ की वेणी में इन्दु कुन्द-द्युति-स्फार।
गौर-श्याम तन, बैठ प्रभा-तम, भगिनी-भ्रात सजात,
बुनते मृदुल मसृण छायांचल तुम्हें तन्वि! दिनरात।
स्वर्ण-सूत्र में रजत-हिलोरें कंचु काढ़तीं प्रात,
सुरंग रेशमी पख तितलियाँ डुला सिराती गात।
मेंहदी-युत मृदु-करतल-छबि से कुसमित सुभग सिंगार,
गौर-देह-द्युति हिम-शिखरों पर बरस रही साभार।
पद लालिमा उषा, पुलकित पर शशि-स्मित-घन सोभार
उडु-कम्पन मृदु-मृदु उर-स्पंदन, चर्पल-बीचि पद-चार।[2]

इस चित्र में कल्पना के द्वारा सुन्दर मूर्ति-विधान हुआ है। कीट्स (Keats) की-सी ऐन्द्रिक संवेदना उत्पन्न की गई है। रंगों, रूपों और गतिविधियों के चित्रण

---

१. ग्रन्थि; पृ० ५ व ६। ('ग्रन्थि' द्विवेदी-युग के उपसंहार के समय की रचना होने पर भी छायावाद के नवीन तत्त्वों से समाविष्ट है। अतः छायावाद के प्रसग मे भी उसका उल्लेख स्वाभाविक है।)

२. 'गुंजन' की 'अप्सरा' नामक कविता।

से चित्र का वातावरण पूर्ण सजीव व यथार्थ हो उठा है। भाषा सर्वथा भावानुसारिणी है। सारा चित्र कोमल कल्पना का एक सुन्दर उदाहरण है।

कहीं-कहीं कवि ने सागरूपक के द्वारा नारी-सौंदर्य का भरापूरा चित्र अंकित किया है। यथा—

> खैंच ऐंचीला भ्रू सुरचाप, शैल की सुधि यों बारम्बार,
> हिला हरियाली का सुदुकूल, झुला झरनों का झलमल हार,
> जलद पट से दिखला मुख चंद्र, पलक, पल-पल चपला के मार,
> भग्न उर पर भूधर सा हाय, सुसुखि, धर देती है साकार।[1]

वर्षाकाल के पर्वत की सुधि के रूप में, इन्द्रधनुष, हरियाली, झरना, बादल, चन्द्र, चपला, भूधर आदि सुप्रसिद्ध उपमानों के सङ्कलन द्वारा जो उपमेय नारी-रूप प्रस्तुत किया गया है वह निःसन्देह कवि की उदात्त कल्पना व प्रौढ़ कौशल का परिचायक है।

पंत के आरम्भिक चित्रों में सुकुमारता, रंगीनी व सूक्ष्मता का शृंगार खूब ही रहा है। चित्र को भव्य और आकर्षक बनाने के लिए कवि ने अपनी कल्पना को सारे ब्रह्मांड में भ्रमण करा कर सौदर्य के विरल से विरल उपकरण जुटा कर लाने को मुक्त छोड़ दिया है। किन्तु अपने काव्य-विकास में कवि आगे चल कर 'ग्राम्या' में धूमिल कल्पना-जगत् से उतर कर एक बार लगभग पूर्णतः पृथ्वी पर आ गया है। अब उसे यथार्थ तथा भौतिक के प्रति गहरा प्रेम है, और वह मिट्टी की धरती में भी सौदर्य देखने लगा है। निम्न सामाजिक स्तरों के नारी-सौंदर्य का चित्रण भी कवि ने पूर्ण मनोयोग तथा उत्साह से किया है। उदाहरणार्थ—

> उन्मद यौवन से उभर, घटा सी नव असाढ़ सी सुन्दर,
> अति श्याम वरण, श्लथ मंद चरण,
> इठलाती आती ग्राम युवती, वह गजगति सर्प डगर पर।
> सरकाती पट, खिसकाती लट, शरमाती झट,
> वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।
> हँसती खल खल अबला चंचल, ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल,
> भर फेनोज्वल दशनों से अधरों के तट।[2]

'बच्चन' की मधुशाला प्रेम-सौदर्य की एक लोकप्रिय प्रतीकात्मक काव्य-कृति है। उसमें नारी-सौदर्य का एक चटकीला चित्र वास्तव में आकर्षक है। यदि वे सौदर्य का ऐसा चित्र अंकित कर सकते हैं—

---

१. पल्लव; पृ० १६।

२. आधुनिक कवि : पंत (सम्मेलन संग्रह); पृ० ८७।

मेंहदी रंजित मृदुल हथेली में माणिक मद का प्याला,
अंगूरी अवगुंठन डाले स्वर्ण वर्ण साकीबाला,
पाग बैंजनी, जामा नीला, डाट डटे पीने वाले,
इन्द्रधनुष से होड़ रही ले आज रँगीली मधुशाला ।[1]

तो ऐसी सरल सादगी का मोहक चित्र अंकित करने में भी पटु हैं—

सुधि मे सचित वह साँझ कि जब
रतनारी प्यारी सारी में, तुम प्राण ! मिलीं नत, लाज भरी–
मधुऋतु मुकुलित गुलमुहर तले !

× × ×

है याद मुझे वह शाम कि जब
नीलम सी नीली सारी मे, तुम, प्राण ! मिलीं उन्माद भरी–
खुल कर फूले गुलमुहर तले !

कब भूल सका गोधूलि कि जब
सित सेमल सादी सारी में, तुम, प्राण ! मिलीं अवसाद भरी
कलि पुहुप भरे गुलपुहर तले ।[2]

अवसाद-भरी नायिका के करुण-गम्भीर सौंदर्य का यह सरल-सादा चित्र कितना मोहक है ![3]

श्री गुरुभक्त सिंह भी बहुत ही साधारण शब्दों में सौंदर्य का गहगहा चित्र अंकित करने में सिद्धहस्त है । उनके द्वारा अंकित यह एक चित्र देखिए—

एक किरण उड़ते अंचल से आँख मिचौनी खेली ।
खुले हुये अंगों से उसके फिर करती अठखेली ।
एक जरा धीरे ही धीरे छूकर बदन जगाती ।
करवट के लेते ही डर कर बालों में छिप जाती ।
उस शोभा में चल दुकूल की उठती रही हिलोरें ।
दृग अम्बुधि में मिली हुई थी पलक गगन की छोरें ।
पी गुलाब से भरे छलकते गालों के वे प्याले ।
नयन किसी के निरख रहे थे हो हो कर मतवाले ।[4]

---

१. मधुशाला; छंद १२ ।
२. मिलनयामिनी; मध्य भाग, गीत संख्या ३० ।
३. नूरजहाँ (द्वितीय संस्करण); पृ० ५६, ५७ ।
४. विशेष देखिए पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में परिशिष्ट नं० ७ में स्त्री-रूप; पृ० २६० से २६७ ।

यह है छायावाद-काल के रूप-सौदर्य-चित्रण की कला की एक झलक। इस प्रकार के अगणित छोटे-मोटे रूप-चित्र छायावाद की कविता में उपलब्ध हैं। इनको देखकर पूर्वयुगों के सौंदर्य-चित्रण से इनकी विशेषता भली-भाँति स्पष्ट हो सकती है। इनमें सामान्य से लेकर अतिकल्पनापूर्ण भव्य चित्रों के बीच पड़ने वाली अनेक रंगतो के चित्रण का प्रसार मिलता है। इसमें एक ओर तो कवियो की सूक्ष्मदर्शिता, मौलिकता व स्वच्छंद कल्पना के दर्शन होते है, और दूसरी ओर यथार्थ जीवन की सादगी और स्वाभाविकता के प्रति रुझान। अलंकारों का विधान प्रयत्नसाध्य नहीं, अपितु स्वाभाविक है। निश्चय ही कवियों का रूप-चित्रण कलापूर्ण है।

भरपूर सौदर्य-वर्णन में, शरीर के अंग-प्रत्यंग का वर्णन काव्यों में होता आया है। केश, मुख, भाल, कान, भौं, पलक, आँख, चितवन, नयनतारा, पुतली, नासिका, दाँत, वाणी, अधर, कपोल, ग्रीवा, ग्रीवा-रेखा, स्कंध, कंठ, बाहु, भुजाएँ, अंगुलियाँ, नख, वक्षस्थल, नाभि, त्रिबली, रोमाली, कटि, जघन, नितम्ब, उरु, चरण, अंगूठा, गुल्फ, अंगों का सौदर्य, सौकुमार्य, वर्ण, कद, व गठन आदि सबका भरापूरा वर्णन भारतीय प्रेम-काव्य में हुआ है।[१] किन्तु छायावाद में इनकी प्रायः कुछ झलकें ही संभव हो पायी हैं। मुक्तक काव्य में प्रबन्ध-काव्य के-से विस्तार-पूर्ण वर्णनों का आना संभव भी नहीं। शरीर के कई अंगों का तो विस्तृत वर्णन मिलता है, किन्तु कई का बहुत ही कम तथा संक्षिप्त। जिन अंगों का अपेक्षाकृत विस्तार के साथ वर्णन मिलता है, वे ये है : केश[२], कपोल, उसकी पाली व गढे[३], नयन व चितवन[४], कान, कर्णमूल व कानों की लाली[५], भौ[६], वेणी[७], वक्षस्थल[८], मुखछवि[९], मेंहदी-रंजित तथा कंकण आदि आभूषणों से सुसज्जित हाथ।[१०]

---

१. विशेष देखिए, S. K. De : '*Treatment of Love in Sanskrit Literature*', page 38 to 43.

२. 'पल्लव', पृ० ५३; 'युगांत', पृ० ५१; 'कामायनी', श्रद्धा सर्ग ; 'गुंजन', अप्सरा; 'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त' नाटक मे 'अगरुधूम की श्याम लहरियाँ' आदि गीत तथा महादेवी के 'यामा' के अनेक गीत।

३. 'निराला' : 'परिमल' की 'जूही की कली' नामक कविता; पंत की 'ग्रंथि'; व 'प्रसाद' का 'आँसू'।

४. 'मधुशाला', 'ग्रंथि', 'आँसू', नूरजहाँ' तथा गुंजन' (अप्सरा नामक कविता) में।

६. प्रसाद : 'आँसू' तथा 'कामायनी'। ५. 'आँसू' तथा 'ग्रंथि'।

७. 'प्रसाद' का 'आँसू' तथा 'पंत' की 'अप्सरा' नामक कविता।

८. पंत का 'युगांत' तथा 'निराला' की 'जूही की कली' नामक कविता आदि।

९. 'उत्तरा', 'आँसू', 'कामायनी', 'ग्रंथि' तथा 'नूरजहाँ'।

१०. 'अंचल' : 'वर्षान्त के बादल'; 'पंत' : 'अप्सरा; 'बच्चन' : मधुशाला' तथा 'मिलनयामिनी'।

जिन अगो का अपेक्षाकृत संक्षेप मे या विरल वर्णन हुआ है वे ये हैं—माँग,[1] अंस या स्कन्ध,[2] नाभि,[3] त्रिबली,[4] हथेली,[5] तथा गुल्फ[6] आदि ।

यों तो सौदर्य-वर्णन के लिए बहुत कुछ उपमान छायावादी कवियों ने भी परम्परागत ही रखे है, फिर भी 'प्रसाद', 'पंत', व महादेवी आदि कवियों ने इस दिशा में स्वतन्त्र निरीक्षण व कल्पना का परिचय देते हुए अनेक नवीन उपमानों की योजना की है । सौदर्य-वर्णन के उपरोक्त उदाहरणों में यत्र-तत्र यह बात देखी जा सकती है ।

सज्जा—रूप-सौंदर्य के साथ वस्त्र, सज्जा और अलंकार आदि का भी घनिष्ठ संबंध है । सज्जा के विधान में कवियों की आधुनिक परिष्कृत रुचि का भी अच्छा पता चलता है । भारतेन्दु-काल तक हम सज्जा-विधान में प्रायः रूढिप्रियता ही पाते है । द्विवेदी-काल में गुप्त जी तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियो ने अपनी कृतियों मे वेश-भषा के वर्णनों में युगानुरूप नवीन रुचि का कुछ परिचय दिया। नवीन कवियों ने सज्जा को आधुनिकतम रूप में प्रस्तुत करने के लिए रंगो या रगतों (hues, shades) के प्रति भी अच्छा आकर्षण व सजगता प्रकट की है । सज्जा के विवेचन को हम स्पष्टता की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं— (१) वस्त्र, (२) अलंकार, तथा (३) अनुलेपन या गंध-द्रव्य आदि ।

वस्त्र—कवियों के काव्यांतर्गत वस्त्र-चयन में निहित रुचि-वैचित्र्य से भी उनकी सौंदर्य-दृष्टि की मौलिकता का पता चलता है। कुछ चुने हुए उदाहरण आशय को स्पष्ट कर सकेंगे —

(क) मसृण गांधार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कांत, बन रहा था वह कोमल वर्म । (कामायनी)

(ख) गुँथी है जुगनुओं से मोरपंखी किशमिशी चोली,
दिये गुलनार माथे पर शफ़क की रेशमी रोली ।
पहन धानी लहरियाँ आ रहीं वर्षा सोहागिन फिर । (अंचल)

(ग) स्वर्णाचला अहा खेतों में उतरी संध्या श्याम परी । (दिनकर)

(घ) पीला चीर, कोर में जिसकी चकमक गोटा जाली । (दिनकर)

---

१. 'अंचल' : 'वर्षान्त के बादल'; 'आँसू'; 'यामा' के गीत ।

२. 'कामायनी', 'श्रद्धा' सर्ग व 'पंत' के 'युगांत' की 'मानव' नामक कविता ।

३. 'उत्तरा'; पृ० ४६ ।

४. 'कामायनी'; 'इड़ा' सर्ग ।

५. 'जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली' (कामायनी; कर्म सर्ग) ।

६. 'कामायनी'; 'ईर्ष्या' सर्ग ।

(ङ) गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर। (पंत)

(च) नग्न देह में नव रंग सुर धनु छाया पट सुकुमार। (पंत)

(छ) रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारो की जाली। (महादेवी)

(ज) छा रही है हृदय पर मेरी प्रिया कनकाम्बरी। (नरेन्द्र शर्मा)

(झ) हिम सी चिकनी, सुन्दर स्वर्णिम ऊषा सी-
काया पर सज कर साड़ी इंदु-कला सी,
अपनी साँसों के हल्के मलय-पवन में
निज इंद्रधनुष-सा पट फहराती आओ। (तरुण)

ऐसे ही सैंकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। आजकल लोक-काव्य के प्रचलन के परिणामस्वरूप, रंगों के प्रति नई पीढ़ी के कवियों की दृष्टि पर्याप्त जागरूक दिखाई पड़ रही है। रंगों का वर्णन हमारी चेतना मे एक विशेष झलमलाहट व माधुर्य उत्पन्न करता है, इसमें संदेह नही।

अलंकार—सौंदर्य में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालिदास के युग में काव्य में इनका कदाचित सर्वाधिक प्रयोग हुआ। किन्तु वैभव-हीन भारत की नायिकाओं के लिए कवि अब हीरे, सच्चे मोती, पन्ना, पुखराज, नीलम, गोमेदक, लालमणि, नीलम आदि बहुमूल्य पदार्थ कहाँ से जुटा पाते? वैभवशालिनी भारत वसुन्धरा की गोद में किलकते कालिदास ने अपने काव्य में रत्नादि का भूरिशः प्रयोग किया। अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क से तथा गाँधी जी के सुधारों के साथ भारतीय स्त्रियों का आभूषण-प्रेम अब तो यों भी कम हो गया है। अतः काव्य की नायिकाएँ बहुत सादी ही दिखाई देने लगी हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या? भारतेन्दु-काल व द्विवेदी-काल में भारत की प्राचीन संपन्नता का प्रतीक स्त्रियोचित आभूपण-विधान काव्य में पर्याप्त रहा है। किन्तु अब वह कम हो चला है। किंकिणी और वलय के विना काम चल भी तो नहीं सकता। यथा—

(क) मुखर चरण ध्वनित हुए झनन झनन।
सुवर्ण किंकिणी बजी छनन छनन।
खनक उठे कनक वलय खनन खनन।[१]

(ख) नूपुरों के स्वरों में संगीत करता चरण चुम्बन।[२]

---

१. —'बच्चन' : 'मिलनयामिनी', पृ० २१३। २. प्रेम संगीत।

पुष्प भी शृंगार के महत्त्वपूर्ण सौदर्य-प्रसाधन रहे है। कालिदास ने अपनी नायिकाओं का शृङ्गार अशोक, मौलिश्री, कचनार, कर्णिकार, शिरीष, लोध्र, कमल, कल्हार व चम्पक आदि पुष्पों से किया है। किन्तु अब बनावटी सभ्यता के इन दिनों में फूलों से क्या मतलब ! हाँ, बेचारी देहाती (!) नायिकाएँ अवश्य फूलों से अभी भी अपना सहज प्राकृतिक नेह बनाए हुए हैं—

> कानों में अडहुल खोंस, धवल, या कुई, कनेर, लोध पाटल,
> वह हर सिंगार से कच सवार, मृदु मौलसिरी के गूँथ हार,
> गउओं संग करती वन विहार, पिक चातक के सग दे पुकार,
> वह कुद काँस से, अमलताल से, आम्रमौर, सहजन, पलाश से,
> निर्जन में सज ऋतु सिंगार। (ग्राम्या)

इतना ही नही, पंत जी ने तो स्वर्गीय अप्सरा तक को फूलों से सुसज्जित करके उनकी सौदर्य-वृद्धि की है—

> खोंस नील नभ की वेणी मे इन्दु कुंद द्युति स्फार। (गुजन)

अनुलेपनादि—स्त्रियों के शृङ्गार के प्रसाधनों में चन्दन, केसर, कस्तूरी, पुष्प-चूर्ण आदि अंगरागों का भारतीय साहित्य में बहुत प्रयोग हुआ है। हिन्दी के रीतिकाल तक उसकी झलक हमें मिलती है। किन्तु काल की कुचाल से अब देश धन-हीन हो गया, अतः कोई चाहे तो भी इन्हें कहाँ से पावें। अब तो इनका प्रयोग भी हास्यास्पद ही समझा जायगा। हाँ, सौभाग्यवश इसकी क्षति-पूर्ति अब हिमालय बोके, पाटनवाला स्नो, पौंड्स क्रीम, क्यूटीक्यौरा पाउडर आदि से हो गई है। नखरंजनी मेंधिका तो गँवारों की चीज है ! क्युटेक्स नेल-पालिश सलामत रहे ! होठों में स्वस्थ गाढ़े ताजे लाल रक्त की लाली डालडा युग में अब कहाँ ? यह काम लिपस्टिक से निकल ही सकता है। गालों में भी उषा-सी या अनार के लाल फूलों से स्वस्थ रक्त की लाली आजकल सामान्यतः कहाँ ! विज्ञान के हम ऋणी हैं, कि प्राकृतिक चाह की पूर्ति के लिए उसने कृत्रिम साधन प्रस्तुत कर दिये है। इनसे यदि मन सन्तोष मान ले तो हर्ज भी क्या ! प्राचीन अनुलेपनों तथा अन्य सामग्रियों की कमी अब कैसे पूरी हो रही है, यह पंत जी दिखाएँगे—

> पशुओं से मृदु चर्म, पक्षियों से ले प्रिय रोमिल पर,
> ऋतु कुसुमों से सुरंग सुरुचिमय चित्र वस्त्र ले सुन्दर,
> सुभग रूज़, लिपस्टिक, बौस्टिक, पौडर से कर मुख रंजित,
> अंगराग, क्यूटेक्स अलक से बन नख शिख शोभित। (ग्राम्या)

इस पर 'दिनकर' जी की भी टिप्पणी सुन लीजिए—

> पहन नील, किर्मीर वसन, तितली से पंख लगाए,

उर गृह से बाहर आकर तुम किसको ढूँढ रही हो।
भ्रू की रेखा सजा राग से रंग कपोल अधरों को,
मुकुर देख खिलखिला रही हो किस आसन्न विजय से। (रसवंती)

अनुभाव या शारीरिक चेष्टाएँ—नायिकाओं की शारीरिक चेष्टाएँ भी सौदर्य के प्रधान उपकरण है। वे उद्दीपन का कार्य करती हैं और शृंगार रस की निष्पत्ति में सहायक होती है। ये चेष्टाएँ कायिक, वाचिक, मानसिक और सात्विक कई प्रकार की होती है। साहित्य-शास्त्र में इनका वहुत बड़ा विस्तार है[१]। स्त्रियों के अट्ठाइस अलंकार (३ अंगज, ७ अयत्नज, व १८ स्वभावसिद्ध या कृतिसाध्य) होते है, जो उनकी शोभा बढ़ाने में सहायक होते है। इन २८ अलकारों के अतिरिक्त ८ सात्विक भाव तथा रति-भाव से उत्पन्न अन्य चेष्टाएँ भी होती हैं। ये सब चेष्टाएँ साहित्य-शास्त्र में अनुभाव कहलाती हैं। इन अनुभावों का चित्रण छायावादी काव्य में भी पर्याप्त हुआ हैं। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(क) तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गङ्गा स्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान। (पल्लव)

(ख) एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक, थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से, दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।
(ग्रंथि)

(ग) तुमने अधरों पर धरे अधर, मैंने कोमल वपु भरा गोद,
था आत्म समर्पण सरल, मधुर, मिल गए सहज मारुतामोद। (युगांत)

(घ) आज कुन्तल छाँह मुझ पर तुम किएहो,प्राण, कह दो, आज तुम मेरे लिए हो।
(मिलयामिनी)

(ङ) होटों पर हो मुसकान तनिक नयनों में कुछ-कुछ पानी हो।
× × ×
रोकर तुमने मुझ को बाँधा, हँस कर मुझको स्वाधीन करो। (प्रेमसंगीत)

(च) बोलो, क्यों इतना रोष किया, जो छाई रिस भ्रू-भंगों पर।

(छ) स्नेह परस मिस सिखा पुलक दल बन्दी बना लिया मृदु तन,
पुलकावलि की मृदुल डोर में कस-कस जकड़ दिया यौवन।
चूम चूम मादक अधरों से मूँद दिए फिर चल लोचन,
फिर खिलखिला उठी कलिका सी सहसा भर प्रेमालिंगन, (प्रभातफेरी)

---

१. विश्वनाथ : 'साहित्य दर्पण' (हिन्दी विमला टीका); पृ० १०९ से १२३।

(ज) लगा करने आगन्तुक व्यक्ति मिटाता उत्कण्ठा सविशेष,
दे रहा हो कोकिल सानन्द सुमन को ज्यों मधुमय संदेश। (कामायनी)

(झ) चौंक पड़ी युवती, चकित चितवन निज चारों ओर फेर
हेर प्यारे को सेज पास, नम्र मुखी हँसी खिली, खेल रंग, प्यारे संग।
(निराला: 'जूही की कली')

उपरोक्त उद्धरणों में रेखांकित स्थल सात्विक भावों के सूचक है। ये सात्विक भाव स्वतन्त्र भी माने जाते हैं, किन्तु प्रायः अनुभावों में ही समाविष्ट कर दिए जाते हैं।

शील अथवा अन्तः-सौंदर्य—बाहरी रूप के चाकचिक्य की अपेक्षा मानसिक सौदर्य या शील का प्रभाव ही मानव-हृदय पर अधिक स्थायी रहता है। शील भी सौदर्य ही है जो हृदय के नेत्रों से देखा व अनुभव किया जाता है। शील-निरूपण का प्रयत्न प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में 'यशोधरा', 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'स्वप्न' व 'मिलन' आदि कृतियो में द्विवेदी-युग मे पर्याप्त रूप से हो चुका था, यह हम बता चुके हैं। पर, भारतीय आदर्शवादी कवि नारी का गौरवगान करते नहीं अघाता। अतः छाया-वाद युग में भी नारी के आदर्श रूप अथवा शील का चित्रण मुक्त तथा प्रबन्ध-दोनों ही क्षेत्रों में दिखाई पडा। नारी के शील के मुख्य आधार—दया, करुणा, ममता, सेवा, सहानुभूति, समर्पण, त्याग, क्षमा आदि दिव्य गुण हैं।

'कामायनी' में श्रद्धा के शील का बहुत विशद व गंभीर निरूपण हुआ है। वह सहज विश्वासमयी व समर्पण-भावनापूर्ण पत्नी, स्नेहमयी माँ, तथा ममता-मयी मानवी है। उस के चरित्र-विश्लेषण के माध्यम से कवि नारी-मात्र के प्रति ये उद्गार प्रकट करता है—

नारी, तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पद-तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल मे।[1]

पर, नारी विश्व और मानव-जाति को यह महान् दान कितनी बड़ी कीमत चुका कर कर रही है। एक ओर प्राकृतिक दुर्बलता और जीवन की हार, मौन रुदन और चुप्पी तथा दूसरी ओर विश्वास और समर्पण की वजनदार निधि। स्वयं श्रद्धा की यह उक्ति देखिए—

यह आज समझ तो पाई हूँ मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सब से हारी हूँ।
सर्वस्व समर्पण करने की विश्वास महा तरु-छाया में,
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों ममता जगती है माया में।[2]

---

१. कामायनी; लज्जा सर्ग। २. वही।

वह अपना नारी-जीवन, सार्थक और धन्य करने के लिए मनु के चरणों में अपने अस्तित्व का निःशेष रूप से समर्पण करने को तत्पर है—

समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत-विकार।
दया, माया, ममता, लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ, तुम्हारे लिए खुला है पास।[१]

सेवा, उत्सर्ग, दया, माया, ममता, मधुरिमा, विश्वास की इस अगाध, अकूल, विपुल व अनमोल निधि से परिपूर्ण श्रद्धा का हृदय !

किन्तु, उस के प्रति मनु का कैसा निर्मम और क्रूर व्यवहार ! कवि ने इस समस्त विश्लेषण के द्वारा श्रद्धा-मनु के चरित्र की तुलना करके श्रद्धा का ही गौरव प्रतिष्ठित किया है—

मनु, तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल।[२]

मंगलमयी श्रद्धा का यह रूप कितना सात्त्विक व मोहक है—

वह कामायनी जगत की मंगल कामना अकेली,
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित मानस तट की वन बेली।[३]

'प्रसाद' ने अपने नाटकों में भी देवसेना, अलका, कार्नेलिया, कल्याणी, ध्रुवस्वामिनी आदि स्त्री-पात्रों में शील-सौजन्य की बड़ी ही मधुर झाँकियाँ दी हैं। यह शील ही उनके वास्तविक सौंदर्य को प्रकट करता है।

'ग्रन्थि' में कवि पंत ने नायिका की निःस्वार्थता तथा उदारता का एक बहुत सुन्दर चित्र अंकित किया है। नायिका ने नायक के प्राण बचाये हैं। नायक उस नायिका के उपकार का गुणगान करता हुआ कहता है—

दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज, सरल उपकृति का सजल मानस प्रिये।
क्षीण करुणालोक का भी लोक को है बृहत् प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा।[४]

कवि नारी के शील पर मुग्ध होकर उसके प्रति प्रेम और श्रद्धा से भर उठा है। वह तो यहाँ तक भी कहने को तैयार है—

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर, तो वह नारी उर के भीतर,
दल पर दल खोल हृदय के स्तर, जब बिठलाती प्रसन्न होकर।
वह अमर प्रणय के शतदल पर।[५]

---

१. वही; श्रद्धा सर्ग। २. वही; इड़ा सर्ग।
३. कामायनी; आनन्द सर्ग। ४. ग्रंथि; पृ० ८। ५. ग्राम्या; पृ० ८२।

मानवीय सृष्टि पर यह नारी के शील का ही दिव्य प्रभाव है कि हिंस्र मानव अपनी-अपनी हिंसा-वृत्ति छोड़कर प्रेम का अमर पाठ पढ़ने लगता है। प्रेममयी नारी की वंदना करता हुआ कवि कहता है—

> दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर, गई खिल कमल पंक्ति अम्लान,
> हिंस्र मानव के कर से स्रस्त, शिथिल गिर गए धनुष औ बाण।[1]

कवि युग की दिग्भ्रांत नारी के स्वस्थ संयत रूप की कल्पना हमारे सामने रखता हुआ सहज नारीत्व को मानो इसी रूप में समझता है—

> अंगों में अब शेष नहीं पहले की सरल चपलता,
> सब के सब दायित्व ज्ञान से कुछ कुछ दबे हुए हैं।
> वाणी संयमशील, धीरता है भर गई पदों में,
> आँखों के संकोच, शील में गौरव भर आया है।[2]

श्री सोहनलाल द्विवेदी के 'कुणाल' नामक काव्य की नायिका, राज्य से अपने प्रिय पति के निर्वासित किये जाने पर नारी-सुलभ शील का परिचय देकर जनक-नंदिनी का भव्य उदाहरण दोहराती है—

> बोली गद्गद् कंठ कांचना, नाथ, तुम्हारा तज कर साथ,
> कहाँ सुखी होगी यह दासी छोड़ तुम्हारा पावन हाथ।
> कैसे तुम्हें छोड़ सकती हूँ प्रियतम, इस भीषण दुख में,
> मैं गृह रहूँ सुखी हो, औ तुम जाओ कानन के मुख में।[3]

ये हैं नारी के आंतरिक शील-सौंदर्य के कतिपय उदाहरण, जिनमें उसकी आत्मा का प्रकाश प्रकाशित हो रहा है। यह सौंदर्य नारी के उस वास्तविक सौंदर्य को प्रकट करता है जिसके प्रति सभ्य समाज सदा नतमस्तक रहता आया है।

पर, चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है। शील की स्थिति का महत्व इसीलिए है कि उसका विरोधी गुण अथवा दुःशील भी कहीं न कहीं विद्यमान है। कविजन अपने मूल रूप में प्रायः आदर्शप्रेमी होते हैं। कुछ तो आदर्श-प्रेम, कुछ कवि-सुलभ कल्पना तथा भावुकता का उत्कर्ष, और कुछ नारी-सम्बन्धी आधुनिक आदर्शात्मक विचार-धारा, इन सब कारणों से कवियों ने नारी के प्रति बहुत उदात्त भावनाएँ दर्शाई। पर प्रकृति में कोई वस्तु पूर्णतः सात्विक नही। सत्व में भी विकृति आ ही जाती है। नारी को जहाँ कवियों ने पृथ्वी पर प्रभु की भव्यतम कलाकृति, अमृत की तरंग, रूप-रस, शक्ति और चेतना के उद्गम के रूप में देखा, वहाँ वह या तो अपनी ही स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण, या स्वेच्छाचारी व निर्दय पुरुषों के दुर्व्यवहार के प्रतिक्रिया-स्वरूप, या सभ्यता के विषम प्रभावों के परिणामस्वरूप—वह जघन्यतम

१. रसवंती; पृ० २७। २. वही; पृ० ५०। ३. कुणाल; पृ० ६५।

रूप में भी प्रकट हुई। अतः कवि आदर्श-प्रेमी होते हुए भी नारी की इस विकृति की ओर से आँख न मूँद सका। कवि पंत जहाँ पल्लव में नारी का इस रूप में गुणगान करते नहीं अघाते—

तुम्हारे रोम रोम से नारी मुझे है स्नेह अपार,
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि, मुझे है स्वर्गागार।
तुम्हारे गुण है मेरे गान, मृदुल दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान, शक्ति, पूजन, सम्मान।[1]

वहाँ ग्राम्या तक आते-आते उनकी दृष्टि इस प्रकार की भी बन जाती है—

यदि कहीं नरक है इस भू पर, तो वह भी नारी के अन्दर,
वासनावर्त मे डाल प्रखर वह अंध गर्त में चिर दुस्तर,
नर को ढकेल सकती सत्वर।[2]

अपने निरीक्षणों के आधार पर, क्षोभपूर्ण स्वर में उद्गार प्रकट करते हुए, आधुनिक दिग्भ्रान्त नारी का मूल्याकन वे इस रूप में करने को जैसे बाध्य हो गए है—

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नही अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी।[3]

इसका कारण भी कदाचित् विलासी क्रूर पुरुष ही है। कवि नारी की इस दयनीय स्थिति का उत्तरदायी शायद पुरुष को ही ठहराता है, जो सत्य भी है—

योनि मात्र रह गई मानवी निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष प्रकृति की पशुता का पहने नैतिक आभूषण
नष्ट हो गई उसकी आत्मा, त्वचा रह गई पावन,
युग-युग से अवगठित गृहिणी सहती पशु के बन्धन।[4]

वड़े करारे शब्द है ये ! किंतु, इस उग्र रोष के पीछे निःसदेह कवि की, नारी को आदर्श, पवित्र और मंगलमय रूप में ही सदा देखने की मधुर भावना निहित है।

नारी का यह यथार्थ रूप आदर्शवादी कवि 'प्रसाद' ने भी अपने नाटकों में हमारे सामने रखा है, यद्यपि वह रूप भारतीय नारी के आदर्श रूप को चमकाने के लिए विरोध (कन्ट्रास्ट) मात्र ही है। 'कामायनी' की 'इड़ा' के चरित्र-चित्रण के माध्यम से, उन्होंने मानव की शुष्क या श्रद्धा-हीन तर्क-बुद्धि को वैभवशालिनी एवं विपथगा नारी का रूप देकर, अन्त में वास्तविक नारीत्व का स्वरूप उद्घाटित

---

१. पल्लव; पृ० ५३। २. ग्राम्या; पृ० ८२। ३. वही; पृ० ८३।
४. युगवाणी; पृ० ५८।

किया है। शुष्क तर्क-बुद्धि की प्रतीक 'इड़ा' अपना भूल-सुधार करती हुई भावना, श्रद्धा, तथा सरसता की 'प्रतीक' कामायनी को समर्पण व आत्म-शोधन के स्वर में कहती है—

भगवति, समझी मैं, सचमुच कुछ भी न समझ थी मुझको,
सब को ही भुला रही थी अभ्यास यही था मुझको।[1]

'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय' और 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' कह कर कवि न शुष्क और श्रद्धा-विहीन बुद्धि का बड़ा ही मार्मिक मानवीकरण किया है।

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने 'कुणाल' काव्य में तिष्यरक्षिता के चरित्र के द्वारा नारी के इसी दुःशील का मार्मिक चित्र रखा है। कठोर-हृदया तिष्यरक्षिता अपने सौतेले पुत्र की आँखें निकलवाने को तैयार है। वह दूत को कह रही है—

है कुल कलंक, कुल अरि, कुणाल, खुल गई आज सब छिपी चाल।
यह राजाज्ञा है राज्यदण्ड, परिपालन ही इसका अखण्ड,
षडयन्त्र किया इसने प्रचंड, हो मौर्यशक्ति जिससे विदड,
दोषी के दोनों दृग निकाल, निर्वासित कर दो राज्यपाल।[2]

नारी के शील-सौंदर्य के दोनों पहलुओं का परिचय देने के लिए इतना विवेचन पर्याप्त है। इस विवेचन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि दुःशील नहीं किन्तु शील का सौंदर्य नारी-सौंदर्य का मूल है। उसके महान् आत्मिक गुणों में ही उसका द्विव्य सौंदर्य निहित है, और यही सौंदर्य संसार के श्रेष्ठ कवियों का अक्षय प्रेरणा-स्रोत रहा है।

(२) **पुरुष-सौंदर्य :** साहित्य में मुख्यतः नारी-सौदर्य का ही विस्तृत चित्रण मिलता है, पर पुरुष सौदर्य भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं रहा। अनेक महाकवियों ने (वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर आदि) पुरुष-सौदर्य का चित्रण पूर्ण मनोयोग के साथ किया है। कवियों ने पुरुषों के बाह्य व आंतरिक—दोनों ही रूपों पर दृष्टि डाली है। छायावाद-काल के कुछ कवियों ने पुरुष-सौदर्य को भी अपने चित्रण का विषय बनाया, जिससे इन कवियों की सौदर्य-भावना की व्यापकता का बोध हुआ। किन्तु, यह चित्रण इतना विस्तृत व विशद नहीं था कि उसका विवेचन रूप, अनुभाव, सज्जा, व शील आदि शीर्षकों के अन्तर्गत रखकर किया जाय। अतः पुरुष सौंदर्य-वर्णन की कुछ विशेषताएँ झलका देना भर पर्याप्त होगा।

'प्रसाद' ने 'कामायनी' में मनु के शारीरिक सौदर्य का संक्षिप्त किंतु स्पष्ट व प्रभावशाली चित्र अकित किया है। देखिए—

---

१. 'कामायनी'; आनंद सर्ग। २. कुणाल; पृ० ५३।

अवयव की दृढ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार
चिंता कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत ।[1]

ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि कवि ने मनु का सौंदर्य-वर्णन किया है, पर वह श्रद्धा के सौंदर्य-वर्णन के अनुपात में कितना संक्षिप्त है, और वह भी तब, जब कि मनु काव्य के नायक है ।

समाज के निम्न स्तरों के व्यक्तियों का सौंदर्य भी कवियों ने, मानवता के नाते, सहृदयतापूर्वक देखा है और उसका चित्रण किया है । 'दो लड़के' शीर्षकिनी कविता मे पंत ने थोड़े से पुष्ट स्पर्शों में पासी के बच्चों का स्वरूप अच्छा झलकाया है—

नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले, पर फुर्तीले,
सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन मन,
मानव के नाते उर मे भरता अपनापन ।[2]

पंत ने अपने विकास के प्रथम चरण में प्रकृति के प्रति ही गहन मोह दर्शाया था, किंतु द्वितीय चरण में मानव-सौंदर्य भी उनकी सौंदर्य-भावना की परिधि में समाविष्ट हो गया । मानव-सौंदर्य के दोनों रूपों—स्त्री-सौंदर्य तथा पुरुष-सौंदर्य—ने ही अब कवि को समान रूप से आकर्षित किया । कवि की यह संतुलित सौंदर्य-भावना उसकी व्यापक सौंदर्य-दृष्टि की परिचायिका है । कवि ने मानव-सौंदर्य के आदर्श रूप को, जीवन की मूल चेतना से सम्बद्ध करके कितनी गंभीरता और भावुकता से निहारा है, देखिए—

धावित कृश, नील शिराओं में मदिरा से मादक रुधिर धार,
आँखें है दो लावण्यलोक, स्वर में निसर्ग संगीत सार ।
पृथु उर उरोज ज्यों सर, सरोज, दृढ़ बाहु प्रलम्ब प्रेम बंधन,
पीनोरु स्कन्ध जीवन तरु के, कर, पद, अंगुलि, नख शिख शोभन ।[3]

श्री गुरुभक्त सिंह की आँख प्राकृतिक सौंदर्य-चित्रण में जहाँ वस्तु-व्यापारों की सूक्ष्मता तक जाती है, वहाँ पुरुष-सौंदर्य के चित्रण में उसकी बारीकियों पर भी । कवि नवीन रुचि के अनुसार ग्रामीण जीवन व उसके सौंदर्य के प्रति भी पूर्ण उत्साही है । ग्राम-युवक का यह सादा किन्तु भरापूरा यथार्थ चित्र पर्याप्त सुन्दर है—

---

१. कामायनी; चिंता सर्ग । २. युगवाणी ।
३. युगांत; 'मानव' नामक कविता ।

विहँसा युवक, तेज था मुख पर, था मजबूत गठीला ।
घुँघराले काले बालों पर बंधा अँगौछा ढीला ।
लोहे सी जंघा के ऊपर कसी हुई थी धोती,
घनी शिखा करवट ले ले कर गर्दन पर थी सोती ।
तन पर कोई वस्त्र नहीं था, गर्दन में था गंडा,
एक हाथ में काला कम्वल, एक हाथ में डंडा ।[1]

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने अपने 'कुणाल' काव्य के कथानायक कुणाल का चित्र पर्याप्त मनोयोग के साथ अंकित किया है। सौंदर्य के उपकरण तो सब पुराने ही है, किन्तु सब मिलाकर चित्र में एक चटक है। यथा—

निखर सा है उठा सुन्दर, देह में तारुण्य,
इन्द्रधनु की छवि चुराकर खेलता आरुण्य,
विश्व के सौंदर्य औ माधुर्य का सब सार,
केन्द्रगत सा हो गया जैसे यहीं साभार,
पारदर्शी से, मुकुर से थे मनोरम अंग,
झलकता अन्तः बहिः, जिनमें अलौकिक रंग,
थी भृकुटि की भंगिमा कुछ बनी धनुषाकार,
छू रहा था छोर श्रुति के नयन का विस्तार,
स्कंध पर था लहर लेता उत्तरीय अमोल,
श्रुतिपुटों में कनक कुण्डल रहे रह रह डोल ।[2]

आभूषण, चेष्टा आदि : पुरुषों की भी श्रृंगारमूलक अनेक चेष्टाएँ होती है, पर कवियों द्वारा प्रायः उनका उस मनोयोग व उत्साह से वर्णन नही किया जाता, जैसा कामिनी की चेष्टाओं का। इस सम्बन्ध में इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि उनकी परिरंभणादि की चेष्टाओं का ही कहीं-कही चित्रण मिलता है; रोमांच, अश्रु व स्तम्भ आदि सात्विक भावों का भी प्रकाशन मिलता है।

एक समय था कि जब सम्पन्न भारत में पुरुषों में भी अलंकार-धारण की प्रथा प्रचलित थी। कटक, मुद्रिका, कुंडल, गोप व हार आदि का धारण अब भी स्मृति-रूप में शेष है। श्रीकृष्ण व राम आदि के सौंदर्य-वर्णन में कवियों ने आभूषणों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। किन्तु अब उनका प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर है। अलंकारों के साथ ही पुष्प भी गये। वीर या विलासी पुरुषों, राजाओं या कवियों के प्राचीन चित्रों में वे लोग हाथ में फूल धारण किये दिखाये जाते है।

शील-सौंदर्य : हाँ, पुरुषों का आन्तरिक सौंदर्य अथवा शील ही उनका

---

१. वन श्री। २. कुणाल; पृ० १६ से १८।

मुख्य गुण या आकर्षण की वस्तु होती है। धैर्य, वीरता, उदारता, गम्भीरता, सेवा, परोपकार, परदुःख कातरता, अहिंसा, क्षमा, कष्टसहिष्णुता, त्याग आदि अन्तः सौंदर्य के ही अंग-भूत गुण हैं। इस युग में देश के लिये जीवन का उत्सर्ग करने वाले नेताओं मे पर्याप्त सौंदर्य देखा गया। गाँधी जी ने जीवन-सौंदर्य की व्याख्या की। उनका स्वयं का जीवन आन्तरिक सौंदर्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण था। अतः कवियों पर उनके जीवन-दर्शन की भी गहरी छाप बैठी। गाँधी जी ने शारीरिक वीरता की अपेक्षा आत्मिक वीरता में ही अधिक सौंदर्य देखा। जहाँ पहले तलवार चलाने में ही वीरता समझी जाती थी, वहाँ अब आत्म-संयम, सत्याग्रह, प्रतिज्ञा-धारण और पालन, सविनय अवज्ञा, अहिंसा, अभय, धार्मिक सहिष्णुता व दूसरे के विचारों का सम्मान आदि गुणों में भी वीरता और सौंदर्य देखा जाने लगा। इस प्रकार सौंदर्य-भावना की परिधि विस्तृत हुई। इन गुणों के केन्द्र गाँधी जी युग-कवियों के स्वयं ही गौरवशाली विषय बने तथा अनेक श्रद्धांजलियों के प्रेरक हुए। युग-कवि द्वारा चित्रित, गाँधी जी के इस शील-सौंदर्य का एक चित्र देखिए—

> तुम मांस हीन, तुम रक्त हीन, हे अस्थि शेष, तुम अस्थि हीन,
> तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल, हे चिर पुराण, हे चिर नवीन।
> तुम पूर्ण इकाई जीवन की, जिसमें असार भव शून्य लीन,
> आधार अमर, होगी जिस पर, भावी की संस्कृति समासीन।[1]

इसी प्रकार, पं० सोहनलाल द्विवेदी ने अपने 'वासवदत्ता' नामक काव्य में भगवान् बुद्ध की सेवा-परायणता का मार्मिक चित्र अंकित किया है। प्रणयिनी वासवदत्ता के रुग्ण व जीर्ण-शीर्ण होने पर गौतम उसके पास आते है और उसकी सेवा करते हैं। सेवा-भाव से उत्पन्न गौतम का आंतरिक सौंदर्य कितना प्रभावशाली है—

> करुणामय विलोक शोक युक्त रमणी को, काँप उठे करुणा से
> पिघल उठे दुःख से गौतम ने अपने पुण्यपाणि से
> फफोलों पर, छालों पर, घाव पर, पीप पर,
> शीतल जल छिड़का, निज हाथ से धोया उसे,
> जी सी उठी मृत हत वासवदत्ता तुरन्त, देखने लगी सतृष्ण गौतम की
> मूर्ति को सेवा की स्फूर्ति को।[2]

'कुणाल' में माता तिष्यरक्षिता के द्वारा आँखें निकलवाये जाने की आज्ञा को सप्रेम शिरोधार्य करते हुए कुणाल का यह शील देखिए—

> ले कुणाल ने पत्र ध्यान से उसको देखा,
> मुखमंडल पर खिची एक नव स्मित की रेखा।

---

१. युगांत; 'बापू के प्रति', पृ० ५३। २. वासवदत्ता; पृ० ६।

बोले यह राजाज्ञा है, इसका पालन हो,
इसी प्रकार, कलंक मौर्य का, प्रक्षालन हो ।[१]

इसी प्रकार, 'वासवदत्ता' काव्य में अपराधिनी माता के वध के समय कुणाल का यह मधुर मातृ-प्रेम तथा उदात्त क्षमा-भाव देखिए—

बढ़े जल्लाद ज्यों ही बढ़े कुणाल भी त्यों ही,
पड़े पदमूल सम्राट के अधीर हो, नयनों मे नीर भर
बोले, दृढ स्वर से, पिता, रोक दो, रोक दो,
जननी है मेरी, मेरे सम्मुख यह असंभव है
छिन्न करो मेरा शिर पहले, फिर जननी का ।
भिक्षा दो इतनी आज, भिक्षुक इस पुत्र को ।[२]

कवियों ने जहाँ पुरुषों के अन्त:सौदर्य या शील को दिखाया, वहाँ उनक दु:शील भी उन्होंने प्रकट किया । नारी सहज विश्वासमयी होती है, किंतु पुरुप तो प्रकृति से ही उच्छृंखल होता है । यह उसके चरित्र का शाश्वत लक्षण है । 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में मनु के चरित्र-चित्रण के द्वारा पुरुष की इस सांस्कारिक प्रकृति का सुन्दर विश्लेषण किया है । पुरुष अपने ही स्वभाव से विवश व पीड़ित है । जीवन की सात्विक श्रद्धा का आँचल छोडकर वह तर्कमयी इड़ा की उपासना मे निरत रहता है, इसी लिए वह चिर अशांत तथा उत्तप्त है । पुरुष का स्वाभाविक सौदर्य या शील जीवन की मंगल शक्तियों में अखंड विश्वास जाग्रत होने पर ही लौट सकता है । 'कामायनी' के मनु स्मृतिकार ऋषि मनु के रूप मे चित्रित नहीं किए जाकर एक बर्बर, अविश्वासी, भोगी, अधिकार-लोलुप, सन्देहशील तथा ईर्ष्यालु पुरुप के रूप में चित्रित किये गये हैं । मानव मात्र के प्रतिनिधि मनु के चरित्र की ये झाँकियाँ देखिए । श्रद्धा पर वे किस प्रकार तामसिक एकाधिपत्य चाहते हैं—

यह जीवन का वरदान, मुझे दे दो रानी अपना दुलार ।
केवल मेरी ही चिंता का तव चित्त वहन कर रहे भार ।
यह जलन नहीं सह सकता मै चाहिये मुझे मेरा ममत्व,
इस पंच भूत की रचना में मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व ।[३]

श्रद्धा पर अधिकार जमाने में असफल मनु अपने घर से भागकर सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा पर पूरा अधिकार जमाना चाहते है, पर वहाँ भी उनको यह अनुभव हुआ—

देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ ।[४]

---

१. कुणाल; पृ० ६१-६२ । २. वासवदत्ता; पृ० ६२ ।
३. कामायनी; ईर्ष्या सर्ग । ४. कामायनी; स्वप्न सर्ग ।

स्वार्थपूर्ण अधिकार-भावना तथा हृदय की क्षुद्र संकोचवृत्ति की ये उक्तियाँ कितनी सुदर हैं। मनु इड़ा को कहते हैं—

> आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या,
> अभिलाषा मेरी अपूर्ण ही सदा रहे क्या ?
> मैं सबको वितरित करता ही सतत रहूँ क्या
> कुछ पाने का यह प्रयास है पाप सहूँ क्या ?
> इडे, मुझे वह वस्तु चाहिए जो मैं चाहूँ,
> तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।
> तुम कहती हो विश्व एक लय है, मै उसमें,
> लीन हो चलूँ, किंतु धरा है क्या सुख इस में।[१]

इस पर इडा जो उत्तर देती है, उसमें पुरुष की प्रकृति का मूल बहुत सुदर संकेत मिलता है। पुरुष का अवगुण है उसकी सीमातीत अतः अनुचित उत्तेजना, जिससे वह अपना प्राप्य नहीं पाता—

> आह न समझोगे क्या मेरी अच्छी बातें,
> तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य न पाते।[२]

यह है मनु के जीवन की विडम्बना और दरिद्रता। मनु का यह चरित्र सामान्यतः पुरुषमात्र के चरित्र का प्रतिनिधि चरित्र कहा जा सकता है। पुरुष के मानसिक जीवन का ढाँचा बहुत कुछ यही होता है। स्त्री और पुरुष दोनों के शील से ही जीवन मे सौंदर्य-कला का दिव्य विकास संभव हो सकता है। 'प्रसाद' ने कामायनी के पात्रों के शील-निरूपण द्वारा इसी ओर संकेत किया है और वह जीवनोपयोगी सुखद संदेश दिया है, जिसके अनुरूप आचरण करने पर मानव-जीवन का समस्त सौंदर्य निखर उठता है।

(ii) प्राकृतिक सौंदर्य

क. छायावाद के प्राकृतिक सौंदर्य का स्वरूप : प्रकृति की दृष्टि से छायावाद की कविता पर्याप्त सम्पन्न तथा पुष्ट है। यह ऊपर बताया ही जा चुका है कि छायावाद में प्रकृति का महत्त्व बहुत बढ चला। वह नवीन काव्य के प्रमुख विषय (प्रणय) के प्रकाशन के लिए और युग की सौंदर्योपयुक्त रहस्य-प्रवृत्ति तथा अलौकिक प्रियतम के निरूपण के लिए शक्तिशाली माध्यम बनी। बाबू गुलाबराय छायावाद-काल की बहुमुखी प्रवृत्ति का प्रकृति के साथ सामंजस्य निरूपित करते हुए लिखते है—"छायावाद की (अध्यात्ममयी) अन्तर्मुखी प्रवृत्ति रहस्यवाद में और गहरी तथा मुखरित हो जाती है। प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर जड़चेतन

१. कामायनी; संघर्षसर्ग। २. वही।

के एकीकरण की प्रवृत्ति छायावाद की एक विशेपता है और उसके मूर्त की अमूर्त से, तुलना करने वाले अलकार विधान में, जैसे बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल, लहरों के लिए इच्छाओं का असमान, तथा मानवीकरण प्रधान लाक्षणिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जब यह प्रवृत्ति कुछ अधिक वास्तविकता धारण कर अनुभूतिमय निजी सम्बन्ध की ओर अग्रसर होती है तभी छायावाद रहस्य में परिणित हो जाता है।"[1]

छायावाद की कविता में प्रकृति के केवल बाहरी रूपों का ही चित्रण नहीं हुआ, उसमें गंभीर रहस्यात्मकता की भी प्रतिष्ठा हुई। आलम्बन-रूप में प्रकृति का अनुराग पूर्ण चित्रण इस युग की एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेपता है। आलम्बन रूप के दृश्य-चित्रणों मे रूप, रग, ध्वनि, स्पर्श, तथा गंध आदि की भी सुन्दर सवेदनाएँ कराई गई हैं। भाव-व्यजना व वस्तु-वर्णन दोनों मे प्रकृति का ग्रहण अपेक्षित होता है। प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर कवि के हृदय में या तो भाव व्यंजना की वेगवती प्रेरणा होती है, जिसमें कवि प्रस्तुत रूप-व्यापारों पर ही दृष्टि न रख कर उनकी समष्टिगत भावमूलक सारसत्ता को ही आत्मसात् करता है, या वह दृश्य-चित्रण की ओर प्रवृत्त होता है, जिसके लिए उसे प्रत्येक रूप-व्यापार का तल्लीनतापूर्वक निरीक्षण करना पड़ता है। प्रथम का विवेचन ऊपर प्रकृति-प्रेम के अन्तर्गत हो चुका है। प्राकृतिक सौदर्य का द्वितीय रूप दृश्य-चित्रण शीर्पक के अन्तर्गत आता है। वस्तुतः प्राकृतिक सौदर्य-निरूपण के दोनों रूपों में प्रकृति के प्रति गंभीर प्रेम इष्ट होतो है। इसके अभाव में दोनों रूप निष्प्राण से ही रह जाते है। प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र प्रेम की व्यंजना छायावाद की सब से बड़ी विशेषताओं में से एक है। प्रकृति-प्रेम का रूप प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र अनुरागमूलक दृश्य-चित्रण में प्रकट हुआ है। छायावाद के कवियों में इस दृश्य-चित्रण की प्रवृत्ति 'प्रसाद', 'पंत', 'निराला', 'दिनकर', नरेंद्र शर्मा 'बच्चन', 'नेपाली', 'अंचल', व गुरुभक्तसिंह इत्यादि कवियों में सर्वाधिक लक्षित हुई है।

दृश्य-चित्रण के लिए कवि की दृष्टि सबसे पहले चारों ओर के रूप-व्यापारों की ओर उठती है। छायावाद के कवियों की दृष्टि पृथ्वी, आकाश व समुद्र, सभी की ओर गई है। इनमें जितना भी दृस्य-प्रसार पड़ता है, उसकी ओर कवियों ने तल्लीन होकर देखा है। पर, अधिकाधिक वस्तुओं का दर्शन अथवा उनका परिगणन मात्र ही कवि के गंभीर प्रकृति-प्रेम का परिचायक नहीं हो सकता। उन्होंने कितनी निकट-दर्शिता से दृश्य को देखा है, इससे ही उनके प्रेम की गंभीरता की परख हो सकती है। फिर, कुछ कवि प्रकृति के केवल मधुर रूपों का ही दर्शन करते है। पर मधुर रूपों तक ही सीमित रहना पूर्ण सहृदयता का प्रमाण नहीं। मरुस्थल, निर्जन, बीहड़

---

१. 'काव्य के रूप' (द्वितीय संस्करण); पृ० १३७।

जंगल, झाड़-झंखाड़ों से युक्त पर्वत प्रदेश आदि में भी गहन सौंदर्य होता है। सच्चे प्रकृति-प्रेमी व सौदर्योपासक कवि वे ही कहे जा सकते हैं जो इनकी ओर भी स्नेह-पूर्ण दृष्टि से देखें। 'प्रसाद' का यह प्रलय-काल के समुद्र का वर्णन कितना यथार्थ तथा रोमांचक है—

देव कामिनी के नयनों से जहाँ नील नलिनों की सृष्टि,
होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलय कारिणी भीषण वृष्टि।
दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के !
सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके।
उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी;
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों सी।
सबल तरंगाघातों से उस क्रुद्ध सिंधु के, विचलित सी
व्यस्त महा कच्छप सी धरणी, ऊभ-चूभ थी विकलित सी।
बढ़ने लगा विलास वेग सा वह अति भैरव जल संघात;
तरल तिमिर से प्रलय पवन का होता आलिंगन प्रतिपात।[1]

प्रकृति का कैसा भयावह चित्र है ! प्रौढ़, पुष्ट तथा प्रवाहमयी भाषा वातावरण की उत्तेजना और क्षोभ को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हुई है। पंत ने भी इसी प्रकार पर्वत का आलम्बन-गत चित्र अंकित किया है—

मेखलाकार पर्वत अपार अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार नीचे जल में निज महाकार;
जिसके चरणों में पला ताल दर्पण-सा फैला है विशाल !
गिरि का गौरव गाकर झर् झर् मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर झरते हैं झाग भरे निर्झर।
गिरिवर के उर से उठ-उठ कर उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर, अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !
उड़ गया, अचानक, लो, भूधर फड़का अपार पारद के पर !
रव-शेष रह गए हैं निर्झर ! है टूट पड़ा भू पर अम्बर !
धँस गए धरा में सभय शाल ! उठ रहा धुआँ, जल गया ताल ![2]

प्रकृति-सौंदर्य का यह चित्र अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। आरम्भिक पंक्तियों में पर्वत की विशालता का बोध आ-कार-बहुल वर्णों, सोष्म वर्णों, र-कार की आवृत्ति, तथा प्रथम पंक्ति के अन्त में 'ट' वर्ग के 'ड़' वर्ण के प्रयोग आदि के कारण बहुत ही कौशल के साथ हुआ है। तीसरी पंक्ति में चार बार कोमल 'ल' वर्ण की आवृत्ति

१. प्रसाद : कामायनी; चिंता सर्ग। २. पंत : पल्लव; पृ० ५–६।

सरोवर के जल-विस्तार की भावना बहुत सफलतापूर्वक बँधाती है। 'उच्चाकांक्षाओं से तरुवर' में उपमान 'उच्चाकाक्षा', वृक्षों की विशालता तथा सघनता कितनी खूबी के साथ व्यंजित करता है। प्रकृति का एक भरा-पूरा दृश्य आँखों के सामने उपस्थित होता है, यह तो स्पष्ट ही है। इस सब चित्रण के मूल में निःसन्देह कवि का सूक्ष्म मनोयोगपूर्ण निरीक्षण तथा प्रकृति में गहराई से डूबने-रमने की क्षमता ही है।

पं० उदयशंकर भट्ट ने हिमालय का एक संक्षिप्त चित्र अंकित किया है, जो परम रमणीय है। देखिए—

उन्नत शिर तरु खड़े तपस्वी-से दिखते थे,
प्रतिपल निर्मल हिम रज से सुस्नात वात से,
तपः पूत वे एक पाद अज्ञात कामना,
शान्त अह से हीन पीन वक्षस्थल उन्नत,
और कहीं मृग झुण्ड विचरते घूम रहे थे—
स्वेच्छा से, आकार निरतिशय अपनी गति से,
चमरी मृग भी कभी उधर आकर रुक जाते,
पी कर जल पीयूष बैठते औ' तन्मय हो—
रोमन्थन में प्राणों का उत्सव वे पाकर,
मुक्त विवशता से आनन्दित आते जाते।[1]

उक्त वर्णन केवल विशुद्ध चित्रण नहीं है। इनमें भावों की भी व्यंजना है। अतः ऐसे चित्रण मिश्र चित्रण कहे जा सकते हैं। 'प्रसाद' का हिमालय-वर्णन (कामायनी) भी इस समय सहज ही ध्यान में आ जाता है।

आकाश के सौदर्य को भी कवियों ने सूक्ष्मता से देखा है। उदाहरण के लिए बादलों का कोमल व कठोर दोनों प्रकार का सौदर्य प्रस्तुत किया जा सकता है—

फिर परियों के बच्चों से हम सुभग सीप के पख पसार,
समुद पैरते शुचि-ज्योत्स्ना में, पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।
दमयन्ती-सी कुमुद-कला के रजत-करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु-ध्वनि कर, कहते प्रिय-सन्देश ललाम।[2]

यह बादल के कोमल रूप का चित्र है। अब दो एक चित्र उसके कठोर रूप के भी देखिए—

कभी अचानक, भूतों का-सा प्रकटा विकट महा-आकार,
कड़क, कड़क, जब हँसते हम सब, थर्रा उठता है संसार;

१. विजयपथ; सर्ग ३। २. पंत; पल्लव; पृ० ६२।

दुहरा विद्युद्दाम चढा द्रुत, इन्द्र-धनुष की कर टंकार ;
विकट-पटह-से निर्घोषित हो, बरसा विशिखों-सा आसार ;
चूर्ण चूर्ण कर वज्रायुध से भूधर को, अति भीमाकार ;
मदोन्मत्त वासना-सेना से करते हम नित वायु-विहार ।[1]

बादलों की व्यस्त गति-विधि, उमड़-घुमड़ और आकार-प्रकार को कवि ने अत्यन्त कौशलपूर्ण शब्द-विन्यास द्वारा मूर्तिमान कर दिया है । प्रकृति-प्रेम-मूलक निरीक्षण की सूक्ष्मता तथा व्यापकता अवश्य ही प्रशंसनीय है ।

निराला-रचित उद्दाम घनों का यह एक ओजस्वी चित्र देखिए—

झर झर झर निर्झर गिरि सर में, घर मरु तरु मर्मर, सागर में ,
सरित्, तड़ित् गति चकित पवन में, मन में, विजन गहन कानन में ,
आनन आनन में रव घोर कठोर, राग अमर, अम्बर में भर निज रोर ,
धँसता दलदल, हँसता है नद खल् खल्, बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल ,
देख देख नाचता हृदय बहने को महा विकल बेकल ।[2]

'र', 'न', 'ल' आदि वर्णों के अतिशय प्रयोग द्वारा बादल-बिजली, जल आदि की कैसी हड़बड़ी संवेदित हुई है ! 'निर्झर्', 'मर्मर्', 'सरित्', 'तड़ित्' में हलन्त 'र' कार तथा 'त' कार ने चित्र में जान डाल दी है । शब्दों की तथा वर्णों की शक्ति, प्रभाव, संगीत तथा चमक-दमक की कितनी भावुकतापूर्ण पहचान इस सब मे निहित है !

मरु-भूमि का सौंदर्य भी अद्वितीय होता है। विधाता ने अपनी कोमल अंगुलियों में पकड़ी तूलिका की मसृण नोक से जो महीन सौंदर्य-शिल्प वहाँ की काजल-सी महीन बादामी बालू के टीबों पर अंकित किया है, वह कोई सच्चा कवि हृदय ही सराह सकता है । वहाँ के जाँठ के कँटीले पेड़ों, संध्याकालीन सूर्य की सिंदूरी आभा में जाती हुई लम्बी-लम्बी छायाओं वाली ऊंटों की कतारों, जेठ की लू तथा शर्बती चाँदनी रातों और झाड़ियों पर चमकती प्रभातकालीन हिमकिरीटित पत्तियों का सौंदर्य प्रभु के सौंदर्य-भण्डार की अनमोल झलकियाँ हैं । हर्ष की बात है कि श्री पतराम शर्मा गौड़ 'विशद' ने 'रेगिस्तान', श्री चन्द्रसिंह ने 'बादली' व 'लू' (राजस्थानी) तथा श्री परमेश्वर 'द्विरेफ' ने 'मरु के टीले' व 'धूल के फूल' आदि काव्यों की रचना करके इस क्षेत्र में अपनी विस्तृत-सौंदर्य-भावना का अच्छा परिचय दिया है।

कवियों की दृष्टि मैदानों के सौदर्य की ओर सब से अधिक गई है । पेड़-पौधे, लता-पत्र, फल-फूल, खेत-कुंज, नदी-नाले, पशु-पक्षी आदि का जो वर्णन हुआ है, उसको देखकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी कवि

---

१. पन्त : पल्लव; पृ० ६२—६३ । २. परिमल, बादल राग नाम कविता ।

प्राचीन सीमाओं को तोड़ कर स्वच्छन्दतापूर्वक आगे बढे है और उन्होंने अपने दृष्टि-विस्तार का प्रशंसनीय परिचय दिया है। आधुनिक काल में प्रायः मुक्तक रचनाएँ ही अधिक हुई है। अतः इनमें प्रबन्ध काव्यों के उपयुक्त विस्तृत वर्णन का बहुत कम अवसर प्राप्त हो सका है। हम पत जैसे कवियों को छोड़ कर यदि अलग-अलग कवियों को देखें तो उक्त संदर्भ मे प्रकृति-चित्रण में बहुत विशदता तथा गहराई कदाचित् न मिले। किन्तु, यदि बीसवीं शताव्दी के हिन्दी-कवियों के प्रकृति-प्रेम तथा प्रकृति-चित्रण पर सामूहिक दृष्टि से विचार करें तो इस में कोई सशय नही कि इस में उन्होने अपनी गम्भीर अनुभूति तथा आत्म-विस्तार का सुन्दर परिचय दिया है। इसलिए श्री शिवदानसिंह के इस कथन का कि 'पन्त जी या दो-एक और कवियों में ही प्रकृति-निरीक्षण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी है। इस प्रकार प्रकृति के जो अंग सामाजिक जीवन के उपयोगी भाग थे वे अब तक की हिन्दी-कविता में अलंकार बन कर या उसके भावों के उद्दीपन मात्र बन कर आये। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व, जिनके कारण वे हमारे सहचर या सहयोगी है, कविता में लेशमात्र को ही स्वीकार किया गया।'[१] पर्याप्त समर्थन करते हुए भी हम कहना चाहेंगे कि प्रकृति-निरीक्षण की ओर हिन्दी-कवियों की रुचि, उसके इतिहास को देखते हुए, पर्याप्त सन्तोषजनक कही जा सकती है।

नवीन कवियों ने पेड़-पौधों की सूची काफी बड़ी कर दी है। पंत जी की दृष्टि चीड़, साल, बाँस, नीम, चिलबिल, सफेदा, नीबू, आड़ू, दाड़िम, कटहल, झरबेरी, आँवला और सूखे हुए ठूँठे तरुओं पर भी गई है। नरेन्द्र शर्मा को पलाश व अमलतास भाये हैं। 'दिनकर' बाँसों की हरियाली पर रीझे है और 'बच्चन' गुलमुहर के सौदर्य पर। 'प्रसाद' को देवदारु प्रिय है। 'निराला' की दृष्टि खिरनी के पेड़ पर भी गई है। श्रीगुरुभवत सिंह 'भक्त' ने भी साधारण व रूखे प्राकृतिक सौंदर्य को बहुत सहृदयता से देखा है। 'नेपाली' को देहरादून के बेर प्रिय हैं। श्री 'विशद' जी राजस्थान के टींटड़-भूडिया नामक झाड़ों पर लट्टू है। लता-बेल व छोटे-बड़े पौधे भी इस विस्तार की सीमा में समाविष्ट है। 'प्रसाद' जी को माधवी व लवंगलताएँ आकर्षित करती है। 'दिनकर' को वन-तुलसी का ध्यान मधुर लगता है, क्योंकि हलकी पुरवैया उसकी गन्ध लिए आती है। 'विशद' जी रेगिस्तान के तरबूजों व मतीरों की बेलों को कैसे भुला सकते हैं?

फूलों की सीमा का भी विस्तार हुआ है। सरसों, कुई, कनेर, लोध, पाटल, अलसी, व तीसी के फूल पंत जी को प्रिय हैं। 'प्रसाद' शिरीष, कदम्ब तथा शेफाली के प्रति आकृष्ट हैं। 'बच्चन' को गुलहजारा तथा पं० उदयशंकर भट्ट को कल्हार

---

१. श्री शिवदान सिंह चौहान : 'प्रगतिवाद' (१९४६); 'हिन्दी-कविता में पेड़-पौधे, फूल, पशु-पक्षी नामक' लेख।

प्रिय है। पंत जी ने अंग्रेजी फूलों के प्रति भी आकर्षण बताया है। स्वीटपी, कैलिफौ-रनिया, पॉपी तथा अन्य फूलों ने उनका ध्यान आकृष्ट किया है। 'ग्राम्या' की 'सौदर्य-कला' नामक कविता में पच्चीसों अंग्रेजी फूलों के नाम गिनाए गए है।

नगरों की सीमाओं को छोड़कर कवियों के चरण ग्रामों की ओर भी उठे हैं। 'दिनकर' ने सन्ध्या का क्या ही सुन्दर चित्र अंकित किया है—

स्वर्णाचला अहा खेतों पर उतरी संध्या श्याम परी।
रोमंथन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी॥ (रेणुका)

कवि 'नेपाली' का संध्या का यह शांत-करुण व संगीत-मुखर चित्र सब कुछ भुला कर नगर से दूर कहीं विजन में जा संध्या की मीठी शांति पीने को गुदगुदाता है—

यह टेढी मेढ़ी पगडंडी बहुत पुरानी, बड़ी सिकुड़ कर,
खाई से हट, कांटों से बच, पहुँची हरे भरे खेतों पर,
हुई शाम जा रहे लौट घर दिन भर चर कर घर को डंगर,
घंटनाद कंठों का टुनटुन टिनटिन टनटन परम मनोहर। (उमंग)

'अप्सरा' की सूक्ष्म सौदर्यमयी आदर्श-अलौकिक सृष्टि करने वाले पंत भी खेतों की हरी-भरी ताजी शाक-सब्जियों का वर्णन बड़े हुलास से करते हैं। गेहूँ की बाली, आलू, गोभी, बैगन, मूली, पालक, धनिया, लौकी, सेम, टमाटर, मिर्च, अरहर आदि को देखकर वे लहलहा उठे है। वस्तुत: इस प्रकार के यथार्थ सौदर्य को देखने की प्रवृत्ति प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों में से एक है।

पशु-पक्षी भी हमारे जीवन के अभिन्न अङ्ग हैं। उनसे हमारा आदिम रागात्मक सम्बन्ध है। 'नेपाली' की दृष्टि पेड़ के तनों पर क्रीड़ा करती गिलहरियों की ओर तथा 'दिनकर' की दृष्टि हरी घास को खुरों से रौंदती आती गायों की ओर गई है। पंत जी ने तूल सी मार्जार बाला को देखकर, तथा बादलो की उपमा मेमनों के बाल से देकर अपना पशु-प्रेम सूचित किया है। पं० उदयशंकर भट्ट चमरी मृग के प्रति आकर्षित हैं। पक्षियों में पपीहा, मोर, कोयल, तोता, मैना, कुररी, क्रौंच, खंजन, सारस, चकोर आदि के अतिरिक्त कबूतर, फुलसुंही, बगुला, सुर्खाब, मगरौठी, सामुद्रिक, धोबिन, अबाबील, टिटहरी, बया, पीलो, आदि अनेक पक्षियों तक भी कवियों के हृदय की रागात्मकता का विस्तार हुआ है। पंत जी ने चींटी की गति-विधि को भी ध्यान से देखा है।

यह है प्रकृति का व्यापक दृश्य-प्रसार, जिस पर कवियों की दृष्टि गई है। किंतु, इस विस्तार मात्र से ही हम उतना प्रभावित नहीं हो सकते। प्रकृति के वस्तु-व्यापारों के चित्रण में जो सूक्ष्मदर्शिता तथा तूलिका-कौशल दिखाई पड़ता है, उसी

में हम कवि की मौलिकता को आँक सकते हैं। यह सूक्ष्मदर्शिता या तूलिका-कौशल निम्नलिखित रूपों में दिखाई पड़ता है:—

१. **गति-विधि** : प्रकृति के पदार्थों को कवि ने मनोयोगपूर्वक देखा है, इसका परिचय हमें इस बात से मिलता है कि उसने उन पदार्थों की गति-विधि को भी आँख गड़ा कर देखा है या नहीं। निम्नलिखित उदाहरणों में कवियों का गति-विधि-निरीक्षण झलकता है—

(क) धारा बह जाती, बिम्ब अटल। (कामायनी : 'दर्शन' सर्ग)

(ख) डांडों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार।
चादी के साँपों-सी रमलमल, नाचती रश्मियाँ जल में चल,
रेखाओं सी खिच तरल सरल।
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि, सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल। (पत : नौका बिहार)

(ग) झूम झूम मृदु गरज गरज कर घन घोर
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर। (निराला : बादल राग)

(घ) झूम झूम, झुक झुक कर, भीम नीम तरु निर्भर,
सिहर सिहर थर् थर् थर्, करता सर् सर्, चर् मर्।
(पंत : युगवाणी)

२. **वर्ण-भावना** : रंगों के निरीक्षण व काव्य मे उनकी योजना से भी कवि की सूक्ष्मदर्शिता सूचित होती है। निम्नलिखित उदाहरणों के द्वारा कवियों की वर्ण-भावना का परिचय मिलता है—

मसृण गांधार देश के नील रोम वाले मेषों का चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कांत बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि-धाम।
या कि, नव इन्द्र-नील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कांत,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रांत।
और उस मुख पर वह मुसक्यान! रक्त किशलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम!

उषा की पहिली लेखा कांत, माधुरी से भीगी भर मोद,
मद भरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारक-द्युति की गोद !
(कामायनी; 'श्रद्धासर्ग')

विद्रुम औ, मरकत की छाया, सोने-चांदी का सूर्यातप;
हिम-परिमल की रेशमी वायु, शत-रत्न-छाय, खग-चित्रित तन !
(पंत : युगांत; पृ० ६)

रुपहले, सुनहले आम्र-बौर, नीले, पीले औ' ताम्र भौर,
(पंत : गुंजन; पृ० २)

रेखाङ्कित स्थलों के द्वारा छायावादी कवियों की विकसित तथा सूक्ष्म वर्ण-भावना का परिचय मिल सकता है।

३. नाद-व्यंजना : चित्र की पूर्णता व सजीवता के लिए ग्रहीत स्थली के अंतर्गत सुनाई पड़ने वाली ध्वनियों का अनुकरण भी कविजन करते हैं। इसके लिए वे ऐसे शब्दों का चयन करते हैं, जिनके उच्चारण के साथ ही उन ध्वनियों की संवेदना उत्पन्न हो जाय। उदाहरणार्थ—

(क) बाँसों का झुरमुट—संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ—टी-वी-टी—टुट्-टुट् ! (पंत : युगांत)

इसमें 'ट' वर्ण की आवृत्ति द्वारा चिड़ियों के स्वर की सुंदर संवेदना उत्पन्न की गई है।

(ख) दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के !
सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके।
(प्रसाद : कामायनी)

इस उदाहरण में 'ट' वर्ग, 'त' वर्ग, सोष्म वर्ण तथा संयुक्त वर्णों के प्रयोग से मेघों की उमड़-घुमड़ तथा झंझा के प्रचंड आघातों की बड़ी ही सटीक व्यंजना हुई है।

(ग) मृदु मन्द मन्द, मन्थर मन्थर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुंदर
तिर रही, खोल पालों के पर। (पंत : गुंजन)

इस उदाहरण में 'न', 'ण' तथा 'स' आदि अनुनासिक, कोमल तथा संगीतात्मक वर्णों के प्रयोग से स्निग्ध जल-प्रसार पर नौका के मृदु-मन्थर गति से चलने की सुंदर व्यंजना हुई है।

४. गंध-संवेदना : इसी प्रकार कविता में गंध की संवेदना भी उत्पन्न की जाती है। इससे कवि की समस्त परिस्थिति के प्रति जागरूकता का परिचय

मिलता है। उदाहरणार्थ—

(क) उड़ती भीनी तैलाक्त गंध।

(सुमित्रानंदन पंत : आधुनिक कवि, सम्मेलनसंग्रह)

(ख) जब शिरीष के सुमन-गंध की मानभरी मधु-ऋतु रातें।

(कामायनी; स्वप्न सर्ग)

५. स्पर्श : स्पर्श की अनुभूति की संवेदना भी कविता में कराई जाती है। यथा -

(क) धीर समीर परस से पुलकित विकल हो चला श्रांत शरीर।

(कामायनी; आशा सर्ग)

(ख) है स्पर्श मलय के झिलमिल सा संज्ञा को और सुलाता है।

(वही; काम सर्ग)

संक्षेप में, छायावादी कवियों के प्राकृतिक सौंदर्य-चित्रण की ये ही कुछ मोटी-मोटी विशेषताएँ हैं।

(iii) **वस्तुगत सौंदर्य :** मानवीय व प्राकृतिक रूपों, पदार्थों तथा व्यापारों के अतिरिक्त मानव-कृत पदार्थों का भी अपना कुछ निजी सौंदर्य होता है। यों तो पेड़ के ठूँठों, सूखी पत्तियों तथा कुम्हलाई कलियों आदि कठोर-कुरूप वस्तुओं को भी, संबंध-भावना के कारण, प्रत्येक सहृदय व्यक्ति सुन्दर ठहरा सकता है, और सुन्दर से सुन्दर रूप को भी कुरूप, किन्तु यह विशेषतः विषयि-प्रधान (Subjective) दृष्टि से ही होता है। विषय-प्रधान (Objective) दृष्टि से भी कुछ पदार्थ अपने निजी गुणों के कारण सुन्दर कहे जा सकते है; जैसे, मेज, बर्तन, मकान, कलम, पंखा, घड़ी, छाता आदि। पर जब ये सुन्दर से सुन्दरतर या सुन्दरतम की ओर ढलने लगते हैं तो फिर वे स्वयं ही कला की कृतियाँ हो जाते हैं।

यद्यपि स्वयमेव सुन्दर पदार्थों का अपना एक स्वतन्त्र वर्ग अवश्य है, पर काव्य में कविजन प्रायः सौंदर्य की इस भूमिका पर अधिक नहीं ठहरते। आकर्षण की दृष्टि से सौंदर्य तीन प्रकार का होता है :—(१) वह सौंदर्य जो देखते ही खींच ले तथा हमें अवाक् कर दे, (२) दिन-रात की वस्तुओं में दिखाई देने वाला वह सौंदर्य जिसके बारे में प्रायः कोई खास चर्चा नहीं हुआ करती, तथा (३) मध्यवर्ती। प्रायः मध्यवर्ती सौंदर्यपूर्ण पदार्थ ही काव्य के प्रेरक होते हैं। अभिप्राय यह कि कवि साधारण पदार्थों को, भावोत्कर्ष या कल्पना के आवेश में तथा संबंध-भावना के कारण, या तो पूर्ण अलौकिकत्व प्रदान कर देते है, या फिर उनकी मौन-मधुर अनुभूति में ही लीन रहते हैं। वस्तु-गत सौंदर्य के क्षेत्र में प्रायः उन्ही वस्तुओं का सबसे अधिक महत्त्व होता है, जो अपने प्रेमपात्र से सबसे अधिक सम्बन्धित हों। सौंदर्य की प्रतिष्ठा ऐसी ही

वस्तुओं में स्वभावसिद्ध रूप से हो जाती है। मानव-कृत पदार्थ विषयगत दृष्टि से, अपना महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि प्रणय-भावना की पृष्ठभूमि में ही उनका चरम सौदर्य खिलता है।[१]

छायावाद में मानव-कृत या भौतिक पदार्थ भी प्राय: अलौकिक सौदर्य को धारण करने वाले बन गये है। उनमें वस्तुगत सौंदर्य तो नाम मात्र को रहता है। वस्तुगत सौदर्य भी, कल्पना के कारण, सूक्ष्म की ओर ही उठा दिया गया है। उदाहरण के लिए पंत जी की 'स्याही की बूंद' जैसी क्षुद्र वस्तु पर भी कल्पना का यह कई तहों वाला आवरण देखिए—

अर्ध-निद्रित सा, विस्मृत-सा, न जागृत-सा न विमूर्छित-सा,
अर्ध-जीवित सा, औ' मृत-सा, न हर्षित-सा, न विमर्षित-सा,
योग का-सा यह नीरव-तार ब्रह्म-माया का-सा संसार,
सिन्धु-सा घट मे, —यह उपहार कल्पना ने क्या दिया अपार,[२]

अथवा, 'प्रेमपथिक' का मानव-कृत कुटिया के सौदर्य का यह वर्णन लीजिए—

सुन्दर कुटिया वह कैसी है रम्यतटी में सरिता के,
शांत तपस्वी-सी बल्लरियों के झुरमुट से घिरी हुई।
फैल रहे थे कोमल वीरुध हरे-हरे तृण चारों ओर,
जैसे किसी दुर्ग की खाई में श्यामल जल भरा हुआ।
स्वच्छ मार्ग था रुका जहाँ था हरी मालती का तोरण,
घिरी वहाँ थी नई चमेली की टट्टी प्राकार बनी।
कानन के पत्तों, कोमल तिनकों की उस पर छाया थी,
मृगछाला, कौशेय, कमण्डल वल्कल से ही सजा रही।
शांत निवास बनी थी कुटिया और रहा जिसके आगे,
नवल मालतीकुंज बना दालान, अनोखे सजधज का।[3]

ऊपर के दोनों उदाहरण हमारे आशय को स्पष्ट कर सकेंगे। यह भी जान पड़ेगा कि 'स्याही की बूँद' की अपेक्षा कुटिया का सौदर्य अधिक स्पष्ट व वस्तुपरक है।

---

१. "So the aesthetic emotion (Part of that "tender emotion" which accompanies the instinct of love) may overflow from the person desired to the objects attached to her, to her attitudes and forms, to her manners of action and speech, and to anything that is hers by possession or resemblance. All the world comes to partake of the fair one's splendor.

—Will Durant : *The Mansions of Philosophy*; p. 290.

२. पल्लव; पृ० ७५—७६। ३. प्रेमपथिक; पृ० ३—४।

छायावाद में लौकिक या भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण न रहा हो, ऐसी बात भी नहीं। वास्तव में छायावाद में मानव-कृत पदार्थों के सौंदर्य के प्रति भी रुझान रहा है, पर वे पदार्थ या तो स्वयं ही भव्य कलाकृतियाँ हैं (पंत के युगान्त में 'ताज' नामक कविता) या वे जान-बूझकर साधारण से रहस्यपूर्ण, भव्य व अलौकिक बना दिए गये हैं। मानव-कृत साधारण पदार्थों का इतिवृत्तात्मक और रूखा वर्णन प्रायः देखने को नही मिलता। यही छायावाद के वस्तु-गत सौदर्य की विशेपता कही जा सकती है। वस्तुतः पदार्थो का विषय-गत सौंदर्य आगे चल कर 'प्रगतिवाद' में ही अधिक देखा गया। इसका विशेष विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा।

(iv) **कला-गत सौंदर्य :** प्रकृति-जगत् व मानव-जगत् का समस्त सौदर्य काव्य में आ कर कल्पना के आवरण से पूर्ण रमणीयता प्राप्त कर कला-गत सौंदर्य हो जाता है। प्रकृति (मानव प्रकृति व जड़ प्रकृति) का सौदर्य कवि की प्रतिभा या कल्पना के स्वर्ण-स्पर्श से एक विशिष्ट श्री और गरिमा धारण कर लेता है। बाह्य जगत् का सौंदर्य काव्य में आकर जिस पद्धति-विशेष से आनन्ददायक या रमणीय बन जाता है, उसे कलागत सौंदर्य या काव्य-शैली का सौदर्य कहते हैं। जिस प्रकार मानव या प्रकृति के दर्शन से चाक्षुष आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार काव्य-शैली का सौदर्य भी हमें एक विशिष्ट आनन्द प्रदान करता है। इस सौंदर्य को हम चरित्र-गत शील या चाक्षुष रूप-सौदर्य न कहकर कला-गत सौंदर्य कहते हैं। गम्भीर मानसिक सौदर्य होने के नाते कला-गत सौंदर्य अथवा शैली-सौंदर्य भी हमारे प्रकृत विषय से सम्बद्ध ही है। काव्य में उसका बहुत महत्त्व है। छायावाद की काव्य-शैली वास्तव में एक स्वतन्त्र विषय ही है, अतः विस्तार में इस सौंदर्य का विश्लेषण न करके हम अपने विषय की पूर्णता के लिए, उसकी कतिपय विशेपताओं की ओर संकेत-मात्र करके ही सन्तुष्ट होंगे।

प्रत्येक युग व प्रत्येक कवि की काव्य-शैली अपनी-अपनी निजी विशेपता लिए रहती है। अतः प्रत्येक कवि की शैली की विशेषताओं का अलग-अलग विवेचन न करके छायावाद की काव्य शैली की कुछ मोटी-मोटी सामान्य विशेपताएँ ही बताई जा सकेंगी।

भाव और भाषा का घनिष्टतम सम्बन्ध है। यों तो व्यावहारिक जीवन में हम अपने भावों और विचारों को भाषा में ही प्रकाशित करते है, किन्तु उसमें प्रायः शब्द की अभिधा शक्ति का ही प्राधान्य रहता है। किन्तु, कवि अपनी प्रत्येक बात को गम्भीर प्रभावशीलता के लिए चित्रोपम ढंग से ही अभिव्यक्त करना चाहता है। इसके लिए उसे शब्द की अभिधा शक्ति को छोड़ कर लक्षणा-शक्ति की शरण लेनी पड़ती है। मार्मिक से मार्मिक काव्य अभिधा में भी हो सकता है, किन्तु अभिधा का सीधा ढंग प्रायः सामान्य लोगों के ही लिए ठीक समझा जाता है, विदग्धों का

अनुरञ्जन लक्षणा तथा व्यंजना के द्वारा ही भली भाँति होता है ।[1] लक्षणा का क्रीड़ा-क्षेत्र बड़ा विशाल है । उसमें मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध, तथा प्रयोजन और रूढ़ि आदि में से कोई एक या दोनों, ये तीन कारण होते हैं । अभिधा के सीधेपन से भिन्न लक्षणा की इस चातुरी से जो वैलक्षण्य या विशिष्टता उत्पन्न होती है, वही सहृदयों को आनन्दित करती है । छायावादी काव्य में इस लक्षणा का बड़ा ही व्यापक महत्त्व है । इसका क्षेत्र कितना विस्तृत है, इसका अनुमान इसी बात से लग जायगा कि काव्य में मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करने की प्रायः सभी प्रमुख विधाएँ—अलंकार, मानवीकरण, कल्पना आदि—प्रत्यक्ष-परोक्ष-रूप में इसमें ही समाविष्ट है ।

अब छायावाद की काव्य-शैली के प्रमुख उपकरणों पर अत्यन्त संक्षेप में कुछ विचार कर लिया जाय—

(१) **मानवीकरण :** सबसे पहले मानवीकरण को लें । जड़ वस्तुओं, व्यापारों, तथा मानव-मन के भावों का मानवीकरण छायावाद की कला की एक प्रमुख विशेपता है । उदाहरणार्थ—

तृष्णा, तृष्णा, आह रक्त से रंजित तेरे हाथ । (मधुकण)
सुख आहत शांत उमगें वेगार साँस ढोने में ।
यह हृदय समाधि बना है रोती करुणा कोने में । (आँसू)
मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग मे नूपुर सी लिपट मनाती हूँ । (कामायनी)
बच्चों के तुतले भय सी । (पल्लव)
अधर जाते अधरों को भूल । (पल्लव)

उपरोक्त उद्धरणों में मन के सूक्ष्म भाव—तृष्णा, करुणा, लज्जा, व भय आदि सूक्ष्म भावों का ऐसा मानवीकरण किया गया है कि जिससे आँखों के आगे चित्र खिच जाय, तथा ये सूक्ष्म या निराकार भाव हृदय के लिए पूर्ण साकार हो जायें ।[2]

(२) **विरोधाभास :** 'विरोधाभास' में भावों को जगाने, चौंकाने या तड़पाने की एक विचित्र ही शक्ति होती है । उदाहरणार्थ—

इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला । (आँसू)
मर्म-पीड़ा के हास । (पल्लव)

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश; उल्लास ४ । तथा, जयशंकर 'प्रसाद'; 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', मे 'यथार्थवाद व छायावाद' नामक लेख ।

२. आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है ।"—'प्रसाद' : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'; पृ० १४३ ।

कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता, सिसकता गान है। (पल्लव)
अश्रुओं में रहता है हास, हास मे अश्रुकणों का भास। (पल्लव)
हरी-भरी सी दौड़ धूप, ओ जल-माया की चल रेखा। (कामायनी)
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी ! अरी आधि, मधुमय अभिशाप !
हृदय गगन में धूम्रकेतु सी, पुण्य सृष्टि मे सुंदर पाप। (कामायनी)

(३) **असंगति :** 'असंगति' अर्थात् असंगत कथन भी भावों में गति उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ—

गिरा हो जाती है सनयन, नयन करते नीरव भाषण;
श्रवण तक आ जाता है मन, स्वयं मन करता बात श्रवण। (पल्लव)

गिरा को नयन, नयन को भाषण, श्रवण को मन व मन को श्रवणता प्रदान करना लाक्षणिक सौंदर्य से समन्वित है। ऐसी उक्तियाँ छायावाद मे ही ('तुलसी' की "कर बिनु चलै..." चौपाई प्रसिद्ध ही है) अधिकतर संभव हो सकी है। अभिधा के द्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, किंतु उक्ति की यह विलक्षणता अवश्य सहृदयों का अनुरंजन करती है।

(४) **प्रतीक :** 'प्रतीक' के सम्बन्ध में पहले पर्याप्त कहा जा चुका है, अत: एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा—

उषा का था उर में आवास, मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास, विचारों में बच्चो के साँस। (पल्लव)

उपरोक्त उदाहरण में उषा, मुकुल, व चाँदनी आदि शब्द प्रतीक रूप में आये है। जिन गुणों के ये प्रतीक हैं, उनके स्थान पर इनका कौशलपूर्ण प्रयोग ही अभिव्यक्ति को रमणीयता प्रदान कर रहा है।

(५) **पुनरावृत्ति :** शब्दों की पुनरावृत्ति भी प्रभावशालिता के लिए बहुत उपयुक्त होती है; यथा—

(क) नियम है संसार का, रो हृदय, रो ! (ग्रंथि)
(ख) सुख, केवल सुख का वह सग्रह, केन्द्रीभूत हुआ इतना। × × ×
(ग) शक्ति रही हाँ; शक्ति, प्रकृति थी पद-तल में विनम्र विश्रांत। × × ×
गया, सभी कुछ गया, मधुरतम सुरबालाओं का श्रृंगार। (कामायनी)

(६) **अलंकार :** अलंकार, भाषा व भाव को रोचक तथा सुदर बनाने का साधन है। अलंकार-विधान में सबसे बड़ी विशेषता यह आई है कि छायावादी कवि प्राय: शब्द-साम्य व सादृश्य से आगे बढ़कर साधर्म्य तथा प्रभाव-साम्य को ध्यान में रखकर अपने उपमान चुनता है। शब्द-साम्य तो उपमा का सबसे भ्रष्ट आधार

समझा जाता है। उपमा-विधान में सादृश्य पर ध्यान रख कर स्थूल उपमेय के लिए स्थूल उपमान प्रस्तुत करना ही सदा आह्लादक नहीं होता। कवि की गंभीर भावुकता सूक्ष्म से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल, तथा स्थूल से सूक्ष्म की उपमा के विधान में ही दिखाई पड़ती है। छायावाद में इस प्रकार का उपमा-विधान बहुत अधिक हुआ। उदाहरणार्थ—

(क) प्रिय, साध्य गगन, मेरा जीवन। (महादेवी)

(ख) उठ उठ री, लघु लघु लोल लहर,
करुणा की नव अंगराई सी, मलयानिल की परछाँई सी,
इस सूखे तट पर छिटक, छहर ! (प्रसाद)

(ग) जीवन की गोधली में कौतूहल से तुम आये ! (प्रसाद)

(घ) तुम हो एक साँस सी सुखकर, नभ मण्डल है एक शरीर।
यह पृथ्वी मधुमय यौवन है, तुम हो उस यौवन की पीर।
(रामकुमार वर्मा)

यह बात भी ध्यान देने की है कि छायावाद की समाप्ति की ओर कवि अनुभूति की सीधी व सरल अभिव्यक्ति के प्रति इतना आकृष्ट हुआ कि उसने अलंकार आदि को अनावश्यक-सा ही नहीं समझा—

(क) वाणी, मेरी चाहिए तुझे क्या अलंकार। (पंत)

(ख) खुल गए छंद के बंध, प्रास के रजतपाश। (पंत)

(७) **छंद** : भावाभिव्यक्ति तथा छंद का घनिष्ठ संबंध होता है। संस्कृत में विशिष्ठ रसों को प्रभावशालिता के साथ वर्णित करने के लिए विशिष्ठ छंद स्वीकृत थे। छायावाद के कवियों ने इस संबंध में अपने नए-नए प्रयोग किए हैं: तुकांत व अतुकांत दोनों ही क्षेत्रों में। 'प्रसाद', पंत, 'निराला', महादेवी तथा 'बच्चन' आदि कवि छंदों के प्रयोग में अग्रगण्य रहे हैं। पंत की 'जीवप्रसू' व 'झंझा में नीम' नामक कविताओं की अनेक पंक्तियाँ तो एक या दो शब्दों की ही हैं। छंदों के कुबेर कविवर केशवदास तो एकाध जगह इनसे भी आगे बढ़ गये हैं।

(८) **कल्पना** : भारतीय दृष्टि से कल्पना, रस के बाद, काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है; काव्य की रमणीयता अथवा कला-गत सौंदर्य का प्रमुख आधार है। उसी की सहायता से पाठक रस-चर्वणा करता है। काव्य में कल्पना मुख्यतः निम्नलिखित रूपों में प्रयुक्त होती है—

१. ऐतिहासिक या कल्पनात्मक प्रबंध काव्य में कथा-सूत्रों की जोड़-तोड़, तारतम्य-स्थापन, तथा कथा की, एक विशिष्ठ काव्य-ध्येय की पूर्ति के हेतु, समाप्ति के सम्भार में;

२. पात्रों के चरित्र-चित्रण में;

३. दृश्यचित्रण तथा रूप-सौंदर्य-वर्णन आदि में अप्रस्तुत के विधान में; तथा,

४. भाव-व्यजना में मन के सूक्ष्म भावों या स्थितियों के चित्रण के उपयुक्त मानवीकरण आदि के मार्मिक विधान में।

यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि काव्य में कल्पना का क्षेत्र बहुत विशाल है। प्रकृति-जगत् के सौंदर्य को पाठक की भावना में रमणीय ढंग से प्रस्तुत करने का समस्त कार्य कल्पना ही करती है। पर है वह काव्य का एक अग ही।

छायावादी काव्य में कल्पना के सौंदर्य और महत्त्व पर पर्याप्त विचार अन्यत्र हो चुका है, अतः अधिक विस्तार यहाँ अनावश्यक है।

भाषा में आजकल शब्दों के कोमलीकरण की प्रवृत्ति भी खूब चल रही है। 'बच्चन' ने 'मिलनयामिनी' में जुन्हाई, लाज, सुवर्ण, आँचल, सिंगार, बिरवा, पतझर, अचरज, सपना, संदेसा, पपीहरा, छाँह, आदि शब्दों का प्रयोग किया है। पंत जी ने भी धोरे, काजरकारे, बिकरारे, बादर, बीरबहादर आदि देशज शब्दों का अच्छा प्रयोग किया है। सरल उर्दू शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है।

शैली के सम्बन्ध में कुछ बातें और भी हैं। छायावाद में विशेषणों का बहुत सुदर प्रयोग हुआ है। विशेषण-विपर्यय की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी है, जो लाक्षणिकता के अन्तर्गत ही आती है। धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग और धर्मी के लिए धर्म का प्रयोग भी प्रसिद्ध ही है। सर्वनामों के प्रयोग में भी गहरी व्यंजना निहित रहती है। हर्ष-शोक के भरे हुए क्षणों में जो सम्बोधन हमारे मुख से निकलते हैं, उनका भी बड़ा स्वाभाविक प्रयोग दिखाई पड़ता है। वस्तुओं को, उनका लोक-प्रचलित नाम छोड़ कर, उनके रूप, गुण, जाति, क्रिया-व्यवसाय, सम्बन्ध, आदि के आधार पर नये-नये नामों से अभिहित करने की प्रवृत्ति भी 'प्रसाद', 'पन्त', और 'निराला' के काव्य में विशेप रूप से दिखाई पड़ी है। किसी मार्मिक भाव की व्यंजना के प्रसंग में, किसी सटीक पौराणिक प्रसंग को मेल में ला खड़ा करके, ऐतिहासिक-पौराणिक साक्ष्य पर, उस भाव को गहराई से पाठक के मन में जँचाने की कला भी पंत आदि कवियों के काव्य में कहीं-कही अच्छी दिखाई पड़ी है। भावोत्कर्षपूर्ण स्थलों में छद की पंक्तियाँ, भावों के आरोह-आवरोह के अनुरूप ही, जहाँ छोटी-बड़ी हो गई हैं, वहाँ कोई बहुत बड़ा 'बलवा' सा हुआ नहीं जान पड़ता—जैसा कि प्रायः हौसले वाले प्रयोगवादी कवियों के काव्य में दिखाई पड़ता है। दार्शनिक भावनापूर्ण अथवा गहरे हर्ष-विषाद से पूर्ण स्थलों पर प्रश्नवाचक तथा विस्मयादि-बोधक चिह्नों के प्रयोग भी प्रायः सार्थक हुए हैं। सिलाई की मशीन के लम्बे-लम्बे टाँकों (...........) का प्रयोग, जो प्रायः त्रिदोष-ग्रस्त रोगी की मनोदशा

अथवा 'उन्माद' संचारी का द्योतक कहा जा सकता है, छायावाद में अनर्गल ढंग से हुआ नहीं दिखाई पड़ता। इसका 'दौरा' कुछ आगे चल कर आया!

(घ) छायावाद की सौंदर्य-व्यंजना का मूल्यांकन

सौदर्य का इतना विवेचन कर चुकने पर अब हम छायावादी कविता में निरूपित सौंदर्य-भावना के सम्बन्ध में कुछ तथ्य निश्चित कर सकने में समर्थ है। वीरगाथा-काव्य तथा रीतिकालीन काव्य की तुलना में, छायावाद की कविता में सौदर्य-चित्रण अधिक सूक्ष्म, गम्भीर और कलात्मक हुआ। उसमें भक्ति-काव्य की सी अलौकिकता का प्रयास नही। हाँ, भक्ति-काव्य में जिस प्रकार अलौकिक को लौकिक बनाया गया, उसी प्रकार छायावाद में लौकिक को अलौकिक बनाने का प्रयास हुआ। छायावाद के सौदर्य में पवित्रता व कुतूहल के तत्वों का समावेश हुआ है, जो निश्चय ही सौदर्य-भावना के गांभीर्य तथा उत्कर्ष का सूचक है। सौंदर्य के माध्यम से आत्म-तत्त्व को ग्रहण करने का इस युग का प्रयास प्रशसनीय है। प्रकृति व जीवन के बाह्य या स्थूल सौंदर्य के परे जो भी अव्यक्त तत्त्व है, उसको जान लेने की उत्कंठा व जिज्ञासा जैसी इस काल में जगी, वैसी हिन्दी-कविता में पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी। इस युग में मानव-सौदर्य (शारीरिक) व प्रकृति-सौदर्य—दोनों पर ही संश्लिष्ट दृष्टि रही, और इस सयोग से दोनों मे अपेक्षाकृत पूर्णता तथा सूक्ष्मता आई। पर, प्रकृति के सौंदर्य के प्रति कुछ विशेष ही आकर्षण रहा, इसमें संदेह नही। इस प्रक्रिया में सौंदर्य स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर इतना अधिक बढ़ गया कि वह वायवीयता की सीमा में ही सीमित हो गया। और यही प्रवृत्ति उसके क्रमिक ह्रास का कारण प्रमाणित हुई। इस युग में सौंदर्य केवल असाधारण में ही नहीं देखा गया; सृष्टि के साधारण पदार्थों के सौंदर्य की ओर भी कवियों की रहस्य-कुतूहल-मयी दृष्टि गई। हिमालय के विराट् सौंदर्य से लेकर ('प्रसाद', पंत, तथा 'दिनकर' आदि कवियों की कविताओं में) चींटी जैसे क्षुद्र पदार्थ के सौंदर्य तक (पंत की कवि-ताओ में) इस युग की सौंदर्य-भावना संचरण कर सकी। सृष्टि का कण-कण और तृण-तृण एक लोकोत्तर चेतना के प्रकाश से स्नात-सा जान पड़ा। अन्य युगों के सौदर्य से इस युग के सौदर्य में एक विशेषता यह भी आई कि इसमें कल्पना-तत्त्व का समावेश हुआ। अर्थात्, सौदर्य का जो भौतिक आधार है उसको कल्पना से मथ-मथ कर बहुत अधिक फेनिल व सूक्ष्म बनाने की प्रवृत्ति बराबर दिखाई पड़ी। इस युग का सौंदर्य वस्तुतः अपने मूल रूप में भौतिक ही है, पर कल्पना के सौंदर्य के समावेश से वह लौकिक भी नितान्त अलौकिक व भव्य-सा हो उठा है। सौंदर्य-शास्त्री कहते हैं कि सौंदर्य हमें (ब्रह्म के आनन्दपक्ष से सम्बन्धित होने के नाते) ईश्वर का तत्काल अनुभव कराता है। इस युग की सौदर्याभिव्यक्ति (मानवीय व प्राकृतिक दोनों) में अवश्य हमें कवियों की वे रहस्यात्मक झपकें या आत्मा की अतल गहराइयों से उठीं

परमोज्ज्वल प्रकाश-उर्मियाँ देखने को मिलती है, जो उनकी सौदर्यानुभूति की गंभीरता की द्योतक है। वस्तुतः सौदर्य-दर्शन मे मूर्धन्य कवि इतने गहरे उतरे है कि अनेक स्थलों पर उनके द्वारा आत्म-सत्ता के साक्षात्कार का विश्वास हो जाता है। इस प्रकार, अनेक त्रुटियों के होते हुए भी, छायावाद की सौदर्य-दृष्टि अत्यन्त विकसित व परिष्कृत है। सत्य तो यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, हिंदी-कविता के पिछले युगों में हमें सौदर्य की ऐसी सूक्ष्म चेतना कहीं नही दिखाई पड़ती। वीरगाथा-काल व रीतिकाल के कवि केवल नारी का स्थूल रूप ही देखने वाले थे। भक्ति काल में, सच्चे ज्ञानियों और भक्तों का छोड़कर, अधिकांश कवि संसार के पदार्थो को माया-मोह के बन्धन कह कर उनकी उपेक्षा करने वाले थे। किंतु, छायावाद के कवियों की दृष्टि में समन्वयात्मकता आई, जो विधवा के आँसू, ग्रामकिशोरी की रूखी लटों, हिमालय के तारामडित आकाश, समुद्र के नील-गम्भीर प्रसार तथा स्वप्न व कल्पना आदि सबका सौदर्य ग्रहण करती है। इस समन्वयात्मक व्यापक सौदर्य-दृष्टि को निश्चित ही हम छायावादी कवियो की सौदर्य-भावना का सार-तत्व मानते है। संक्षेप में, सौदर्य के क्षेत्र में युग की यही यह विशिष्ट देन है, जो हिन्दी-कविता के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये रखेगी।

५. प्रेम-सौंदर्य के क्षेत्र में छायावाद की देन (गुण-दोष)

छायावाद की देन पर विचार करने के लिए छायावादी काव्य के गुण-दोषों पर अब एक बार सामूहिक दृष्टि डालना उत्तम होगा।

सबसे पहले गुणों पर विचार करें : (१) प्रेम और सौन्दर्य की भावना छायावाद की मुख्य प्रवृत्ति है। कवि इस भावना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म धरातलों में उतरा है। छायावाद में प्रेम (प्रणय) व सौदर्य की भावना अत्यन्त तीव्र व गम्भीर हो गई। अलौकिक व लौकिक का कृत्रिम अन्तर लगभग पूरा ही मिट गया। वस्तुतः भौतिक या लौकिक में भी (ही ?) अलौकिकता देखना उच्च कोटि की मानसिक साधना का परिणाम है। छायावादी कवियों ने भौतिक को भी अलौकिक आवरण से परिवेष्टित कर उसे रमणीक व लावण्यपूर्ण बना दिया। भौतिक प्रेम का स्तर ऊँचा करके उसे गौरवान्वित किया। तात्पर्य यह है, कि काव्य-क्षेत्र में भौतिकता का भी युगानुरूप महत्त्व आँका गया। कोरे अलौकिक का गुण-गान, कोरी भौतिकता की ही तरह, जीवन की एकांगिता है। छायावाद में प्रेम-सौदर्य की भावना सूक्ष्म-गम्भीर, उदार व मानवीय हुई है। (२) पिछले सौ वर्षो के काव्य में छायावादी काव्य ही ऐसा है, जिसकी अभिव्यंजना मुक्त कल्पना के समावेश के कारण मुख्यतः चित्रात्मक व रागात्मक है। भारतेन्दु-काल की तरह उसमें रीतिकालीनता का अनुसरण तथा द्विवेदीकाल की तरह तथ्यप्रतिपादनता या विषयाभिमुखता मात्र ही नहीं; उसकी पद्धति रागात्मक है, जिसका उद्देश्य सूचना देना नहीं, किन्तु मन को, सूक्ष्म व रमणीय कल्पनात्मक मूर्त्त-

विधान द्वारा, उच्च कोटि का आनन्द प्रदान करता है। पिछले सौ वर्षो की कॅकरीली अथवा रेतल भूमि में यही काव्य हरे-भरे कुञ्ज सा है। (३) काव्य का उद्देश्य बहुत गम्भीर होता है। आचार्य शुक्ल तथा मैथ्यू आर्नल्ड जैसे आधुनिक युग के पूर्व-पश्चिम के प्रतिनिधि विद्वान् इस सम्बन्ध में एकमत हैं। काव्य का यह गुण उसकी अभिव्यक्ति को भी गम्भीर बना देता है। छायावादी काव्य में यह गुण विपुल परिमाण में प्राप्त है। इतना ही नहीं, इस गाभीर्य का अतिरेक उसके ह्रास का कारण भी सिद्ध हुआ है। मानव-हृदय केवल दैनिक जीवन की साधारण विवृत्ति से ही सदा संतुष्ट नहीं रह सकता। उसमें सुदूर, अज्ञात, अलौकिक व अप्राप्य के प्रति भी न्यूनाधिक सहज-स्वाभाविक और प्रबल आकर्षण विद्यमान है। उसके इस आकर्षण की अभिव्यक्ति काव्य के ही माध्यम से अधिकतर होती है। छायावादी काव्य में कवि भौतिक से अभौतिक या अलौकिक की ओर भी उठा है। वस्तुतः यह भौतिक व अभौतिक का सुष्ठु सामंजस्य है। केवल भौतिकता व केवल अभौतिकता दोनो से ही हृदय पूर्णतया तृप्त नही हो सकते। छायावादी काव्य पर दिव्यता का एक रमणीक आवरण सर्वत्र विद्यमान है। इसमें कवियों के सूक्ष्म व अलौकिक के प्रति आकर्षण व प्रेम की तृप्ति निहित है। (४) हिन्दी-कविता की निकटदर्शिता प्रशंसनीय है। वह संस्कृत व अंग्रेजी साहित्य तक मे भी विरल कही जाती है। यह छायावाद की बहुत बड़ी देन है। छायावादी कवि की तलस्पर्शी दृष्टि पनडुब्बे की तरह सृष्टि के कण-कण में सौदर्य ढूँढ लाती है। पंत की 'सन्ध्या तारा' जैसी कविताएँ उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। (५) रीति-काल में सब कुछ 'मादक' बनाने की प्रवृत्ति थी। दूसरी ओर द्विवेदी-काल की कविता में विचार-प्रधानता और इतिवृतात्मकता की अधिकता से रूक्षता आ गई। छायावादी कविता में ये दोनों अपनी अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर आ गई और परिणामस्वरूप काव्य सरस हो गया। (६) काव्य-शैली की दृष्टि से छायावाद की कविता की रमणीयता की प्रशंसा आचार्य शुक्ल ने भी की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह रमणीयता बहुत कुछ कविता के विषय (प्रेम व सौंदर्य) के ही कारण है।

पर, इन गुणों के साथ ही छायावादी कविता में कुछ दोष, अभाव या त्रुटियाँ भी सहज ही दिखाई पड़ती हैं : (१) साहित्य और जीवन में प्रेम-क्षेत्र वस्तुतः एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र है। किन्तु, छायावादी कवि ने उसे केवल 'प्रणय' तक ही सीमित कर दिया है।[१] जीवन की व्यापकता को ध्यान में रखकर देखने पर, केवल प्रणय की अभिव्यक्ति संपूर्ण अन्तः सत्ता का प्रतिनिधित्व कभी नही कर सकती। हाँ, यह दूसरी बात है कि जिस विषय को छायावादी कवि ने चुना है, उसकी अभिव्यक्ति बड़ी सजीव, रंगीन व मार्मिक हुई है। किन्तु, प्रेम के अन्य महत्त्वपूर्ण रूपों के

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'; पृ० ८८५।

उपेक्षितप्राय रह जाने के कारण यह कविता जीवन की सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से सूने घर की सुन्दरी सुहागिन-सी है । आलम्बन की अस्पष्टता भी छायावाद का एक दोष कहा जाता है । पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, छायावादी कविता के मुख्यत: गीति-काव्य होने के कारण, यह दोष हमारी दृष्टि मे उतना बड़ा नहीं । उर्दू व अंग्रेजी मे भी तो प्राय: यही बात है । क्या उन भाषाओं के पाठकों को रसानुभूति नहीं होती ? विभाव की अस्पष्टता को आचार्य मम्मट ने दोष माना है, जो प्रबन्ध-काव्य या महाकाव्य की दृष्टि से ही है । संस्कृत तथा हिन्दी के प्रबन्ध-पटु कवि यह दोष अपने काव्यों में नहीं रहने देते थे, किन्तु जीवन की जटिलता या संकुलता के बढने से इस युग में अब केवल भाव-व्यंजना का ही महत्त्व अवशिष्ट रह गया; आलम्बन का विस्तृत वर्णन प्रबन्ध-काव्यों के प्रणयन में शैथिल्य के कारण गौण हो गया । (३) छायावाद पर तीसरा दोष उसकी रहस्यप्रियता, धूमिलता, भाव-गोपनीयता, व वायवीयता आदि की प्रवृत्ति का अतिरेक है । इस से काव्य में, पराधीन देश के जीवन की विडम्बनाओं से दुर्व्यवस्थित, क्षुब्ध-त्रस्त व आत्म-विस्मृति के प्रेमी काव्य-पाठक के लिये एक नींद-भरी मोहिनी अवश्य उत्पन्न हुई, किन्तु गम तो ग़लत न हो सका । कुछ अशों तक या कुछ क्षणों के लिए विस्मृति जीवन के लिए वरदान भले ही हो, किन्तु उसकी उपासना तो अवांछित ही है । जो भी हो, इतना तो अवश्य कहा जायगा कि रहस्य-गोपन आदि की यह प्रवृत्ति यदि इतनी नहीं बढती तो छायावादी कविता जनता में भी अधिक फैल पाती । जनता साधारणत: स्पष्ट, सीधी व खरी अभिव्यक्ति चाहती है । इस प्रसग में यह भी कहना आवश्यक है कि काव्य के कठिन होने का आरोप तो निराधार सा ही जान पड़ता है । क्या संस्कृत का नैषध काव्य कठिन नहीं है ? किन्तु, उसके कठिन होते हुए भी वह साहित्य की अमूल्य कृति है । (४) यह भी आपत्ति कभी-कभी की जाती रही है कि छायावाद का काव्य केवल गीतात्मक काव्य है, प्रबन्धात्मक नही । पर काव्य की श्रेष्ठता का अन्तिम निर्णय मुक्तक व प्रबन्ध के आधार पर ही नहीं होता । प्रबन्ध की तरह गीतों में रस की अखण्ड धारा चाहे न बहे, किन्तु उनमें जीवन की मार्मिक अनुभूतियों का प्राणवान् आत्म-द्रव उबलता रहता है । आनन्दवर्धन व मम्मट का ध्वनिवाद मुक्तकों का पूरा-पूरा महत्त्व स्वीकार करता है । (५) इसके अतिरिक्त छायावादी काव्य की अभिव्यक्ति में एक संकोच दिखाई पड़ता है, जो कवि के हृदय को पूर्ण मुक्ति के साथ खेलने नहीं देता । इसका कारण है । आर्यसमाज का सुधारवाद, मर्यादा-प्राण तुलसी के समीक्षक आचार्य शुक्ल का युग-व्यापी बौद्धिक-साहित्यिक नेतृत्व, आचार्य द्विवेदी जी का व्याकरणिक भाषा-शुद्धि-सुलभ आतंक, गांधी जी का नैतिक पावित्र्य तथा स्वातन्त्र्य-संग्रामोचित संयम व मर्यादा का महत्त्व—आदि कारणों से सूक्ष्मजीवी छायावादी कवि अपनी अभिव्यक्ति में प्राय: अस्पष्ट व संकोची ही बने

रहे। हाँ, 'बच्चन' सबसे अधिक स्पष्ट रहे। महादेवी जी अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में ही अपेक्षाकृत स्पष्ट दिखाई पड़ीं। कवियों की अभिव्यक्ति प्राचीनों की-सी स्पष्ट व निर्भीक नहीं रही। (६) एक आरोप यह है कि छायावादी कविता अत्यधिक व्यक्तिवादी है। समाजवाद के व्यक्ति-स्वातंत्र्य विषयक सिद्धान्त ही इस व्यक्तिवादिता (जो हद से आगे बढ़कर विकृत अहंमन्यता का रूप धारण कर बैठी) के मूल कारण है। साहित्य पर इस व्यक्तिवाद का यह प्रभाव अवश्य पड़ा है कि अभिव्यक्ति व्यक्ति-वैचित्र्यमूलक होकर ही रह गई है। साधारणीकरण का सिद्धान्त काव्य-क्षेत्र से लुप्तप्राय-सा हो चला है। महादेवी जी के काव्य में अनुभूति का यह व्यक्ति-वैचित्र्य, सुन्दरता और शालीनता की सीमा में, सबसे अधिक दिखाई पड़ा है। (७) छायावाद की भाषा भी कटु आलोचना का शिकार रही है। पर, बात सच्ची यह है कि छायावादी कवियों को अपनी निजी भाषा बनानी पड़ी। सीधे निशाने वाला भाषा का बना बनाया रूप तो उन्होंने छोड़ ही दिया। फिर, कवियों का मुख्य व्यवसाय अभिव्यंजना का कौशल ही रहा। कविजन वचन-वक्रता में ही अधिकतर लगे रहे। इस कठिनाई के कारण वे जनता तक न पहुँच पाये। (८) धूमिल व काल्पनिक आदर्शों की सुदूर सृष्टि भी छायावाद की कविता का एक बड़ा दोष समझा गया है। कवियों ने अप्राप्य आदर्शों की धूमिल मानसी सृष्टियाँ की हैं। जीवन के यथार्थ और व्यवहार से अत्यधिक सुदूर धूमिल आदर्शों में उनका बहुत विश्वास है। किन्तु लोक के व्यवहार से ऐसे धूमिल आदर्श बहुत दूर जा पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अत्यधिक ऊँचे आदर्शों का प्रेम मानवात्मा की एक उदात्त वृत्ति है; वे आदर्श फिर प्राप्त हों या न हों। (९) एक आरोप यह है कि छायावादी काव्य पूर्णत: एकांतिक सृष्टि है। उसमें व्यावहारिक जीवन की आलोचना नहीं।[१] राजनीतिक-सामाजिक धरातल पर जो कुछ हो रहा है, उससे मानो उसका कोई सरोकार नहीं। इस सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि राजनीतिक-सामाजिक संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ सभ्यता के स्वरूप को संशोधित-परिवर्तित करती हुई संस्कृति के जिन चरम मूल्यों की प्रतिष्ठा अथवा पुनर्प्रतिष्ठा करती है, उन मूल्यों में पूरी तरह विश्वास रखते हुए ही ये कवि अपनी काव्य-साधना में लीन हुए हैं, अथवा रहे हैं। अब दोष केवल यही रह जाता है कि अधिकांश छायावादी कवि जीवन के प्रयत्न-पक्ष या साधनावस्था से कन्नी काट

---

१. 'छायावाद ने सौंदर्य की खोज तो की, लेकिन जीवन की समालोचना न की। सौंदर्य और प्रेम को जीवन का आदर्श और ध्येय तो बताया, किन्तु उन विषम परिस्थितियों की ओर देखा भी नहीं जिनके कारण न सौंदर्य ही बना रह सकता था, न प्रेम ही पनप सकता था।" —डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत' (सं० २००४), पृ० १८७।

कर, बिना पसीना बहाये, सीधे भोग-पक्ष या सिद्धावस्था की ओर ही लपक जाना चाहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती प्रगतिवादी कवि ही जीवन के प्रयत्न-पक्ष या साधनावस्था को लेकर आने वाले सिद्ध हुए। छायावादियों का हर्जाना उन्हें भुगतना पड़ा, इसमें सदेह नही।

उपरोक्त गुण-दोष—दोनों पर सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर हमें छायावादी काव्य की देन को आँकने का एक पुष्ट आधार मिल जाता है। वस्तुतः छायावाद की हिन्दी-काव्य को जो एक बड़ी देन है, उसे कोई भी विवेकशील सहृदय स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता।[१] उसकी अधिकांश अभिव्यक्ति छिछली, धूमिल, वायवी आदि भले ही हो, पर यह सब कुछ होते हुए भी उसकी श्री, शक्ति और महिमा हिन्दी-कविता की अनमोल निधि है। वस्तुतः छायावादी काव्य की उच्चता व मौलिकता इसी में है, कि वह प्रेम व सौदर्य के क्षेत्रों में, प्राचीन साहित्य व (संभवतः) अन्य भारतीय भाषाओं की रचना से एक महत्वपूर्ण, नवीन व उत्तम कार्य कर सकी। इस काव्य को हिन्दी-काव्य से (विशेषतः आधुनिक से) हटा देन पर निश्चित ही हिन्दी का एक अंग सर्वथा खंडित जान पड़ेगा।

---

१. "छायावाद ने प्रेम और श्रृङ्गार का बहिष्कार नहीं किया है, वरन् उसका परिमार्जन किया है। वे लोग उसके मानसिक पक्ष को अधिक उभार लाये हैं। उसके सौंदर्य वर्णन में स्थूल नहीं, वरन् एक वायवी दिव्यता है और प्रेम आक्रमण के रूप में न रहकर आत्म-निवेदन का रूप धारण कर लेता है। छायावादी प्रेम-गीतों के अन्तस्तल में चाहे शारीरिकता हो, किन्तु उस पर एक भव्यता और दिव्यता का आवरण रहता है।"

—बा० गुलाबराय : 'काव्य के रूप', पृ० १४२;

तथा, पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', (सं० १९९७); पृ० ८९०।

प्रकरण : ५

प्रगतिवाद-प्रयोगवाद तथा अन्तश्चेतनावाद

(आदर्श से यथार्थ की ओर; तथा, पूर्णता के लिए यथार्थ और आदर्श का समन्वय)

१. सामान्य पृष्ठभूमि

क्रिया-प्रतिक्रिया जीवन का प्राकृतिक नियम है। क्रिया-प्रतिक्रिया का यह अविराम क्रम मानवात्मा की पूर्णता-प्राप्ति की आकुलता का सूचक है। साहित्य, काव्य और कलाओं के माध्यम से भी जीवन की इस पूर्णता की प्राप्ति का आयोजन किया जाता है। छायावादी काव्य मे हिन्दी-कवि ने उस पूर्णता को सूक्ष्मता व एकांतिक आदर्श-प्रेम में खोजना चाहा, किंतु वह उसमें पूर्णतः प्राप्त न हुई। "छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया; वस्तु-जगत् का स्थान भाव-जगत् और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने वास्तविकता की उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की और कल्पना का सौंदर्य-पट बुना।" [१] अतः छायावाद पूर्ण जीवनोपयोगी न रहा। वास्तव में वस्तु व चेतना के मधुर सामंजस्य में ही जीवन की पूर्णता है। चेतना के साथ ही काव्य में वस्तु-तत्त्व भी आवश्यक है। जान-बूझ कर वस्तु-तत्त्व की उपेक्षा करने से प्रकृति को स्वयं ही सन्तुलन लाना पड़ता है। और अन्त में ऐसा ही हुआ। विश्व, देश, और काल की व्यापक और नवीन परिस्थितियों के घात-प्रतिघात-प्रभाव में छायावाद को भी इस जीवन-तथ्य की ओर जाना पड़ा। इधर भौतिकतावादी जीवन-दर्शनों का अधिकाधिक उत्कर्ष हुआ, जिसने कवियों को कल्पना की सुनहली स्वर्गगा से घोर यथार्थ की पथरीली भूमि पर ला पटका। बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उन्नति ने मानव-चिन्तन को बड़ी प्रबलता से मथ दिया। परम्परागत भावुकता व रोमानी कल्पनात्मकता का स्थान अब वस्तु-सत्य व बौद्धिकता को देना पड़ा। मानव-जीवन का सारा ढाँचा झकझोर दिया गया। परिणाम-स्वरूप जगत् व जीवन सम्बन्धी अगणित नवीन समस्याएँ समाधान के लिए मुँह फाड़े सामने आ खड़ी हुई। इसके लिए मानव-जीवन और ज्ञान-विज्ञान के समस्त क्षेत्रों में (वस्तु व विचार) भाव-कल्पना-निरपेक्ष, निष्पक्ष या तटस्थ वैज्ञानिक चिंतन-प्रक्रिया ही स्वीकृत हुई, जो सत्यानुसंधान के

---

१. इलाहाबाद रेडियो से प्रसारित श्री सुमित्रानन्दन पन्त का 'प्रयोगशील कविता' नामक परिसंवाद ('प्रतीक', जून सन् १९५१, से उद्धृत।)

लिए आवश्यक है। हाँ, यह बात दूसरी है कि जीवन में सब कुछ वैज्ञानिक बुद्धि से ही प्राप्त नहीं हो सकता—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन"—(कठोपनिषद्)। भारतीय चिन्तन के अनुसार विज्ञानमय कोष से आनन्दमय कोष उच्च कहा गया है। वैज्ञानिक प्रक्रिया और व्यवहार-बुद्धि, इस धारणा के अनुसार, कदाचित् जीवन में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नही करा सकती। पूर्ण ज्ञान श्रद्धा से ही प्राप्त होता है, जो है तो सूक्ष्म बुद्धि से ही साध्य, किन्तु उसमें जीवन की सूक्ष्म-अदृश्य शक्तियों के प्रति विश्वास भी निहित है—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं मत्परः संयतेन्द्रियः।"—(गीता)। हाँ, तो जीवन में बुद्धि का ही सबसे बड़ा महत्त्व स्वीकृत हुआ। हिन्दी की प्रगतिवादी-प्रयोगवादी कविता के भाव व विचार पर भी आधिभौतिक दर्शन व विज्ञान का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। इस नवीन काव्य में प्रेम और सौदर्य के प्रति जो दृष्टिकोण लक्षित हुआ, वह उक्त प्रभाव से ही युक्त है।

२. 'प्रगति' और 'प्रयोग' का अर्थ

प्रगतिवाद-प्रयोगवाद की कविता में निरूपित प्रेम-सौदर्य की भावनाओं का स्वरूप समझने से पूर्व 'प्रगति तथा 'प्रयोग' शब्दो का ठीक-ठीक आशय समझना भी आवश्यक है। उसके प्रकाश में ही उक्त स्वरूप का ज्ञान अधिक अच्छी तरह से हो सकता है। निरुद्देश्य क्रिया ही गति है, और सोद्देश्य क्रिया ही प्रगति। किंतु सोद्देश्यता का अनुमापक क्या है ? वह अनुमापक है मानव की पूर्णता, आत्म-कल्याण अथवा लोक-कल्याण। विवेकशील मानव के लिए इस सोद्देश्यता को स्वीकार करना अनिवार्य है। अतः प्रगति का अर्थ हुआ—लोक-कल्याण या लोक-कल्याण के उद्देश्य से की जाने वाली कोई विशिष्ट क्रिया,—ऐसी विशिष्ट क्रिया जो शरीर, मन या आत्मा के सहयोग से ही संभव है; इनमें से केवल एक से ही नही। फिर, यह क्रिया मानव-मात्र के लिए अभीप्ट है. क्योकि ऐसे उच्च उद्देश्य को सामने रखने वाले मानव की ही आत्मा विश्व-व्यापक हो सकती है; देश-काल तक ही सीमित नहीं रह जाना चाहती। जिस अनुपात में यह क्रिया मानव-मात्र के लिए होगी उसी अनुपात में प्रगति सार्थक होगी। अतः प्रगति की मूल भावना हुई—मानव मात्र का (कोई विशिष्ट देश, जाति या वर्ग का नहीं) समग्र (शारीरिक, मानसिक व आत्मिक) विकास। इससे बढ़कर काव्य का लक्ष्य हो भी क्या सकता है ? भारतीय काव्य का जो भी उद्देश्य रखा गया है, वह ले-देकर यहीं पहुँचता है। अस्तु। चिंतन के लिए प्रगति की इस व्यापक भावना को हम एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ सकते। जीवन की इतर समस्त साधना-पद्धतियों में हम उनके साधकों को इसी एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरंतर गतिशील या प्रगतिशील पाते है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्न में ही प्रगति की उत्तरोत्तर विकासशीलता की कल्पना की जा सकती है। यह प्रगति कर्म, भावना, बुद्धि या इन तीनों के सम्मिलित प्रयत्न से ही हो सकती है। काव्य-

साधना का भी यही लक्ष्य है—अर्थात्, मानव की पूर्णता की प्राप्ति के लिए शब्द अथवा वाणी द्वारा जीवन की सर्वांगीण प्रगति। वह इस लक्ष्य को भाव और कल्पना के माध्यम से प्राप्त करती है। हम हिन्दी को ही लें। पिछले एक हज़ार वर्षों से हिंदी की काव्य-चेतना देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों के बीच इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरंतर संघर्ष करती आई है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, घनानन्द, मीरा, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद', पंत, 'निराला', महादेवी आदि कवि उसी लक्ष्य के प्रगतिशील कवि है, अतः साहित्य में प्रगति निरन्तर होती चली जा रही है, यह माना जायगा। काव्य-क्षेत्र में प्रगति का व्यापक अर्थ केवल एक ही हो सकता है—भाव-द्वारा मानव-जीवन की पूर्णता की अनुभूति, और उसकी अभिव्यक्ति। प्रगति के इस अर्थ की सीमायें जितनी ही छोटी की जायेंगी, वह काव्य उतना ही संकुचित, साम्प्रदायिक तथा एकदेशीय कहा जायगा। इस दृष्टि से काव्य की किसी धारा-विशेष को ही प्रगतिवादी धारा आदि नामों से अभिहित करना मलतः भ्रामक है। जीवन व साहित्य (प्राकृतिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार) सदा ही प्रगतिशील रहे हैं। अतः 'सामाजिक चेतना' व 'अन्तर्मन' की अभिव्यक्ति करने वाले कवियों के लिए ही 'प्रगति' अथवा 'प्रगतिवादी' शब्दों का प्रयोग करना सु-संगत नहीं जान पड़ता।

काव्य-वस्तु और शैली का घनिष्टतम संबंध होता है। विचारों या भावों की प्रगति तदनुकूल साहित्यिक शैली-शिल्प की भी अपेक्षा करती है। कौन कवि आज तक अपनी अभिव्यक्ति से पूर्ण संतुष्ट हुआ है? विचारोत्कर्ष या भावोद्रेक के अनुरूप किस ने पूण सफल अभिव्यक्ति पा ली? पूर्णता के लिए मानवीय प्रयत्न के चरण सदा थिरकते रहे है। युग-युग से कवि नित-नव प्रयोग करते चले जा रहे हैं। अलंकार, भाषा, छंद आदि के सहस्र-सहस्र प्रयोग अभिव्यक्ति की पूर्णता या सफलता को प्राप्त कर लेने की अविराम चेष्टा के द्योतक हैं। इस दृष्टि से देखने पर भी किसी काव्य-विशेष को प्रयोगवादी या प्रयोगशील कहना विशेष तर्क-सम्मत नहीं जान पड़ता।

किन्तु, प्रयोग के माध्यम से हमें वस्तु व शैली-गत प्रगति निरन्तर करते चलना है, इसमें भी सन्देह नहीं। यही हमारे साहित्यिक स्वास्थ्य का लक्षण है। वस्तुतः सच्चा कलाकार नये प्रयोगों के बिना अपने अस्तित्व की जीवंतता और मौलिकता को प्रमाणित कर ही नहीं सकता।[1] प्रगति और प्रयोग का मार्ग अवरुद्ध

1. "......and the true artist, as Mr. Binyon says, wants to work free of all that is dead or half-alive, encumbering or enfeebling his expression with matter of form that is second-hand and not made his own, or accepted without faith from a former time's prestige."

—quoted from A. R. Entwistle's "*The Study of Poetry*"—(1932); p. 21१.

करके घिसी-पिटी लकीरों पर चलना साहित्यिक क्षय और मृत्यु है। प्राचीन के बल पर ही हम सदा जी नही सकते। प्रकृति के यौवन का शृंगार बासी फूल कभी नहीं कर सकते—

> प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल,
> मिलेंगे वे जा कर अति शीघ्र, आह उत्सुक है उनकी धूल। (कामायनी)

किन्तु, इस प्रगति और प्रयोग की उपयुक्तता की कसौटी रहेगी मानव-मात्र का समग्र विकास ही। इन सीमाओं के साथ ही हम साहित्य व जीवन में प्रगति व प्रयोग का अभिनन्दन कर सकते हैं। साहित्य में जहाँ-जहाँ भी वास्तविक प्रगति व प्रयोग दिखाई पड़े है, वहाँ का साहित्य निश्चय ही प्रौढ़ व प्रकाशवान हो उठा है।

३. प्रगति और प्रयोग की आवश्यकता

जीवन प्रगति है। विकासशील पेड़-पौधे और प्रगतिशील नदी-निर्झर पुष्ट और स्वच्छ रहते हैं। विकास और प्रगति ही पुष्ट, उज्ज्वल तथा सद्य जीवन का लक्षण है। मनुष्य और उसका जीवन पूर्णता की ओर बढने के लिए है। युग से युग की कडी जुड़ कर विकास की शृंखला तैयार हो रही है। प्रकृति के विकारों को नष्ट करते हुए जीवन को स्वच्छ बनाए रखना आवश्यक है। संघर्षात्मक विश्व में प्रत्येक युग की नई-नई परिस्थितियाँ और समस्याएँ उत्पन्न होती है, जो समाधान के लिए नये-नये साधनों और प्रयत्नों की अपेक्षा करती है। आज का ताजा ज्ञान कल बासी हो जाता है, आज का जीवन-आदर्श कल रूढ़ि हो जाता है, आज की तरल लहर कल बर्फ बन जाती है। प्रकृति के विकारों के कारण जड़ता, अन्धकार, पंक और कुहरा ही अधिक छाया रहता है। इस सब को तोड़-फोड़ कर आगे बढ़ने के लिए नये से नये ज्ञान और उससे निर्मित नवीनतम दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है। इस ज्ञान और दृष्टिकोण से मनुष्य और संसार को सुख-शाति के एक सनातन सुनिश्चित ध्येय की ओर ले जाना ही वास्तविक प्रगति है। साहित्य जब इस चेतना से सम्पन्न होकर तैयार होता है तब वह प्रगतिवादी कहलाता है। उसमें नव-जीवन की शक्तियाँ गहरी किलकारी मारती हैं।

हम आज ही को लें। आज जीवन और साहित्य में प्रगति की आवश्यकता है। क्यों? इसलिए कि जगत् और जीवन में चलने वाला आमूलचूल परिवर्तन हमें प्रगति के लिए झकझोर रहा है। रेल, तार, रेडियो, टेलीफोन, हवाई जहाज, रॉकेट, अणु-शक्ति आदि ने मानव-जीवन को विलोड़ित कर दिया है। फिर वैज्ञानिक साधनों और तीव्र मानवीय जिज्ञासा के परिणामस्वरूप जीवन, जगत् और उसके रहस्यों से संबंधित मानव-ज्ञान (सूचना) का कितना विशाल समुद्र हमारे सामने उमड़ पड़ा है! पृथ्वी, चाँद और सूरज की आयु को सही-सही निर्धारित किया जा रहा है,

खगोल के नीले रहस्यों को उधेड़ा जा रहा है, समुद्रों का उदर फाड़ा जा रहा है, बर्फ के मोटे-मोटे लिहाफ ओढ़े उत्तरी-ध्रुव और दक्षिण-ध्रुवों को अपना मौन तोड़ने को बाध्य किया जा रहा है, मानव-मन की सारी तहे खोल-खोल कर देखी जा रही हैं, प्रागैतिहासिक अन्धकार में आँखे फाड़ कर जातियों की जन्म-तिथियाँ देखी जा रही है, अणु-शक्ति का उद्घाटन किया जा रहा है, और गर्वोन्नत, अजेय व अभ्रंकष शैल-शिखरों से मानव की पगतलियाँ सहलवाई जा रही हैं। अनुभव, अध्ययन, और निरीक्षण से उपलब्ध सारा ज्ञान आज मनुष्य की चाकरी में खड़ा है। मानव को उसका उपयोग करना ही है।

साहित्य और काव्य सही अर्थों में प्रगतिशील कहलावें, इसके लिए साहित्य स्रष्टा को मानव-ज्ञान के क्षेत्र के ताजे व सुनिश्चित तथ्यों को ग्रहण करना होगा, अन्यथा उसके हाथ से मानव का सांस्कृतिक नेतृत्व छिन जायगा। ज्ञान, कर्म और भावना में सामंजस्य स्थापित करके मानव को सुखी बनाने के उद्देश्य से, उपलब्ध मानव-ज्ञान का काव्योचित सदुपयोग उसे करना होगा, क्योंकि भाव-जगत् से इस सामग्री का गहरा सम्बन्ध है।[1]

जगत् और जीवन के वास्तविक तथ्यो के आधार पर हुई रसमयी भाव-सृष्टि ही सच्चा अन्तर-स्वास्थ्य और जीवन-दृष्टि प्रदान कर सकती है। केवल सुख-दुःख की रसमयी काव्याभिव्यक्ति तो आज की परिस्थितियों में वाग्विलास मात्र ही कहलायगी। प्राचीन और नवीन की भिड़न्त में जो लाखों समस्याएँ आज उठ खड़ी हुई हैं, उनके समाधान के लिए कवि को अब ललकार भरी चुनौती मिल रही है। संसार को सच्चे प्रगतिशील कवि की जितनी आवश्यकता आज है, शायद पहले कभी भी न रही हो!

हाँ, तो प्रगति करनी है। पर इसके लिए प्रयोग आवश्यक हैं। प्रयोग-सिद्ध प्रगति प्रामाणिक और पुख़्ता होती है। नये-नये प्रयोगों के बिना जीवन और साहित्य पर अचार की सी फलन आ जाती है। वास्तविक विकास तो प्रयोगों के द्वारा ही होता है। जीवन का सारा मौलिक आनन्द प्रयोग करने वालों की सम्पत्ति है।

४. प्रगतिवाद का स्वरूप

हिन्दी-कविता का प्रगतिवाद एक व्यापक क्रिया की प्रतिक्रिया है। उसकी एक दार्शनिक पृष्ठभूमि है और कुछ निश्चित सिद्धान्त है। पिछले पृष्ठों मे, विशेषतः छायावाद के विवेचन में, यह यत्र-तत्र बताया जा चुका है कि प्रगतिवाद सूक्ष्म के विरुद्ध स्थूल का विद्रोह है। बात यह है कि छायावाद में भाव और कल्पना की

१. देखिए, पं० रामचन्द्र शुक्ल का ग्रंथ 'काव्य में रहस्यवाद', तथा इस संबंध में वर्ड्सवर्थ के विचार—G. Saintsbury : *'Loci-Critici'*; p. 275.

सूक्ष्मता अपनी अति को पहुँच गई, वस्तु का स्थान सूक्ष्म चेतना ने ले लिया। प्रकृति को इस अतिवाद के कारण पुनर्संतुलन स्थापित करना पड़ा—प्रगतिवाद के रूप में। आरंभ में प्रगतिवाद व्यापक जीवन-प्रगति के सिद्धान्त के रूप में उतना नहीं था, जितना एक राजनीतिक वाद या सिद्धान्त के साहित्यिक सस्करण के रूप में। जर्मनी के प्रसिद्ध समाजशास्त्री दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने मानव के दुःख-दैन्य का व्यापक विश्लेषण करके यह तथ्य स्थिर किया कि आर्थिक शोषण और वैषम्य ही मनुष्य के समस्त रोगो की जड़ है। इस सिद्धान्त से तथाकथित 'प्रगतिवाद' का बहुत गहरा संबंध है। प्रगतिवादी काव्य-धारा में निरूपित प्रेम-सौदर्य की प्रवृत्तियों के स्वरूप का निर्धारण बहुत कुछ यही विचारधारा करती है। प्रगतिवाद के विचारकों ने प्रगतिवाद की अनेक विशेषताएँ बताई है।[1] प्रगतिवाद डार्विन के 'सुयोग्यतम ही जीते हैं' (Survival of the fittest) के सिद्धान्तानुसार जीवन को अविराम सघर्ष का पर्याय मानता है। उसकी दृष्टि में आत्मा, आनन्द, रस या शाति जैसे शब्दों का कोई महत्त्व नहीं। वह पूँजीपतियों एवं सामन्त वर्गों को समाप्त करने के लिए हिंसा, रक्तक्रांति व युद्ध आदि की भावनाओं को भड़काता है। मन या आत्मा भी उसकी दृष्टि में भौतिक द्रव्य ही है। वह जीवन या मानव-समाज की केवल अर्थपरक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है। वह किसान-मजदूरों तथा फैक्टरी-कारखानों के श्रमजीवियों के प्रति ही अपना प्रेम व सहानुभूति सीमित रखता है, और उनकी विषमताओं, पीड़ाओं, अभावों व कष्ट-क्रंदनो को ही वाणी देता है। रोटी को वह जीवन की सबसे बड़ी समस्या मानता है। हँसिया, हथौड़ा, रूस, लैनिन, लाल सेना, मास्को व लैनिनग्राद आदि शब्दों के प्रयोग से वह साम्यवाद के ही साथ अपना सांस्कृतिक संबंध जताता है। वह धर्म, आत्मा, ईश्वर जैसे नामों या शब्दों से घृणा करता है। उसकी दृष्टि में धर्म ढोंग है और ईश्वर धोखा। कला व संस्कृति (सामन्ती) केवल विलास है। इन सब के प्रति प्रेम या श्रद्धा को वह बुर्जुआ मनोवृत्ति, पलायन या प्रतिक्रिया कहता है। वह नैतिक संयम या सदाचार को अस्वाभाविक आत्मदमन तथा आत्मशोषण कहता है। इतना ही नहीं वह काम या वासना को भूख की ही तरह प्राकृतिक वस्तु मानकर उसके नग्न चित्रण को भी अनुचित नहीं समझता। मोटे रूप में यही उसकी विचारधारा का मूल आधार समझा जाता है।

प्रगतिवाद के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर उस के तीन स्पष्ट रूप दिखाई पड़ते हैं—

---

१. दे०—डॉ० नगेन्द्र-कृत 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' में 'प्रगतिवाद' नामक लेख, पृ० ६६ से १०१ तक। श्री कन्हैयालाल सहल-कृत 'आलोचना के पथ पर' में 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' नामक लेख भी दृष्टव्य है।

(१) साम्प्रदायिक प्रगतिवाद, जो प्रगतिवाद के व्यापक और परिष्कृत स्वरूप का अङ्ग-भूत कहा जा सकता है;

(२) स्वच्छन्दतावादी प्रगतिवाद, जो नैतिकता के बन्धनों का विरोधी होकर भोग के सम्बन्ध में फ्रायड आदि लेखकों के अनुसार, प्राकृतिक प्रेरणाओं से ही निर्देशित तथा परिचालित होता है; तथा,

(३) जीवन की व्यापक क्रान्ति का प्रतीक स्वस्थ प्रगतिवाद, जो अपने व्यापक अर्थों में मानवतावाद का पर्याय अथवा उसका समकक्ष कहा जा सकता है।

हम प्रगतिवाद के जिस स्वरूप का पोषण कर रहे है, वह तृतीय प्रकार का है। उसमे प्रथम और द्वितीय के तत्त्वो का उचित अनुपात में योग निहित है। ग्रन्थ की 'भूमिका' मे मानवीय भूमि पर प्रेम-सौदर्य की प्रवृत्तियों की व्याख्या के प्रसंग में हमने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

५. प्रयोगवाद का स्वरूप

प्रयोगवाद, प्रगतिवाद का ही अंग है। प्रचलित अर्थों में प्रगतिवाद वास्तव में साम्यवाद या समाजवाद (Communism or Socialism) नामक एक राजनीतिक-सामाजिक विचार-धारा का साहित्यिक रूपान्तर है। उसका उद्देश्य साहित्य में राजनीतिक-सामाजिक धरातलो पर चलते नव-जीवन की विचार-धारा का प्रचार करना है। किन्तु प्रयोगवाद ने उससे पृथक् होकर अब अपने लिए एक स्वतन्त्र क्षेत्र चुन लिया है, और वह है—काव्य-शैली-संबंधी प्रयोग, तथा अकथित, दमित, रुद्ध भावनाओ की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति। ये दोनों मिलकर उसकी कार्य-विधि के स्वरूप तथा कार्य-क्षेत्र के विस्तार का कुछ अनुमान बँधाती है।

काव्य-शैली संबधी प्रयोगों के अन्तर्गत भाषा, छन्द और अलंकार-संबंधी विविध प्रयोग आते हैं। प्रयोगवादी कवियों की धारणा है कि काव्य में हमारी संवेदनाओं को जगानेके लिए प्रत्येक युग में विशिष्ट सामग्री रहती है, पर हम साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं में वँधे रह कर उसका उपयोग नहीं करते। कमल, भ्रमर, मृणाल, इन्द्रधनुष आदि में संवेदना उत्पन्न करने की जैसी शक्ति रही है, वैसी ही शक्ति ट्राम, थर्मामीटर, बम, टिकट, अखबार, चाय, चम्मच, पॉलिश, इन्जैक्शन आदि शब्दों के प्रयोगों में भी निहित है। वास्तव मे प्रयोगवाद के मूल में व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा भाव-वैचित्र्य ही अधिक दिखाई पड़ता है। प्रयोगवाद किसी व्यापक क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में नहीं आया। अतः उसकी कोई सुनिश्चित वैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि भी नहीं है, यदि है भी तो वह व्यक्तिवादिता—जिसका कोई स्वरूप-निर्धारण नहीं किया जा सकता। प्रगतिवादियों के भाषा, छन्द, अलंकार सम्बन्धी सभी प्रयोगों के मूल में यही व्यक्ति वैचित्र्य या व्यक्तिवादिता ही प्रमुख है। जो भी हो, प्रयोग अपने आप में साहित्यिक विकास की दृष्टि से वांछनीय है। यदि वे भावों को अधिक

पूर्णता, सफलता और सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त करते हैं, तो अवश्य वाछनीय है। हाँ, शाबाशी लेनें के लिए कुछ धमाचौकड़ी या ऊधमधाड़ा मचाना ही उनकी छिपी हुई वृत्ति हो, तो ऐसे प्रयोग सर्वथा व्यर्थ व उपेक्षणीय हैं। हिन्दी के कुछ कवियों ने समझदारी से प्रयोग किये हैं, किन्तु अधिकाश ने कुछ करतब कर गुजरने का-सा ही हौसला दिखाया है।

भाव-सम्बन्धी प्रयोगों के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है, कि प्रयोगवादियों ने मानो चुन चुन कर उन बातों को कहना चाहा है जो अब तक नीति-मर्यादा के बन्धनों के कारण अन-कही या अन-गाई ही रह गई। यह साहस श्लाघ्य अवश्य है, किन्तु कला की स्वीकृत मर्यादाओं का ध्यान न रखने पर वाछित प्रभाव कभी-कभी हाथ भी नही लगता है। जो अभी तक न कहा गया, उसे कहने की धुन ही भाव-सम्बन्धी प्रयोग का सूत्र है। चाँद, कमल, चप्पल, अणुबम, स्ट्राइक, एस्प्रो, छिपकली, गंडेरी, कार, निम्मी, भूख, सैक्स, घास-फूम, भोंपू सब का पारस्परिक सम्बन्ध इस कविता में बैठाया हुआ मिल जायगा।

पर, कई प्रोयग सुरुचिपूर्ण और साहित्यिक भी दिखाई पड़ते है, इसमें संदेह नहीं।

"यदि अनुभूति ज्ञान की जननी है तो प्रयोग विज्ञान का जनक" (पंत)। प्रयोग जीवन का लक्षण है। पूर्णता की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले हमारे प्रयत्नों में उक्त लक्ष्य के प्रति हमारी जागरूकता लक्षित होती है। इस नाते प्रयोग जीवन का अभिनन्दनीय गुण है। किन्तु प्रयोग का कोई सुनिश्चित लक्ष्य होता है। प्रयोग, प्रयोग के ही लिए नहीं होते। वह लक्ष्य है पूर्णता के लिए समग्र जीवन का विकास। जहाँ प्रयोग केवल प्रयोग के लिए होता है, वहाँ केवल मनोरंजन या वाग्विलास को ही अपना लक्ष्य समझता है। "प्रयोगशील कविता का लक्ष्य कविता के लक्ष्य से अलग नहीं है। कविता का क्या लक्ष्य है? और प्रयोगशील विशेषण से कोई अन्तर नहीं आता। क्योंकि प्रयोग स्वयं साध्य नहीं है, केवल साधन है, उसी लक्ष्य को पाने का।"[1] निश्चित ही साहित्य में इस प्रयोग का अर्थ हो सकता है अभिव्यक्ति का आनन्दात्मक होना। यहाँ 'आनन्दात्मक' शब्द संकुचित भोगवाद के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जा रहा है। अभिव्यक्ति पूर्ण आनन्दात्मक तभी समझी जा सकती है, जब वह स्वांतः सुखाय अतः व्यापक अर्थों में लोक-सुखाय हो। अभिव्यक्ति स्वांतः सुखाय तभी हो सकती है, जब वह लोकसुखाय हो।[2] लोकसुखाय के लिए आवश्यक है—लोक की रुचि, आशा, आकांक्षा, राग-विराग आदि का ही चित्रण। यह चित्रण

१. 'अज्ञेय : ('प्रतीक', जून, सन् १९५१, पृ० ३०)।

२. श्री सुमित्रानन्दन पंत : (संगम, १६ जुलाई, '५० में 'स्वांतः सुखाय या बहुजनहिताय : कला का प्रयोजन' नामक लेख)।

गद्य की पद्धति से न होकर काव्य की रागात्मक पद्धति से हो। प्रयोग की पूरी सफलता भी कविता के विषय-गौरव तथा कला-गत सौंदर्य के सम्मिलित प्रभाव की सफलता में ही आँकी जा सकती है। जब तक काव्य की ये संभावनाएँ न हों तब तक प्रयोग सही अर्थों में साहित्यिक प्रयोग नहीं समझे जा सकते।

६. प्रगतिवाद-प्रयोगवाद : साम्य-वैषम्य

अब दोनों पर एक सामूहिक दृष्टि डालकर उनके पारस्परिक साम्य-वैषम्य को अत्यन्त संक्षेप में निर्दिष्ट किया जा सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि छायावाद के प्रतिक्रिया-स्वरूप जिस वाद का आविर्भाव हुआ वह 'प्रगतिवाद' कहलाता है। किंतु आगे चलकर उसमें से एक अन्य वाद प्रयोगवाद के नाम से, प्रगतिवाद से पोषित होकर व अपनी कुछ स्वतन्त्र विशेषताओं के साथ, अंकुरित व पल्लवित होकर फूट निकला। पर, दोनों की विषय-गत व शैली-गत अनेक विशेषतायें बहुत कुछ सामान्य हैं—(१) दोनों में विद्रोह का स्वर प्रधान है—धर्म, रूढियों, साहित्यिक परम्पराओं व अन्य प्रचलित मान्यताओं आदि सब के प्रति; (२) दोनों वाद चिंतन की वैज्ञानिक प्रक्रिया, जीवन की वास्तविकता को अपनाने वाले है, अतः उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी है; (३) दोनों साहित्य में विचार अथवा शैली में नवीन प्रयोगो के पक्षपाती हैं। किंतु दोनो में कुछ महत्त्वपूर्ण व मूलभूत अन्तर भी है:—(१) प्रगतिवाद राजनीतिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर सामाजिक क्रांति का पक्ष ग्रहण करता है। इसके लिए वह ध्वंस, रक्तपात, व हिंसा-भावना आदि साधनों को भी प्रश्रय देता है। वह व्यक्ति में एकागी सामाजिक चेतना भरना चाहता है। किंतु प्रयोगवाद मुख्यतः मध्यवर्गीय व्यक्ति के अन्तर्मन में छिपी कुठाओं व अतृप्त वासनाओं का चित्रण करने में ही अधिक लीन दिखाई पड़ता है। (२) प्रगतिवादी वस्तु, विषय या विचार को अधिक महत्व देता है, किन्तु प्रयोगवादी काव्य-शैली का नव-नव स्वरूप उद्‌घाटित करने में ही दत्तचित जान पड़ता है।[1] (३) प्रगतिवाद का उपजीव्य मार्क्स का राजनीतिक-सामाजिक दर्शन है, और प्रयोग-वाद का उपजीव्य फ्रायड की मनोविश्लेषणा। इस प्रकार दोनों ही कार्य-प्रणाली की दृष्टि से दो विभिन्न दिशाओं की ओर जाते हुए दिखाई पड़ रहे हैं, किंतु परिचालित वे एक ही मूल प्रेरणा से जान पड़ते हैं।

---

१. श्री 'अज्ञेय' तथा श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि लेखक प्रयोगशील काव्य के अन्तर्गत केवल शैली-गत विशेषता ही न मानकर उसमें विषय-गत व वस्तु-गत दोनों तत्वों का भी पूर्ण समावेश मानते है। दे० श्री 'सुमन' के विचार, 'प्रतीक', जून १९५१ के पृ० २६ पर, तथा श्री 'अज्ञेय' के विचार 'प्रतीक', जून १९५१ के पृ० २७, तथा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में पृ० ७ पर।

७. प्रेम-सौंदर्य की कला-गत अभिव्यक्ति

प्रगतिवाद-प्रयोगवाद के अतर्गत आने वाली प्रेम-सौदर्य-विषयक अभिव्यक्ति का स्वरूप उपरोक्त विचारधारा से ही निर्धारित हुआ है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि दोनों धाराओं के कवियो का मूल विपय लौकिक ही है। किंतु प्रगतिवाद में यह व्यापक सामाजिक चेतना की ओर उन्मुख हो गया है, और प्रयोगवाद में व्यक्ति-निष्ठ चेतना की ओर। प्रगतिवाद दलित, उपेक्षित श्रमजीवियों के प्रति प्रेम प्रकट करता है, तो प्रयोगवाद व्यक्तिगत-वाग्वैचित्र्य व भाव-वैचित्र्य से पूर्ण उदगारों व यौन (Sex) कल्पनाओं से आक्रांत दमित व कुठित मन के काव्यात्मक विश्लेषण तथा शैली-सम्बन्धी प्रयोगों में ही मुख्यतः निमग्न दिखाई पड़ता है।

उक्त धाराओं के कवियों को हम वादो के अनुसार दो स्पष्ट गिरोहों में नहीं बाँट सकते, क्योंकि प्रायः सभी कवियों में दोनों धाराओं की विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप मे प्राप्त हो सकती है। फिर भी मोटे तौर से ये कवि इस प्रकार दो वर्गो में रखे जाते हैं–(१) प्रगतिवाद में पंत, 'निराला', 'दिनकर', नरेंद्र, 'अंचल', शिवमंगलसिंह 'सुमन', नागार्जुन, रामविलास, रागेय राघव, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूपण अग्रवाल, गजानन मुक्तिबोध, अश्क, भगवतीचरण वर्मा आदि, तथा (२) प्रयोगवाद में श्री 'अज्ञेय', शमशेरवहादुर, भवानीप्रसाद मिश्र, हरिनारायण व्यास, गिरिजाकुमार माथुर, नरेशकुमार मेहता, शकुतला माथुर, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय आदि कवि सम्मिलित है। पंत, 'निराला', 'दिनकर', नरेंद्र, 'अंचल', भगवतीचरण वर्मा आदि कवि मूलतः छायावाद के ही कवि हैं, किंतु उन्होंने प्रगतिवाद के प्रवर्तन तथा विकास में भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। ये कवि प्रगतिवाद के आत्यंतिक आग्रहों अथवा दुराग्रहों से प्रायः मुक्त ही हैं। पंत और निराला प्रगति-वाद के प्रारंभिक उन्नायकों में से है।

(क) प्रेम :

प्रेम के जितने भी रूप होते है उनमे से इन कवियों के द्वारा मानव-प्रेम तथा दाम्पत्य प्रेम ही प्रधानता से ग्रहीत हुआ है।

(i) **मानव-प्रेम**—मानव या समाज के प्रति जो प्रेम प्रकट हुआ है, वह कहीं तो केवल बौद्धिक जान पड़ता है और कहीं वह कवि के रागात्मक हृदय का पारिचायक है। कोरे मॉस्को, लेनिन, लाल सेना आदि नामों के लेबिल से आतंकित करने वाली सोडावॉटरी जोश वाली साम्प्रदायिक कविताओं की अपेक्षा 'निराला' की 'तोड़ती पत्थर' जैसी कविताएँ दीनों के प्रति कवि-हृदय की सच्ची व मार्मिक वेदना की प्रकाशक है—

वह तोड़ती पत्थर ;
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर ;
वह तोड़ती पत्थर······ ।
गुरु हथौड़ा हाथ ,
करती बार बार प्रहार ;
देखा मुझे उस दृष्टि से ,
जो मार खा रोई नहीं ;
एक छन के बाद वह काँपी सुघर ,
ढुलक माथे से गिरे सीकर ,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा ,
"मैं तोड़ती पत्थर।" —'निराला'[1]

पंत जी की 'ग्राम्या' में 'ग्राम कवि', 'ग्राम', 'ग्राम-चित्र', 'कठपुतले', 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बूढ़ा', 'मजदूरनी के प्रति' आदि कविताएँ कवि के व्यापक मानव प्रेम व सहानुभूति को सूचित करती हैं। 'अंचल' की 'किरणवेला' की रोती हो', 'दोपहर की बातें', 'वह मजदूर की अन्धी लड़की' आदि कविताएँ भी इस दृष्टि से सुन्दर हैं। श्री जगदीश गुप्त की 'गंगा के तट पर एक खेत',[2] व श्री चंद्रप्रकाश सिंह की 'चार महीने'[3] जैसी कवितायें भी दीनों के प्रति कवियों की मार्मिक सहानुभूति को व्यक्त करती हैं।

प्रगतिवाद के अन्तर्गत पड़ने वाली कुछ उच्च कोटि की रचनाओं में नवीन मानव-प्रेम का जो उत्साह दिखाई पड़ा, वह निश्चित ही रति के क्षेत्र का नवीन विस्तार सूचित करता है। यों प्रगतिवाद के नाम पर चलने वाली सौ में से पचानवे कविताओं में कृत्रिम साम्प्रदायिक जोश ही अधिक दिखाई पड़ता है, और साथ ही उनमें हार्दिकता की भी बेहद कमी दिखाई पड़ती है। उनकी सहानुभूति (बौद्धिक और फैशन के लिए) मानव-समाज के केवल एक वर्ग (श्रमिक) तक ही सीमित है, जो उनके व्यापक मानवीय दृष्टिकोण की सूचक नहीं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में इस दोष से मुक्त हैं। उनकी सहानुभूति गोदान के राय साहब तथा होरी इन दोनों के प्रति है। मानवता के नाते विशेष परिस्थितियों में, धनी-जमींदार सभी समान भाव से हमारी सहानुभूति के अधिकारी हो सकते हैं। अस्तु !

(ii) **प्रणय अथवा दाम्पत्य-प्रेम**—आत्मा या ईश्वर का कोई स्थान न होने से प्रेम भी इन कवियों का पूर्ण पार्थिव ही है।

---

१. "अपरा" की 'तोड़ती पत्थर' नामक कविता।
२. ('प्रतीक', जुलाई १९५१)। ३. 'प्रतीक'; मार्च, १९५२

परम्परागत ईश्वर-प्रेम की तो चर्चा ही व्यर्थ है। अब वृन्दावन का रास भी स्थूल वासनाओं का प्रकाशन मात्र समझा जाता है—

ओ कलाकार !
यदि और न कुछ
तुम कर सकते
स्वप्नों का ही निर्माण करो !
पर ऐसे स्वप्न नहीं
जिनके वृन्दावन में
कुजों में, यमुना के तट पर
खेलें खुल कर
वन्दिनी वासनाएँ उर की ! —सिद्धनाथ कुमार।[१]

इन कवियो के लिए यौन-भावना एक हौवा नहीं। यह रोटी—पानी की तरह ही एक दैनिक आवश्यकता या प्राकृतिक क्षुधा है। उसकी अभिव्यक्ति भी ये लोग मुक्त कठ से करते है। इन कवियो की दृष्टि में ऐसी अभिव्यक्ति कोई आपत्तिजनक नहीं—

(१) आओ नहाये
छत से फुहार झरे
खड़े रहे आँख मींच
कभी कभी चुपके से देखें, धुल रही धूल
थकी पिंडलियो की—
थके-थके एक दूसरे को उघरे देखें
और न शरमायें... —सत्यप्रिय मित्र[२]

(२) आज सुहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन,
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन। —'अंचल'[३]

(३) ठहर-ठहर आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा ! —'अज्ञेय'[४]

(४) और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग सा खड़ा हुआ। —'अज्ञेय'[५]

---

१. 'प्रतीक', जुलाई, १९५१।
२. 'प्रतीक', नवम्बर, १९५१ मे 'स्नानघर में' नामक कविता।
३. 'अपराजिता'। ४. 'इत्यलम्' में 'आह्वान'। ५. वही।

(५) वह आएगी
मेरा ढाँप लेगी नंग
अपनी देह से
बहते स्नेह से। —'अज्ञेय'[1]

काम जीवन की ही एक वास्तविकता है, इसमें संदेह नहीं। जीवन और साहित्य में काम का स्थान व महत्त्व आज ही समझा-समझाया जा रहा हो, ऐसी बात नहीं। प्राचीन भारतीय साहित्य में इसका पूर्ण विशदतापूर्वक निरूपण हो चुका है।[2] किंतु जीवन मे वह किस रूप में और किस सीमा तक ही उचित समझा जा सकता है, इसका उत्तर पंत जी देंगे। निम्नलिखित पंक्तियों में काम के प्रति पंत जी की दृष्टि कितनी यथार्थ व परिष्कृत है—

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ स्वस्थ, निश्छल चुम्बन,
अंकित कर सकते नहीं, प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर।
क्या गुह्य, क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान।
नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण। —पंत[3]

उक्त वाद में ऐसी कविताएँ भी दिखाई पड़ती हैं, जो अभिव्यक्ति के संयम व सादगी के कारण ही सुन्दर बन पड़ी है—जैसे, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सुहागन का गीत',[4] तथा गिरिजा कुमार माथुर की कविता 'चूड़ी का टुकड़ा'। 'चूड़ी का टुकड़ा' एक संयत व मार्मिक रचना है—

आज अचानक सूनी-सी संध्या में
जब मै यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्त्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में।

---

१. 'इत्यलम्' में 'आषाढ़स्य प्रथमे दिवसे' नामक कविता।
२. देखिये, बम्बई हिन्दी-साहित्य सम्मेलन (१९३९) का पं० चन्द्रबली पांडे का 'अभिभाषण'।
३. 'ग्राम्या' की 'द्वन्द्व प्रणय' नामक कविता।
४. 'प्रतीक', अप्रैल–मई, १९५१।

मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बातें
दूज-कौर-से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीर
सेज सुनहली
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना।
निकल गई सपने जैसी वे रातें
याद दिलाने रहा सुहाग-भरा यह टुकड़ा।[1]

(ख) सौंदर्य

(i) **शारीरिक सौंदर्य और शील** :—नई कविता में शारीरिक सौंदर्य का चित्रण यथार्थवादी विचार-धारा से प्रेरित होकर ही किया जाता है। सौंदर्य का अलौकिकीकरण अथवा अध्यात्मीकरण करने का कोई प्रयास नही दिखाई पड़ता। बाहरी रूप-सौदर्य अपने आप में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु है, जिसे रहस्य अथवा अध्यात्म की कोई अपेक्षा नही। साथ ही यह भी सत्य है कि प्रत्येक रूप-सौदर्य-चित्रण के प्रयत्न में निम्न वासना ही उसकी मूलभूत प्रेरणा हो, ऐसी भी बात नहीं दिखाई पड़ती। अनेक चित्र शुद्ध रसात्मक होते हैं। लोक-कलाओं तथा ग्राम-जीवन की ओर अधिकाधिक ध्यान आकृष्ट होने के कारण ग्राम पात्रों के रूप-सौदर्य का चित्रण अधिक उत्साह तथा सूक्ष्मता से किया जा रहा है। अन्ततः सौदर्य अथवा शील का चित्रण भी यत्र-तत्र सुन्दर रूप में प्राप्त होता है।

(ii) **प्राकृतिक सौदर्य** :—सौदर्य की भावना भी उक्त काव्य की राजनीतिक तथा मनोविज्ञान-सम्मत विचारधारा के अनुरूप दिखाई पड़ती है। छायावाद की कविता में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म के प्रति अत्यधिक मोह रहा। किंतु अब व्यापक जीवन-दृष्टि में परिवर्तन आ जाने के कारण यथार्थ का आग्रह बढ गया। अप्सरा के सौंदर्य का गान करते-करते न अघाने वाले कवि पंत भी अब तो इस स्वर में गाने लगे—

इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता,
इस की रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर लगता सार्थक, सुन्दर।[2]

कवि धरती के प्रति अब इतना आकृष्ट है, कि अब वह सलमे-सितारे से जड़े नीले परदे के पीछे की सब निधियों को मानो यहीं पर देखना चाहता है पृथ्वी पर

---

१. 'तार सप्तक' (१९४३); पृ० १९। २. 'युगवाणी'; पृ० २९।

ही उतर आने का अनुनय कर रहा है—

देखो भू को ! जीव प्रसू को ।
हरित भरित पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित कुसुमित भू को ।[1]

इस प्रकार अब पार्थिव सौंदर्य या सौंधी मिट्टी का महत्व बढ़ चला । कवि की सौंदर्य-दृष्टि मानव व प्रकृति, दोनों ही क्षेत्रो में पहुँची दिखाई पड़ती है; प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति कदाचित् कुछ अधिक उद्दीपन, दृश्य-चित्रण, वातावरण-निर्माण, अलंकार-विधान व प्रतीक-स्थापन आदि की दृष्टि से नवीन कविता में प्रकृति का बहुत समावेश है। एक चित्र, एक वातावरण, एक संवेदना या क्षण-विशेष की मन:स्थिति को अंकित करने में इन कवियो का कौशल अच्छा दिखाई पड़ता है। रीति-कालीन षट्-ऋतु-वर्णन या बारहमासा आदि के रूप में प्रकृति का वर्णन तो कहीं नहीं दिखाई पड़ता । हाँ, उद्दीपन के रूप मे प्रकृति प्राचीन कविता की तरह ही अब भी अवश्य प्रयुक्त होती दिखाई पड़ रही है—

हर पत्ते पर है बूँद नई हर बूँद लिए प्रतिबिम्ब नया,
प्रतिबिम्ब तुम्हारे अन्तर का अंकुर के उर में उतर गया,
भर गई स्नेह की मधु गगरी, गगरी के बादल बिखर गये ।[2]

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से अनेक कविताएँ बहुत सुन्दर है। श्री नेमिचन्द्र की "डूबती संध्या",[3] श्री 'अज्ञेय' की 'हवाई यात्रा' (हरी घास पर क्षण भर), 'बदली के बाद' (तार सप्तक), 'शिशिर की राका निशा' (तार सप्तक), 'ये मेघ साहसिक सैलानी',[4] श्री भवानी प्रसाद मिश्र की 'सतपुड़ा के जंगल' (दूसरा सप्तक), श्री रघुबीर सहाय की 'सायंकाल' (दूसरा सप्तक), श्री जगदीश गुप्त की 'गंगा के तट का एक खत'[5] आदि कविताएँ प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से सुन्दर है। श्री गिरिजाकुमार माथुर प्रकृति-चित्रण के द्वारा पृष्टभूमि या वातावरण का निर्माण बहुत कौशलपूर्वक करते है। यथा—

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी-झुरमुटों से उठ लम्बे मैदान में ।
रूखे पतझार-भरे जंगल के टीलों पर

---

१. 'युगवाणी'; पृ० १९ ।
२. श्री हरिनारायण व्यास : 'वर्षा के बाद' नामक कविता (दूसरा सप्तक)
३. 'तार सप्तक' पृष्ठ २५–२६ । ४. 'प्रतीक'; सितम्बर, १९५१ ।
५. 'प्रतीक'; जुलाई ५१ ।

काँप कर चलती समीर हेमंत की
लम्बी लहर-सी ।[1]
× × ×
सूनी आधी रात
चाँद-कटोरे की सिकुड़ी कोरों से
मंद चाँदनी पीता लंबा कुहरा
सिमट लिपट कर ।[2]

इसी प्रकार उनकी 'पानी भरे बादल', 'क्वांर की दोपहरी', 'भीगा दिन' (तार सप्तक), व 'ढाक बनी'[3] आदि कविताएँ उनके प्रकृति-प्रेम को सूचित करती है।

रंगों के प्रति भी कवियों की दृष्टि पर्याप्त सजग दिखाई पड़ती है। श्री 'अज्ञेय' जी ने काली परती, भूरे ऊसर, तोता परी, गेहूँ के खेत तथा धानी रंग को बहुत ध्यान से देखा है। गिरिजाकुमार माथुर की रंग-भावना भी प्रशंसनीय है। जैसे—

रुक कर जाती हुई रात का
अंतिम छाँहों-भरा प्रहर है
श्वेत धुएँ से पतले नभ में
दूर भाँवरे पड़े हुए सोने से तारे
जगी हुई भारी पलकों से पहरा देते।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति-सौंदर्य के प्रति कवियों की संवेदना पर्याप्त गहरी है। प्रकृति व मानव-हृदय का अनेक स्थलों पर अच्छा सामंजस्य दिखाई पड़ता है। सांकेतिक या प्रतीकात्मक चित्र बहुत सुन्दर उतरे हैं।

(iii) **कला-गत सौंदर्य** :—सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर प्रगतिवाद में विचार का उत्कर्ष अधिक दिखाई पड़ता है, कला-शिल्प का कम। प्रगतिवादियों की अपेक्षा प्रयोगवादियों का ध्यान कला-गत सौंदर्य की ओर अधिक है। भाषा, अलंकार व छंद आदि के क्षेत्र में वे अनेक नवीनताएं उपस्थित कर रहे हैं। कला-गत-सौंदर्य पर क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' जैसे विदेशी वादों का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई पड़ रहा है।

सबसे पहले भाषा को लें। प्रगतिवादी कवि भाषा की उतनी चिंता करते नहीं जान पड़ते जितने प्रयोगवादी कवि। प्रयोगवादियों ने भाव-विचार की पूर्ण प्रेषणीयता के उत्साह में शब्दों की व्याकरण-गत साधुता-असाधुता की भी चिंता

---

१. 'तार सप्तक' में 'कुतुब के खण्डहर' नामक कविता।
२. 'तार सप्तक' में 'रेडियम की छाया'। ३. 'समाज'; अगस्त, '५४।
४. 'तार सप्तक'; पृ० ४२।

छोड़-सी रखी है। जैसे, श्री गिरिजाकुमार माथुर को वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए नाद-सौंदर्य की दृष्टि से 'सुनसान' से 'सूनसान' शब्द अधिक व्यंजक जान पड़ता है। (पर, ऐसे प्रयोग पंत जी ने भी छायावाद में किए हैं—जैसे, अनिर्वचनीय के स्थान, पर अनिर्वच', हर-सिंगार के स्थान पर' सिंगार आदि।) प्रयोगवादी कवि भाषा में अनगढ़, देशज, व्यावहारिक, सरल, स्पष्ट व चलते शब्दों के प्रयोग के अधिक पक्षपाती जान पड़ते हैं। शब्द-योजना भाव, संगीत व लय से युक्त बनाते हैं। किन्तु ऐसे शब्दों का भी वे बेखटके प्रयोग करते है, जैसे—बेहतर, धौली, तरतीबवार, कमोवेश, ज्यादा, आँखड़ियाँ, अनझिप, अंजुरी, छन, पाहुन, न्हायी, अनकहनी सीमेंट, नमकहराम, डोज, उमस, आदि। अंग्रेजी के शब्दों का भी बेखटके प्रयोग होता है—जैसे, श्री नरेश की कविता 'वेदना-निग्रह'[1] में 'सेरेबलम', 'लोक्राइमल', 'एच-टू-ओ', 'कम्पेन्दियस', और 'पोर्तबुल' आदि शब्द।

अलंकार-विधान में भी नए-नए उपमान प्रस्तुत करने का इनमें अच्छा उत्साह है। छायावादियों की तरह प्रकृति के रमणीय व कोमल उपमान ही न ले कर ये कवि भाव की यथार्थता के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने वाले यथार्थ जगत् के कुरूप-सुन्दर सभी प्रकार के उपमान ग्रहण करते हैं। यह उनकी यथार्थवादी दृष्टि का प्रभाव है। उपमाओं के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१)
साँझ हो गई
जहरीले नीले अजगर सा
धुँआ, निकलने लगा
रसोई घर की मटमैली चिमनी से,[2]

(२)
नाच रहे है सर-सर-सर-सर पीपल के पत्त...
जैसे मालिक की शह पाकर,
पूँछ हिलाते कुत्ते।...
ये पीपल की कलियाँ
अंग मरोड़ झूमती तकतीं
पूँछ हिलातीं भुनगे पा कर
जैसे कुछ छिपकलियाँ,[3]

---

१. 'प्रतीक'; दिसम्बर, १९५१।

२. 'प्रतीक' में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'नीला अजगर' नामक कविता।

३. 'संगम', वर्ष ३, अंक ४७, में पण्डित उदयशंकर भट्ट की 'पीपल के पत्ते' नामक कविता।

(३) मन भी बड़ी विचित्र वस्तु है,
कभी पहुँच के बाहर हो जाता
लहराता,
बेबस उड्डीना पतंग की छिन्न डोर सा
और हाथ में रह जाती है
उलझी गुत्थी ।[1]

(४) त्रयोदशी का चाँद हँसा हँसिया-सा ऊपर ।[2]

(५) मस्से सा कूएँ का मुँह है ।[3]

रेखांकित स्थलों में प्रयुक्त उपमानों में परम्परागत उपमान-क्षेत्र से आगे बढ़ कर नये-नये उपमान गढ़ने की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ रही है । काव्य-गत सौंदर्य की दृष्टि से ये प्रयत्न कैसे है, यह एक स्वतन्त्र विषय है । उपरोक्त उपमाओं में कल्पना-जगत् की कोमल व रमणीय वस्तुओं को नहीं, किंतु यथार्थ जगत् की कुरूप-सुरूप सभी प्रकार की वस्तुओं को कवियो ने उपमान रूप में चुना है । यथार्थ के अधिक आग्रह से श्री नरेश महता ने सुन्दरी की बाहों की उपमा चिकने चीड़ के पेड़ से भी दी है और श्री रांगेय राघव ने रात्रि की उपमा कोयले की खान में काम करने वाली भार ढोती हुई मजदूरनी से दी है । दूसरी उपमा मूल भावना को प्रभावशाली ढंग से अवश्य अंकित करती है ।

वास्तव में अब वाणी को अस्वाभाविक रूप से अलंकृत करने की रोमानी मनोवृत्ति रही भी नहीं । उसका समर्थन मानो पंत जी भी प्रगतिवाद के आरंभिक युग में करते से दिखाई पड़ते है—

वाणी मेरी चाहिए तुझे क्या अलंकार !

छन्दों के प्रयोग में भी कवियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता बरती है । छन्दों का कोई विशेष नियम नहीं दिखाई पड़ता । भाव की गहराई, गति, संकोच या विस्तार, विचार की तीव्रता या उतार-चढ़ाव तथा मन:स्थिति (mood) की सरलता-गंभीरता, दृश्य का प्रभाव आदि बातों के अनुरूप ही छन्द का स्वरूप तथा पंक्तियों की संख्या व आकार बदलता रहता है । कभी-कभी एक ही कविता में नवीनता या विविधता की दृष्टि से अनेक छन्दों (मुक्त) का विधान रहता है—जैसे, श्री शिवमंगलसिंह

१. 'प्रतीक', जुलाई '५१ में श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'टूटी डोर' नामक कविता ।
२. 'प्रतीक', मार्च '५२ में श्री चंद्रप्रकाश सिंह की कविता ।
३. 'अज्ञेय' की 'हवाई यात्रा' नामक कविता ।

'सुमन' की 'जल रहे है दीप, जलती है जवानी' नामक प्रसिद्ध कविता में। छन्द-रचना में कवि अब भाव-प्रवाह, लय और संगीत को ही प्रमुख स्थान देने लगे है। यतिभंग को तो वे यतिभंग ही नही मानते, यदि ऐसा करने में उनके भाव या विचार सफलतापूर्वक व्यक्त होते हों। स्वाभाविकता की दृष्टि से इसे कहीं-कहीं वे आवश्यक-सा भी समझते है। मानव-मन परिवर्तनप्रिय है, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का छन्द-विधान में विशेष ध्यान रखा जाता है। लोक-गीतों की लय का भी अनेक कविताओं में सुन्दर प्रयोग दिखाई पड़ता है। मनोभावना अथवा मूड (mood) की ही बात प्रमुख रहने से छन्द-संबंधी कोई नियम निर्धारित नही किया जा सकता। किन्तु प्रयोगशील कविता के विचारक छन्दों का भी महत्त्व अवश्य स्वीकार करते है। वे कविता को मुक्त छन्द की अवश्य मानते है, किन्तु छन्द-मुक्त नहीं।[1] कविताओं में पंक्तियो की लम्बाई-छोटाई भी दृश्य या वर्णित भाव के अनुरूप रहती है—जैसे, 'अज्ञेय' जी की 'प्रथम किरण'[2] नामक कविता। इस कविता मे पक्तियाँ एक शब्द की पंक्ति से लेकर चार शब्दों की पक्ति तक की पाई जाती है। कविता कुल ३१ पंक्तियों की है। कही-कही कविता में छन्द बेतरतीब-सा भी दौड़ पड़ता है—जैसे नरेश मेहता की कविता 'वेदना-निग्रह' मे। वस्तुत: इन कवियों के प्रयोग अभी प्रयोगशाला मे ही है। स्वय प्रयोगवाद के सूत्रधार श्री 'अज्ञेय' जी प्रयोगवादी कवियों को 'राहों के अन्वेषी' कवि ही मानते है।[3] अत: छन्दों के सम्बन्ध मे भी कोई निर्णयात्मक तथ्य अभी निर्धारित नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना तो स्पष्ट ही है कि परम्परागत छन्दों से मुक्त होकर स्वच्छन्द छन्दों में काव्य-रचना करने में ही कवि अब अधिक मुक्ति का अनुभव करते है। इस स्थिति पर एक प्रकार से संतोष-सा प्रकट करते हुए पंत जी ने बहुत पहले ही कहा था—

खुल गए छन्द के बध, प्रास के रजत पाश।

यह है इन कवियों की प्रेम-सौदर्य सम्बन्धी कला-गत अभिव्यक्ति। आलोचकों ने इस कविता (प्रयोगवादी) पर सामूहिक दृष्टिपात करते हुए उसे व्यक्तिवादी कहा है। किन्तु प्रयोगवादी कवियों की ओर से श्री 'अज्ञेय' जी उसके प्रति यह आरोप स्वीकार नहीं करते। इतना ही नहीं, वे इस बात को बहुत बलपूर्वक कहते हैं कि प्रयोगवादी कवि 'साधारणीकरण' का सिद्धात पूर्ण रूप से मानते है।[4]

अब इस नवीन काव्य की एक व्यापक आलोचनात्मक परख की जाय।

---

१. देखिए, 'प्रतीक', जून १९५१, में प्रयोगशील कविता पर रेडियो-परिसंवाद।
२. प्रतीक, अप्रैल-मई १९५१।
३. 'तार सप्तक' की भूमिका में 'अज्ञेय' का वक्तव्य।
४. 'दूसरा सप्तक' की 'अज्ञेय'-लिखित भूमिका; पृ० ९।

८. आलोचनात्मक परख

(क) स्थूल में प्रेम और सौंदर्य का अन्वेषण

सिद्धान्त पक्ष के प्रतिपादन में हमने ग्रंथारम्भ में बताया था कि आदर्शवादी धारणा के अनुसार कोरा ऐन्द्रिक प्रेम या बाह्य सौंदर्य आत्मा के नाते ही ग्राह्य है, अन्यथा उपेक्षणीय। आत्मसत्ता से असंपृक्त प्रेम या सौंदर्य कोरा भौतिक है, अतः आत्मवादियों की दृष्टि में वह निर्जीव या जड़ है। उधर, साम्यवाद का आधार-द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic materialism) केवल द्रव्य (Matter) की ही सत्ता मानता है। वह मन को भी भौतिक तत्वों की तरह एक प्रकार का पदार्थ ही मानता है; आत्मा मन का कुछ विकसित रूप मात्र है। अतः मन तथा आत्मा उसकी दृष्टि में भौतिक ही है। इस मान्यता के कारण उक्त वादों से पोषित प्रगति-वाद (जिसमें प्रयोगवाद भी सम्मिलित है) भी केवल यथार्थ, वास्तविक या भौतिक को ही मूल्यवान समझता है। प्रगतिवाद की इस विचारधारा का भारत की परम्परागत सांस्कृतिक दृष्टि से मौलिक मतभेद है। भारतीय दृष्टि आत्मा की सत्ता को ही एक मात्र सत्ता मानती है—"एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।" अतः स्थूल पदार्थों में ही प्रेम-सौदर्य का दर्शन या अनुभव करना उसकी दृष्टि में जड़ता की उपासना मात्र है। दार्शनिक जगत् के प्रसिद्ध चिन्तक योगिराज अरविन्द ने शुद्ध व सूक्ष्म वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति द्वारा वस्तु व आत्मा के समन्वय की आवश्यकता बतलाने वाले स्वस्थ व संतुलित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करके हमें पूर्ण विकसित जीवन-दृष्टि प्रदान की है। वस्तुतः अरविंद-दर्शन पूर्ण सत्य के दोनों पक्षों—वस्तु तथा चेतना का पूर्ण संतोषजनक समन्वय है। केवल वस्तु-मूलक दृष्टि से प्रसूत काव्य भारतीय सहृदय को पूर्णतया ग्राह्य नहीं।

हाँ, प्रगतिवाद की एक विशेषता अवश्य ही उसका अर्जित श्रेय है। हिन्दी कविता स्थूल या यथार्थ से पूर्णतः सूक्ष्म के शून्य में उड़ चली थी। प्रगतिवाद ने उसको जीवनोपयोगी बनाने के लिए पुनः पृथ्वी पर उतारा और यथार्थ का सौंदर्य दिखाया। उसने नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न नवीन युग-चेतना और जीवन-अनुभूतियाँ दीं, जो जाग्रत जीवन का लक्षण है। किन्तु इस प्रयत्न में एकांगिता का दुराग्रह आ गया, यह दूसरी बात है। प्रगतिवाद ने उपेक्षित मानव के प्रति प्रेम, सहानुभूति व्यक्त की, यह उसका गौरवशाली रूप है। किन्तु, उस ने उसे केवल मजदूर, किसान के लिए ही सुरक्षित रखा, यह बात सर्वहित-भावना की व्यापकता नहीं प्रकट करती। वास्तव में यह राजनीतिक वादों का प्रभाव है। कवि राजनीति से ऊपर रहता है। मानव-मात्र से प्रेम के नाते मजदूर-किसान उसकी करुणा व सहानुभूति का अधिकारी हो सकता था, पर उस उदार-वृत्ति से शेष मानव-

समाज क्यों वंचित रहता है ! अस्तु ! प्रेम के अन्य रूपों के निरूपण के अभाव में केवल उक्त प्रेम की ही अभिव्यक्ति हृदय की पूर्णता की सूचना नहीं देती । फिर, जो अभिव्यक्ति है, वह भी बहुत कुछ बौद्धिक है । उसमें रागात्मकता या रसात्मकता का अभाव है। केवल बौद्धिक अभिव्यक्ति समस्त अंतःसत्ता पर अधिकार कैसे स्थापित कर सकती है ? फिर भी प्रगतिवाद आरम्भ में छायावाद के विरुद्ध एक स्वस्थ प्रतिक्रिया ही लेकर आया, यह अवश्य माना जायगा ।

(ख) सुरुचि-कुरुचि का भेद और साहित्यिक विवेक-दृष्टि

मानव अपने आप में अपूर्ण है । किन्तु, उसमें पूर्णता के आदर्श को प्राप्त करने की भरपूर क्षमतायें अवश्य हैं । अपूर्णता को पूर्णता मान लेना भ्रांति है । जब तक वह अपूर्ण है, तब तक उसकी अभिव्यक्ति भी अपूर्ण बनी रहेगी । पूर्व और पश्चिम दोनों में ही काव्य व कलाओं की पूर्णता के कुछ सामान्य मानदण्ड स्थिर किए जा चुके है । उनका आधार है काव्य-गत सत्य और काव्य-गत सौदर्य के नियमों के आधार पर भावों की अभिव्यक्ति । भारत में तो अत्यन्त प्राचीनकाल में ही कवि और कविता का सर्वोच्च आदर्श स्थिर किया जा चुका था ।[1] साधारणतः काव्य के मान-दण्डों के अनुसार अभिव्यक्ति के होने में ही कला-काव्य सुरुचिपूर्ण समझा जाता है । प्रगतिवाद के लिए भी वह मान्य होगा । अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता के नाम पर हम कला-गत सुरुचि की बात की बहुत दूर तक उपेक्षा नहीं कर सकते । यों कुरुचि और सुरुचि सापेक्षिक शब्द हैं, किन्तु इन दोनों की सीमाओं का निर्धारण करने वाली एक रेखा सामान्य (Average) मानव हृदय को ध्यान मे रख कर सहज ही कल्पित की जा सकती है । उस रेखा का उल्लंघन कुरुचि की ओर गमन ही समझा जायगा। काव्य के रसास्वादन के प्रसंग में हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त व्यक्ति के विचार से नहीं किया गया; वह मानव मात्र की सामान्य रुचि-अरुचि को परख कर ही स्थापित किया गया है । प्रत्येक कवि अपनी व्यक्तिगत रुचि को ही श्रेष्ठ बतायेगा तो एक ओर तो मानव-हृदय पर व्यापक अधिकार स्थापित करने का उसका सारा लक्ष्य ही खटाई में पड़ जायगा, और दूसरी ओर व्यक्तिगत रुचि के कारण उत्पन्न हुई विचार जगत् की अराजकता से काव्यालोचन का मार्ग ही रुँध जायगा । अतः कवि को अपनी अभिव्यक्ति अपने ही हित—लोकप्रभाव के लिए मानव के औसत हृदय के अनुरूप ही ढालनी होगी । इस रूप में ढालकर भी अपनी अभि-व्यक्ति में पर्याप्त व्यक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शन करने की—विषय-चयन, उपमान-स्थापन, प्रकृति-निरीक्षण, जीवन की व्याख्या, चरित्र-सृष्टि आदि में—स्वतन्त्रता उसे रहेगी ।

---

१. **भारतीय कवि का महत्त्व और काव्य का स्वरूप आचार्य विनोबा भावे ने अत्यन्त स्पष्टता तथा पूर्णता से समझाया है । देखिए उनका 'कवि के गुण' नामक लेख ('विनोबा के विचार' नामक पुस्तक में) ।**

'साधारणीकरण' का सिद्धांत पूर्व और पश्चिम के सभी आलोचक आज स्वीकार करते है।[1] प्रगतिवाद और प्रयोगवाद भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।[2] उसे भी काव्य का सर्वोच्च लक्ष्य—'आनंद' मानना होगा।[3] बौद्धिकता के स्तर से व्यापक रागात्मकता, भावनात्मकता व रसमयता के स्तर पर आना होगा।[4] चाहे फिर उसके पोषक 'बौद्धिकता न कहकर भावनात्मक परिपक्वता से दूसरी भावनात्मक परिपक्वता के बीच की संक्रांति-स्थिति' में ही अपने उपयोग की रसात्मकता समझें।[5] काव्य की शैली को भी अनिवार्यत: सुदर बनाना होगा।[6] छंदों के प्रयोग में भी उन्हें संयत व सुरुचिपूर्ण होना होगा। स्वयं प्रगतिवादी-प्रयोगवादी कवि छन्द की उपेक्षा को सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव मात्र मानते हैं, और उन का विश्वास भी है कि 'जब सामाजिक परिस्थितियो का अंतरद्वंद्व, संघर्ष और उलझनें

---

१. आचार्य शुक्ल, आनन्द कुमारस्वामी, विलियम नाइट आदि के विचार पीछे दिए जा चुके है। श्री 'अज्ञेय' ने भी यह माना है। दे०, 'प्रतीक' मासिक, जून, १९५१। सुप्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन् भी यह स्वीकार करते हैं—

"But the poet's words must establish a natural sympathy with the reader and induce in him the mood of exaltation favourable to the implicit apprehension of the idea."

—An Idealist View of Life (1932); p. 190.

तथा, देखिये—G. Saintsbury : '*Loci-Critici*', p. 276 ; Tolstoy : '*What is Art*'; p. 120-121 and 123.

२. "कविता अब भी व्यक्ति-सत्य का साधारणीकरण करके आनंद की सृष्टि करना चाहती है।"—'अज्ञेय', 'प्रतीक' (जून १९५१), पृ० ३१।

"अंत में, कविता में सौंदर्य और सत्य अवस्थित होता है, अर्थात् उसके लिए इतना ही काफी नहीं है कि वह भावात्मक हो। यदि उसके अन्दर व्यक्त भाव या अनुभूति का आधार ऐसा वैयक्तिक अनुभव है जो सामाजिक रूप से अनुभूत नहीं किया जा सकता तो वह सौंदर्य सृष्टि नहीं कर सकता।"

—शिवदानसिंह चौहान : 'प्रगतिवाद' (१९४६); पृ० १०३।

और देखिए, 'प्रयोगवादी कविता' नामक लेख, डॉ० नगेंद्र की "आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ", (पृ० १२१–१२२) नामक पुस्तक में।

३. डा० नगेंद्र : 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ'; पृ० १०६।

४. शिवदानसिंह : 'प्रगतिवाद', १०३; तथा, 'प्रतीक' (जून, १९५१); पृ०२९ पर 'अज्ञेय' के तत्संबंधी विचार।

५. 'प्रतीक' (जून, १९५१); पृ० ३३ पर श्री धर्मवीर भारती का वक्तव्य।

६. 'दिनकर' : 'रसवंती' की भूमिका, पृ० ११।

फिर शांत होंगी, समाज व्यवस्था में एक सामंजस्य होगा, जीवन में एक समाज संगीत होगा तब फिर छन्द लौटेंगे।'[१] मुक्त छंद के नाम पर कुछ ऊल-जलूल करतब कर दिखाने की वहादुरी ही पर्याप्त नहीं है। काव्य की भाषा को भी हम सब्जीमंडी की भाषा के धरातल पर लाकर नहीं रख सकते। उसमें वांछित काव्योचित शालीनता, परिष्कार व संयम रखने के लिए हम बाध्य है। प्रकृति-प्रेमी अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) तथा इटालियन महाकवि दांते (Dante) ने भाषा-संबंधी युग-व्यापी प्रयोग करके यह अनुभव कर लिया था कि काव्य की भाषा को अवश्य ही लौकिक स्तर से कुछ ऊँचा ही रखना पड़ेगा।[२] कविता का विषय भी गौरव-पूर्ण रखना होगा।[३] विषय-गौरव के अभाव में कविता का मेरुदण्ड दुर्बल रहेगा। किंतु विषय-गौरव या विचारों का घनत्व ही सब कुछ नही है; उससे भी अधिक महत्त्व की वस्तु है अनुभूति की शुद्धता या पवित्रता और उदात्तता।[४] साहित्य कोरा प्रचार मात्र नहीं है।[५] यों व्यापक अर्थ में प्रत्येक कवि और कलाकार जीवन में किसी सुन्दर तथ्य का

---

१. 'प्रतीक' (जून, १९५१); पृ० ३२ पर श्री धर्मवीर भारती का वक्तव्य।

२. "He (Dante) decided that it must be that of the vulgar tongue, the vernacular—but with a difference. It must be the language of culture, the language which would be common to man of letters who meet together from all parts; it must be suited for the headquarters of society, art and letters—an illustrious vernacular."

—R. A. Scot-James : '*The Making of Literature*'; p. 104.

३. "Form and content are closely bound up and only great things can give great poetry. Prose which is meant for discussion and communication is not competent to deal with the highest things. Poetry is the language of the soul, while prose is the language of science. The former is the language of mystery, of devotion, of religion. Prose lays bare its whole meaning to the intelligent, while poetry plunges us in the *myscerium tremendum* of life and suggests the truths that cannot be stated."

—'*An Idealist View of Life*' : p. 190-91; तथा, G. Saintsbury : '*Loci Critici*'; p. 266, 270 (Wordsworth on Poetry and Poetic Diction).

४. "What matters is not the massiveness of thought or the importance of the subject but the purity and profoundity of the experience." —'*An Idealist View of life*'; p. 90.

५. "आत्मानुभूति ही सच्ची कला का आधार बनती है। युग के क्षणिक तत्व और प्रचार भावना—दोनों से परे जो सरसता है वही तो शाश्वत है।"

—श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का, 'आजकल' (१ जुलाई, १९४९) में 'संस्कृति और सौंदर्य-बोध' नामक लेख।

प्रचारक ही है। इस अर्थ में प्रचार बुरा भी नहीं समझा जा सकता। प्रगतिवाद के स्वच्छ-दृष्टि-सम्पन्न समीक्षक श्री शिवदानसिंह चौहान की इस धारणा का हम हार्दिक समर्थन करते है कि 'महान् कला का जन्म तभी होता है जब जीवत और महत्वपूर्ण प्रोपेगेन्डा कलात्मक नैपुण्य के साथ किसी कला विशेष के माध्यम द्वारा व्यक्त किया जाता है।'[1] इस कलात्मक नैपुण्य के होने पर वह गद्यात्मकता व रूक्षता भी घटती जायगी जो वर्तमान काव्य में प्रचुर परिमाण मे दिखाई पड रही है। प्रेम और सौंदर्य के नाम पर किए जाने वाले नग्न चित्रो का अकन भी काव्य नही है।[2] जीवन की व्याख्या का सदा अर्थपरक (Economic interpretation) किया जाना ही उसकी पूर्ण व्याख्या नही है। अर्थ को हमारे यहाँ भी स्थान मिला है, किंतु धर्म के बाद ही—"धर्मार्थकाममोक्षाणाम्" (गीता)। धन या पैसा भी जीवन मे सब समस्याओं का अन्तिम हल नही है। उपनिषदों में साफ कहा गया है—"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो।" (कठोपनिषद्), तथा, "अमृतस्य तु न आशाऽस्ति वित्तेन।" (बृहदारण्यक उपनिषद)। 'धम्मपद' में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि धन की वर्षा से भी मनुष्य की इच्छायें पूरी कभी भी नही हो सकतीं।[3] ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबल मे भी इसी प्रकार की भावना मिलती है।[4] इसी प्रकार जीवन का अर्थ रोटी के लिए सघर्ष तक ही मानना भी उचित न होगा। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि जीवन के लिए रोटी मानव की प्राथमिक आवश्यकता है? कला के विवेचन मे यह बात निहित है कि कला का अनुशीलन रोटी खा कर तृप्त हुए स्वस्थ मनुष्य के ही लिए है। किंतु इस बात को केवल राजनीतिक नारे के रूप में उठाकर जीवन-सघर्ष को ही सब कुछ बताना और उसे प्रोत्साहित करना शोभनीय नहीं। वास्तव में आत्मा के संघर्ष से आत्मा का आनंद एक ऊँचा लक्ष्य है। भारतीय दृष्टि से आनंद ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य है। संघर्ष को अधिक महत्त्व देने वाले पाश्चात्य जगत् के बर्नार्ड शॉ तथा एच. जी. वैल्स जैसे महान् साहित्यकार भी हमारे मनीषियों की दृष्टि में जीवन के अंतिम लक्ष्य से सुपरिचित नही है।[5] श्री मैथिलीशरण गुप्त ने झंकार को ही जीवन का मूल स्वरूप माना है, टकार को नहीं। झंकार की रक्षा के लिए टंकार की आवश्यकता अवश्य है।

कवि की काव्य सबंधी सुरुचिसम्पन्नता तभी सम्भव है, जब काव्य को इस रूप मे निर्मित करने की (स्वतन्त्रतापूर्वक) चेष्टा की जाय।

---

१. श्री शिवदानसिंह चौहान : 'प्रगतिवाद'; पृ० १५।

२. 'विनोबा के विचार', पृ० २२ पर 'कविर्मनीषी' शब्द की व्याख्या।

३. "अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खरतो होति सम्मसम्बुद्ध सावको।" (बुद्धवग्गो)

४. "He who increaseth riches, increaseth sorrow."

५. S. Radhakrishnana : '*An Idealist View of Life*', Chap. V, p. 191.

(६) विवेच्य काव्य की भावी सम्भावनाएँ

प्रगतिवाद-प्रयोगवाद के काव्य में बहुमूल्य भावी सम्भावनाएँ छिपी है। किन्तु, हम कुछ सीमाओं के साथ ही उसका हार्दिक स्वागत कर सकेंगे। नवजीवन की क्रांतियों, नवीन जीवन-परिस्थितियों तथा नवीन जीवन-दर्शनों के कारण मानव-मन में आज जो नवीन संवेदनाएँ जग रही हैं, उनकी अभिव्यक्ति जीवन की ही अभिव्यक्ति है। हमारे प्रज्ञावान् समीक्षक, नवीन कवियों के लिए, नवीन जीवन-परिस्थितियों के अनुकूल ढल कर, नवीन विश्वचेतना के कौशलपूर्ण समावेश को कवि-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते है।[१] किन्तु यह कार्य शताब्दियों के परिश्रम से तैयार किए गए काव्य-शास्त्रीय ढांचे की रक्षा करते हुए भी किया जा सकता है। अभिव्यक्ति की स्वच्छंदता काव्य के विकास के लिए नितान्त अनिवार्य है, किन्तु उसे (१) काव्य की रागात्मक अभिव्यंजना, (२) काव्य का उच्चादर्श, (३) मानव-जीवन का व्यापक लक्ष्य, और (४) सुरुचिसम्पन्नता, आदि आवश्यकताओं का भी निर्वाह अवश्य करना होगा। यदि प्रगतिवाद-प्रयोगवाद की अभिव्यक्ति अपनी एकांगिता को छोड़ कर काव्य के व्यापक ढाँचे में ढल कर चले तो वह साहित्य की अनमोल वस्तु सिद्ध हो सकती है, इसमे सन्देह नहीं। प्रत्येक कवि के हृदय मे, उसकी आत्मा की मौलिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप, अनेक बहुमूल्य अनुभूतियाँ जाग्रत होती रहती हैं, जिनमे उसके अस्तित्व के गूढ स्पदन, उच्छ्वास, प्राणोष्मा, स्वप्न व प्रकाश उर्मियो की अभिव्यक्ति होती है। ऐसी अनुभूतियाँ साहित्य की मूल्यवान् विभूति है। इस दृष्टि से हम जीवन की नवीन प्रगति तथा नवीन प्रयोग का हार्दिक स्वागत करेगे।

किंतु, नवीन कविता ने वस्तु तथा शैली के द्वारा जो कुछ हमें दिया है उससे साहित्य के गंभीर विचारक अभी तक पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं जान पड़ते। उसका मुख्य दोष या अभाव है—उसकी शुद्ध भौतिक दृष्टि और नैतिकता में अविश्वास।[२] आत्मिक दृष्टिशील भारतीय विचारक या कवि को उसमें संतोष नही मिलता। प्रौढ़ प्रगतिवादी कवि पंत के काव्य-विकास को देखने पर विदित होता है कि वे जीवन में समन्वय (वस्तु और चेतना का) के ही पक्षपाती हैं; कोरे प्रगतिवाद-प्रयोगवाद से वे संतुष्ट नहीं। बा० सम्पूर्णानन्द मानसिक ग्रंथियों मे उलझे हुए लोगों में सौदर्य के अनुभव की सम्भावना ही नहीं मानते।[३] मिश्रबंधु उक्त वाद में

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग १ मे 'कविता क्या है ?' नामक लेख; तथा 'चिंतामणि', भाग २ (सं० २००२); पृ० १७१–१७२।

२. 'उत्तरा' (हिंदी मासिक, जून, १९५२) में बा० भगवतीचरण वर्मा द्वारा लिखित 'सम्पादकीय वक्तव्य'।

३. 'सौंदर्य विज्ञान' (लेखक : हरिवंशसिह शास्त्री) की भूमिका; पृ० ५।

नग्न वास्तविकता पाते हैं, और साहित्यिक गौरव का अभाव भी।[१] बा० गुलाबराय भी नवीन काव्य के प्रति पूरी-पूरी सहानुभूति रखते नहीं जान पड़ते। वे सौंदर्य में भाव-सौदर्य व वस्तु, दोनों का समावेश चाहते हुए काव्य को बुद्धि-तत्त्व व नैतिक तत्त्व के कूलो मे बँधा हुआ ही देखना चाहते है। काव्य में वे लोक-कल्याण की भावना भी आवश्यक मानते है। वे केवल व्यक्ति की वृत्तियों मे ही सामंजस्य नहीं चाहते, वरन् व्यक्ति और समाज का सामंजस्य भी चाहते हैं। उनकी दृष्टि मे जो साहित्य सघर्ष कम करके सामंजस्य के साथ समृद्धि भी लाए वही सत्साहित्य है।[२] इससे स्पष्ट है कि वे केवल प्रगतिवाद (समाज-पक्ष) तथा प्रयोगवाद (व्यक्ति-पक्ष) के सम्मिलित रूप से ही नहीं, किंतु जीवन के शाश्वत मूल्यों से संयुक्त काव्य से ही सन्तुष्ट है। उनकी दृष्टि समन्वयात्मक है। स्वयं प्रगतिवाद के समर्थ कवि 'दिनकर' भी आलोच्य काव्य के स्वरूप के समर्थक नहीं जान पड़ते। उनकी दृष्टि जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने की है। वे लिखते हैं—"कल्पक के मनोदेश का नदनवन उतना ही सत्य है जितना पुतलीघरों का रुक्ष वातावरण और उनके कल-पुर्जे।" प्रगतिवाद की गति-विधि या कार्य-शैली से क्षुब्ध होकर वे उसकी त्रुटियों को साफ-साफ बताने में भी नही हिचकते।[३] वे अनुभूति को ही काव्य में प्रमुख मानते हैं और उसी साहित्य को जीवंत व स्थायी साहित्य मानते है 'जो आज जीवित आया है और आगे भी जीवित रहेगा।' नवीन काव्य की एकांगिता तथा विचारों का अभाव भी उन्हें खटकता है। उनकी धारणा है कि अब जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें चिंतन की कमी है। एकांगी होकर साहित्य प्रगतिशील भले ही कहला ले, लेकिन समन्वय के बिना वह दीर्घायु नही हो सकता।[४] मौलिकता, नवीनता तथा सूक्ष्मता को भी वे कुछ सीमाओं के साथ चाहते हैं।[५] पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी प्रगतिवाद की एकागिता व विचारो की अवैज्ञानिकता पर क्षुब्ध है।[६] प्रगतिवादियो के चितन के अभाव को लक्ष्य करके वे लिखते है—

---

१. "अब दूसरी ही मनोवृत्ति दिखाई दे रही है जिसमे समाज के दलित वर्ग को कविता का लक्ष्य बनाकर लोग प्रगतिवादी नाम की रचनाएँ कर रहे है। अभी कहा नहीं जा सकता कि इन रचनाओं का स्वरूप क्या होगा—अब यह रचनाएँ ऐसी सादी हो रही है कि लोग इनमें काव्य-तत्त्व की कमी पा रहे है, क्योंकि नग्न वास्तविकता के साथ इनमे साहित्यिक गौरव का प्रायः अभाव रहता है।"

—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल-कृत 'आधुनिक काव्यधारा' के आरम्भ मे मिश्रबंधुओं द्वारा 'वक्तव्य'।

२. 'सारंग' (रेडियो पाक्षिक पत्रिका), वर्ष १६, अंक ५।

३. 'रसवंती' की भूमिका; पृ० २–३। ४. वही; पृ० ७।

५. वही; पृ० १०। ६. 'अपलक' की भूमिका।

"विज्ञान के नाम से जो लोग इस प्रकार का विवेचन करते है, वे वास्तव में कोई ऐसी बात नहीं कहते है जिस पर उन्होंने स्वतन्त्र विचार किया हो। कुछ विचारों का वमन मात्र ही उनका विज्ञान (?) सम्मत प्रगतिवाद है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि प्रगतिवाद-प्रयोगवाद की मूल स्फुरणा—जीवन की स्वस्थ गतिशीलता तथा विकास की साधिका प्रयोगशीलता—तो अत्यन्त ही वांछनीय वस्तु है, किन्तु रचित काव्य मे प्राप्त विचार-एकांगिता तथा शैली-शिल्प-सवंधी प्रयोग मात्र जीवन के व्यापक समन्वय को सूचित नही करते। काव्य में किसी एक गहरे समन्वय की स्वाभाविक माँग है, यह विवेच्य काव्य के प्रति उठी आपत्तियों से स्पष्ट ही सूचित हो रहा है। प्रगतिवाद-प्रयोगवाद अपने आप में अधूरे रहे, अतः साहित्य की चेतना किसी अधिक पूर्ण और व्यापक जीवनदर्शन तथा काव्यादर्श की खोज में भटकने लगी। समन्वय का यह रूप पंत जी की कुछ उत्तर-कालीन काव्य-कृतियों में दिखाई पड़ा।

१०. अन्तश्चेतनावाद

'अन्तश्चेतनावाद' से हमारा आशय स्थूल और सूक्ष्म, यथार्थ और आदर्श, वस्तु और चेतना जैसी परस्पर विरोधी सत्ताओं में समन्वय अथवा सामंजस्य स्थापित करने वाले विचार-जगत् के उस सिद्धान्त से है जिसने काव्य का रूप ग्रहण किया है। वास्तव में ऐसा कोई वाद हिन्दी-कविता के क्षेत्र में प्रतिष्ठित नही हुआ है, किन्तु पंत जी की उत्तर-कालीन काव्य-कृतियों (स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा, रजत-शिखर आदि) में प्राप्त इस नवीन समन्वयात्मक विचार-धारा को प्रायः 'अन्तश्चेतना-वाद' की संज्ञा से अभिहित कर दिया जाता है। यों इसे हम पंत जी के काव्य-विकास का एक चरण भी मान सकते है।

(क) समन्वय (वस्तु तथा चेतना) का स्वरूप और उसकी आवश्यकता

हम ऊपर छायावाद तथा प्रगतिवाद दोनों की विचार-धारा से परिचित हो चुके हैं। एक पूर्ण सूक्ष्म, आदर्शवादी, आत्मपरक, तथा वायवी है, तो दूसरा पूर्ण स्थूल, यथार्थवादी, वस्तुपरक तथा पार्थिव। सिद्धान्त-पक्ष के विवेचन में हम प्रेम तथा सौंदर्य के स्वरूप-निर्धारण में आत्म-गत तथा वस्तु-गत आधारों का यथोचित महत्त्व स्वीकार करते हुए समन्वय में ही उनकी वास्तविक स्थिति की स्थापना कर आए है। वास्तव में कोरा सूक्ष्म और कोरा स्थूल, दोनों ही प्रेम या सौदर्य नहीं हैं। उनकी वास्तविक सत्ता आत्मा व इन्द्रियों के समन्वय में ही है। हिन्दी-कविता के विकास का पथ भी यही प्रमाणित कर रहा है। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी, बा० श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बा० गुलाबराय, पं०

---

१. 'अपलक' की भूमिका।

सुमित्रानन्दन पन्त, श्री महादेवी वर्मा, श्री 'दिनकर' व पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में समन्वय का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। किन्तु काव्य-क्षेत्र में प्रेम-सौदर्य की व्यापक और समन्वित दृष्टि से कविवर सुमित्रानन्दन पंत का नाम अग्रगण्य है। वे परिष्कृत प्रगतिवाद के सब से समर्थ सेनानी रहे हैं। 'युगांत', 'युगवाणी' व 'ग्राम्या' में उनका यह नेतृत्व प्रकट हुआ है। तथाकथित प्रगतिवाद ने अपनी यात्रा में जो रूप ग्रहण कर लिया वह सर्वथा एकांगी तथा वस्तुपरक हो गया। अतः पंत जी ने प्रगतिवाद की अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए जीवन के प्रस्तुत यथार्थ को जीवन की शाश्वत प्रकाश-चेतना से सम्पन्न करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रयत्न किया। उनकी 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' व 'उत्तरा' नामक रचनाएँ इस व्यापक समन्वय के उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ हैं। पंत जी के इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का आधार है अरविंद-दर्शन, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समुचित समन्वय कर हमें एक परिपूर्ण जीवन-दृष्टि प्रदान करता है। प्रेम और सौंदर्य की अनुभूति खंडशः नहीं होती। वह हमारे दृष्टिकोण की समन्वयात्मक व हृदय की व्यापकता पर ही निर्भर करती है। प्रकृति-प्रसार को जब हम एक अज्ञात ईश्वरीय सत्ता के मधुर व रहस्यपूर्ण लीला-विलास के रूप में देखते हैं, तभी हम प्रेम-सौदर्य की भावना का वास्तविक मर्म ग्रहण कर सकने में समर्थ होते हैं। वास्तव में बाहरी चर्म-चक्षुओं से देखना ही पूर्ण अथवा वास्तविक देखना नहीं। हमारी अन्तर्दृष्टि ही हमें प्रेम व सौंदर्य की वास्तविक अनुभूति कराती है। आज बुद्धि का युग है। कोरी भावुकता और कल्पना जीवन का भार नहीं संभाल सकती। बौद्धिकता के शाखा-जाल के आधार पर ही हम भावुक बने रहने का प्रयत्न अथवा आयोजन कर सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम ऐसी जीवन-दृष्टि विकसित करें जिससे कि चारों ओर प्रेम-सौंदर्य का अनुभव कर सकें। दर्शन-क्षेत्र में वह दृष्टि हमें अरविंद से तथा हिन्दी काव्य-क्षेत्र में पंत जी से प्राप्त होती है। कविता हमारा प्रस्तुत विषय है, अतः पंत जी की समन्वयात्मक दृष्टि का थोड़ा अध्ययन आवश्यक है। पंत जी ने अपनी कृतियों में समन्वयात्मक जीवन-दृष्टि को भावात्मक पद्धति से काव्य-क्षेत्र में उतारा है। उनके इस समन्वय का मेरुदण्ड है ईश्वर की स्वीकृति।[१] कवि की मान्यता है कि जीवन-सौदर्य के सृष्टा भी हम तभी बन सकेंगे जब हमारा विश्वास ईश्वर में केन्द्रित हो जाय। कोरा समन्वय भी निरर्थक ही होगा यदि इसके मूल में ईश्वरीय शक्ति की श्रद्धामयी स्वीकृति न हो। इस प्रकार पंत जी ने अपने समन्वय की नींव ईश्वर के प्रति अनिवार्य निष्ठा में ही जमाई है। जीवन के व्यापक प्रयोग-परीक्षणों में हम निश्चय-अनिश्चय में झूलते हुए, कभी तो व्यक्ति को और कभी विश्व को ही चिंतन का आधार बनायें, इससे भी काम नहीं चलेगा।[२] ईश्वर

---

१ 'उत्तरा' की भूमिका; पृ० १७। २. वही; पृ० १७।

की ही स्वीकृति से यह समन्वय सार्थक होता है, अन्यथा हमारा कोई अभिप्रेत सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्व-पश्चिम, वस्तु-चेतना, व्यक्ति-विश्व, विचार-भावना, यथार्थ-आदर्श, श्रमिक-पूंजीपति व स्थूल-सूक्ष्म आदि के दोनों कूलों को पाटने वाली वस्तु ईश्वरीय चेतना ही है। इस प्रकार पंत जी की कृतियों में हम एक निश्चित गन्तव्य तक पहुँचते हैं। उनके नवीन काव्य में छायावाद तथा प्रगतिवाद दोनों के जीवनोपयोगी तत्त्वों का मधुर समावेश हुआ है जिससे विचार-भाव तथा शैली में प्रौढ़ता तथा नवीनता आई है। विचारों की प्रगतिशीलता, जीवन-दृष्टि की परिपक्वता तथा तदनुकूल शैली-सौदर्य ने मिलकर पंत जी के काव्य को एक नवीनता तथा प्रौढ़ता प्रदान की है।

कवि अपने ही लिए नहीं, जागृत मानव मात्र के लिए आज वह इस समन्वय को आवश्यक समझता है, क्योंकि इस समन्वय के बिना वह अमरों का संगीत तथा भावी का बरसने वाला सौदर्य नहीं पा सकता।[१] संस्कृति तथा सौदर्य-बोध ही हमारे अन्तर्मन के संगठन हैं।[२] कवि बाहर (समाज) के साथ भीतर (हृदय) की क्रांति का पक्षपाती है।[३] समन्वय का यह प्रयत्न 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' से ही आरम्भ हो चुका था। 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' तथा 'उत्तरा' तक उसका विकास-क्रम दो प्रकार का रहा है—आरम्भ मे 'ऊर्ध्व मानों का समतल धरातल पर' और आगे 'समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर'।[४] इस समन्वय की आवश्यकता इसलिए है कि राजनीतिक आंदोलन के साथ सांस्कृतिक आदोलन भी आवश्यक है जो मानव-चेतना के सब धरातलों (राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक) में संतुलन तथा साम्य स्थापित करता है।[५] इस समन्वय से ही विक्षोभ का आर्तनाद तथा क्रांति की कुछ ललकार लोक-जीवन के संगीत तथा मनुष्यता की पुकार में बदल सकती है।[६] समन्वय से प्राप्त कवि का यह अन्तश्चेतनावाद या नव मानववाद कोरा हवाई नहीं है; यह जनतन्त्रवाद को सफल बनाने के लिए उसकी आन्तरिक या आध्यात्मिक परिणति है। कवि की दृष्टि में हमारे जीवन में 'अन्तः संश्लेषण या बहिः संनिधान की कमी है।'[७] केवल लोक संगठन मनः संगठन के बिना अधूरा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।[८] केवल जड़-चेतन की सत्ता के सूक्ष्मतम विवेचन द्वारा ही यह समन्वय सम्भव नहीं। मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद के खण्डन-मण्डन के तर्कों से ही काम नही चलेगा। लोक-चेतना के लिए पदार्थ और चेतना—इन दोनों में ही वास्तविक सामंजस्य लाना नितान्त आवश्यक है। इसकी सुगम पद्धति यही है कि आदर्श तथा

---

१. वही; पृ० २६।
२. वही; पृ० १६।
३. वही; पृ० २६।
४. वही; पृ० २।
५. 'उत्तरा' (भूमिका); पृ० ३।
६. वही; पृ० ४।
७. वही; पृ० २२।
८. वही; पृ० ६ व पृ० १७।

वस्तु को, इन दोनों से ऊपर रहने वाले पूर्ण सत्य का सूक्ष्म रूप या दोनों (आदर्श-वस्तु तथा पूर्ण सत्य) में बिम्ब-प्रतिबिम्ब मान लिया जाय। तभी दोनों दृष्टिकोणों में सहज सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।[1] बाह्य आदर्शों (जीवन के सब क्षेत्रों से सम्बन्धित) को जीवन की ऊर्ध्व मान्यताएँ ही एक सूत्र में पिरोती हैं।[2] ये ऊर्ध्व मान्यताएँ व्यापक सत्य में ही समाहित हैं।

यही है पन्त जी के समन्वय की दृष्टि। इस जीवन-दृष्टि को धारण करके ही हम इस बौद्धिक युग में, जीवन और साहित्य में, प्रेम और सौंदर्य की पूर्ण तथा व्यापक अनुभूति कर सकने में समर्थ हैं।

(ख) समन्वय का काव्यांतर्गत स्वरूप :

समन्वय के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाली पन्त जी की काव्य-कृतियों में से, हम उनकी एक विशिष्ठ तथा प्रौढ कृति 'उत्तरा' के आधार पर काव्यांतर्गत प्रेम तथा सौंदर्य-विषयक अभिव्यक्ति पर अब कुछ विचार करेंगे।

(i) प्रेम : 'उत्तरा' में प्रेम की अनुभूति से अधिक हमें प्रेम का दर्शन ही मिलता है। प्रेम की अनुभूति के उपयुक्त यह समन्वय-दृष्टि हमें पन्त जी की अन्य कृतियों में भी मिलती है। उदाहरणार्थ,

भौतिक वैभव औ आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित।
× × ×
बहिरंतर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय।
× × ×
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित। (स्वर्णकिरण)

उक्त उद्धरणों में कवि ने जीवन की पूर्णता के मार्ग के बाधा-रूप समन्वय-दृष्टि के अभाव की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है तथा साथ ही समन्वित जीवन-दृष्टि की आकांक्षा भी व्यक्त की है। 'उत्तरा' मे कवि ने प्रीति का स्वरूप छायावाद सुलभ सूक्ष्म कल्पना तथा प्रतीकात्मक शैली के साथ 'प्रीति' नामक कविता में अंकित किया है। कवि की दृष्टि में प्रीति भौतिक नहीं, वह एक स्वर्गीय निधि है—

जाज्वल्यमान रवि लोक वहाँ बहु दिव्य रश्मियों से मंडित,
अन्तर तुपार के शिखरों पर नीहार ज्ञान का चिर पुंजित।
आनन्द धाम शोभित भीतर झरते अनन्त रस के निर्झर,
शोभा के स्वर्णिम फेनों पर कँपते सुर वीणाओं के स्वर।
उर कम्पों, पुलकों से कल्पित शशि रेख प्रीति, प्रासाद सुघर,
झाँकते झरोखों से बाहर अनिमेष सत्य शिव औ' सुन्दर।

१. वही; पृ० ८। २. वही; पृ० १३। ३. वही; पृ० ९८।

रहती अन्तःपुर में शाश्वत तुम अवचनीय सुषमा में लय,
होते कृतार्थ, छू चरण परम, जीवन के सुख दुख, भय संशय।

इन पंक्तियों में हम प्रीति या प्रेम को एक बार पुनः आध्यात्मिक धरातलों पर पहुँचा हुआ पाते हैं। उस अमर प्रेम को पाकर कवि निर्भय होना चाहता है और पृथ्वी पर रहते हुए ही उसमें प्रतिक्षण स्नान करना चाहता है—

तुम प्रीति दान कर सको बनूँ मैं निर्भय,
तुम हृदय दे सको पूजूँ मैं निःसंशय,
मत दो केवल मधु स्वप्नों का सम्मोहन,
मैं अमर प्रीति में स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण ![1]

जो हृदय इस प्रेम का आराधन न करे वह हृदय नहीं—

मानव उर आशाओं से आकुल चचल,
प्राणों की अभिलाषाओं का क्रीड़ा स्थल।[2]

यही प्रेम की भौतिकता तथा आध्यात्मिकता का समन्वय है। कवि का यह प्रेम-दर्शन भावना व बुद्धि दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से साध्य हुआ है, अतः पूर्ण तथा प्रामाणिक है। प्रेम कवि की दृष्टि में मूलतः ईश्वरीय है। उसकी पावनता तथा गभीरता की भावना बँधाने के लिए कवि ने ईश्वर को माँ रूप में भी देखा है, वह माँ जो स्वर्गीय करुणा-धारा बन कर फूट रही है—

है ज्ञात मुझे, तुम भू घट से फिर फूट रही करुणा धारा,
तुम मातृ मूर्ति, चिर मंगलमयी, शोभा चेतन हो पुनः धरा ![3]

कवि का यह प्रेम ईश्वर के दोनों रूपों निर्गुण तथा सगुण के प्रति प्रकट हुआ है। निर्गुण रूप में ईश्वर एक अमर, अखण्ड शाश्वत चेतना है। वही तो सगुण रूप में बाहर कण-कण में प्रकट हो रहा है। कवि ईश्वरीय चेतना के नाते पदार्थ-जगत् को भी ईश्वरीय चेतना के रस में निमज्जित अनुभव करता है। जड़-चेतन सब शाश्वत अमर-चेतना में निमग्न हो गए हैं, अतः अब जड़-चेतन का भेद ही कहाँ ? इस जड़-चेतन से समन्वय की आह्लादमयी भावना को कवि ने प्रतीक-पद्धति से अनेकों शृंगारी रूपकों के माध्यम से प्रकट किया है—

तुम स्वप्न द्वार पट हटा रहस लिपटाती शोभा में दिशि पल,
निज स्वर्ण मांस का वक्ष खोल सुषमा के मुकुलों को कोमल ![4]
शोभा के रहस उरोजों पर कब प्रीति धरेगी उपकृत कर,
कब मानव के आनन्द कर्म उर वैभव से होंगे शोभन ?[5]

---

१. उत्तरा; पृ० १३३। २. उत्तरा; पृ० १३४। ३. उत्तरा; पृ० ९४।
४. उत्तरा; पृ० ६०। ५. उत्तरा; पृ० ७२।

वह देवों के उपभोग हेतु मिथ खोल रही निज वक्षःस्थल,
उसके प्राणों का हरित तिमिर जीवन में निखर रहा उज्ज्वल ![1]

हो रहा स्वर्ग से धरणी का जड़ से चेतन का रहस मिलन,
भू स्वर्ग एक हो रहे शनैः सुरगण नर्तन करते धारण ![2]

देव, हुआ फिर नवल युगागम, स्वर्ग धरा का सफल समागम ![3]

शृंगार की भाषा में और प्रतीकों के सहारे, कवि ने जीवन के व्यापक समन्वय को हृदयंगम कराने के उद्देश्य से प्रेम के स्वरूप को सामर्थ्य के साथ प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं इस प्रयास में कवि के कुछ रूपक, भावोत्कर्ष के कारण, घोर शृंगारी भी हो गए हैं। यथा—

लिपटे भू के जघनों से घन प्राणों की ज्वाला जन मादन,

× × ×

नाभि गर्त में घूम भँवर सी करे मर्म आकांक्षा नर्तन।[4]

निराकार अमर सत्ता के प्रति प्रेम व्यक्त करते-करते कवि अनेक स्थलों पर योगियों की सी अनुभूति-भूमि पर भी पहुँच गया है। वस्तुतः उन स्थलों पर कवि (ठीक कबीर की तरह) ज्ञानी रूप में ही अधिक दिखाई पड़ता है। हार्दिक अनुभूतियों का स्पन्दन वहाँ बहुत कम है। बौद्धिकता या दार्शनिकता का ही घटाटोप हो गया है। उन स्थलों पर कला के लावण्य तथा बौद्धिक प्रकाश-चेतना से काव्य ऊर्जस्वित तथा भास्वर हो उठा है। अनेक कविताओं में कवि का भक्ति प्रेम भी प्रकट हुआ है जिनमें प्रभु-चरणों में कामना, याचना, समर्पण और प्रार्थना के भाव अर्पित किये गए है। 'निराला' ने कुछ ऐसे गीत लिखे हैं। ये गीत सूर-तुलसी की भक्ति-भावना का स्मरण दिलाते हैं।

लौकिक शृंगार-प्रेम भी कहीं-कहीं प्रकट हुआ है। वहाँ अनुभूति की मर्म-मधुरता तथा सत्य-हृदयता प्रकट हुई है। जैसे—

अब प्रेमी मन वह नही रहा ध्रुव प्रेम रह गया है केवल,
प्रेयसि स्मृति भी वह नहीं रही भावना रह गई विरहोज्ज्वल।[5]

× × ×

नभ वैसा ही नीला निर्मल, धरती भी वैसी ही श्यामल,
प्रिय, केवल तुम्हीं हुए ओझल, अह, हुआ न विश्व व्यथित पल भर।[6]

ऐसी सहज प्रणय-अनुभूतियों से पाठक का हृदय, तरंगित जल पर प्रतिबिम्बित चाँद-सा कलमलाने लगता है।

---

१. उत्तरा; पृ० ७२। २. उत्तरा; पृ० ७५। ३. उत्तरा; पृ० १४४।
४. उत्तरा; पृ० ४६। ५. उत्तरा; पृ० ११२। ६. उत्तरा; पृ० १४०।

(ii) सौंदर्य : प्रेम की दिव्यता के साथ ही सौदर्य भी उदात्त हो गया है। सौदर्य की अभिव्यक्ति में हम बहुत कुछ 'गुजन' काल के पंत का पुनरागमन देखते है। कवि कोरे भौतिक सौदर्य से ही संतुष्ट नही। वह भौतिक में आध्यात्मिक सौदर्य भी देखना चाहता है। उसमें वह ईश्वरीय चेतना का भी पूर्ण समावेश चाहता है। यह कवि के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का ही परिणाम है।

कवि ने किसी लौकिक आलम्बन के शारीरिक सौदर्य का भरापूरा वर्णन बहुत कम किया है। उसके कहीं-कही सकेत ही मिलते है। जैसे—

प्रेयसि की मुख छवि, मेघ मुक्त शशि रेखा सी उगती मन मे,
नीरव नभ में विद्युत घन सी एकाकी स्मृति जगती क्षण में।[1]

कवि वास्तविक सौदर्य को चिर और अचिर से भी परे देखता है—

तुम आए गए, जगत का छल, तुम हो, तुम होगे, सत्यं अटल,
रीता हो भरे धरा अचल, तुम परे अचिर चिर से,—सुन्दर।[2]

संसार अब विज्ञान से साधन-सम्पन्न हो गया है। आध्यात्मिक चेतना-रहित भौतिक संपन्नता को कवि ने पृथ्वी का यौवन माना है। किन्तु उसका विश्वास है कि पार्थिव विकास आध्यात्मिक विकास के बिना अधूरा है। इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए कवि ने विज्ञान की उन्नति से सम्पन्न अक्षययौवना पृथ्वी-सुन्दरी को अध्यात्म के प्रकाश रूपी पुरुष से अनन्त समागम की अभिलाषिणी दिखा कर उसके पूर्ण यौवन और सौंदर्य की विशद अभिव्यक्ति की है। प्रकारान्तर से यह जीवन के व्यापक समन्वय की ही ओर संकेत है। उदाहरणार्थ—

बाहों में ही प्रीति पल्लवित, अंतर में रस जलधि तरंगित,
स्मित उरोज शिखरों पर बरसे स्वर्ग विभा सुर मोहन।[3]
वह कहती, तुम उसके प्रकाश वह जिसकी जीवन प्रिय छाया,
श्री सुषमा, प्रीति मधुरिमामय हो, देव, तुम्हारी रज काया।
वह प्रणत यौवना चरणों पर बैठी, उर में प्रिय स्मृति दंशन,
तुम आओ, उसके संग बैठो, संगीत बने भू का क्रंदन।[4]

जीवन की स्वस्थ समन्वित दृष्टि से कवि को संसार सहज ही सुंदर लगता है—

रंग प्राण रे प्रकृति लोक यह, यहाँ नहीं दुःख दैन्य अमंगल,
यहाँ खुला चिर शोभा का उर, यहाँ कामना का मुख उज्ज्वल।[5]

---

१. उत्तरा; पृ० १११। २. उत्तरा; पृ० १४०। ३. उत्तरा; पृ० ५१।
४. उत्तरा; पृ० ५४। ५. उत्तरा; पृ० १०६।

'उत्तरा' के कला-गत सौदर्य के अंतर्गत नए नए छन्दों का विधान, शब्दों की ध्वन्यात्मकता, उपमाओं की नवीनता तथा नवीन प्रतीकों का निर्माण आदि बातें गिनाई जा सकती हैं। कवि ने मिट्टी, मुकुल, स्वप्न, शिखर, पुलिन, अम्बर, ज्वाल, पावक, तम, भू, ज्वार, हरियाली, छाया, जलज, विद्युत आदि प्राकृतिक उपकरणों में घना प्रतीकत्व संचित कर दिया है। ये प्राकृतिक उपकरण केवल प्राकृतिक उपकरण ही नहीं, किन्तु जीवन और जगत् के गभीर तथ्यों के प्रतीक होकर आये हैं।

प्रकृति कहीं-कहीं आलम्बन रूप में भी चित्रित की गई है—जैसे 'वनश्री' तथा 'वसंत' नामक कविताओं में।

संक्षेप में यह है कवि का समन्वय-दर्शन, और तदनुकूल रचित काव्य में निरूपित प्रेम-सौदर्य की स्थिति। पाठक देखेंगे कि किस प्रकार हिन्दी काव्य-चेतना प्राकृतिक नियमानुसार घूम फिर कर प्रेम-सौदर्य की पूर्ण व वास्तविक अनुभूति की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करती हुई अंत में उक्त अनुभूति के लिए सर्वथा अनिवार्य समन्वय के धरातल पर आ गई है। भक्ति-काल की पूर्ण आदर्श-वादिता और ईश्वरीयता तथा प्रगतिवाद की पूर्ण यथार्थवादिता तथा भौतिकता का इस अंतश्चेतनावाद में सामंजस्य दिखाई पड़ रहा है। किन्तु प्रेम-सौदर्य की अनुभूति की पूर्णता की दृष्टि से क्या काव्य का आदर्श हिन्दी-कविता ने पा लिया ? संभवतः नहीं। समन्वय का दर्शन पंत जी के काव्य में छायावाद की शैली और नवयुग की प्रगतिशील विचारधारा को लेकर हिन्दी में आया है, यह विकास का सूचक है। यह कैसे भुलाया जा सकता है कि दर्शन दर्शन ही है, काव्य नहीं। जब समन्वय का यह नवीन दार्शनिक विचारपिंड काव्य की प्रक्रिया से पूर्ण अनुभूतिमय तथा रसमय हो जायगा तभी हमारा गंतव्य प्राप्त होगा। दार्शनिक विचारधारा का काव्योचित रसरूप में ढल जाने का कार्य अभी शेष है। हम काव्य में दर्शन से तृप्त नहीं हो सकते। दर्शन जब गल कर काव्य-रस बन जाता है तभी वह अधिक तृप्तिदायक और पुष्टिकारी हो सकता है।

प्रकरण : ६

उपसंहार

१. सामूहिक सिंहावलोकन (गुण-दोष-विवेचन तथा मूल्यांकन)

अब गत शताब्दी के प्रेम-काव्य पर एक बार फिर सामूहिक दृष्टि डाली जाय, जिससे कि उसके गुण-दोषों को हम समग्र रूप मे आँक सकें।

भारतेन्दुकाल में हमने देखा कि उसमें प्रेम-सौंदर्य की भावना में कोई विशिष्ठ मौलिकता नहीं है। लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति में वह रीतिकाल का अनुयायी है, और अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति में भक्तिकाल का। इसकी आत्मा मुख्यत: रीति-कालीन है। हाँ, सबसे बड़ी देन इस युग की यह है कि रति का क्षेत्र दाम्पत्य रति या प्रणय से आगे देश-विषयक रति तक बढ आया। प्रकृति भी रति-भाव का एक स्वतन्त्र विषय बनी। इसी में इस युग की नवीनता व मौलिकता है।

द्विवेदीकाल में हम हिन्दी के प्रेम-काव्य को विषय की दृष्टि से और भी विकसित पाते है। 'रति' का क्षेत्र और भी व्यापक हुआ। देश-विषयक रति-भावना में गम्भीरता तथा तीव्रता आई। इसी प्रकार ईश्वर-विषयक रति में भी मौलिकता तथा नवीनता दिखाई पड़ी। सगुण और साकार रूप में अवतरित 'अखिलेश' की नवीन ढंग से सामाजिक एवं लोकोपयोगी सन्दर्भ में प्रतिष्ठा की गई। प्रेम और सौंदर्य के आलम्बन-गत आख्यानों एवं चरित्रों की नये सिरे से समाज, राष्ट्र और विश्व के पक्ष में उपयोगितापरक बौद्धिक व्याख्या इस काल की मौलिक विशेषता है। संक्षेप में प्रेम-दर्शन का सामाजीकरण इस काल की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। दाम्पत्य रति के क्षेत्र में जहाँ एक ओर रीतिकालीन परम्पराओं का अनुसरण था, वहाँ उसमें परिष्कार व उज्ज्वलता भी दिखाई पड़ी। उत्तरकालीन द्विवेदीकाल में प्रेम स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता हुआ दिखाई पड़ा। भक्ति तथा दाम्पत्य प्रेम के क्षेत्र में रहस्य-तत्व के समावेश ने उक्त रति-रूपों में अपेक्षाकृत गम्भीरता व सूक्ष्मता उत्पन्न की। यद्यपि द्विवेदीकालीन प्रेम-काव्य भी रीतिकालीन परम्पराओं से बहुत कुछ प्रभावित है, पर विषय की विविधता एवं नवीनता की दृष्टि से, वह भारतेन्दुकालीन प्रेम-काव्य से अधिक प्रौढ़ तथा विकसित दिखाई पड़ता है। किन्तु इसमें एक अभाव भी है। काव्य की पद्धति रागात्मक अभिव्यंजना की पद्धति है; विषय के बौद्धिक प्रतिपादन अथवा गद्यात्मक निरूपण की नहीं। द्विवेदी काल के अधिकांश कवियों में हम इतिवृत्तात्मक कथन की ही शैली पाते हैं। इस कारण काव्य में किंचित रूक्षता भी आ गई है।

छायावादी काव्य द्विवेदीकालीन काव्य की प्रतिक्रिया है। वह द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता से प्रायः मुक्त है, किन्तु उसमें प्रेम और सौंदर्य का स्वरूप बौद्ध, वेदान्त और शैव दर्शनों का, तथा अतीत-प्रेम और इतिहास-प्रेम का पुष्ट आधार पाकर अपने शुभ्र, उज्ज्वल एवं उदात्त रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। बौद्धो की तितिक्षा या विरक्ति, वेदान्त तथा शैव दर्शनों की आनन्द-भावना अथवा शिवतत्त्व—सब नवीन काव्य-शैली का परिधान धारण कर मानवीय सजीवता के साथ छायावाद में आ उपस्थित हुए हैं। वृत्ति की अन्तर्मुखता के कारण कतिपय स्थलों पर अभिव्यक्ति में व्यक्ति-वैचित्र्य अधिक आ गया है। कल्पना भी अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः काव्य धूमिल व अस्पष्ट हो गया है। साथ ही अभिव्यक्ति में व्यक्तिगत अनुभूति का प्ररोह अधिक होने से वह लोक-सामान्य भाव-भूमि की वस्तु नहीं रह पाई है। इसीलिए लोक-हृदय उसे पूरी तरह आत्मसात् नहीं कर सका। किन्तु फिर रह भी यह काव्य आश्चर्यजनक रूप से मौलिक और प्राणवान् है। इस काव्य में 'रति' का जितना उदात्त और विस्तृत स्वरूप दिखाई दिया, उतना, प्रायः भक्ति-काल को छोड़ कर, और किसी काल में नही। छायावादी कविता का मूल और पर्यवसान दोनों प्रेम और सौंदर्य ही है। भाव-सौंदर्य और कला-सौष्ठव का चरम निदर्शन छायावाद में ही हो सका। प्रेम-भावना में सत्यहृदयता, उदारता व दीप्ति है। सौंदर्य भी विकसित व सूक्ष्म हो गया है। शैली की व्यंजकता एवं रमणीयता भी प्रेम-सौंदर्य भावना की मधुर एवं अभिनव अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त है। किन्तु मानव-हृदय की समस्त प्रेम-सत्ता का पूर्ण प्रतिनिधित्व न कर पाने के कारण यह काव्य भी एकांगी ही रह गया। केवल 'प्रणय' ही तो जीवन का सर्वस्व नहीं।

प्रगतिवाद-प्रयोगवाद काल की हिन्दी कविता में, हम पुनः छायावाद के प्रति एक तीव्र प्रतिक्रिया पाते हैं। प्रेम और सौंदर्य पुनः स्थूल अथवा बाह्य हो गये हैं। छायावाद की वायवी आदर्शवादिता के स्थान पर कठोर यथार्थ की ही प्रतिष्ठा दिखाई पड़ती है। सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि ही मुख्य हो गई है, अतः प्रेम और सौंदर्य भी उसी दृष्टि से देखा जाने लगा है। मूल्यांकन का दृष्टिकोण केवल सामाजिक एवं भौतिक ही रह गया है। प्रयोगवाद में व्यक्तिवादिता के अतिरेक से काव्योपयुक्त साधारणीकरण का मार्ग रुद्ध हुआ-सा लगता है। उसमें मनोविश्लेषण का आग्रह और टैकनीक की झक ही प्रमुख रहने से, प्रेम बहुत कुछ स्थूल काम या ऐन्द्रिक भोग का पर्याय-सा होता दिखाई पड़ रहा है। तात्पर्य यह है कि प्रगतिवाद-प्रयोगवाद के अन्तर्गत जाने वाला प्रेम-काव्य भी एकांगी व एकदेशीय दिखाई पड़ रहा है।

छायावादी काव्य की वस्तु-सम्बन्धी अन्तर्मुखता और प्रगतिवाद-प्रयोगवाद की बहिर्मुखता—दोनों ही एकांगी है। इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न पंत जी के अलक्ष्चेतनावाद में हुआ है। पंत जी की 'उत्तरा' आदि उनकी उत्तरकालीन

काव्य-कृतियाँ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। वे जीवन की विरोधी विचारधाराओं की संधि स्थल हैं। किन्तु इन कृतियों में जहाँ अन्तर्बाह्य का सामंजस्य भव्य रूप में हुआ है वहाँ दर्शन-पक्ष अथवा विचार-पक्ष घना हो गया है, और परिणाम-स्वरूप काव्य के लिए उपयुक्त अनुभूति-पक्ष अपेक्षाकृत गौण रह गया है। यदि विचार-पक्ष और अनुभूति-पक्ष दोनों का पूर्ण सामंजस्य हो जाता तो हम इन कृतियों को काव्य के पूर्ण आदर्श की ओर बहुत दूर तक पहुँची हुई पाते। वस्तुतः इन कृतियों में बौद्धिकता का प्राधान्य है। हाँ, यह बौद्धिकता बहुत कुछ काव्य की ही पद्धति से अवतरित हुई है, इसमें भी कोई संदेह नही।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रेम और सौदर्य के पूर्वकालीन स्वरूपों के प्रति आगामी कालों में प्रतिक्रिया होने के कारण प्रत्येक युग के प्रेम-काव्य में कोई न कोई अभाव शेष रह गया है। हिन्दी के प्रेम-काव्य की पूर्णता तभी समझी जा सकती है जबकि उसमें (१) प्रेम के सभी रूपों—ईश्वर प्रेम, प्रणय अथवा दाम्पत्य प्रेम, राष्ट्र-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, विश्व-प्रेम या मानव-प्रेम आदि—की अभिव्यक्ति हो, (२) काव्य का चरम आदर्श प्रतिबिम्बित हो[१], (३) काव्य की पद्धति—रागात्मक अभिव्यंजना—से भाव व विचार अभिव्यक्त हों[२], तथा (४) अन्तःकरण की वास्तविक पुष्टि के लिये, एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में, जीवन के आदर्श व यथार्थ अथवा सूक्ष्म व स्थूल—इन दोनों पक्षों का मधुर सामंजस्य हो। यह सुखद संयोग उपस्थित होने पर ही प्रेम-काव्य के एक ऐसे परिपूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा होगी जिसमें कवि की वाणी पूर्णता को पहुँची-सी लगेगी, और मानव-मन की सम्पूर्ण सत्ता पर गम्भीर तथा व्यापक प्रभाव डालने वाली सिद्ध होगी।

इस दृष्टि से देखने पर अभी आधुनिक हिन्दी का प्रेम-काव्य अपने चरम आदर्श से दूर ही दिखाई पड़ता है। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए अभी कवियों को बहुत कुछ कार्य करने की आवश्यकता है। प्रेम-काव्य के इस आदर्श की पूर्ति तभी सुगमता से हो सकती है जब हम प्रेम तथा सौंदर्य के मानदंड को आद्यन्त ध्यान में रखें। व्यक्तिगत मान-दण्ड ही पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि विश्व-हृदय का सामान्य (औसत) मानदण्ड ही अपेक्षित होगा। यह मानदण्ड मानव-जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखे बिना निर्धारित नहीं हो सकता। जब ऐसे मानदण्ड पर हमारा काव्य पूरा उतरेगा तभी वह पूर्ण समझा जायेगा। पर वह मानदण्ड व आदर्श क्या हो सकता है, इसे भी थोड़ा देखना चाहिए।

२. प्रेम-सौंदर्य का मानदण्ड व आदर्श

बीसवीं शताब्दी के हिन्दी प्रेम-काव्य के जो अभाव अभी ऊपर बताये गये हैं

---

१. देखिए, 'विषय-प्रवेश।' २. देखिए, 'विषय-प्रवेश'।

उनसे यह विदित होता है कि अभी हिन्दी प्रेम-काव्य अपनी पूर्णता से दूर है। पर, आदर्श पूरी तरह पा भी किसने लिया ! मनुष्य की गति-विधि सदा देश-काल की परिस्थितियों से मर्यादित एवं नियन्त्रित रहती है। मनुष्य जरा-मरण का शिकार है। इसलिए उसका एक अंश सदा सीमित व पराधीन है। किन्तु, इस क्षति की पूर्ति उस की सूक्ष्म सांस्कृतिक व कलात्मक गति-विधियों द्वारा आश्चर्यजनक रूप से हो जाती है, क्योंकि वह अपने सूक्ष्म जीवन अथवा कल्पना में निःसीम है। इसके बल पर वह जितनी ऊँची उड़ाने ले सकता है, वे ही उसके आत्मिक विकास की अनुमापक हो जाती हैं। समग्र आंतरिक बल से पूर्णता की ओर निरंतर उठने का उद्योग मानव-आत्मा की अविराम क्रिया है। उसी पूर्णता को हम 'आदर्श' शब्द से अभिहित करते हैं। वह आदर्श चाहे प्राप्त हो या न हो, उसकी ओर निरंतर बढना ही उसकी प्राप्ति का पुरस्कार है। क्षितिज की रेखा पर पहुँच कर भी नया क्षितिज फिर उतने का उतना ही दूर है। व्यक्ति की आत्मा व समष्टिगत आत्मा पारस्परिक सहयोग से, अनादि काल से, अनेक आनंदमूलक धार्मिक, सांस्कृतिक व कलात्मक प्रयत्नों की अविच्छिन्न शृंखला मे से हो कर उसी पूर्णता के आदर्श को प्राप्त करने का विराट् आयोजन व उद्योग कर रही है, और हमारे हृदय की सभी वृत्तियाँ भी अपने चरम आदर्श अथवा पूर्णता की ओर निरंतर बढ़ रही हैं।[1]

कवि के प्रेम और सौंदर्य की वृत्तियाँ भी अभी विकास के अनंत पथ पर अग्रसर हैं। न जाने भविष्य में कितने युगों तक वे कविता में अपना परिष्कार व विकास पाती हुई अपने गन्तव्य को प्राप्त होंगी। इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी-कविता में अभिव्यक्त उक्त भावना भी अपने पूर्ण विकसित रूप में प्रतिष्ठित कैसे मानी जा सकती है ? उनके सर्वोच्च स्वरूप की प्रतीति करने के लिए हिन्दी-कवि को अभी युगों की साधना करनी है। इस साधना का चरम उद्देश्य है—प्रेम-सौंदर्य के आदर्श को प्राप्त करना, तथा ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का, जो 'रसौ वे सः' (तैत्तिरीयोपनिषद्) में व्यक्त हुआ है, साक्षात्कार करना है। यही साक्षात्कार भाव-योगी कवि का चरम लक्ष्य है। भाव-योग की मुक्ति वहीं है। प्रेम-सौंदर्य-भावना की पूर्णता की प्राप्ति का मानदण्ड है—उसके विविध रूपों का सर्वाङ्गीण, गम्भीर, तलस्पर्शी व मार्मिक अनुभव करना। अखण्ड प्रेम-तत्व की दिव्यानुभूति की पूर्णता उक्त अनुभूति के अनुपात में ही प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं। किसी कवि के द्वारा या किसी युग में प्रेम के किसी एक ही स्वरूप की गहन अनुभूति ही प्रेम-तत्व की चरम अनुभूति की द्योतक नहीं कही जायगी। जब कोई कवि या साहित्यिक युग, प्रेम की सम्पूर्ण सार-सत्ता को आत्मा-सात् करके, कला-गत सत्य एवं सौंदर्य के नियमों के अनुसार, शब्दों

१. श्री हरिवंशसिंह शास्त्री : 'सौंदर्य-विज्ञान'; पृ० ३६।

के द्वारा उसे अभिव्यक्त कर सकेगा, तभी प्रेम-काव्य के पूर्ण आदर्श की प्राप्ति समझी जानी चाहिए।

पर, इस आदर्श की प्राप्ति के लिए हमें कुछ व्यावहारिक विधि-विधान या उपायों का आश्रय भी लेना होगा। हमें इस कार्य के संपादन के लिए कुछ विशेष साधनों को जुटाना होगा। इसके लिए भविष्य-निर्माण की रूप-रेखा का अंकन भी आवश्यक है।

३. हिन्दी-कविता का भविष्य-संकेत

ऊपर कहा जा चुका है कि पिछले सौ वर्षों के हिन्दी-काव्य में हमें जो कुछ प्राप्त है वही पर्याप्त नहीं माना जा सकता। जो कुछ प्राप्त है केवल उससे ही संतोष मान कर बैठ जाना मानव-गौरव के सर्वथा विरुद्ध है। काव्य-विकास का अनन्त क्षेत्र अभी हमारे सामने खुला पड़ा है।[1] प्रेम का उपर्युक्त आदर्श हमें प्राप्त करना होगा। प्रेम-भावना के उत्तुंग आलोक-शिखरों पर ध्वजारोहण करने के लिए कवियों को अभी कठोर साधना करनी होगी, मनस्तत्व का गंभीर मंथन करना होगा, और विश्वहृदय का नेतृत्व करने के लिए उसे अपने भीतर रस और प्रकाश का संग्रह करना होगा। केवल तभी वह भावजगत् का पूर्ण समर्थ सेनानी समझा जा सकेगा। इसके लिए तीन दिशाओं में एक ही साथ प्रयत्न होंगे। वे प्रयत्न है :—

(i) कवि की व्यक्तिगत साधना,
(ii) समाज-कल्याण, तथा
(iii) सरकार का सहयोग।

वस्तुत: कोई भी उच्च कोटि की साधना बाह्य साधनों की उतनी अपेक्षा नहीं रखती जितना साधक का आत्म-संगठन, आत्म-संशोधन या सुधार, तथा आत्म-प्रसार का प्रयत्न। हां, निश्चित ही इस प्रयत्न की पूर्णता के लिए कुछ बाह्य व्यवस्थायें व साधन भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते हैं, पर वास्तविक व स्वस्थ प्रेम-साधना के लिए तो कवि को ही अंतर्मुख होकर तपोनिष्ठ होना होगा। कविता केवल मनोरंजन नहीं; वह जीवन की साधना है।[2]

---

१. "The future of poetry is immense, because in poetry, where it is worthy of its high destinies, our race, as time goes on, will find an ever surer and surer stay."

—Mathew Arnold : '*Essays in Criticism*', Second series.

२. "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।"

—पं० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग १, 'कविता क्या है' नामक लेख।

व्यक्तिगत साधना :—साधना (हठयोगी नहीं) या मधुर तप ही जीवन के पूर्ण स्वस्थ तथा सुडौल विकास का मूलमन्त्र है। जब तक शारीरिक व मानसिक साधना में हमारी निष्ठा नहीं, तब तक आत्म-संग्रह तथा विकास के सभी मार्ग हमारे लिए अवरुद्ध हैं। कवि की वाणी तभी पूर्ण होती है जबकि कवि अपने भाव-योग में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाय। इस भाव-योग की सच्ची साधना के लिए कवि के अस्तित्व का आमूल परिष्कार व प्रक्षालन अपेक्षित है। इसके लिए उसे जीवन के सुन्दर व शाश्वत मूल्यों मे अपनी निष्ठा बनानी होगी। कवि-कर्म की सफलता के लिए उसे जगत् व जीवन का व्यापक एवं गहन अध्ययन करना होगा। देश की आत्मा को समझने के लिए अपनी विशाल सांस्कृतिक ज्ञान-राशि का मंथन करना होगा। कवि को एक आदर्श मानव बनने का संकल्प एवं प्रयत्न करना होगा, क्योंकि कवि संसार का एक आदर्श पुरुष समझा गया है।[1] इसके अतिरिक्त उसे जगत् और जीवन के रहस्य को समझने के लिए मानव व प्रकृति से निकटतम संपर्क स्थापित करना होगा। मानव को समझे बिना वह मानव-जाति को प्रेम का संदेश दे ही क्या सकता है! प्रकृति के विविध क्षेत्रों—पहाड़, मैदान, मरुस्थल, समुद्र, बीहड़ आदि—मे पर्यटन भी उसके लिए नितान्त आवश्यक है। जीवन का सच्चा रहस्य सदा कर्मकोलाहलपूर्ण तथा जनाकीर्ण पक्के नगरों व भवनों में ही रह कर नहीं समझा जा सकता। उसे बाह्य प्रकृति के साथ तादात्मय स्थापित करना होगा। विश्व के मूल में निहित प्रेम-भावना व अन्विति को वह प्रकृति के गम्भीर व रहस्यपूर्ण अंचलों में ही जाकर समझ सकेगा। इसके अतिरिक्त उसे अपना व्यक्तिगत चरित्र व व्यवहार भी परिष्कृत व उज्ज्वल बनाना होगा। सुन्दर स्वास्थ्य, सुन्दर चरित्र, सुन्दर आचरण, व सुन्दर सामाजिक व्यवहार ही उसके व्यक्तित्व को गरिमावान् बना सकेंगे। उसे जीवन की प्रचलित व्यापक क्षुद्रताओं—पक्ष-पात, साम्प्रदायिकता, लोभ, मोह, ईर्ष्या, पदलोलुपता, छल, दम्भ, अहंकार आदि दुर्विकार—से ऊपर उठना होगा। जीवन में जो कुछ भी सुन्दर, मधुर, पवित्र, प्रकाशवान् व दिव्य है, उसका काव्योचित तथा रसात्मक प्रचार करने के लिए उसे तत्पर रहना होगा। विज्ञान की

---

1. "A poet, as he is the author to othors of the highest wisdom, pleasure, virtue and glory, so, he ought personally to be the happiest, the best, the wisest, and the most illustrious of men."

— Shelley : '*Defence of Poetry*' : quoted from Saintsbury's '*Loci Critici*', p. 406.

"They are the institutors of Laws, and the founders of civil society, and the inventors of the arts of life, and the teachers, who draw into a certain propinquity with the beautiful and the true, that partial apprehension of the agencies of the invisible world which is called religion."—**वही** p. 399.

गति-प्रगति के कारण उत्पन्न हुई विश्व की निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियों पर उसे सचिंत्य होकर गहरी दृष्टि से विचार करना होगा। मानव-हृदय की वृत्तियाँ स्वस्थ, स्वाभाविक व विकासशील बनी रहें, तथा सभ्यता के दुष्परिणामों से वे कुरूप, अधोगामी व कुंठित न हो जायें, इसके लिए उसे मानवता का सजग प्रहरी बनकर रहना होगा। वस्तु (Matter) व आत्मा (Spirit) का सामंजस्य, भाव व बुद्धि का सामजस्य, ज्ञान, भक्ति व कर्म इन तीनों साधनाओं का सामजस्य, तथा यथार्थ व आदर्श का सामंजस्य करके उसे जीवन को पूर्ण सार्थक व प्रकाशपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना होगा। सत्य की कसौटी पर उसे नित नव प्रस्तावित जीवन का परीक्षण करना होगा। देश-काल की कृत्रिम सीमाओं को तोड़ कर मानवमात्र की एकता स्थापित करने के लिए उसे मानव-ऐक्य या विश्व-प्रेम का प्रचार करना होगा। मानव-संगठन के लिए सामान्य मानव-संस्कृति या विश्व-सस्कृति के निर्माण का भी सांस्कृतिक प्रयत्न उसे करना होगा। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है—प्रेम, शाति व आनन्द की अनुभूति; यह अनुभूति उसे मानव मात्र को करानी होगी। संघर्षों के इस विश्व में शाति व प्रेम की भुवनमोहिनी वंशी उसे ही बजानी पडेगी। समाज के स्नायु-जाल को उदात्त तथा स्वस्थ भावों के अरुण तथा सद्य पोणित से स्पंदित व पुलकित करने का महान् कार्य उसी को करना होगा। यह सब कार्य उच्च कोटि की व्यक्तिगत साधना की ही अपेक्षा रखता है।

समाज-कल्याण : व्यक्तिगत साधना अन्ततः समाज-कल्याण में ही फलवती होती है। जो व्यक्तिगत साधना हमें मानव-समाज से पृथक् कर, उससे काट कर अलग बैठा दे, वह सच्ची साधना नहीं। समाज-कल्याण अथवा व्यापक मानव-सुख को ध्यान में रखने से ही व्यक्तिगत साधना में वास्तविक ताज़गी और स्फूर्ति बनी रहती है। वास्तव में विश्व-कल्याण की भावना ही व्यक्तिगत साधना की वास्तविकता और प्रामाणिकता की जाँच का मानदण्ड है। कवि अपनी काव्य-साधना के द्वारा, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, विश्व-कल्याण के व्यापक लक्ष्य को सिद्ध करता है। कहने का आशय यह है कि समाज एक महत्त्वपूर्ण सत्ता है जिसकी उपेक्षा करके हम नहीं चल सकते। बिना लोक अथवा समाज के, कवि अपनी व्यक्तिगत साधना और सरकार अपनी समस्त योजनाओं से कुछ भी नहीं कर सकती। काव्य में कवि लोक-जीवन को ही साधन और साध्य दोनों के रूप मे लेकर चलता है।

सरकार का सहयोग : पर कवि की इस जीवन-व्यापी साधना की पूर्ण सफलता के लिए सरकार को भी (अपना कर्त्तव्य तथा दायित्व समझ कर; संस्कृति के स्वाभिमानी प्रहरियों (कवियों) पर किसी एहसान की भावना से नहीं) बहुत कुछ करना है। उसे कुछ ऐसी व्यवस्थायें करनी होंगी जिनसे मानव-प्रेम के संदेश-वाहक कवियों को अपना महान् कार्य संपादित करने में कुछ व्यावहारिक सुगमता

हो। कवि का व्यक्तित्व मूलतः चिंतनशील, सृजनात्मक तथा कल्पना-प्रवण (कोरे हवाई किले बनाने वाला नही) व्यक्तित्व है, अतः अन्य कोटि के साधकों की तरह आत्म-संगठन के लिए उसे भी अधिक एकाग्रता की आवश्यकता है। उसके लिए कुछ ऐसी जीवन-प्रणाली अनिवार्य है जिसमें वह परावलम्बी होकर नहीं, किन्तु पूर्ण स्वावलम्बी रह कर, श्रम और सम्मान के साथ जीविकोपार्जन करते हुए भी एकाग्रतापूर्ण चिंतनवृत्ति तथा कल्पना वृत्ति का सहज निर्वाह कर सके। वातावरण का प्रभाव हमारे मानसिक विधान पर बहुत गहरा पड़ता है। स्वच्छ व उन्मुक्त वायुमण्डल में ही रह कर हृदय में बलिष्ठ, सप्राण व प्रोज्ज्वल भावनाएँ जागृत हो सकती है। अतः समाज का आर्थिक विधान तथा ढाँचा भी ऐसा हो कि भाव-योगी कवि ऐसे वातावरण में निवास करने के उपयुक्त साधन जुटा सकें। हमारा आशय निम्न कोटि के टुकड़खोर वृत्ति वाले कुछ हल्के-फुल्के कवियो की जीवन-प्रणाली दुहराने का कदापि नहीं है, यह याद रहे। नगरो का दूषित व कर्मकोलाहलपूर्ण वातावरण सास्कृतिक निर्माण के लिए सदा अनुकूल न होगा। कवियों को जीवन के अमर प्रेम और शाश्वत सौंदर्य का अनुभव करने के लिए प्रकृति के गहन-गम्भीर, रुद्र स्निग्ध परुष-कोमल व रहस्यपूर्ण रूपों का निकटतम सम्पर्क अनिवार्य है। सरकार इस दिशा में कवियो को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से समुचित सुविधा-प्रेरणा प्रदान करे। मानव, स्वभाव से ही प्रोत्साहन व प्रेरणा की अपेक्षा करता है। अपनी साधना में उत्साहपूर्वक बढ़ते रहने के लिए सरकार विकासशील व नवोदित प्रतिभाओं को भी पुरस्कृत व सम्मानित करे। पुरस्कार से कवि की चेतना बन्दी न बना दी जाये। आत्म-स्वातन्त्र्य का देव-दूत पुरस्कार के लोभ में भाड़े पर घसियारा न बन जावे, अन्यथा पुरस्कार का मूल ध्येय (चेतना का स्फूर्तिकरण) ही नष्ट हो जायगा। लेखक अपना स्वस्थ आत्म-प्रसार चाहता है। अपने आप में सिमट कर वह जी नहीं सकता। उसकी वाणी को दूर दूर तक पहुँचाने के लिए सरकार एक महत्त्वपूर्ण साधन हो सकती है। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशनों व रेडियो के प्रसार-कार्यक्रमों द्वारा यह सहज साध्य है। पर इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि सभी प्रतिभाओं को आत्म-प्रसार के लिए समान अवसर व सुविधाएँ निष्पक्ष भाव से प्राप्त हों। इस प्रकार प्रेम-सौदर्य की स्वस्थ भावनाएँ पत्रों व रेडियो कार्य-क्रमों के माध्यम से दूर-दूर पहुँच सकेंगी। प्रायः साधनों के अभाव में नई पौधें अर्धविकसित या अविकसित ही रह कर कुम्हला जाती है। इसलिए सरकार इस बात की भी चेष्टा करे कि प्रत्येक विकासोन्मुखी तरुण कलाकार को उचित साधन सुलभ हों, जिससे कि वह अपनी साधना द्वारा आत्म-प्रतीति कर सके। एक बात और भी आवश्यक है। एक ओर तो स्वस्थ प्रेम व उदात्त सौदर्य की भावना का विकास हो, और दूसरी ओर अस्वस्थ भावनाओं का प्रसार भी रोका जाय, अन्यथा अभीष्ट-सिद्धि में विलम्ब होगा। समाज में उच्च भावनाओं के प्रसार के लिए सरकार कवि-गोष्ठियों, कला-प्रदर्शिनियों व अन्य

साहित्यिक पर्वो का भी यथावसर आयोजन करे। उच्च कोटि के संग्रहालयों व पुस्तकालयो की भी व्यवस्था की जाय। पर, वास्तव मे यह सब तभी संभव है जब हमारा आर्थिक व सामाजिक ढाँचा सुव्यवस्थित हो। सरकार ने जो सर्वांगीण विकास की पचवर्षीय योजनाये चलाई है, वे इस दिशा मे बहुत आशा बँधाती है।

४. मानव के विकास में प्रेम और सौदर्य की अपेक्षा

पृथ्वी का केन्द्र मानव ही है। वही सृष्टि-मुकुट है। समस्त प्रकृति मानो मानव ही के सुखोपभोग के लिए नियोजित है। सामाजिक क्रांतियों का लक्ष्य भी मानव का ही विकास है। यद्यपि मानव के सुचारु जीवन-यापन के लिए समाज की अनेक व्यावहारिक व्यवस्थायें भी बहुत सहायक है, किन्तु मानव की समस्त गति-विधियों की मूलभूत प्रेरिका प्रेम-भावना ही दिखाई पड़ती है। यह भावना ही समाज और जीवन मे सौदर्य-दृष्टि का निर्माण करती है। अतः मानव के स्वस्थ विकास का अर्थ इस मौलिक वृत्ति का परिष्कार और विकास ही है। इस महान् कार्य का समस्त उत्तरदायित्व मानो कवि अथवा कलाकार ने ही अपने कधों पर ले रखा है। हृदय ही कवि का मुख्य क्षेत्र है और उसका अभिसिंचन, उर्वरीकरण और नव नव भाव-हरीतिमा का उत्पादन ही उसका मुख्य क्रिया-कलाप। उसकी मूलभित्ति काम-भावना अथवा प्रेम-भावना ही है। इसी भावना के निबंधन, यथार्थ विन्यास और विकास पर मानव का सारा विकास आधारित है। बाह्य जीवन के क्रिया-कलापों की व्यवस्था इसी भावना की स्वस्थता के अनुपात में होती है। मानव के विकास का अर्थ है मानव के जीवन का प्रकाश-स्नान, मंगलमयी कर्म-प्रेरणा, नवीन आशाओं-स्वप्नों व प्रेरणाओं की थिरक, नवीन सौदर्य-चेतना, स्वस्थ जीवन-दृष्टि, तथा नवीन रोमांच-पुलक। यही यथार्थ मानव-विकास का लक्षण है। पृथ्वी पर मानव को यह वैभव भाव-व्यवसायी कवि ही दे सकेगा। जब तक कवि मानव-विकास के इस विराट् दायित्व के वाहक की दृष्टि से नहीं देखा-परखा जाता, तब तक मानों हम उसके अस्तित्व की सार्थकता व महत्ता से भली भाँति परिचित ही नही। जीवन-विकास के व्यापक संदर्भ में ही हमें कवि को देखना होगा। जो कवि अपनी भाव-साधना से हमें इस स्वस्थ विकास-मूलक व्यापक मानव-संस्कृति का दर्शन करता और कराता है, और हमारे अन्तर्जीवन का नेतृत्व करता है, वास्तव में वही सच्चा कवि है।

विचार करने पर काव्य में प्रेम और सौंदर्य की भावनाओं के निरूपण का अन्तिम ध्येय मानव का पूर्ण विकास ही जान पड़ता है। जो प्रेम या सौंदर्य की भावना अपने मन तक ही सीमित रह जाय वह रुग्ण तथा दूषित है। अपने में ही सब कुछ भर कर व्यक्ति वास्तव में अपना विकास भी कर कैसे सकता है—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा। (कामायनी)

जब उक्त भावनाएँ मानव-मात्र तक आत्म-प्रसार की भावना से अभिव्यक्ति के माध्यम से पहुँचाई जावें तभी हृदय का वास्तविक विकास सम्भव है। इसके लिए प्रेम का, एक क्षुद्र घेरे से मुक्त होकर ऊपर उठना आवश्यक है, तभी उसमें परिपक्वता, सरसता व दीप्ति आ सकेगी। प्रेम और सौदर्य की ये भावनाएँ मानव का पूर्ण विकास करने में किस प्रकार पूर्ण समर्थ, है यह भी तनिक देखना चाहिए। मानव जाति-देश-प्रांत, वर्ण-लिंग, धर्म-सम्प्रदाय, विचार-धारा, संस्कृति आदि विभिन्न प्राकृतिक या मानव-कृत भेदों में विभक्त है। किंतु परिष्कृत मानवता की भावना के नाते वह सर्वत्र एक है। विश्व की जातियों का अन्तिम ध्येय है—विश्व-मैत्री। इस ध्येय की प्राप्ति काव्य और कलाओं के माध्यम से बहुत सरलतापूर्वक व प्रभावशाली ढंग से हो सकती है। काव्य या कला मे निरूपित प्रेम-सौदर्य की भावनाएँ, मानव प्राणियो मे सौ-सौ भेदों के रहते हुए भी, सर्वत्र समान भाव से अनुभूयमान है। इस सामान्य और व्यापक भाव-भूमि पर मानव-मात्र का सम्मिलन होता है। प्रेम और सौदर्य के जितने भी रूप हो सकते है उन रूपों के दर्शन, अनुभव और अभिव्यक्ति में, सभी औसत हृदय-धारी मानव (कोरे ज्ञानी या कोरे अहवादी नहीं) समान रूप से आनंद लेते है। दाम्पत्य प्रेम, देश-प्रेम, विश्व-प्रेम प्रकृति-प्रेम व ईश्वर-प्रेम आदि की अभिव्यक्ति किसी भी देश के कवि की हो, वह मानव-हृदय मात्र को आकर्षित कर सकती है तथा एक दूसरे को परस्पर निकट ला सकती है। इसी प्रकार काव्यों के सौंदर्य (मानव व प्रकृति)—वर्णन, इनके अध्येताओं को, एक दूसरे के निकट लाते है, और व्यक्तियों तथा जातियों को पारस्परिक प्रेम के रेशमी सम्बन्ध-सूत्रों में दृढता से गूँथ देते है। हम शैले व कीट्स की प्रेम-गीतियाँ, रूपर्ट ब्रुक की राष्ट्रीय कविताएँ गोल्डस्मिथ व वर्ड्सवर्थ की प्रकृति-प्रेम की कविताएं तथा ब्राउनिग की उदात्त भौतिक प्रेम व आध्यात्मिक प्रेम की कविताएँ पढकर उनके साथ, देश-काल के बन्धनों को तोड़कर, एकता का अनुभव करते है। कालिदास का 'मेघदूत' व 'शाकुंतल', रवीन्द्र की 'गीतांजलि', तथा पंत की 'ग्रंथि' व 'गुंजन' जैसी रचनाएँ मानव-हृदय को पारस्परिक निकटता का अनुभव कराने में कितनी समर्थ हैं, या हो सकती हैं, यह बताने की अब आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार हम देखते है कि इन प्रवृत्तियों के कला-गत निरूपण में वह शक्ति है जो व्यक्ति-व्यक्ति, धर्म-धर्म व जाति-जाति को निकटतर ला सकती है। अतः यही प्रेम-सौंदर्य की भावनाओं की सांस्कृतिक भूमिका (role) है। यह आवश्यक है कि इन भावनाओं को व्यक्त करने वाली कला जनता व समाज के लिए सुलभ हो। (इसके लिए भी कवि को लोक-सामान्य भाव भूमि पर रहने के लिए 'साधारणीकरण' के सिद्धांत को ध्यान में रखने की आवश्यकता है)। कला ही समाज व विश्व में प्रेम-सौंदर्य की भावना का व्यापकता के प्रसार कर सकेगी और यह भावना ही अन्त में हमारी मनोवृत्तियों में परिष्कार लायेगी। यही विश्व-मैत्री

की भावना की रीढ़ है।[१] आज ऊँच-नीच की विषैली भावना के कारण विश्व मे कितनी विषमता है (जैसे दक्षिण अफ्रीका आदि में रंग-भेद की नीति)! इसका समूलोच्छेदन उदात्त प्रेम-भावना के शीतल संस्पर्श से ही सम्भव है।

मानव के सर्वांगीण विकास के लिए विश्व की सरकारें व संस्थायें भी जो कुछ कर रही हैं वह अंततः उसी प्रेम-सौंदर्य-भावना से सम्पन्न मानव हृदय के निर्माण के ही लिए है। यही निर्माण जीवन का प्राप्य है। ऐसे ही हृदय में जीवन का वह सार सत्व, जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह, प्रतिबिम्बित हो जाता है, जिस का साक्षात्कार करने के लिए मानव की बुद्धि व भावना जीवन की विविध प्रवृत्तियें में ढल कर युग-युगातरों से सम्मिलित प्रयत्न कर रही है। सरकारें जो कार्य कर रही हैं, कवि उसी को पूरक रूप में कर रहा है। कवि उसी महत् व व्यापक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आज नवीन मन का सृजन करने में व्यस्त है—

सृजन करो नूतन मन !
खोल सके जो ग्रंथि हृदय की
उठा सके संशय गुठन,
आँक सके जो सूक्ष्म नयन से
जीवन का सौंदर्य गहन ।
भेद सके जो दैन्य दुरित औ'
मृत्यु अविद्या के भीतर,
जहाँ प्रेम आशा शोभा
अमरत्व प्रतिष्ठित है प्रतिक्षण ।[२]

---

१. "... Art supplies food to the sense of beauty, helps to the culture of the emotions, and enriches the very content of life. Art makes life more worth living . . . Appreciation of beauty in life and nature is the first step or rather the basis of the creation of all art . . . Art is the attempt to re-create and perpetuate in terms of human effort what is appreciated and imagined to be beautiful by the human mind. The sense of beauty includes the sense of fineness, delicacy, subtility, the sense of form and colour, the sense of touch and sound, in fact everything that appeals to the aesthetic part of our being and personality. Especially has art a great part to play in the culture of our emotions."

—'Art for the people', an article by Shri R. R. Diwakar, in the Magazine Section of "The Hindustan Times", dated August 15, 1954.

२. पंत : 'स्वर्णकिरण', पृ० ७४ ।

कवि इस नूतन मन का निर्माण इस प्रेरणा से कर रहा है कि मानव-आत्मा का खाद्य प्रेम ही है। इस खाद्य के अभाव में मानव की आत्मा क्षीण हो जायगी। इसलिए कवि कहता है—

खर कोमल शब्दों को चुन चुन,
मैं लिखता जन जन के मन पर,—
मानव आत्मा का खाद्य प्रेम,
जिस पर है जग-जीवन निर्भर।[1]

इस लिए नवनिर्माण का कवि आज शत-शत नेत्रों से उत्सुक होकर यह देख रहा है कि—

कब विश्वास प्रेम आशा
पुरुषार्थ उच्च अभिलाषा,
कला सृष्टि सौंदर्य-दृष्टि
होगी जीवन परिभाषा।[2]

यदि कवि यह नहीं कर सका तो मानव का प्रतिनिधि कहलाने का उसका दावा रीते घड़े की आवाज होगा। अन्ततः काव्य को मानव का कल्याण संपादन करके ही अपनी मुक्ति पानी है। काव्य के गुरु-गम्भीर उद्देश्य को समझने वाले मनीषी इस उद्देश्य को ही सर्वोपरि ठहराते हैं।[3]

---

१. पंत; 'युगवाणी'।

२. पंत; 'स्वर्ण किरण'।

३. "Art is not as the metaphysicians say, the manifestation of some mysterious Idea of beauty or God; it is not, as the aesthetic physiologists say, a game in which man lets off his excess of stored-up energy; it is not the expression of man's emotions by external signs; it is not the production of pleasing objects; and above all, it is not pleasure; but it is a means of union among men joining them together to the same feelings and indispensable for the life and progress towards well-being of individuals and of humanity."

—Tolstoy : 'What is Art' (1950), p, 123.

परिशिष्ट—१

कविता और चित्र

प्राचीन काल के काव्य की पांडुलिपियों में हस्तांकित, तथा आधुनिक कविता-संग्रहों में मुद्रित चित्रों को देखकर कविता व चित्र के सम्बन्ध की घनिष्टता पर ध्यान टिक जाना स्वाभाविक है। कला का मूल गुण उच्च कोटि का आनन्द है। कविता व चित्र, दोनों ही वह आनन्द प्रदान करते हैं। इस नाते दोनों की सापेक्षता व सम्बन्ध पर कुछ विचार प्रकृत विषय के सीमा-प्रदेश से कुछ सम्बन्धित ठहरता है। प्राचीन काव्यों की पांडुलिपियों में कवियों के द्वारा अपनी रचनाओं के साथ जो चित्रों के नमूने मिलते हैं वे प्रेम व सौंदर्य की भावनाओं को अंकित करने वाले हैं। आधुनिक युग में भी कवयित्री और चित्रकला-विशारदा श्री महादेवी वर्मा की 'यामा', 'दीप-शिखा', श्री सोहनलाल द्विवेदी की 'वासवदत्ता', पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्धचरित', जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का 'उद्धवशतक', पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'कविताकलाप' आदि काव्यों व 'धर्मयुग', 'हिन्दुस्तान', 'आजकल', 'सरिता' 'कल्पना' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं के साथ सुन्दर कलात्मक चित्रों के प्रकाशन की भी चाल दिखाई पड़ती है। काव्य कला और चित्रकला के इस पारस्परिक सहयोग का क्या रहस्य है? क्या कविता पूर्ण प्रभावशालिता के लिए अपने आप में इतनी असहाय या अशक्त है कि उसमें निरूपित भावना पूरी तरह हृदयंगम कराने के लिए चित्र का सहारा आवश्यक है। बात यह है कि मानव-मस्तिष्क अधिक सूक्ष्म तथ्यों की स्पष्ट भावना नहीं कर सकता। उसके लिए कोई मूर्त्त या चाक्षुष् आधार आवश्यक है। इस बात को भली-भाँति समझने के लिए काव्य कला व चित्रकला पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालना आवश्यक है।

दोनों कलाओं में एक साम्य है: वह यह कि दोनों कलाएँ श्रोताओं या दर्शकों को सात्विक आनन्द की अनुभूति कराती हैं। किन्तु, दोनों के उपकरण व माध्यम भिन्न भिन्न हैं। कविता के उपकरण शब्द हैं और चित्र के उपकरण रंग, कागज, तूलिका आदि। काव्य में जो कार्य शब्दों के द्वारा सम्पन्न होता है, चित्र में वही कार्य रंगों व रेखाओं के द्वारा। कविता व चित्र दोनों का ऐन्द्रिक माध्यम आँख भी है, किंतु कविता शब्द पर ही न टिक कर अपने लक्ष्य—उन सूक्ष्म या मानसिक भावनाओं या उनकी मूर्तियों तक जाती हैं, शब्द जिनके प्रतीक मात्र हैं। चित्र में हम बहुत कुछ चाक्षुष् मूर्तियों पर ही टिक जाते हैं। वे ही अपने आप में गंतव्य हैं। उसमें नेत्रों का विषय ही मुख्य रहता है। चित्र पर आँख डालते ही जो कुछ हमें दिखाई पड़ता है वही मुख्य

है। (हाँ, अत्यधिक काल्पनिक या प्रतीकात्मक चित्रों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती) । किन्तु कविता में शब्दों पर दृष्टि डालना मात्र ही पर्याप्त नहीं। काव्य में जो कुछ है वह स्थूल शब्द-प्रतीकों से परे रहने वाली सूक्ष्म भावनाएँ ही है। अर्थात्, काव्य अधिक सूक्ष्म रचना है और चित्र अपेक्षाकृत अधिक स्थूल। उच्च काव्य अपने में यथार्थ से परे आदर्श का मेल भी करता है, अतः स्थूल यथार्थ या कोरी फोटोग्राफी को वह प्रश्रय भी नहीं देता। हू-बहू नकल अथवा यथातथ्य तो फोटोग्राफी की कला है जो केवल यांत्रिक है, अनुभूति-प्रेरित नही। किन्तु काव्य केवल यथार्थ का नग्न चित्र ही नहीं है। अपने सही रूप में वह यथार्थ और आदर्श का समन्वय है। चित्र की मुख्य सामग्री है रंग व रेखा। कविजन भी शब्दों के द्वारा रंगों की संवेदना उत्पन्न करते है और कल्पना के द्वारा चित्रकला-सुलभ भाव-मुद्राएँ भी अकित करते है। पर गत्यात्मक जीवन का चित्रण करने से कविता में चित्रकला से अधिक सजीवता व पूर्णता होती है। उपकरणों की सूक्ष्मता के अनुपात में ही काव्य चित्रकला की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म कला मानी गयी है। काव्य सूक्ष्म कला है और चित्रकला अपेक्षाकृत स्थूल। किन्तु, पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए एक कला दूसरी कला से सदैव सहायता लेती आई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि यथार्थ-प्रिय मानव स्थूल (रूप-रेखा युक्त) के रूप में—इन्द्रियों के माध्यम से ही—सूक्ष्म को अपेक्षाकृत अधिक सरलता से ग्रहण कर सकता है। बुद्धि की प्रभाएँ या स्थूल तथ्य भावना-पटल पर कोई मूर्ति अंकित नहीं करते; वे सरलता से मन के द्वारा ग्राह्य भी नहीं हो पाते। कविता में सूक्ष्म भावना को गोचरीकृत करने के लिए, तथ्यों को, कल्पना-शक्ति की सहायता से, बिम्ब या मूर्तियों के रूप में ढालना पड़ता है। यह बिम्ब-विधान या मूर्त्त-विधान वस्तुतः चित्रकला का क्षेत्र है। प्रेम-सौंदर्य की भावनाएँ अत्यधिक सूक्ष्म व कोमल होती हैं। कवि अपनी प्रेम-सौंदर्य की भावनाओं को साधारण जनता के हृदय के लिए (उच्च कोटि के कला-मर्मज्ञ या सहृदय पाठक शायद इसकी इतनी अपेक्षा न करें) अधिक से अधिक सुपाच्य तथा प्रेषणीय बनाना चाहता है। काव्य में तो वह अपनी कला की स्वाभाविक आकांक्षावश, मूर्त्त-विधान करता है, किन्तु भावनाओं को और भी स्पष्ट करने के लिये, मानसिक नेत्रों के लिये ग्रहणीय बनाने के अतिरिक्त वह उन्हीं को बाह्य चर्म-चक्षुओं के द्वारा ग्रहण किये जा सकने के लिये चित्रों के रूप में भी अनुवादित करता है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह आवश्यक है? बात यह है कि कवि केवल शब्दों के उपकरण के सहारे अपनी सूक्ष्म एवं गहन भावनाओं का पूर्ण बिम्बग्रहण नहीं करा सकता, एतदर्थ उसे अपनी कल्पना एवं भावना को अधिकाधिक सजीव, पूर्ण एवं बोधगम्य आकार देने के लिये रंग-रेखाओं के अपेक्षाकृत अधिक स्थूल उपकरणों से सम्पन्न चित्रकला का प्रश्रय लेना पड़ता है।

वह अपनी कल्पना को अधिक से अधिक मूर्त्त रूप देना चाहता है। किन्तु अनेक साधनों के रहते हुए भी वह प्रायः असमर्थ-सा रहता है। वह अपनी बात अधिक से अधिक स्पष्टता या सुबोधता के साथ कहना चाहता है, किन्तु अपने प्रयास की स्वाभाविक सीमा से या किसी अन्य अभाव से वह अस्पष्ट या धूमिल रह जाता है। वस्तुतः सूक्ष्म को स्थूल आकार (चाहे काव्य में बिम्ब-विधान, चाहे चित्रांकन) दिये बिना कवि अपने को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सकता। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि वह अपनी भावनाओं को अपने नियत माध्यम से या उपकरण से, पूर्ण सफलतापूर्वक या वांछित रूप में अंकित न कर पाने के कारण, दूसरी कला का आश्रय ले, और अपने को अभिव्यक्त करे। इस सब कार्य में कवि की काव्य-सीमा-जन्य विवशता व पाठक के लिये अधिकाधिक सुबोधता, ये दोनों ही बातें निहित हैं।

दोनों कलाओं का पारस्परिक सहयोग अभीष्ट है क्योंकि दोनों कलायें एक दूसरे की आकांक्षिणी हैं। चित्र-कला गतिशीलता को अंकित नहीं कर सकती, और कविता, चित्र की तरह, किसी एक ही क्षण की विशेष स्थिति, मुद्रा या दृश्य को पूर्ण स्पष्टता के साथ व्यक्त नहीं कर सकती, या आँखों के लिये उसे चित्र जितना प्रत्यक्ष नही कर सकती। अतः दोनों की अपनी-अपनी सीमाएँ है। फिर भी, चित्र काव्य की अपेक्षा करे या न करे, कविता अवश्य अपनी सूक्ष्म भावना को गोचरीकृत करने के लिए चित्रकला से सहायता लेती है, और सदा लेती आई है।

परिशिष्ट—२

कविता और संगीत

कविता पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए अनुप्रासादि स्वर-लालित्य-साधन व संगीत के वाद्य यन्त्रों के साथ भी प्रस्तुत की जाती है, और की जा रही है। प्राचीन साहित्य में विद्यापति, सूर व मीरा आदि के गेय पद इसके प्रमाण हैं। आधुनिक काल में भी हिन्दी कवियों की कविताएँ या गीत सिनेमा में व रेडियो पर मधुर स्वर के धनी गायकों के द्वारा बहुतायत से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इस से काव्य और संगीत का घनिष्ट सम्बन्ध प्रमाणित होता है। अतः इस सम्बन्ध का विचार भी प्रस्तुत विषय से कुछ सम्बन्धित कहा जा सकता है।

ललित कला के भेदों में से, चित्र की तरह ही, कविता के साथ जिस कला का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है (कदाचित्, चित्र से भी अधिक), वह संगीत कला है। काव्य कला व संगीत कला, चित्र की ही तरह, प्रभावोत्कर्ष के लिए परस्पर एक दूसरे से सहायता लिया करती हैं। संगीत स्पष्टता, सुबोधता व अर्थ-ज्ञान के लिए शब्द या कविता का सहारा लेता है (शास्त्रीय संगीत की बात हम नहीं कह रहे हैं), और कविता नाद-सौंदर्य के लिए संगीत का सहारा लेती है। यों दोनों कलाओं के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। दोनों में समानता यह है कि दोनों कलाएँ, अपने साधनों की सूक्ष्मता के कारण, सर्वोच्च कोटि के आनन्द की सृष्टि करती हैं। किन्तु, दोनों में असमानता यह है कि दोनों के माध्यम और उपकरण भिन्न भिन्न हैं। कविता का माध्यम शब्द है तो संगीत का माध्यम स्वर। (मूल रूप में शब्द व स्वर का भी घनिष्टतम सम्बन्ध है)। शब्द (लिखित), नेत्र (या उच्चरित हो तो श्रवणेन्द्रिय) के माध्यम से मन पर मूर्तियाँ अंकित करता है, और संगीतोपयोगी स्वर कर्णेन्द्रिय के द्वारा मन में भावनाएँ उत्पन्न करता है। इस प्रकार दोनों भिन्न भिन्न पद्धतियों से एक ही सामान्य आनन्द की प्राप्ति कराते हैं।

यों तो कविता का स्वयं एक निजी संगीत होता है जो छन्द-विधान, अनुप्रास (छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, वृत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास या तुक आदि), यमक आदि शब्दालकार, व रीतिवादियों के द्वारा निर्धारित उपनागरिका, पुरुष, व कोमला-वृतियों में नियत वर्णों के विशिष्ठ विधान से उत्पन्न होता है, और काव्य-वाचक या कवि के कण्ठ से, स्वर के संगीतोपयोगी आरोह-अवरोह के बिना भी कर्ण गोचर होता है, किन्तु कविता को, श्रवण की दृष्टि से और भी अधिक रोचक व मधुर बनाने के लिए, कलाओं के अन्तर्गत आने वाले संगीत (गान वाद्य व नृत्य) से

संयुक्त कर दिया जाता है, या किया जा सकता है। सिनेमा या रेडियो के प्रचार से काव्य का सगीत के साथ सम्बन्ध अब और भी घनिष्ठ हो चला है। बात यह है कि नाद-सौदर्य के योग से कविता का प्रभाव शतगुणा बढ जाता है। फिर, प्रेम व सौदर्य की अभिव्यक्ति वाला काव्य, विशेषत: गीति-काव्य, तो स्वतः ही स्वर-लालित्य व वाद्ययंत्रादि अन्य सहायक सामग्री की अपेक्षा रखता है।

प्रेम-सौदर्य की भावना श्रोताओं के मर्म का यों ही सब से गंभीर स्पर्श करने वाली होती है। किंतु, उस भावना का अधिकाधिक आनंद लेने के लिए संगीत भी परम उपयुक्त सहयोगी सिद्ध होता है। इसके लिए काव्य का निजी संगीत ही पर्याप्त नहीं होता। उसके साथ सुललित कंठ-स्वर, वाद्य-यन्त्र (सितार, वीणा, वंशी, तबला, आदि) की सु-मधुर ध्वनियाँ, व नृत्य की नुपुर-ध्वनि का भी समावेश होने पर काव्य का पूर्ण प्रभाव प्रकट हो जाता है। शब्द, लय, तान, आदि की समष्टि पूर्ण प्रभावशालिनी हो जाती है। पर, सब से आवश्यक बात है काव्य का पूर्ण होना। वास्तव में सुन्दर से सुन्दर काव्य मुद्रण में—चाहे मुद्रण कैसा ही शुद्ध, भव्य व आकर्षक हो—वे भावनाएँ पूरी-पूरी प्रस्फुटित नहीं करता जो संगीत-तत्त्व के सह-योग से वह सहज ही प्रदान कर देता है। इसके विपरीत स्वर-लालित्य (कंठ), व संगीत (वाद्य) आदि के सहयोग से निकृष्ट या हल्का काव्य भी ख्याति-लाभ कर लेता है। पर, साहित्यिक दृष्टि से हम ऐसे काव्य का कोई विशेष महत्त्व स्वीकार नहीं करते। साहित्यिक दृष्टि से तो संगीत और कविता का पूर्ण समन्वय वही माना जा सकता है जहाँ काव्य-रचना भी पूर्ण निर्दोष हो, और उसका स्वर-परिवेष्टन भी सर्वथा भावानुरूप। आजकल मंच के सैकड़ों कवि (?) भद्दी तुकबन्दी को ही केवल स्वर के बल पर चला रहे है। केवल स्वर-तत्व, सत् काव्य के अभाव में, हास्यास्पद-सा ही जान पड़ता है। वास्तव में कृति के काव्य-गुणों की खरी परीक्षा तो उसके (कृति के) निरपेक्ष (मुद्रित) रूप में प्रस्तुत होने पर ही हो सकती है। काव्य के वास्तविक गुणों के परीक्षण में ध्वनि का सहयोग भ्रामक ही सिद्ध होगा। कोरा स्वर भी भद्दी से भद्दी कविता को श्रोताओं के लिए रमणीय बना सकता है। किन्तु, काव्य-गुण के अभाव में बेचारा स्वर या संगीत ही अकेला क्या कर लेगा? फिर भी, संगीत या स्वर, काव्य में रोचकता और माधुर्य जैसे अतिरिक्त गुण उत्पन्न कर देता है, इसमें कोई संदेह नहीं। रेडियो से आधुनिक कवियों—सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद', पंत, 'निराला', महादेवी, रामकुमार वर्मा, 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, भगवती-चरण वर्मा, सुमित्राकुमारी सिन्हा, 'दिनकर', उदयशंकर भट्ट, शंभुनाथ 'शेष', 'नीरज' 'अंचल', जानकीवल्लभ शास्त्री, शंभुनाथ सिंह, 'कमलेश' बलबीरसिंह 'रंग', देवराज 'दिनेश', चिरंजीत, रामकुमार चतुर्वेदी, रघुवीरशरण 'मित्र', रामानन्द 'दोषी' आदि—के जो गीत यदा-कदा प्रसारित होते रहते हैं, उनमें संगीत के योग से सुन्दर प्रभाव उत्पन्न

हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि जितने भी गीत प्रसारित होते हैं उनमें से अधिकांश प्रेम-सौंदर्य की भावनाओं से ही सम्बन्धित है। रेडियो का श्रोता-समाज भी प्रायः उन्हीं गीतों को सर्वाधिक रुचिपूर्वक सुनता है जिनमें उक्त भावनाओं की रस-क्रीड़ा हो। वास्तव में मूल आनन्द के नाते कविता व संगीत एक ही है, अतः रेडियो द्वारा इन दोनों के समन्वय का प्रयत्न साहित्य या कला के प्रति जनता की अभिरुचि बढ़ाने की दृष्टि से पूर्ण वांछित व श्रेयस्कर है।

परिशिष्ट—३

ग्रंथानुक्रमणिका

नीचे उन ग्रंथों की सूची है जिनसे इस ग्रंथ के निर्माण में सहायता ली गई है—

(१) संस्कृत

(क) धर्म और दर्शन

उपनिषद् ईशोपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद्, कठोपनिषद्, छांदोग्य उपनिपद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, मुंडकोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्।

ऋग्वेद संहिता —(वैदिक संशोधन मंडल, पूना), सूचीखंड, जिल्द ५।

नारदभक्तिसूत्र (प्रेमदर्शन) —हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर।

पातंजल योगसूत्र (योगदर्शन),—गीता प्रेस, गोरखपुर।

मनुस्मृति —(नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १९१७)।

रूपगोस्वामी उज्ज्वलनीलमणि (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् —१९३२); श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु (अच्युतग्रंथमाला, काशी, सं० १९८८)।

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीमद्भागवत

शंकराचार्य —प्रश्नोत्तरी व चर्पटपंजरी (विद्याविलास प्रेस, बनारस, सं० २००२)।

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र —(गीता प्रेस, गोरखपुर)।

(ख) काव्य और आलोचना

आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक।

कालिदास —अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, कुमारसम्भव, मेघदूत, रघुवंश।

भर्तृहरि —शृंगारशतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक (पुरोहित गोपीनाथ द्वारा सम्पादित, सन् १९१४)।

भवभूति —उत्तररामचरित (विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९४९)।

मम्मट —काव्यप्रकाश (पं० हरिमंगल मिश्र का अनुवाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २०००)।

राजशेखर —कर्पूरमंजरी; काव्यमीमांसा।

विश्वनाथ —साहित्यदर्पण (श्री श्यामसुन्दर शर्मा द्वारा विमला टीका, नवलकिशोर प्रेस, सं० १९७८)।

क्षेमेन्द्र —औचित्यविचारचर्चा (हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला, २४-२५-२६, काशी, सन् १९३३)।

(ग) शब्द-कोष

वाचस्पत्य कोष

अमर कोष —(निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२१)।

आप्टे —संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, सन् १९२२।

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

संस्कृत रत्नाकर (काशी)

(२) पालि-अपभ्रंश

अपभ्रंश-सम्बन्धी लेख —नागरी प्रचारिणी पत्रिका में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के 'पुरानी हिन्दी' नामक लेख।

धम्मपद —महाबोधि सभा, सारनाथ, सं० १९९५।

(३) हिन्दी

(क) कला और साहित्य : आलोचना

अमरनाथ झा —चित्ररेखा (डा० रामकुमार वर्मा) की भूमिका (सं० १९९७)।

अज्ञेय —तारसप्तक (सन् १९४३) की भूमिका; दूसरा सप्तक (सन् १९५१) की भूमिका।

कृष्णशंकर शुक्ल —आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (तृ० सं०, सं० १९९७)।

कन्हैयालाल पोद्दार —काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग, रसमंजरी, सं०२००४)।

कन्हैयालाल सहल —आलोचना के पथ पर (सं० २००४)।

किरणकुमारी —हिन्दी कविता में प्रकृति चित्रण।

केसरी नारायण शुक्ल —आधुनिक काव्यधारा (सं० २०००); आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत (सं० २००४)।

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' —महाकवि 'हरिऔध'।

गुलाबराय —काव्य के रूप (द्वि० सं०)।

चन्द्रबली पाँडे —साहित्यसंदीपनी; तवस्सुफ अथवा सूफी मत।
जयशंकर 'प्रसाद' —काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (सं० १९९६)।
देवराज —छायावाद का पतन (सन् १९४८)।
नगेन्द्र —आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ (सन् १९५१); बिचार और अनुभूति (सन् १९५१); सुमित्रानन्दन पत (स० १९९८); विचार और विवेचन।
परमेश्वर 'द्विरेफ' —मरु के टीले (सं० २००६) की भूमिका।
परशुराम चतुर्वेदी —हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह; मध्यकालीन प्रेम-साधना।
फतहसिंह —साहित्य और सौदर्य।
बलदेव उपाध्याय —भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खंड (द्वि० सं०, सं० २००७); भारतीय साहित्य शास्त्र, दूसरा खंड (प्र० सं०, स० २००५)।
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' —अपलक (सन् १९५१) की भूमिका।
भगवतीचरण वर्मा —मधुकण (सन् १९३२) की भूमिका।
महादेवी वर्मा —यामा व दीपशिखा की भूमिकाएँ।
रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' —कला और सौंदर्य।
रामकुमार वर्मा —अंजलि की भूमिका।
रामचन्द्र शुक्ल —हिन्दी साहित्य का इतिहास; चितामणि, भाग १-२; जायसी ग्रंथावली की भूमिका; भ्रमरगीतसार की भूमिका (सं० १९९९); सूरदास (सं० २०००); काव्य में रहस्यवाद (सं० १९८६)।
रामनरेश वर्मा —वक्रोक्ति व अभिव्यंजना।
रामनाथ 'सुमन' —कवि प्रसाद की काव्य साधना (सन् १९३८)।
रामेश्वरलाल खण्डेलवाल —कविता में प्रकृति-चित्रण।
लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' —काव्य में अभिव्यंजनावाद (तृ० सं०, सं० २००७)।
वासुदेव —पंत की काव्यचेतना में 'गुंजन' (सन् १९५१)।
विजयेन्द्र स्नातक —राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त साहित्य।
वियोगी हरि —प्रेमयोग।
विश्वनाथप्रसाद मिश्र —पद्माकर पंचामृत की भूमिका (सं० १९९२); वाङ्मय विमर्श (तृ० सं०)।
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय —हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि।
श्यामसुन्दरदास —साहित्यालोचन (सं० १९९४)।

शकुन्तला शर्मा —आधुनिक काव्य में सौदर्य-भावना, (सन् १९५२)।
शम्भुनाथसिंह —छायावाद युग।
शिवदानसिंह चौहान —प्रगतिवाद (सन् १९४६)।
श्रीकृष्णलाल —आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास (सन् १९४२)।
सद्गुरुशरण अवस्थी —बुद्धितरंग (सन् १९५०)।
सम्पूर्णानन्द —(अभिनन्दन ग्रंथ)।
सुधीन्द्र —हिंदी कविता में युगान्तर (सन् १९५०)।
सुमित्रानन्दन पंत —पल्लव (चतुर्थ सं०, सन् १९४२) की भूमिका।
हजारीप्रसाद द्विवेदी —सूर साहित्य; हिंदी साहित्य की भूमिका।
हंसकुमार तिवारी —कला (प्रथम संस्करण, सं० १९९४)।

(ख) धर्म, और दर्शन, विज्ञान तथा मनोविश्लेपण

तामिल वेद —(क्षेमानन्द राहत द्वारा अनुवादित, सं० १९२७, सस्ता साहित्य मण्डल)।
परमानन्दामृत —(भगवद्भक्ति आश्रम, रिवाड़ी, सं० १९९८)।
बलदेव उपाध्याय —भारतीय दर्शन (द्वि० सं०, सं० २००१)।
विनोबा —विनोबा के विचार (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, सन् १९५२)।
विवेकानन्द —भक्तियोग (रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, सन् १९४३)।
सम्पूर्णानन्द —चिद्विलास; दर्शन और जीवन; सौंदर्य-विज्ञान (ले०—श्री हरिवंशसिंह शास्त्री) की भूमिका।
हरद्वारीलाल —सौंदर्य शास्त्र।
हरिवंशसिंह शास्त्री —सौदर्य-विज्ञान (सं० १९९२)।

(ग) काव्य

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—प्रियप्रवास (सन् १९४८)।
अज्ञेय —इत्यलम् (१९४६); तारसप्तक (सन् १९४३); हरी घास पर क्षण भर (सन् १९४९)।
उदयशंकर भट्ट —विजयपथ (सन् १९५०)।
कबीर —कबीर ग्रन्थावली (सं०—बा० श्यामसुन्दर दास)।
गुरुभक्त सिंह —वन-श्री (प्रथम सं०); नूरजहाँ (द्वि० सं०, सं० २०००)।
गोपालशरण सिंह —आधुनिक कवि : गोपालशरण सिंह (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' —गंगावतरण; उद्धवशतक; हिंडोला।

जयशंकर 'प्रसाद' —आँसू (अष्टम संस्करण, सं० २००६); कामायनी (सं० १९९३); झरना (तृतीय संस्करण, सं० १९९१); प्रेम-पथिक (द्वि० संस्करण); लहर (प्रथम संस्करण, सं० १९९२); कानन-कुसुम (प्रथम संस्करण, सन् १९१२)।

तुलसीदास —रामचरितमानस; विनयपत्रिका; दोहावली; कवितावली।

'दिनकर' —रसवन्ती (चतुर्थ संस्करण); रेणुका (प्रथम सस्करण)।

देवराज —जीवन रश्मि (सन् १९४९); प्रणयगीत (सन् १९३९)।

नरेन्द्र शर्मा —प्रभात फेरी (प्रथम सं०, सन् १९३९); प्रवासी के गीत (द्वि० सं०, सं० २०००); अग्नि शस्य (सं० २००८)।

'निराला' —अपरा (सं० २००३); अनामिका; परिमल।

'नीरज' —प्राणगीत (प्रथम सं०)।

पतराम शर्मा गौड़ —रेगिस्तान (सन् १९४३)।

परमेश्वर 'द्विरेफ' —मरु के टीले (सन् १९५२); धूल के फूल (सन् १९५४)।

बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन—प्रेमघन सर्वस्व, भाग १।

'बच्चन' —एकांत संगीत; निशा निमन्त्रण; मधुबाला; मधुशाला (तृ० संस्करण, सन् १९३८); मिलन-यामिनी (१९५०); सतरंगिनी (१९४५); प्रणय-पत्रिका (१९५५)।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' —अपलक (सन् १९५१); रश्मिरेखा (सं० २००८)।

भगवतीचरण वर्मा —मधुकण (सन् १९३३); प्रेम संगीत (सन् १९३७)।

महादेवी वर्मा —आधुनिक कवि : महादेवी (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग); यामा (द्वि० सं०, सन् १९४७); दीपशिखा (द्वि० सं०, सन् १९४६)।

महावीर प्रसाद द्विवेदी —सुमन।

माखनलाल चतुर्वेदी —हिमकिरीटिनी (सं० १९९८); हिमतरंगिणी।

मैथिलीशरण गुप्त —भारत-भारती (सं० १६६६); हिंदू (द्वि० सं०, सं० १६८५); पंचवटी (चतुर्थ संस्करण, सं० १६६०); सिद्धराज; यशोधरा (तृ० सं०, सं० १६६५); साकेत (सन् १६३२)।

रामकुमार वर्मा —आधुनिक कवि: रामकुमार वर्मा (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १६६८); अंजलि; रूप-राशि; चित्ररेखा।

रामचन्द्र शुक्ल —बुद्धचरित।

रामनरेश त्रिपाठी —स्वप्न; पथिक (सन् १६५१); मिलन।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' —अपराजिता; किरणवेला (सन् १६४१); वर्षान्त के बादल।

रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' —पूर्ण संग्रह (प्रथम सं०)।

शम्भुनाथ 'शेष' —उन्मीलिका; सुवेला।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' —हिल्लोल (द्वि० सं०, सन् १६४६); जीवन के गान (दूसरा सं०, सन् १६४५)।

श्रीधर पाठक —काश्मीर सुखमा (द्वि० सं०)।

सत्यनारायण 'कविरत्न' —हृदयतरंग।

सियारामशरण गुप्त —मृण्मयी (सं० १६६३)।

सुभद्रा कुमारी चौहान —मुकुल (छठा संस्करण, १६४७)।

सुमित्रानंदन पंत —ग्रंथि (सन् १६२६); गुंजन (प्रथम सं०, सन् १६३२); ग्राम्या (द्वि० सं०, सं० १६६६); ज्योत्स्ना (सं० १६६१); पल्लव (चतुर्थ सं०, सन् १६४२); युगवाणी (प्रथम संस्करण, सं० १६६६); युगान्त (प्रथम सं०, सन् १६३६); स्वर्ण किरण (सं० २००४); उत्तरा (सं० २००६); आधुनिक कवि: सुमित्रानंदन पंत (हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सं० २००३)।

सोहनलाल द्विवेदी —कुणाल; वासवदत्ता (सं० १६६८)।

हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु —भारतेन्दु ग्रंथावली (द्वितीय खंड, ना० प्र० स०, काशी)

(घ) सम्पादित

भारतेन्दु मुकुर —(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००७)।

महावीरप्रसाद द्विवेदी —कविताकलाप (द्वितीय संस्करण, सन् १६२१)।

रामनरेश त्रिपाठी —कविताकौमुदी, भाग २ (चतुर्थ संस्करण)।

(ङ) पत्र-पत्रिकाएँ

आजकल —(पाक्षिक, दिल्ली)—१ जुलाई १९४९।
आलोचना —(त्रैमासिक, दिल्ली)—आलोचना विशेषांक, अक्तूबर १९५३।
उत्तरा —(मासिक, लखनऊ)—जून, १९५२।
कल्पना —(मासिक, हैदराबाद),—अप्रैल १९५३।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, —भाग २, संवत् १९७८।
प्रतीक —(मासिक, दिल्ली)—जनवरी—फरवरी—अप्रैल—जून—सितम्बर— अक्तूबर— नवम्बर— दिसम्बर १९५१; जनवरी—फरवरी—मार्च—अप्रैल—मई—जून १९५२; जुलाई १९५३।
सप्तसिन्धु —(पटियाला) जनवरी—फरवरी, १९५६।
समाज —(नई दिल्ली)—अगस्त, १९५४।
समालोचक —(आगरा, सौंदर्य शास्त्र विशेषांक), फरवरी, ५८।
साप्ताहिक हिंदुस्तान —(दिल्ली)—११ अप्रैल, १९५४।
संगम —(प्रयाग, साप्ताहिक)—वर्ष तीन, अंक ४७।
सारंग —(रेडियो पत्र, दिल्ली, पाक्षिक)—वर्ष १९, अंक ५।
साहित्य संदेश —(मासिक, आगरा)—फरवरी १९५२; जनवरी—फरवरी, १९५४।

(४) अंग्रेजी

(A) Art and Literature

Abercrombie, L. —*An Introduction to the Principles of Criticism.*
Arnold, Matthew —*Essays in Criticism* (Second Series), 1935; *Poems of Wordsworth* (Edited), 1906.
Brooke, S. A. —*English Literature*; *Naturalism in English Poetry.*
Clive Bell.— *Art* (London, 1947).
Coomarswamy, A. —*Transformation of Nature in Art*; *The Dance of Shiva* (1948).
De., S. K. —*Treatment of Love in Sanskrit Literature* (1929).

Durant, Will —*The History of Philosophy* (1927) ; *The Mansions of Philosophy* (1929).
Entwistle, A. R. —*The Study of Poetry.*
Keats, John. —*Endymion* ('*The Poetical Works of John Keats*, Oxford University Press, 1940).
Palgrave, Francis Turner—*The Golden Treasury* (1933).
Plekhanov, G. V. —*Art and Social Life* (Bombay, 1953)
Raghavan, V. —*Bhoja's Srngara Prakash* (Vol. I, Part II); *The Number of Rasas* (1940).
Ramaswami Shastri, K.S.—*Studies in Ramayana* (1944) ; *Indian Aesthetics*
Saintsbury, George. —*Loci Critici* (1931).
Scott-James, R. A. —*The Making of Literature* (1940).
Tagore, Rabindranath —*Gitanjali* (1938) ; *Personality* (1948) ; *Sadhana* (1947)
Tolstoy, Count Leo. —*What is Art* ? (Translated by Aylmer Maude Oxford University Press, 1950).
Shelley, P. B. —*The Defence of Poetry* (*Loci Critici*).
Wordsworth, William. —*Preface to the Lyrical Ballads* (1815)
Worsfold, W. Basil —*The Judgment in Literature* (1937) ; *The Principles of Criticism* (1923)

(B) Religion and Philosophy

Ainslie, Douglas —*Aesthetic* (Translated from Benedetto Croce, Macmillan & Co., London, 1922).
Bosanquet, Bernard —*A History of Aesthetic* (1949) ; *Three Lectures on Aesthetics* (1955).
Carriot, E. F.— *An Introduction to Aesthetics.*
Ghose, Aurobindo —*Bases of Yoga* (V Edition, 1949).
Munshi, K. M. —*Bhagwad Gita and Modern Life.*
Plato —*Phaedrus* ; *Symposium* (I Edition, 1951, Translated into English by W. Hamilton).
Radhakrishnana, Sarvapalli *An Idealist View of Life* (1932) ; —*Bhagvadgita* (Second Ed., 1949).
Schwarz, Oswald —*The Psychology of Sex* (1951)
Sircar, Mahendra Nath —*Eestern Lights* (1935).

(C) General

Caudwell, Christopher *Studies in A Dying Culture* (1949).
Exner, M. J.— *The Sexual side of Marriage* (1949).

Joad, C. E. M. —*Modern Political Thought.*
Roy, Dilip Kumar *Among the Great* (1950).
Stopes, Marie —*Married love.*
The Heart of Rama —Ram Tirtha Publication League, Lucknow.
Thus Spake Vivekanauda Mylapore, Madras.

(D) Encyclopaedias & Dictionaries

Chamber's Encyclopaedia (Edinburgh, 1876)
Encyclopaedia Brittanica (Revised Edition, Vol. I, London 1976).
Encyclopaedia of Religion and Ethics (Article on Aesthetic by Maurice De Wulf).
Sir Monier-Monier Williams —*Sanskrit-English Dictionary of the English Language.*

(E) Periodicals & Journals

Hindustan Times (Daily) 15th August, 1954 (Independence Day Supplement).
Illustrated Weekly of India —Dated 25th April, 1954.
Journal of the Banaras Hindu University. Silver Jubilee Number (1942).